मानव की कहानी

[सृष्टि और मानव विकास का इतिहास
सृष्टि के आदि से १९५० ई. तक]

Vol. I

पहला भाग

प्रो० रामेश्वर गुप्त एम. ए.
वनस्थली विद्यापीठ

909
Gup
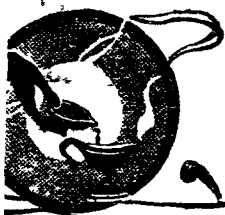
ब्यावर [राजस्थान]

श्री नारायण प्रिंटिंग प्रेस,
ब्यावर (राजस्थान)

CENTRAL ARCHAEOLOGICAL
LIBRARY, NEW DELHI.
Acc. No. 9721
Date 30. 4. 1958
Call No. 909/Gup

सर्वाधिकार सुरक्षित

[दो भागों में प्रकाशित १९५१.

पहला भाग सृष्टि के आदि से १५०० ई० तक.

दूसरा भाग १५०० से १९५० ई० तक.

मूल्य दोनों भागों का १६) रु०]

CENTRAL ARCHAEOLOGICAL
LIBRARY, NEW DELHI.
Acc. No. 1158
Date 5. 10. 1951
Call No. 909/Gup pt II

प्रकाशक—

चेतनागर

ब्यावर [राजस्थान]

मूल्य ८) रु०

प्रस्तावना

—:*:—

यह "कहानी" सृष्टि के आदि अस्तित्व या उद्भव काल से प्रारंभ होती है। फिर यह कहानी सृष्टि के विकास की स्थितियों का अवलोकन करती है। पहिले किस प्रकार युग-युगांतरों तक निष्प्राण, निश्चेतन स्थिति में सृष्टि का विकास होता रहता है; फिर उस निष्प्राण स्थिति में कब और कैसे प्राण और चेतना का आविर्भाव होता है; फिर किस प्रकार उस प्राण और चेतना में उत्तरोत्तर विकास होकर सृष्टि के पटल पर मानव का आगमन होता है; फिर किस प्रकार मानव-समाज बनता है, और अंत में किस प्रकार यह मानव-समाज और प्रकृति में रहता हुआ, परिवर्तन और विकास करता हुआ, आज की स्थिति तक पहुँचता है। भविष्य में किस ओर इसकी प्रगति हो सकती है इसका भी कुछ निर्देश किया गया है—आज के मनीषियों के विचारों के आधार पर।

सृष्टि और मानव-विकास की सभी बातें अभी पूर्ण ज्ञात नहीं हैं किंतु अनुसंधान और वैज्ञानिक परीक्षण द्वारा ज्यों ज्यों

मानव ज्ञान में वृद्धि होगी एवं पुरातत्व और इतिहास संबंधी ज्यों ज्यों नये अन्वेषण होंगे त्यों त्यों अब तक की अपूर्ण ज्ञात या अज्ञात बातों की जानकारी में पूर्णता आती जायेगी।

हम में यह उत्सुकता है कि हम आज अपने आपको, अपने देश काल समाज और सर्वोपरि मानव और दुनियां को समझ सकें। यह भी समझ सकें कि सृष्टि में मानव का क्या स्थान है। इन बातों की समझ प्राप्त करने में हमारा सबसे बड़ा सहायक इतिहास ही हो सकता है। ऐसी समझ हमारे मूढ़ाग्रहों, अंधविश्वासों और अज्ञान को हटाकर हमारी चेतना को निर्भय और मुक्त करती है-और इसके आधार पर हम अपने भविष्य में अमंगलकारी स्थितियों को टाल सकते हैं। कम से कम इतना तो अवश्य जान सकते हैं कि अमंगलकारी स्थितियों को कैसे टाला जा सकता है ?

इस पुस्तक में एक सारांश सा प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया गया है-आज तक की ज्ञात बातों के आधार पर ऐतिहासिक तथ्यों का, और इतिहास से सीधे संबंधित ऐसे जीव-शास्त्रीय, सांस्कृतिक एवं सामाजिक विचारणाओं का जिनसे मानव प्रगति की गतिविधि समझने में सहायता मिल सके।

यद्यपि पुस्तक में प्राय: प्रत्येक देश का प्रारंभिक काल से आधुनिक काल तक, संक्षेप में सिलसिलेवार राजनैतिक और सामाजिक इतिहास दिया गया है, किंतु इसको मानव की कहानी

की एक पृष्ठ-भूमि मात्र समझा गया है। उद्देश्य तो यही रहा है कि किसी प्रकार हम मानव की गतिविधि को समझ जायें, उसकी सीमाओं और विकास की संभावनाओं को समझ जायें।

'मानव की कहानी' को कई काल विभागों, या युगों में विभक्त किया गया है, और ऐसा भी संकेत किया गया है कि भिन्न भिन्न युगों की व्यक्तिगत अपनी अपनी विशेषतायें थीं- किंतु इस बात को इतना सीधा नहीं मानलेना चाहिये। इतिहास तो एक सतत प्रवाहमान धारा है, उसमें कहीं भी पृथक पृथक सीमाबद्ध कक्ष नहीं हैं, कोई भी युगों निरपेक्ष, अपने में ही सम्पूर्ण नहीं। अतः एक युग की विशेषताओं के उदाहरण आगे पीछे दूसरे युगों में भी कुछ-कुछ मिल सकते हैं।

आज इतिहास जातिगत राष्ट्रीयता एवं अखिल मानव-समाजगत अन्तर्राष्ट्रीयता के मिलन बिन्दु पर खड़ा है। आज हम कल्पना कर सकते हैं कि अब भविष्य में सब राष्ट्र, सब जातियाँ 'एक' मानव समाज, 'एक' मानव जाति की दृष्टि से देखी जायेंगी, अतएव अब भिन्न-भिन्न देशों अथवा राष्ट्रों और जातियों का नहीं समस्त मनुष्य जाति का इतिहास लिखा जायेगा, —उस 'मनुष्य जाति' का जिसका देश है इस सौर मंडल का एक ग्रह—यह पृथिवी; और वह 'इतिहास' जो अपने वस्तुगत (Objective) सत्य से मानव आत्मा में प्रेम और शांति की उद्भावना करे।

पुस्तक का विषय तो बहुत आकांक्षापूर्ण रहा है—यथा सृष्टि के अभ्युदय से आज तक मानव की प्रगति और यह कार्य कितना दुःसाहस पूर्ण है इसकी कल्पना की जा सकती है। अतः पुस्तक में इस विषय की केवल मोटी मोटी बातों की रूपरेखा मात्र दी गई है। इतना भी निभ गया है या नहीं, इसमें संदेह हो सकता है। किंतु इतनी आशा तो अवश्य है कि पुस्तक पढ़ने से चेतना कुछ तो जाग्रत होगी।

उन सब लेखकों के प्रति कृतज्ञ हूं जिनकी कृतियों की सहायता से यह "कहानी" प्रस्तुत हो सकी।

वनस्थली विद्यापीठ,
वनस्थली (राजस्थान)
१४ जनवरी १९५१

राजेश्वर गुप्त

मानव की कहानी

पुस्तक की योजना

पुस्तक निम्न ७ खण्डों में विभक्त है !

१. **सृष्टि की अभिव्यक्ति**—अनिश्चित अतीत काल से लेकर आज से लगभग ५ लाख वर्ष पूर्व तक । विश्व के अभ्युदय काल से मानव उद्भव काल के पूर्व तक ।

२. **मानव का उद्भव**—आज से लगभग ५ लाख वर्ष पूर्व से ई. पू. प्रायः ६ हजार वर्ष तक । मानव के प्रारम्भिक उद्भव काल मे लेकर पूर्ण विकसित मानव "होमो सपियन" के आगमन और प्रारंभिक सभ्य जीवन तक ।

३. **मानव की सर्व प्रथम सभ्यतायें**—६०००—२००० ई. पू. तक—सभ्यतायें जो अब लुप्त हैं ।

४. **मानव इतिहास का प्राचीनयुग**—२००० ई. पू. से ५०० ई. सन् तक ।

५. **मानव इतिहास का मध्ययुग**—५००—१५०० ई. तक

६. **मानव इतिहास का आधुनिकयुग**—१५००—१९५० ई तक

७. **भविष्य की ओर संकेत**

—*—

मानव की कहानी

(सृष्टि और मानव विकास का इतिहास–
सृष्टि के आदि से १९५० तक)

विषय-सूची

पहला खंड

सृष्टि की अभिव्यक्ति

(अनिश्चित अतीतकाल से लेकर आज से प्रायः ५ लाख वर्ष पूर्व तक)

अर्थात्

विश्व के अभ्युदय काल से "मानव उद्भव" काल के पूर्व तक

दूसरा खंड

मानव का उद्भव

(आज से लगभग ५ लाख वर्ष पूर्व से ई. पू. प्रायः ६००० वर्ष तक)

अर्थात्

मानव के प्रारम्भिक उद्भव काल से लेकर पूर्ण विकसित मानव के आगमन और प्रारम्भिक जीवन तक

तीसरा खंड

मानव की सर्वप्रथम संगठित सभ्यतायें

(जो अब प्रायः लुप्त हैं)

(अनुमानतः ६०००-२००० ई. पू. तक)

चौथा खंड

मानव इतिहास का प्राचीन युग

(२००० ई. पू. से सन् ५०० ई. तक)

पांचवां खंड

मानव इतिहास का मध्ययुग

(५००–१५०० ई.)

तिथिक्रम, अनुक्रमणिका एवं सहायक पुस्तकों की सूची दूसरे भाग के अन्त में

चित्रों एवं मानचित्रों की सूची

मानव की कहानी

(सृष्टि और मानव विकास का इतिहास–
सृष्टि के आदि से १९५० तक)

मानव की कहानी

१

विषय-प्रवेश

—:०:—

हम मानव हैं–इस पृथ्वी पर रहते हैं। सूर्य और चन्द्रमा दो प्रकाश-पुंज और टिमटिमाते हुए अनन्त तारे हम प्रतिदिन देखते हैं। सूर्य हमें प्रकाश और ताप देता है जिससे हमारे प्राण स्थित हैं। आज बीसवीं शताब्दी है, जिसमें हम रह रहे हैं। हमारी यह मानव-जाति अर्थात् हम, कब सबसे पहिले पैदा हुए–कैसे उत्पन्न हुए–आखिर क्यों उत्पन्न हुए, कहां से ये सूर्य चंद्र और तारे आए, कहां से यह पृथ्वी आई, कितने वर्ष हमको रहते होगये ? मानव-जाति के आदिम, सबसे पहले वाले

आदमी अर्थात् हमारे आदि-पूर्वज भी क्या वही खाते पीते थे जो आज हम खाते पीते हैं,—क्या वे वैसे ही रहते थे जैसे आज हम रहते हैं—इत्यादि इन बातों के जानने की स्वाभाविक उत्सुकता हम सब लोगों में हो सकती है। तुरन्त हममें से कुछ कहेंगे-अरे, इसमें कौन सी नई बात है-खुदा के दिल में यह सब बात आई और एक दिन बैठकर यह सब उसने बना डाला। फिर कुछ कहेंगे अरे यह कोई बात नहीं—अनादि काल से हम रहते हुए आये हैं, अनन्त काल तक हम रहेंगे। हम कब पैदा हुए कैसे पैदा हुए-यह प्रश्न ही नहीं उठता। किन्तु बात इतनी सरल नहीं। आज यह एक निश्चित और सिद्ध बात है कि एक समय था जब कि यह पृथ्वी जिस पर आज हम रह रहे हैं, इतनी भयंकर गरम थी, आग की तरह इतनी तेज तपती थी कि इस पर मानव ही क्या, वरन् किसी प्रकार का भी जीव नहीं रह सकता था। अर्थात् एक समय था जब कि इस पृथ्वी पर वनस्पति छोटे मोटे जीव जानवर, मानव लोग, इत्यादि कोई भी नहीं रहते थे। यही पृथ्वी धीरे धीरे ऊपर से ठण्डी हुई, जीवों के रहने लायक यह स्थल बना और फिर जीव, जानवर, मनुष्य इस पृथ्वी पर आविर्भूत हुए—प्रकट हुए; और खाने पीने और रहने लगे। किन्तु आज जिस प्रकार हम खाते पीते और पहिनते हैं, रहते हैं, तार से खबर भेजते हैं, टेलीफोन से हजारों मील दूर बैठे हुए अपने मित्र सम्बन्धियों से प्रत्यक्ष बात करते हैं, दूर दूर देशों

की खबरें, संगीतज्ञों के संगीत घर बैठे बैठे रेडियो से सुन लेते हैं, बटन दबाते ही रात्रि के समय घर में उजाला कर लेते हैं,-यह तमाम बातें उस आदि–मानव को मालूम नहीं थीं जो सर्व-प्रथम इस पृथ्वी पर रहने लगा। वह आदि-मानव किस तरह रहता था, क्या खाता-पीता पहिनता था, क्या सोचता था, किस प्रकार धीरे धीरे उसकी जाति की अभिवृद्धि हुई, वह विकसित हुई, और उसी की सन्तान आज हम अपनी इस विचक्षण सभ्यता में रह रहे हैं, यह सब किस प्रकार हुआ, कहां से ये सूर्य, चन्द्र, तारे आये, इत्यादि, सब यह एक दिलचस्प कहानी है। यह कहानी हमें मालूम होनी चाहिए।

२

सृष्टि एक आश्चर्य

यह सृष्टि है, यह जीवन है और तुम हो। यह सृष्टि है जिसमें प्रातःकाल उषा गुलाल बिखेरती आती है और सूर्य का स्वागत करती है। सूर्य दूर बहुत दूर जहां आकाश का छोर है, चुपके से प्रकट होता है और सब तरु पल्लव, वनस्पति,

असंख्य जीव प्राणियों को अपनी प्राणदायिनी रश्मियां प्रदान करता हुआ आगे बढ़ता है। दिन भर समस्त आकाश मँडल की यात्रा करता हुआ सायं अस्त होजाता है, और फिर निरभ्र रात्रि में अनन्त आकाश में, दूर २ तक टिमटिमाने लगते हैं तारे असंख्य। कब से कितने वर्षों से सूर्य उदय-अस्त होता आरहा है कितने वर्षों से तारे टिमटिमाते हुए आरहे हैं और कितने विशाल हैं ये? और फिर हो तुम और तुम्हारा जीवन। कितने बड़े हो तुम और कितना बड़ा तुम्हारा जीवन—यह कभी सोचा? कब, क्यों यह सृष्टि पैदा हुई क्यों आप इसमें टपक पड़े? किसी ने आपको निमन्त्रण दिया था-किसी ने आपको बुलाया था, या आपने स्वयं कभी चाहा था कि इस संसार में आप चले आयें? ये बातें कभी आपकी चेतना से आकर टकराई हैं—इन बातों ने कभी आपकी चेतना में कुछ सिहरण, कभी कुछ गति पैदा की है?

इस पृथ्वी पर जिस पर हम रहते हैं अपना घर बनाए हुए हैं, कैसी है इसकी शकल, कितनी बड़ी है यह? हम अपने प्रत्यक्ष अनुभव से तो देखरहे हैं कि यह चपटी है ठीक है, प्रकृति ने तो कभी यह खयाल किया नहीं था कि हम वैज्ञानिक बनेंगे और इसीलिए प्रकृति ने हमारी आंख और कान इसी तरह के बना दिये कि हम साधारणतया पृथ्वी पर जीवन का व्यवहार चला सकें, हमारी दृष्टि इतनी विशाल नहीं बनाई कि हम दूर से दूरस्थ

वस्तु को भी देखलें–लाखों ऐसे तारे हैं जिनको हम देख ही नहीं पाते। हमारी दृष्टि इतनी सूक्ष्म नहीं बनाई गई कि हम सूक्ष्म से भी सूक्ष्म वस्तु को देख सकें। हमारी आंखों के सामने असंख्य कल्पनातीत इतने सूक्ष्म जीव प्राणी हैं, भूत द्रव्यों के इतने सूक्ष्म अणु परमाणु हैं जिन्हें हम अपनी आंखों से नहीं देख पाते। यदि ऐसी विशाल और सूक्ष्म दृष्टि प्रकृति हमें दे देती तो इस सृष्टि का चित्र ही हमारे लिए सर्वथा उससे भिन्न होता जैसा प्रत्यक्ष हम अपनी आंखों से आज देख रहे हैं। किन्तु फिर भी मनुष्य मनुष्य ही है। छोटा है किन्तु उसकी चेतना, उसकी बुद्धि विशाल है। उसने ऐसी दूरबीनें (Telescopes), ऐसे अणुवेक्षणीय यन्त्र (Microscopes) ईजाद कर लिए, ऐसे साधन उपलब्ध कर लिए और निरंतर करता हुआ जा रहा है कि प्रकृति अपने कोई भी रहस्य मानव चेतना से छिपा कर न रख सके। भू-तत्ववेत्ताओं ने, वैज्ञानिकों ने, ज्योतिषियों ने यह पता लगाया है कि यह पृथ्वी चपटी नहीं, गोल है। इसका व्यास ८००० मील है। इसका घेरा लगभग २५००० मील है। जल, मिट्टी, पहाड़–पत्थर, अनेक धातु ठोस और तरल पदार्थों की बनी हुई यह पृथ्वी वजन में १७० हजार शंख मन है। यह पृथ्वी किसी सर्प की फणी पर अचल स्थित नहीं वरन् आकाश में निराधार लटकी हुई, १०४० मील प्रति घंटा की चाल से लट्टू की तरह अपनी धुरी पर घूम रही है,

और अपनी धुरी पर घूमने के साथ साथ ६५००० मील प्रति घंटा की चाल से एक सुनिश्चित कक्ष में सूर्य के चारों ओर भी चक्कर काट रही है। ६० करोड़ मील का यह चक्कर है जिसे पृथ्वी ३६५$^{1}/_{4}$ दिनों में पूर्ण करती है। इसे सूर्य के चारों ओर वर्षतः घूमना पड़ता है, इसलिए आकाश में निराधार होते हुए भी यह पृथ्वी और किसी तरफ गिर नहीं जाती या लुड़क नहीं जाती। क्यों यह पृथ्वी एक सुनिश्चित कक्षा में सूर्य के चारों ओर घूम रही है ? क्यों कि यह पृथ्वी सूर्य का ही तो एक अन्डा बच्चा है। एक काल था,आज से लगभग दो अरब वर्ष पहिले जब न यह पृथ्वी थी न मंगल, बुध, बृहस्पति, शुक्र आदि ग्रह और न चन्द्र। केवल था सूर्य, एवं सूर्य जैसे अन्य असंख्य नक्षत्र-वे नक्षत्र जिन्हें आज हम रात में आकाश में टिमटिमाते हुए देखते हैं, जिनमें अनेक तो सूर्य की अपेक्षा लाखों गुणा बड़े हैं किन्तु दिखने में सूर्य से छोटे। बड़े होते हुए भी दिखने में छोटे क्यों ? क्योंकि वे हमारी पृथ्वी से सूर्य की अपेक्षा लाखों गुणा दूर हैं–दूर की चीज छोटी दिखती ही है। किन्तु यह सूर्य क्या है ? यह है भयंकर, धधकता हुआ, कल्पनातीत तीव्र गति से चक्कर काटता हुआ आग का एक गोला। इतना भयंकर रूप से धधकता हुआ कि उसमें सब धातु, सब द्रव्य पदार्थ, उसमें का सब कुछ वाष्प रूप में विद्यमान है— तरल एवं ठोस कुछ नहीं। अतएव वास्तव में यह हुआ कल्पनातीत भयंकर रूप से धधकता हुआ एक वाष्प पिंड। छोटा मोटा

पिण्ड नहीं—पृथ्वी से १३ लाख गुणा बड़ा, जिसका घेरा ८६४३६७ मील, और इतना गर्म की जिसकी सतह का ताप मान ६००० डिगरी सेण्टीग्रेड हो। १००^{0} के ताप में तो पानी भाप बन जाता है किन्तु ६००० डिगरी इतना ताप हुआ कि इसमें तो लोहा, तांबा तथा अन्य ठोस से भी ठोस धातु या पदार्थ भाप बनजाए। केवल इतना ही नहीं, किन्तु इतना अधिक ताप कि जिसमें उद्जन-वाति (हाईड्रोजन गैस) भी गैस रूप में न रहकर टूट टूट कर विद्युत-कण वन जाता है। इतना गर्म है यह कि यदि पृथ्वी अपनी कक्षा छोड़कर थोड़ी सी भी इसके समीप चली जाए तो वह जलकर भस्म हो जाए। और इतनी तीव्र गति इसकी है, ६७००० मील प्रति घंटा, कि कोई भी वस्तु इसके प्रभाव क्षेत्र में आपड़े तो अपनी झौंक के दबाव में उसे अपने साथ उड़ा ले जाए। जिस प्रकार बहुत तेज दौड़ती हुई रेलगाड़ी के डब्बे के अन्दर ही कुछ चीज उछाली जाए तो वह चीज भी गाड़ी की झौंक के साथ उसी तरफ चलती है जिस ओर गाड़ी जा रही है, वह चीज वहीं गिरती है जहां से उछाली गई थी, जिधर गाड़ी जा रही है उसकी विपरीत दिशा में नहीं।

तो आज से लगभग दो अरब वर्ष पहिले किसी कारण-वश् (देखिए अध्याय चतुर्थ) इस सूर्य में कुछ क्षोभ उत्पन्न हुआ और उस सूर्य के शरीर में से, उस सूर्य की वस्तु में से अनेक

टुकड़े पृथक हो होकर अलग जा पड़े। वे अग्निमय वाष्प के टुकड़े तीव्र गति से घूमते हुए सूर्य की झौंक के प्रभाव में सूर्य के ही चारों ओर घूमने लगे। याद रखिए दो अरब वर्ष पहिले, और वह गतिमय शक्ति इतनी जबरदस्त थी कि ये टुकड़े आज भी सूर्य के चारों ओर अप्रतिहत गति से चक्कर लगा रहे हैं। ये टुकड़े हैं वे वस्तु जिन्हें आज हम ग्रह कहते हैं। अपनी पृथ्वी इन्हीं टुकड़ों में का ग्रह है। अभी तक नव ग्रहों का पता लगा है: शुक्र, बुध, पृथ्वी, मंगल, बृहस्पति, शनि, वरुण, नेपच्यूं, प्लूटो, जिनमें वृहस्पति सबसे बड़ा, मंगल सबसे छोटा और पृथ्वी मझले क़द की है। कितनी दूर सूर्य से पृथक होकर ये टुकड़े गिरे ? बृहस्पति ४८ करोड़ ३३ लाख मील दूर, पृथ्वी ६ करोड़ ३० लाख मील दूर और इसी प्रकार। इन दूरियों की ज़रा कल्पना कीजिए। फिर सूर्य के ये अग्निमय वाष्प के टुकड़े धीरे धीरे ठण्डे होने लगे–ठंडा होने के फलस्वरूप ये ठोस बने, कुछ भाग तरल रूप में पानी बन गये और वैज्ञानिकों का कहना है कि आज से लगभग ५० करोड़ वर्ष पहिले अपनी पृथ्वी पर कुछ ऐसी विशेष भौतिक रासायनिक एवं वायुमण्डलीय परिस्थितियां उत्पन्न हो गईं कि पृथ्वी पर जीवों का प्रादुर्भाव हो सके। जीवों का प्रादुर्भाव हुआ, और शनैः शनैः साधारण और सरल जीवों से विकसित होते होते ऐसे प्राणी उद्भूत हुए जो मानव थे–जिनकी आप और हम सन्तान हैं। यह ग्रह, अपनी पृथ्वी तो शनैः शनैः ठण्डी

हुई और ऐसी भौतिक परिस्थितियां यहां उत्पन्न हुई कि जिनसे जीवन का उदय हो सका और फिर असंख्य जातियों के जीव-प्राणी इस पृथ्वी पर फैल गये—किन्तु अन्य आठ ग्रहों पर भी क्या ऐसी ही परिस्थितियों का विकास नहीं हुआ-वे भी तो आखिर पृथ्वी के साथ ही साथ अपने एक जनक सूर्य से ही उत्पन्न हुए थे। क्या ये अन्य ग्रह भी हमारी पृथ्वी की तरह अनेक जीव-प्राणियों के घर नहीं ? कौन जानता है ? कौन निश्चित पूर्वक इन बातों का उत्तर दे सकता है ? वैज्ञानिकों ने, ज्योतिषियों ने अनेक परित्तणों के बाद अनुमान लगाया है कि पृथ्वी को छोड़कर अन्य आठ ग्रह (मंगल के विषय में कुछ निश्चय--पूर्वक नहीं कहा जा सकता) इतने ठण्डे हो गये हैं कि उन पर किसी भी प्रकार के जीवन का अस्तित्व बिलकुल भी संभव नहीं। स्वयं पृथ्वी पर आप देखिए- प्राण और चेतना गतिमय और अकुलाते हुए पाए जाते हैं केवल पृथ्वी की सतह पर--ये प्राण पहुंच पाए हैं पृथ्वी की सतह के नीचे केवल तीन मील तक (जल-जीव) और पृथ्वी की सतह के ऊपर वायु-मण्डल में केवल ५ मील ऊपर तक। समुद्रों में तीन मील से अधिक गहराई के नीचे किसी भी प्राणी-जीव के चिन्ह नहीं हैं—कोई भी पत्ती वायु-मण्डल में ५ मील से अधिक ऊपर नहीं उड़ पाया है। मनुष्य ने इससे अधिक ऊंचा उड़ने का प्रयत्न किया है किन्तु बहुत कठिनता से। ज्यों ज्यों ऊपर जाते हैं

वायु-मण्डल हल्का होता जाता है और श्वास लेना अति कठिन, अतएव इस निर्दिष्ट ऊंचाई से अधिक ऊंचे स्थानों में प्राण की स्थिति बने रहना असंभव है। इससे आप कल्पना कीजिए- अपनी यह सूर्यमण्डली है। सूर्य केन्द्र में है, इतना विशाल यह है, इसके चारों ओर करोड़ों करोड़ों अरबों अरबों मील दूर अपने नव-ग्रह चक्कर लगा रहे हैं-सूर्य और इन ग्रहों के बीच अचिंत्य शून्य अवकाश (Space) है। इतने कल्पनातीत विशाल क्षेत्र में--चेतन अनुभूति करते हुए प्राण हैं केवल पृथ्वी की सतह पर। स्पष्ट है प्रकृतिने प्राण एवं चेतना के विकास के लिए कोई निश्चित,पूर्व निर्दिष्ट अपनी गति प्रारम्भ नहीं की थी, यदि ऐसा होता तो क्यों नहीं अन्य ग्रहों पर जीव होते ? ऐसा प्रतीत होता है, जीव का आगमन तो अचानक अ-पूर्वकल्पित, अनायोजित यो हीं कोई घटना हो गई। विश्व-योजना में मनुष्य या प्राणी-जगत का कोई स्थान मालूम नहीं होता। अब सोचिए--आप भी इस पृथ्वी पर शायद यों हीं टपक पड़े हों! अरे अपनी इस सूर्य--मण्डली की बात तो जाने दीजिए। आपने ऊपर पढ़ा, और आप देखते भी हैं कि असंख्य नक्षत्र ऊपर आकाश में टिमटिमाते हैं। अपना सूर्य इन विपुल-संख्यक नक्षत्रों में से एक नक्षत्र है। अर्थात् ये नक्षत्र भी पृथक पृथक एक एक सूर्य हैं। ये नक्षत्र अपनी पृथ्वी से अरबों अरबों मील दूर हैं--कितनी दूर ये हैं इसका अन्दाजा आप इससे लगाइए कि अपनी पृथ्वी

के सबसे निकट जो नक्षत्र है अर्थात् वही अपना सूर्य, वह पृथ्वी से ९ करोड़ तीस लाख मील दूर है। और जो तारा अपने सूर्य के सबसे निकट है उसकी दूरी हम आसानी से संख्या में प्रकट नहीं कर सकते। नक्षत्रों की दूरी को बतलाने के लिए ज्योतिषियों ने एक ढङ्ग निकाला है। हमको ज्ञात होना चाहिए कि जिस प्रकार पानी में कोई पत्थर या ढेला फेंक देने से उसमें तरंगें उठ जाती हैं उसी प्रकार प्रकाश की भी तरंगें होती हैं—और ये प्रकाश की तरंगें चलकर हमारे पास आती हैं इनकी चाल बहुत ही द्रुत-गामी होती है,--एक सेकिण्ड में एक लाख छियासी हजार मील। सूर्य के प्रकाश की भी तरंगें जो हमारे पास आती हैं उनको ९ करोड़ तीस लाख मील दूर का फासला तय करके हमारे पास आना पड़ता है और यह फासला तय करने में सूर्य के प्रकाश की किरणों को लगभग आठ मिनिट लग जाते हैं। इस प्रकार प्रकाश यदि एक सेकिण्ड में एक लाख छियासी हजार मील चलता है तो हिसाब लगाइये कि एक वर्ष में वह कितना चलेगा--एक वर्ष में वह चलेगा:

$$१८६००० \times ६० \times ६० \times २४ \times ३६५ \frac{१}{४} = १, ४६, ६४, २४, ०००००$$

मील, अर्थात् लगभग डेढ़ खरब मील। इस दूरी को ज्योतिषि लोग एक प्रकाश-वर्ष कहकर सम्बोधित करते हैं। इस प्रकार दो प्रकाश वर्ष का अर्थ होगा २ × १, ४६, ६४, २४, ०००००, अर्थात्

लगभग तीन खरब मील। अब नक्षत्रों की दूरी पर आइए। अपनी पृथ्वी के सबसे नजदीक तो अपना सूर्य ही है और अन्य असंख्य नक्षत्रों में से जो नक्षत्र अपने सूर्य के सबसे निकट है वह आपको मालूम है सूर्य से कितनी दूर है? उसकी दूरी है ४ "प्रकाश-वर्ष" अर्थात् वह प्रकाश जो एक सेकिण्ड में १ लाख ८६ हजार मील चलता है उसको सूर्य तक पहुंचने में चार वर्ष लगते हैं। इस प्रकार अनेकों तारे हैं जिनका प्रकाश अपनी पृथ्वी तक पहुंचने में एक नहीं, दो नहीं, चार नहीं, किन्तु लाखों वर्ष लगते हैं। इससे अपने मन में जरा कल्पना बैठाइए कि कितना विशाल यह विश्व है!

नक्षत्र भी प्रायः अपना एक समूह, अपना एक गुच्छ, अपनी एक मंडली बना कर रहते हैं। अंधेरी रात के आकाश में प्रकाश से पुती हुई जो एक सड़कसी मालूम होती है और जिसे हम "आकाश-गंगा" कहते हैं, वह भी नक्षत्रों का एक समूह है। अपना सूर्य इस आकाश गंगा का ही एक सदस्य है। इस आकाश-गंगा नामक नक्षत्र मंडली में लगभग एक खरब नक्षत्र हैं और ज्योतिषियों की अनुमानात्मक गणना है कि जिस प्रकार एक नक्षत्र-मंडली में प्रायः एक-खरब नक्षत्र हैं उसी प्रकार इस सम्पूर्ण आकाश (खगोल) में एक खरब नक्षत्र-मंडलियां हो सकती हैं। और जिस प्रकार एक नक्षत्र-मंडली

में एक एक नक्षत्र दूसरे नक्षत्र से खरबों खरबों मील दूर है उसी प्रकार एक एक नक्षत्र-मंडली दूसरी नक्षत्र-मंडली से संख्यों ० मील दूर है। यह तो अवकाश (Space) की बात हुई—अब कल्पना कीजिए काल की। अपनी पृथ्वी को सूर्य नामक वाष्प-पिंड में से आविर्भूत हुए तो केवल दो अरब वर्ष हुए हैं, किंतु उस सूर्य का भी तो कहीं से आविर्भाव हुआ होगा। अवकाश में अनेक ऐसे पिण्ड हैं जो बिखरी हुई वाष्प के रूप में हैं जिन्हें निहारिका कहते हैं। ज्योतिषियों का अनुमान है कि ऐसी ही किसी एक निहारिका में से सूर्य का अचिंत्य प्राचीन काल में प्रादुर्भाव हुआ। जिस प्रकार सूर्य का बनना हुआ, उसी प्रकार किसी काल में अन्य असंख्य नक्षत्र भी तो बने होंगे। इस प्रकार आगे बढ़ते जाइए और आपको ज्ञात होगा कि जिस प्रकार आकाश (Space) फैला हुआ है उसी प्रकार काल का फैलाव हुआ है। आज के सबसे बड़े वैज्ञानिक आइन्सटाइन का तो यह कहना है कि आकाश एवं काल दोनों समानान्तर हैं—जिस प्रकार आकाश (Space) किसी वस्तु का किसी एक दिशा में फैलाव है उसी प्रकार काल उसी वस्तु का दूसरी दिशा में फैलाव है। अन्यथा आकाश और काल में कोई भेद नहीं है। ज्यों ज्यों काल बीतता जारहा है अर्थात् काल का फैलाव होता जारहा है उसी प्रकार आकाश का फैलाव भी होता हुआ जारहा है। प्रसिद्ध वैज्ञानिक एडिंगटन की कल्पना है कि विश्व ऐसे रबर के गुब्बारे

की तरह है जिसे हवा भरकर फुलाया जारहा है, एवं हर १३ करोड़ वर्ष बाद यह विश्व का गुब्बारा फूलकर दुगुना बड़ा होजाता है। अर्थात् समय के प्रसार के साथ साथ आकाश का प्रसार भी होरहा है। फिर अपनी उस जी : की कल्पना को लीजिए जिसे हम छोड़ आए हैं। जिस प्रकार अपने नक्षत्र अर्थात सूर्य में से उसके कुछ अंश पृथक होकर ग्रह, पृथ्वी बन गए,-क्या यही बात अन्य नक्षत्रों के सम्बन्ध में संभव नहीं हो सकती ? उन नक्षत्रों के उत्पन्न होने के बाद कालान्तर में क्या उन नक्षत्रों की भी अपनी अपनी ग्रह मंडलियां नहीं बनी होंगी; उन ग्रहों पर भी कया यह संभव नहीं कि जल थल वनस्पति का विकास हुआ होगा और अंतमें चेतन प्राणियों का भी उदय हुआ हो। कौन कह सकता है? यदि जीव-प्राणियों का उदय हुआ हो तो कया उनका भी विकास उसी प्रकार का हुआ होगा जिस प्रकार का हमारा हुआ-क्या वे भी ऐसे ही प्राणी हैं जैसे हम ? कौन कह सकता है-कौन जानता है ? वैज्ञानिकों का तो केवल एक अध्यास-मात्र है कि स्यात् ऐसा नहीं हुआ ! स्यात् ऐसा हुआ हो। ये सब बातें कैसे हम अपनी कल्पना में संभाले ? यही कहकर टाल सकते हैं कि यह एक वैचित्र्य है।

यह वैचित्र्यकाल और आकाश की विशालता में ही समाप्त नहीं हो जाता। जितनी विशाल यह सृष्टि है उतनी ही यह सूक्ष्म

भी है। इस सृष्टि की विशालता जिस प्रकार अचिंत्य है, उसी प्रकार इसकी सूक्ष्मता भी अचिंत्य है। यह सूक्ष्म विश्व आंखों से नहीं देखा जाता; फिर भी वास्तव में समस्त सृष्टि का मूल अदृश्य सूक्ष्मता में ही निहित है। मूल में यह सृष्टि ऐसी किस सूक्ष्म चीज की बनी है यह हमें देखना है। वैज्ञानिकों ने पता लगाया था कि वे आधार भूत पदार्थ, मौलिक पदार्थ, जिनका यह विश्व बना है, कुल ९२ हैं। जैसे उद्जन, (Hydrogen) जारक, (Oxygen)क्लोरीन, इत्यादि गैस; लोहा, सोना, तांबा, सिलिकंट, प्रागांर (Carbon) इत्यादि अन्य पदार्थ। मौलिक आधार-भूत पदार्थ का मतलब है ऐसे पदार्थ जो स्वयं सिद्ध हैं— जो किन्हीं अन्य दो या दो से अधिक पदार्थों के मिश्रण से नहीं बने। जैसे पानी मिश्र मौलिक पदार्थ नहीं क्योंकि यह तो अन्य दो मौलिक पदार्थों यथा हाइड्रोजन एवं ओक्सिजन से मिलकर बना है। लोहा मौलिक पदार्थ है, क्योंकि इसमें अन्य किसी पदार्थ का मिश्रण नहीं, यह स्वतः ही अलग एक वस्तु है। और उदाहरण लें—जैसे नमक, एक मौलिक पदार्थ नहीं क्योंकि यह सोडियम एक ठोस एवं क्लोरीन एक गैस पदार्थ से मिलकर बना है, और सोडियम और क्लोरीन मौलिक-पदार्थ हैं क्योंकि वे अन्य किन्हीं भी पदार्थों के मिश्रण से नहीं बने। हिन्दू धर्म-शास्त्र पांच ऐसे मौलिक पदार्थ मानते हैं जिनसे ये समस्त विश्व बना है यथा पञ्च-महा-भूत,- पृथ्वी,

तेज, जल, वायु, आकाश। हम अपनी नासमझी के कारण इन पांच महाभूतों को पांच "पदार्थ" समझ बैठे हैं। ये पञ्च महाभूत पांच पदार्थ नहीं हैं किन्तु ये तो प्रकृति की आदि स्थिति की पांच अवस्थाएं हैं, प्रकृति के पांच आदि गुण हैं। इसलिए इन पञ्च महाभूतों की बातों को वैज्ञानिकों की ९२ मौलिक पदार्थों की बात से नहीं मिलाना चाहिए। ये ९२ मौलिक-पदार्थ जिन्हीं के योग-वियोग से संसार की सभी चीजें बनी हैं, वे स्वयं कैसे बने हैं? एक एक पदार्थ बहुत छोटे छोटे टुकड़ों का बना हुआ है—एक मौलिक पदार्थ के टुकड़े करते करते जब इतने सूक्ष्म टुकड़े हो जायें कि उन्हें और अधिक न तोड़ा जा सके तो उन अन्तिम छोटे टुकड़ों को हम अपनी भाषा में परमाणु और अंग्रेजी भाषा में आटम् (Atom) कहते हैं। भिन्न भिन्न मौलिक पदार्थों के परमाणु (Atom) भिन्न भिन्न गुणों के होते हैं। ये परमाणु इतने सूक्ष्म होते हैं कि दस करोड़ परमाणुओं को एक पर एक सजाने से उनका माप केवल एक इंच होता है। तो अभी तक जो कुछ कहा गया है उससे तो यह परिणाम निकला कि यह समस्त सृष्टि-इसके सूर्य, चन्द्र, पृथ्वी, ग्रह, तारे–९२ भिन्न भिन्न पदार्थों के परमाणुओं (Atoms) से बने हैं। कुछ वर्षों पूर्व तक ऐसा ही विश्वास किया जाता था और ये ही बातें विज्ञान में सिखलाई जाया करती थीं। किन्तु विज्ञान ने प्रगति की—और आज से कुछ ही वर्ष पूर्व सन् १९११ में—यह

तथ्य प्रगट हुआ कि जिसे हमने परमाणु कहा था वह भी विशेष सूक्ष्म अवयवों में तोड़ा जासका और उस परमाणु के भीतर " सूक्ष्मतर परमाणु " पाये गये। जब इन " सूक्ष्मतर परमाणुओं " का परीक्षण किया गया तो इनकी प्रकृति ही दूसरी प्रकार की निकली—ये " पदार्थ कण " नहीं थे, ये निकले विद्युत् कण, ये द्रव्य पदार्थ के कण नहीं थे, ये पाये गये शक्ति-कण। इस रहस्य के उद्घटित होते ही हमने सृष्टि–रचना की विश्व–गठन की जो शकल सोच रखी थी वह मूलतः परि-वर्तित हो गई। जिस प्रकार विद्युत् में हां–धर्मी (Positive) और ना–धर्मी (Negative) दो जातियों के कण पाए जाते हैं और हां–धर्मी (Positive) ना–धर्मी (Negative) कणों को अपनी ओर आकर्षित करते हैं,—यही हाल भूत–द्रव्य के परमाणु में पाया गया। भूत--द्रव्य के परमाणु के केन्द्र में हां-धर्मी कण (प्राणु = Proton) पाए गए और उस केन्द्र के चारों ओर तीव्र गति से चक्कर लगाते हुए पाए गये ना–धर्मी कण (विद्युदणु = Electrons)। यह भी पता लगाया गया कि केन्द्र में स्थित प्राणु (प्रोटोन) के चारों ओर विद्युदणु (इलेक्ट्रोन्स) के दौड़ने का वेग प्रति सेकिण्ड प्रायः १३५० मील है। इस रहस्य ने पूर्वोक्त इस बात को कि ९२ आदि-भूत (मौलिक-पदार्थ) ही विश्व के मौ-लिक-पदार्थ हैं, अप्रमाणित कर दिया। भिन्नता में एकता के दर्शन हुए और साथ ही साथ यह

भी दर्शन हुआ कि समस्त विश्व-सृष्टि के मूल में विद्युत-कणों का ही " युग्म-नृत्य " चल रहा है। ऐसे ही नृत्य के दर्शन हमने अपने सौर-परिवार (सूर्य-मंडली) में किए थे। सूर्य जिस प्रकार सौर-लोक के केन्द्र में रहकर आकर्षण की शक्ति से पृथ्वी को अपने चारों ओर घुमा रहा है, प्राणु (प्रोटोन) भी उसी प्रकार परमाणु के केन्द्र में रहकर विद्यु-दणु (इलक्ट्रोन्स) को अपने चारों ओर घुमा रहा है—मानों पिण्ड में ब्रह्मांड स्थित है और ब्रह्मांड में पिण्ड। इस विचित्र सृष्टि की पृष्ठ-भूमि में--इस विचित्र सृष्टि का ही अंग हो कर--'चेतनामय- मानव', प्रेम-अप्रेम, सुख दुख एवं हर्ष-विषाद की अनुभूति करता रहता है।

इस अद्भुत अनुपम सृष्टि की कैसे और कहां से उत्पत्ति हुई ?

३

सृष्टि, पृथ्वी एवं आदि जीवों का इतिहास जानने के साधन

सृष्टि, पृथ्वी एवं जीवों का इतिहास जानने में हम लोगों के सबसे बड़े सहायक विज्ञान-वेत्ता ही हुए हैं। समय समय पर

उन्होंने अपने अनेक अन्वेषणों के द्वारा सृष्टि एवं जीवों के विषय में अनेक तथ्यों का उद्घाटन किया है, और करते हुए जारहे हैं। विज्ञानवेत्ता की यह मान्यता होती है कि सृष्टि में संभवतः कोई भी घटना, कोई भी कार्य ऐसा नहीं होता जो स्वतः ही मनमाने बिना किसी उपयुक्त कारण के घटित होजाये। उसकी मान्यता है कि सृष्टि में जो कुछ भी होता है उसका समझ में आने वाला सही कारण ढूंढ़ा जा सकता है। यह बात सत्य है कि आज अनेक घटनायें जो हमारे सामने प्रकृति में होती रहती हैं--आज अनेक प्रकार की स्थिति, अनेक प्रकार के तथ्य जो हमारे सामने आते हैं उन सबका सही सही कारण हम नहीं जानते, उनको वैज्ञानिक आधार पर हम नहीं समझा सकते; हमारा ज्ञान अभी इतना अल्प है; किंतु साथ ही साथ यह बात भी सत्य है कि शनैः शनैः हमारे ज्ञान की वृद्धि हो रही है और वे अनेक घटनायें जिनको आज हम नहीं समझा पाते, उनको कल वैज्ञानिक आधार पर, कारण कार्य के आधार पर, समझा पायेंगे। अतएव जो कुछ भी आज हम सृष्टि, पृथ्वी एवं जीवों की उत्पत्ति, विकास एवं स्थिति के विषय में जानते हैं—उसके लिये हम यह नहीं कह सकते कि वह जानकारी सम्पूर्ण है। उनमें से बहुतसी बातें तो केवल अनुमान से मानली गई हैं, और यह संभव है कि भविष्य में किसी भी या किन्ही भी नये तथ्यों का उद्घाटन होने पर, हमें अपनी आज की धारणाओं में परिवर्तन करना पड़े।

सृष्टि के नक्षत्र, आकाश-अवकाश, सूर्य, चन्द्र, ग्रह, तारों के विषय में जो ज्ञान संपादन हुआ है, उसके विशेषतः निम्न लिखित मुख्य आधार रहे हैं:—

क. **दूरबीन** (Telescope) **यन्त्र**–यह एक ऐसा यन्त्र होता है जिसकी सहायता से लाखों मील दूर के ग्रह नक्षत्र ऐसे स्पष्ट दिखलाई देने लग जाते हैं मानो वे २०-२५ मील दूर हों। यह यन्त्र किसी भी बहुत दूर की वस्तु के आकार को बड़ा करके दिखाता है। दूरबीन का आविष्कार १७ वीं शताब्दी में इटली के साइंसवेत्ता गेलेलियो ने किया था। गेलेलियो के बाद तो बहुत बड़ी बड़ी और विशाल पर्यवेक्षण शक्तिवाली दूरबीनें बनाई गईं। अमेरिका की विल्सन ऑबजर्वेटरी में एक बहुत विशाल दूरबीन की स्थापना की गई है। फिर जून ३ सन् १९४८ के दिन पलोमार ऑबजर्वेटरी में "हेल" नामक दूरबीन का उद्घाटन समारोह हुआ। इस दूरबीन का काँच २०० इंच मोटाई का है और आशा की जाती है कि इससे नक्षत्र लोक के अनेक रहस्यों का पता लग सकेगा।

ख. **रश्मिवर्णदर्शक यन्त्र**–(Spectroscope) अनेक नक्षत्रों की दूरी इतनी विषम है कि कितने ही भी मोटे लैंस वाले दूरबीन के लिये यह बूते की बात नहीं थी कि वह उन

कल्पनातीत दूरस्थ नक्षत्रों की दूरी का या उनके परिमाण का कुछ भी अनुमान लगा सके। इसके लिये साइंस-वेत्ताओं ने एक अन्य अद्भुत यन्त्र का निर्माण किया। इसे "रश्मिवर्ण दर्शक" यन्त्र कहते हैं। यह यन्त्र दूरबीन, फोटोग्राफी, एवं बिजली के सिद्धान्तों के योग से बनाया गया है, एवं करोड़ों करोड़ों मील दूर के नक्षत्रों का भी ज्ञान इससे प्राप्त किया जा सकता है।

ग. **प्रकाश का वेग**–भौतिक शास्त्र द्वारा उद्घाटित यह एक तथ्य है कि प्रकाश की किरणें होती हैं और प्रकाश की ये किरणें एक सेकिण्ड में १ लाख ८६ हजार मील के वेग से चलती हैं। इस तथ्य ने नक्षत्रों की दूरी आदि जानने में बहुत सहायता दी।

घ. **गुरुत्वाकर्षण**–इङ्गलैंड के साइंसवेत्ता न्यूटन ने १७ वीं शताब्दी में गुरुत्वाकर्षण का सिद्धान्त निकाला–जिससे यह तथ्य उद्घाटित हुआ कि सब ग्रह, पृथ्वी, चन्द्र, सूर्य एक दूसरे की आकर्षण शक्ति से अपने सुनिश्चित कक्षों में एक दूसरे के चारों ओर चक्कर लगा रहे हैं। इस सिद्धान्त से भी सृष्टि के विषय में बहुत सी बातों का पता लगा।

ङ. **सापेक्षता सिद्धान्त**- आज के प्रसिद्ध साइंसवेत्ता आइन्सटाइन ने प्रसिद्ध सिद्धान्त सापेक्षतावाद की प्रस्थापना की। यह सिद्धान्त उपर्युक्त गुरुत्वाकर्षण के सिद्धान्त का एक प्रकार से पूरक है, किंतु साथ ही साथ यह बतलाता है कि अवकाश (Space), काल (Time), मूतत्व (Matter) सब सापेक्ष घटनायें हैं—इनमें से कोई भी वस्तु स्वतंत्र, एक दूसरे से निर्पेक्ष नहीं। समस्त सृष्टिका—सम्पूर्ण खगोल का—एक सही सही खाका, एक तस्वीर बनाने में, इस सिद्धान्त ने बहुत सहायता की।

च. **सूक्ष्मतम परमाणु—विद्युदणु (इल्कट्रोन), प्राणु (प्रोटोन), इत्यादि का आविष्कार**-२०वीं शताब्दी में अनेक भू-शास्त्रज्ञों ने इल्कट्रोन, न्यूट्रोन, प्रोटोन, इत्यादि के आविष्कारों द्वारा यह बतलाया कि समस्त भिन्न भिन्न भू-पदार्थ मूल में एक ही तत्व हैं—और फिर अजाणुवाद (क्वान्टम सिद्धान्त) एवं तरंग यान्त्रिकी (वेव मैकेनिक्स) के सिद्धान्तों से यह स्थापित हुआ कि यह 'तत्व' एक वस्तु नहीं, किंतु एक गति है, एक प्रवाह है,-जिस प्रकार बिजली या प्रकाश एक गति (चलने वाली चीज या एक शक्ति) है।

पृथ्वी एवं जीवों के विषय में ज्ञान सम्पादन के आधार मुख्यतय: निम्न रहे हैं—

क. **भूगर्भशास्त्र**—भूगर्भशास्त्र विज्ञान की एक प्रथक ही शाखा है, जो पृथ्वी के गर्भ, पृथ्वी के निर्माण, बनावट आदि के विषय में जानकारी हासिल करने के लिये प्रयत्न करता रहता है। भूगर्भशास्त्रवेत्ताओं ने एक विचित्र यंत्र का निर्माण किया जिसे भू-मापक (Sesmograph) कहते हैं- इस यंत्र ने पृथ्वी की भीतरी अवस्था को जानने में हमारी बहुत सहायता की।

उपर्युक्त शास्त्र ने यह तथ्य बतलाया कि पृथ्वी की ऊपरी सतह एक दूसरे पर जमी हुई अनेक चट्टानों की बनी हुई है-इन्हें स्तरीय चट्टान कहते हैं। चट्टानों के स्तरों की परीक्षा करने पर यह पता लगा कि उनमें (भिन्न भिन्न स्तरों—सतहों में) प्राचीन जीव प्राणियों के शरीरों के अनेक अवशेष चिन्ह मिलते हैं—यथा, हड्डियां, औजार, पत्ते, टहनियां, खोखले इत्यादि। ये चीजें बहुधा तो पथराई हुई स्थिति (फोसिल स्थिति) में मिलती हैं। जिन जिन स्तरों में ये चीजें मिलती हैं उनसे यह तो पता लगता है कि जिस जिस काल की वे चट्टानों की स्तरें हैं,—उस उस काल में पृथ्वी पर उस प्रकार के प्राणी रहते थे-एवं उस प्रकार की वनस्पति भी, जिसके फोसिल (अवशेष चिन्ह) उन चट्टानों में

मिलते हैं। अब प्रश्न यह रहा कि इन चट्टानों का काल कैसे निर्धारित हो। चट्टानों के काल जानने का पहिले तो इस सिद्धान्त पर एक ढंग अपनाया गया कि मिट्टी की कितनी मोटी तह प्रति वर्ष जमती है। किंतु इसमें गल्तियां होने की अनेक संभावनायें हैं क्योंकि सभी जगहों पर एक वर्ष में समान मोटाई की तहें नहीं जमतीं, कहीं २ तो एक हजार वर्ष में ५ फीट मोटी मिट्टी की तह जम जाती है और कहीं ४ हजार वर्ष में जाकर १ फुट मोटी तह जमती है। इसलिये चट्टानों का काल जानने का दूसरा ढंग निकाला गया।

ख. **रेडियो क्रिया**–उरा-नियम एक धातु है जिसकी विशेषता यह है कि यह स्वयं ध्वस्त होती रहती है। इसके परमाणु छिटक छिटक कर इससे प्रथक होते रहते हैं और कुछ काल में यह धातु अपने आप शीशे के रूप में परिवर्तित होजाती है। प्रारंभ में पृथ्वी में सभी तत्व रहे होंगे, जिसमें उरानियम भी रहा होगा। भिन्न २ चट्टानों में उरानियम एवं शीशा किस अनुपात से मिलता है, इसका पता लगाया जासकता है-और उससे काल का पता इस आधार पर लगाया जासकता है कि इतने काल में इतना यूरानियम शीशे में परिवर्तित होजाता है।

ग. **फ्लोरीन परीक्षा**–भिन्न भिन्न चट्टानों की आयु एवं उन

चट्टानों की स्तरों में पाये जाने वाले पौधों और जानवरों के फोसिल्स की आयु का पता लगाने में एक और कठिनाई रही है। यदि चट्टानों की एक के बाद दूसरी स्तर जिस प्रकार जमा होती गई, उसी प्रकार वे बनी रहतीं तो उनमें स्थित फोसिल्स की आयु का पता लगाने में कोई विशेष कठिनाई नहीं होती; किंतु बार बार पृथ्वी में भूचाल आने से, एवं अनेक अन्य उथल पुथल होने से ऐसा हुआ है कि एक स्तर के फोसिल्स दूसरे स्तरों में मिल गये. अर्थात आज चट्टानों की एक स्तर में पाये जाने वाले फोसिल्स (अवशेष चिन्ह) भिन्न भिन्न काल के होसकते हैं। पिछले वर्षों में इस कठिनाई को भी दूर किया गया है। मनुष्य की सत्यान्वेषण की वृत्ति उसे चैन से नहीं बैठने देती और जब तक उसे सच्चे तथ्य का पता नहीं लगजाता वह संतुष्ट नहीं होता। अन्वेषण करते करते इस बात का पता लगा कि जीव की हड्डी चट्टानों में पड़ी हुई ज्यों ज्यों फोसिल के रूप में परिवर्तित होती जाती है अर्थात् ज्यों ज्यों वह पथराने लगती है, वह फ्लोरीन नामक एक गैस अपने अंदर जज्ब करती रहती है। जितनी ही ज्यादा पुरानी हड्डी होगी उतनी ही ज्यादा फ्लोरीन की मात्रा उसमें होगी। इस परिक्षण से पता लग सकता है कि कोई फोसिल (प्राचीन जीव की हड्डी का अवशेष) कितना पुराना होगा। इस प्रकार के

परीक्षण से चट्टान की स्तरों में पथराई हुई स्थिति में पाई जाने वाली कई पुराने जीवों की हड्डियों के काल का पता लगाया गया है।

घ **विकासवाद**–उपरोक्त साधनों से, एवं प्रकृति, वनस्पति और जीवों के हजारों वर्षों के निकट निरीक्षण और परीक्षण से, जीवशास्त्र वेत्ताओं ने 'विकासवाद' के सिद्धान्त का पता लगाया। इसे सिद्धान्त के उद्घाटित होने से यह बात स्थापित हुई कि जीवों का क्रमिक विकास होता रहता है। मनुष्य स्वयं अपनी श्रेष्ठ स्थिति तक, धीरे धीरे सूक्ष्म जीवों की कोटि में से विकास प्राप्त करता हुआ ही पहुँच पाया है।

ङ. **कार्बन (१४) परीक्षण**–अमेरिका के शिकागो विश्व-विद्यालय की अणु-विज्ञान का अध्ययन करने वाली प्रयोगशाला (Institute for Nuclear studies) में एक और ढ़ंग का आविष्कार हुआ है, जिससे फोसिल्स (पथराई हुई हड्डियां, पत्ते आदि) की आयु का निश्चितरुप से सही पता लग सकता है। पुराने फोसिल्स में एक विशेष प्रकार का कार्बन (प्रांगार) मिलता है जिसका वैज्ञानिकों ने "कार्बन चतुर्दश" (प्रांगार १४) नाम रक्खा है। यह पदार्थ भी रेडियो क्रिया वाले पदार्थ (तेजोद्गार पदार्थ) की भांति

छितरता रहता है, उसका ह्रास होता रहता है, और अन्त में वह साधारण कार्बन के रूप में परिवर्तित हो जाता है। वह गति जिससे यह क्रिया होती रहती है अपरिवर्तन शील है, हमेशा के लिये एक है। इस गति, और फोसिल में अवशेष कार्बन चतुर्दश की मात्रा की तुलना करके वैज्ञानिक उस फोसिल की निश्चित आयु मालूम करलेते हैं। ऐसी आशा है इससे प्राचीन सभ्यताओं, एवं अनेक प्राचीन तथ्यों के काल निर्धारण में काफी सहायता मिलेगी।

४

इस आश्चर्यमयी सृष्टि की उत्पत्ति कब और कैसे ?

धार्मिक कल्पना—ईसा के ४००४ वर्ष पूर्व अर्थात् आज से लगभग ६००० वर्ष पूर्व इस सृष्टि की रचना ईश्वर ने की। ईश्वर ने पहले दिन-रात, जमीन-आसमान बनाए, फिर वनस्पति अनेक जीव-जन्तु एवं मानव। ईश्वर ने समस्त जातियों के जीव-जन्तु, वनस्पति-प्राणी एक ही बार बना दिए और उन्हीं की परम्परा चलती है। इस सृष्टि को बनाने में ६ दिन लगे और ७ वें दिन ईश्वर ने आराम

किया। आज से कुछ ही वर्ष पूर्व तक दुनिया के ईसाई एवं यहूदी लोग अपनी धर्म-पुस्तक बाइबल के आधार पर यही विश्वास किया करते थे और उनको यही सिखलाया जाता था। सृष्टि की रचना के विषय में मुसलमानों की धर्म-पुस्तक 'कुरान' में भी यही मत मान्य है। मुसलमानों ने यहूदियों के सम्पर्क से ही यह बात अपने धर्म में ली होगी। इस प्रकार हम पाते हैं कि करोड़ों सभ्य लोग केवल कुछ वर्षों पहिले तक यही माने बैठे थे कि निश्चित रूप से ईसा के ठीक ४००४ वर्ष पहिले दुनिया बनी। पारसियों की धर्म-पुस्तक 'जेन्दावस्ता' में हम ऐसा ही विवरण पाते हैं कि एक व्यक्तिरूप (Personal) परमात्मा अहुरमज्द ने सृष्टि की रचना की। सृष्टि की उत्पत्ति के विषय में इन विचारों को अब स्यात् ही कोई मान्यता देता हो।

सृष्टि की उत्पत्ति के विषय में हिन्दू-मत—सृष्टि के विषय में जो हिन्दुओं का मत है उसका आधार है वेद, उपनिषद्, दर्शन-शास्त्र एवं पुराणों में मिलने वाले तत्सम्बन्धी अनेक मन्त्र या श्लोक। इन सबका भी मूल आधार है ऋग्वेद का नासदीय-सूक्त। इन सबके आधार पर सृष्टि-रचना के विषय में एक कल्पना बनती है, एक चित्र बनता है। इस चित्र को समझाने के लिए हिन्दू तत्व-ज्ञान की एक आधार-भूत बात पहिले समझ लेनी चाहिए। वह यह है कि जिस अर्थ में हम

उत्पत्ति समझते हैं, उस अर्थ में सृष्टि की उत्पत्ति नहीं होती– किसी भी वस्तु की उत्पत्ति नहीं होती। यह प्रकृति सत्व, रजस और तमस् इन तीन गुणों वाली है। इन गुणों की साम्यावस्था का नाम प्रकृति है। इन में से प्रत्येक के उद्रेक से भिन्न स्वरूप सृष्टि हो जाती है। इस प्रकार किसी वस्तु की उत्पत्ति नहीं होती परन्तु एक विशेष रूप से आवि-र्भाव का ही नाम उत्पन्न होना है। जगत वस्तुओं का जिससे स्थिरता प्रकट होती है समूह नहीं वरन् घटनाओं, प्रक्रियाओं (Processes) सतत आवि-र्भावों का समूह है। अतएव कहीं पर भी, कभी भी, भूत-द्रव्य (Matter) का कोई प्रारम्भ नहीं, न ही शक्ति (Energy) का कोई प्रारम्भ है; - न ही इस सृष्टि के उपादान कारण (वह चीज जिससे सृष्टि बनी है) का कोई प्रारम्भ है। प्रारम्भ तो केवल प्रक्रिया (Process) का, आविर्भाव (Evolution) का होता है और उसी का चक्र सतत चलता रहता है। विकास के आदि में जो स्थिति थी वह अचिंतनीय थी। तब (प्रारम्भ में, दृश्य सृष्टि के पहिले) ना सत् था और ना असत, ना ही था आकास, ना ही अन्तरिक्ष। मृत्यु या अमरत्व (अमृत) का कोई भेद नहीं था, रात-दिन की कोई पहिचान नहीं थी। वह "एक" था जो बिना प्राण वायु के ही अपनी शक्ति से श्वास ले रहा था। उस "एक", से भिन्न एवं परे कुछ नहीं था। उस समय केवल अन्धकार अन्धकार से ढ़का हुआ था।

यह सारा जगत अपने कारण में विलीन अथच,-अविभक्त था। वह "जो अव्यक्त में लुप्त था तप (ज्ञान ? संकल्प ?) से व्यक्त हुआ। (वह जो व्यक्त हुआ) उसमें जिसमें मन (बुद्धि, चैतन्य) का आदि तत्व स्थित था काम (जगत की सृष्टि करने वाली शक्ति) जाग्रत हुआ। काम वह रश्मि है जो व्यक्त और अव्यक्त को मिलाती है। यह रश्मि (बीज, रूप, काम) आगे पीछे सर्वत्र फैल गई। तब रतधा (सृष्टि के आदि काम) और महीम आदि शक्ति का उदय हुआ-नीचे स्वधा (प्रकृति. माया) थी और ऊपर प्रयति (पुरुष)। इतना कहने के बाद फिर इसी सूक्त में आगे कहा है, 'कौन जानता है, कौन कह सकता है कि यह सृष्टि कहां से उदभूत हुई ? स्वयं देवता भी इस सृष्टि के अनन्तर उत्पन्न हुए। तब कौन जानता है कि यह सृष्टि कहां से प्रकट हुई ? संभव है कि हिरण्यगर्भ (वह जो कि सर्वोपरि इसका स्वामी है) जानता हो कि किससे यह सृष्टि पैदा हुई और किसने इसकी रचना की। और संभव है वह भी नहीं जानता हो"। अन्यत्र तैत्तिरीय श्रुति में कहा है—उस परमात्मा से आकाश (Space) हुआ, आकाश से वायु (Vibration), वायु से अग्नि (Gaseousness), अग्नि से जल (Liquid) जल से पृथ्वी (Solid), पृथ्वी से औषधि और औषधि से अन्न हुआ।"

एक जगह और ऋग्वेद में आता है-' ऋतञ्च सत्यञ्चाभीद्धा

तपसोध्य जायत.....................।" "सृष्टि के आदि में ब्रह्मा के तप से ऋत और सत्य उत्पन्न हुए।" वह अटल नियम जिसके अनुसार यह विश्व चल रहा है ऋत कहलाता है इसलिए सृष्टि के आदि में ब्रह्मा के तप से पहिले ऋत की उत्पत्ति कही गई है। भाव यही है कि नियमानुसार विश्व का परिचालन होता रहता है। ऋग्वेद के पुरुष सूक्त में सृष्टि के सम्बंध में यह बात निहित है कि यह समस्त सृष्टि एक पुरुष (Being) है, और वह विराट पुरुष इस सृष्टि में चारों ओर से व्याप्त होने के उपरान्त भी इसके ऊपर और नीचे बचा रहा। इसमें यह भाव निहित है कि यह समस्त सृष्टि "एक" ही की अभिव्यक्ति है, किन्तु वह एक इस समस्त दृश्य-सृष्टि से भी बृहद् है, —उसका कुछ अनुमान नहीं।

ऊपर जो कुछ कहा गया है उसका सीधा साधा यह अर्थ निकलता है कि सृष्टि की उत्त्पत्ति (Creation) नहीं होती, इसका विकास, आविर्भाव (Evolution) होता है। उपरोक्त ईसाई, मुसलमान धर्मों में जिस प्रकार कहा गया है कि एक निश्चत काल बिंदु पर ईश्वर ने सृष्टि की उत्त्पत्ति की, ऐसी मान्यता हिन्दू मत की नहीं। इसके अनुसार तो सृष्टि की उत्त्पत्ति (Creation) नहीं हुई, वरन् सृष्टि का आविर्भाव हुआ, और जब उत्त्पत्ति (Creation) नहीं हुई तो कर्त्ता का प्रश्न ही

नहीं उठता। आदि अनादि में "वह एक" था - अव्यक्त। इसे हिन्दुओं ने अपनी भाषा में ब्रह्म कहा है जो अनिर्वचनीय है। इस प्रश्न के उत्तर में कि ब्रह्म क्या है–वेदान्त दर्शन का एक सूत्र है। "जन्माद्यस्ययतः।" अर्थात् इस जगत का जिससे जन्मादि होता है,—वह ब्रह्म है। यह ब्रह्म अभिव्यक्त होता है प्रकृति और पुरुष में। प्रकृति मानो भौतिक वैज्ञानिकों का भूत-द्रव्य (Primordial matter), जिसमें द्रव्य (Matter) एवं शक्ति (Energy) दोनों स्थित हैं। पुरुष उसका चैतन्य द्रष्टा और भोक्ता। प्रकृति अविभक्त पड़ी थी, उसमें एक क्षोभ, एक उद्रेक एवं स्पंदन उत्पन्न होता है और वह अपने में निहित ऋत (नियम) और गुण (त्रिगुण-शक्ति) द्वारा नाना रूप दृश्यों में खिलती है। विपुल नक्षत्रगण, सूर्य, चन्द्र, पृथ्वी जल, वनस्पति, जीव, मानव। प्रकृति में यह क्षोभ क्यों उत्पन्न होता है? क्योंकि पुरुष आनंद की अनुभूति करना चाहता है—यदि यह न हो तो प्रकृति में क्षोभ उत्पन्न होकर उसका नाना रूप सृष्टि में अभिव्यक्त होना अर्थ हीन है–निष्प्रयोजन है। यह सब सोचते हुए यह नहीं मान लेना चाहिए कि प्रकृति और पुरुष भिन्न हैं, वे तो दोनों एक ही ब्रह्म की स्थिति हैं। एक ही ब्रह्म, प्रकृति और पुरुष (विभिन्नधर्मा प्रकृति और पुरुष) दोनों एक साथ कैसे? यह इस प्रकार जैसे द्रव्य एक ही साथ कण और तरंग (Particle एवं Wave)। इसका विशेष विवेचन देखिये

"आधुनिक ज्ञान धारा" अध्याय में। आधुनिक विकासवाद अपनी कहानी आदि द्रव्य-पदार्थ (Primordial matter) से आरंभ करता है—उससे पूर्व की स्थिति ब्रह्म और उस प्रकृति के ही ऊपर उसका भोक्ता पुरुष इसकी कल्पना उसमें नहीं आती। इसके आगे तो उसकी प्रस्तावना बिल्कुल हिन्दू-मत से मिलती-जुलती है। मानव प्राणी का विकास कैसे हुआ इसकी भी एक कहानी पुराणों में आती है जो कई अँशों में विकासवाद के परिणामों के अनुरूप हैं। वह कहानी है:— "हिन्दू शास्त्रों में कहा गया है कि महा-प्रलय के बाद सृष्टि में केवल जल ही जल रह गया था। पहला अवतार "मत्स्यावतार" मछली के रूप में हुआ, जो जल में रहती है। दूसरा अवतार "कुर्मावतार" कछवे के रूप में हुआ, जो कि जल में तो रहता ही है और आवश्यकता होने पर थल भाग में भी रह सकता है। तीसरा अवतार "बाराहवतार" हुआ, जो जल और थल दोनों में रहता है। चौथा अवतार नृसिंह का हुआ। इसका आधा रूप आदमी और आधा सिंह का था। इसका अर्थ यह है कि अभी आदमी पूर्ण रुप से प्रगट नहीं हुआ, उसका सिर्फ आधा शरीर मनुष्य का हो सकता है, शेष आधा तो पशु ही है, इसका भी धीरे धीरे मनुष्य के रूप में विकास होता है। पाचवां अवतार 'वामन' है, इसमें जीव पशु-योनि से मानव योनि में आता है। इस प्रकार विकास होता रहता है।

यह सृष्टि एक इकाई है—यह समस्त सृष्टि एक है यह

खिलती रहती है,—मानों सोया हुआ कमल सूर्य-रश्मि से खिल रहा हो।

वैज्ञानिक मत—सृष्टि के आविर्भाव के विषय में निश्चित-पूर्वक कुछ भी नहीं कहा जा सकता। विज्ञान ने इस विषय में अन्तिम तथ्य जान लिया हो सो बात नहीं है। समय समय पर विज्ञान ने (ज्योतिष विज्ञान-Astronomy भौतिक-विज्ञान-Physics; भूगर्भ शास्त्र-Geology; प्राणी विज्ञान--Biology इत्यादि इत्यादि) प्रकृति के अनेक तथ्यों का उद्घाटन किया है, जिनके आधार पर सृष्टि की आदि अवस्था, और उसकी उत्पत्ति के विषय में एक वैज्ञानिक प्रस्तावना मात्र बनी है। विज्ञानियों का अनुमान है कि आज हम जो सृष्टि में अनेक रूप वैचित्र्य देखते हैं-विपुल नक्षत्र हैं, सूर्य हैं, चन्द्र हैं, पृथ्वी है, पहाड़ हैं, झीले हैं, समुद्र हैं, वनस्पति, जानवर, मानव हैं,—इन सब की स्थिति के पहिले—बहुत पहिले एक परिव्याप्त ज्वलँत वाष्प ही वर्तमान था। यह ज्वलंत वाष्प कितने विशाल अवकाश (Space) में परिव्याप्त था, कौन कह सकता है। इतना ज्वलंत तेज (गर्मी) इसमें व्याप्त था कि उस समय विश्व के सभी हल्के या भारी पदार्थ गैस के रूप में थे। करोड़ करोड़ वर्षों से वह व्याप्त रहा होगा—करोड़ करोड़ वर्षों से वह ठण्डा होता जा रहा होगा। कुछ गर्मी कम होते होते (या किसी अन्य उद्रेक की वजह से ?) ऐसी अवस्था आई जब उस

ज्वलंत वाष्प से—उस गैस से छोटे छोटे टुकड़े घन होकर टूट पड़े—उसी प्रकार जिस प्रकार बादल में पानी की भाप ठण्डी होते होते उस भाप के भीतर एक एक कण पानी इकट्ठा होता है, और वे बून्द होकर बिखर जाते हैं। किन्तु उस आदि ज्वलंत वाष्प के घन-कणों में अभी इतना तेज व्याप्त था कि वे भी गैस के ही घन—कण थे। कितने छोटे वे कण थे?-लाखों लाखों मील गोलाई वाले! ये वे ही घन—कण हैं जिन्हें हम रात्रि के समय आकाश में तारों के रूप में बिखरा हुआ पाते हैं। वे ही आदि विपुल संख्यक कण तारों के आकार में दल बांधकर निहारिका (Nebula) गठित किए हुए हैं, और अब अप्रतिहत गति से घूम रहे हैं। "आकाश गंगा"--वह दूर तक फैली हुई ताराओं की बनी हुई एक सड़क सी जो कि अंधेरी रात में आकाश में दिखलाई देती है ऐसी ही एक निहारिका है,- और हमारा सूर्य इसी आकाश गंगा के बीच एक तारा (नक्षत्र) है। यह अन्य नक्षत्रों की अपेक्षा बड़ा इसलिए दिखता है कि अपेक्षाकृत यह हमारे समीप है। अभी तक पृथ्वी, ग्रह, चन्द्र इत्यादि का कुछ भी पता नहीं था।

नक्षत्रगण एक दूसरे से करोड़ों मील दूर रहकर घूम रहे हैं, इसलिये यह प्राय: निश्चित है कि उनमें परस्पर धक्का लगना संभव नहीं। किसी किसी का अनुमान है कि प्राय:

२०० करोड़ (२ अरब) वर्ष पहिले ऐसी है एक दुसंभव घटना होगई थी। हमारे नक्षत्र (सूर्य) के निकट एक अन्य विशाल नक्षत्र आपहुँचा था। इस नक्षत्र के आकर्षण से सूर्य के भीतर प्रचंड वेग से ज्वार की तरंगे लहरा उठी थीं। ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार चंद्रमा के आकर्षण से समुद्र में ज्वार की तरंगे उठा करती हैं। किंतु सूर्य की सतह पर से जो गैस की तरंगे उठीं उनकी कल्पना कीजिये–वे समुद्र के ज्वार से कितनी लाख गुणा विशालकाय एवं भयंकर होंगीं। अंत में प्रचंड आकर्षण के वेग से कोई कोई तरंग इतनी बढ़ी कि वे सूर्य से पृथक होकर बाहर निकल आई। खूब संभव है उस बड़े नक्षत्र ने इनमें से कइयों को आत्मसात कर लिया होगा–किंतु वह नक्षत्र तो अपने कक्ष में (रास्ते पर) तीव्र गति से दौड़ता हुआ अपनी राह पर चलदिया– अपनी कक्षा में चलता २ एक पल भर के लिये ऐसी स्थिति में आया होगा कि सूर्य में कुछ उद्रेक पैदा कर पाया। इसी उद्रेक की वजह से गरम गैस की यह तरंग,–यह Jet, एक लंबान की शकल में निकली–उस नक्षत्र की ओर जो घूमता हुआ आया था और निकल गया था। किंतु यह तरंग लंबे जेट (Jet) की शकल में तो रह नहीं सकती थी। उस जेट (Jet) में से छोटे बड़े ज्वलंत वाष्प (Gas) के टुकड़े टूट टूट कर गिर गये, जिस तरह होज पाइप में से निकल कर पानी की जैट बूंदों की शकल में बिखर जाती है। अंत में गैस की ये बूंदें

(विशालकाय ग्लोब) सूर्य के प्रबल आकर्षण से खिंच कर उसी के चारों ओर चक्कर काटने लगे, सूर्य से करोड़ों मील दूर अप्रतिहत गति से चक्कर काटने लगे। और करोड़ों वर्षों में ठंडे होकर, अपना प्रकाश खोकर ग्रह कहलाये। पृथ्वी उनमें से एक है, जो सूर्य से ६ करोड़ ३० लाख मील दूर आकर पड़ी। किसी किसी ग्रह में गर्मी अब भी होसकती है, पर रोशनी नहीं। ऐसे ग्रह नव हैं यथा: पृथ्वी, शुक्र, बुध, मंगल, वृहस्पति, शनि, वरुण, नेपचून प्लूटो (यम)। इससे भी अधिक होसकते हैं, किंतु अभी तक उनका पता नहीं। प्लूटो का पता तो अभी अभी सन १६३० में एक विशेष शक्तिशाली दूरबीन की सहायता से लगा था। जिस प्रकार सूर्य में उद्रेक पैदा होने से ग्रह उत्पन्न हुए–उसी प्रकार पृथ्वी अभी जब गैस रुप में ही थी, उसमें भी एक उद्रेक पैदा हुआ, उसी नियम से जिससे सूर्य में हुआ था। और उसी प्रकार वाष्पदेही पृथ्वी से एक गैस पिंड टूट कर, पृथ्वी से पृथक हुआ और पृथ्वी के चारों ओर घूमने लगा। यही चांद था-जो पृथ्वी का उपग्रह कहलाया।

सूर्य के चारों ओर इन ग्रहों के घूमने का रास्ता चक्र रेखा के समान गोलाकार है। किसी का रास्ता सूर्य के निकट है और किसी किसी का सूर्य से बहुत दूर। किसी को सूर्य के चारों ओर घूमने में साल भर से भी कम समय लगता है और किसी को सौ

साल से भी ऊपर। किसी भी ग्रह को घूमने में कितना भी समय क्यों न लगे, इस घूमने का एक निश्चित नियम है। इसका व्यतिक्रम कभी नहीं होता। सूर्य परिवार के सभी ग्रहों को चाहे वे दूर के हों चाहे निकट के, छोटे हों या बड़े, पच्छिम से पूर्व की ओर प्रदित्तणा करनी पड़ती है, क्योंकि सभी ग्रह एक ही समय धक्का खाकर सूर्य में से छिटक पड़े थे। जिस प्रकार तेज चलती हुई रेल में से आदमी उतरे तो उसे रेल की दिशा में ही दौड़ना पड़ता है, उसी प्रकार जब ग्रह सूर्य से पृथक हुए, उन्हें सूर्य की झौंक में उसके चारों ओर दौड़ना पड़ा। इस प्रकार हम देखते हैं कि जिस प्रकार आदि अचिंत्यनीय ज्वलंत वाष्प में कुछ उद्वेग पैदा होने से अन्य विपुल संख्यक नत्त्रों के साथ साथ हमारे सूर्य का आविर्भाव हुआ उसी प्रकार इस गैसपिंड सूर्य में एक उद्वेग पैदा होने से अन्य ग्रहों के साथ हमारी पृथ्वी का आविर्भाव हुआ। पृथ्वी में आज जो सब उपादान- मिट्टी, धातु, पत्थर, जल आदि हैं, वे सब सूर्य में गैस रूप में विद्यमान थे, उसी गैस रूप में ये पृथ्वी में उपस्थित रहे। आज से लगभग दो अरब वर्ष पहिले जब पृथ्वी सूर्य से प्रथक हुई, उस समय की पृथ्वी की कल्पना कीजिये। गैस रूप में आग का यह एक भयंकर गोलासा था —छोटा मोटा गोला नहीं, ऐसा गोला जिसका आवर्तन उस समय २५ हजार मील से भी अधिक होगा। सोच सकते हैं उस समय

पृथ्वी पर जीवन का तो कोई चिन्ह हो ही नहीं सकता था। इस गैसीय पिंड (वाष्य पिंड) का ऊपर का स्तर धीरे धीरे ठंडा होने लगा, और कुछ हजारों वर्षों में यह ठंडा होकर पहिले तरल अवस्था में आया और फिर ठोस अवस्था में। भीतर का स्तर आज भी बहुत गरम है। स्यात् वहां अनेक तरल और गैस पदार्थ विद्यमान हैं। ऊपर का स्तर ज्यों ज्यों तरल और ठोस होता जाता था तो वह भीतर के स्तर पर जो गैसीय (वायव्य) और हल्का था, जोर मारता था। कुछ अंदर धंस जाता था, कुछ ऊपर ही पहाड़सा रह जाता था। इस प्रकार धीरे धीरे कई मीलों अंदर तक पृथ्वी की सतह ठोस होगई और उसकी सतह पर अनेक पहाड़ एवं अनेक गढ्ढे होगये। ऊपर का धरातल ठंडा हुआ, ठंडा होने पर भाप रूप में जो पानी विद्यमान था वह पृथ्वी पर गिरने लगा और उस जल से पृथ्वी के गढ्ढे घुर गये— और वे समुद्र बन गये। किन्तु अब भी एक वायव्य (गैसीय) आवरण इस ठोस पदार्थ को ढ़के हुए था—यह गैसीय आवरण उन पदार्थों के गैसों का था जिनको तरल एवं ठोस बनाने के लिये बहुत अधिक ठंड (बहुत कम ताप) की आवश्कता थी। इतनी कम तपन पृथ्वी पर कभी नहीं हुई, अतएव गैस का एक आवरण अब भी पृथ्वी को प्राय: ५ मील ऊपर तक ढ़के हुए है। इस आवरण को हम वायुमंडल कहते हैं और इसमें विशेष-तय: नाईट्रोजन (भूयाति) और ओक्सीजन (जारक) गैसे हैं और

उन्हीं के सहारे हम सांस लेकर जी रहे हैं। पृथ्वी का ताप इतना कम नहीं कि इन ओक्सीजन इत्यादि गैसों को तरल या ठोस रूप में परिवर्तित करदे। इस प्रकार अनेक करोड़ वर्षों तक नाना रूप में तेज का भयंकर उत्पात चलता रहा – कितना भयंकर यह उत्पात था, इसका समझ लेना कठिन है। कल्पना कीजिए आज के युग के लाखों अणुबम एक साथ फट उठें और वे उत्पाद मचादें तो क्या हो—पृथ्वी कांप उठे—अंतर से ज्वाला मुखी फटने लगें;- तप्त तरल धातुओं की मीलों चौड़ी नदियां बहने लगें, वह अंतरिक्ष जिसके आरपार हम सूर्य और चंद्र देख रहे हैं भारी गैसों से आच्छादित हो उठे—और सब अंधकारमय हो जाये। चारों ओर एक अव्यावृत (जिसमें भेद की प्रतीति न होती हो) सी दशा हो जाये। इस प्रकार अनेक काल तक उत्पात के बाद आज से कहीं लगभग ५० करोड़ वर्ष पहले यह पृथ्वी प्रायः उस स्थिति को प्राप्त हुई जो आज इसकी स्थिति है-फिर कहीं जाकर वे भौतिक परिस्थितियां उत्त्पन्न हो पाईं; वह स्टेज बनपाया जिस पर "प्राण" का आगमन होसके—जीवों का प्रदुर्भाव हो सके। इसकी कहानी आगे पढ़िये।

५

पृथ्वी पर प्राण का आगमन

(Origin of Life.)

किसी अचिंत्य, अवर्णनीय आदि ज्वलंत वाष्प-सम महान पिंड में से तो सूर्य की उत्पत्ति,–उस सूर्य में से पृथ्वी की उत्पत्ति, पृथ्वी में से चन्द्र की उत्त्पत्ति और फिर शनैः शनैः पृथ्वी पर उस पृथ्वी में से ही जल, थल, पहाड़, झील, नदी, वायु-मंडल इत्यादि का आविर्भाव एवं विकास—इतनी कहानी हम पढ़ आये हैं। ज्योतिषियों एवं भू-वैज्ञानिकों का अनुमान है कि पृथ्वी उपरोक्त स्थिति तक आज से प्रायः पचास करोड़ वर्ष पहिले पहुंच चुकी थी। किन्तु अभी तक सब कुछ निष्प्राण था—अचेतन था—पृथ्वी पर वनस्पति तक का भी कोई चिन्ह नहीं था—किसी भी प्राणमय जीव की स्थिति इस भूतल पर नहीं थी। संभव है केवल पृथ्वी पर ही नहीं वरन् शेष अखिल सृष्टि में भी कहीं पर प्राण एवं चेतना की स्थिति उस समय तक न हो। मानो उस समय तक सब घटनायें पृथ्वी आदि का आविर्भाव, नदी पहाड़,

पठार, झील आदि का निर्माण, प्राण भावना से निरपेक्ष, निष्प्रयोजन अपने आप होती हुई आ रही हों। घटनायें हो रही थीं किन्तु उनका कोई द्रष्टा नहीं था। ऐसी ही सृष्टि में जो अभी तक अ-प्राण थी, अ-चेतन थी, प्राण और चेतना का उदय हुआ। प्राणमय एवं चेतनामय जीवों का आविर्भाव हुआ, और वह आविर्भाव हुआ अप्राण, अचेतन भू-पदार्थ में से ही। सृष्टि में यह एक अभूतपूर्व घटना थी कि अरबों करोड़ो वर्षों तक अप्राण, निश्चेतन अवस्था के अखंड साम्राज्य के बाद सृष्टि में इस पृथ्वी पर प्राण अकुलाने लगे, आंखे टिमटिमाने लगीं, सुख दुख का अनुभव करने वाले जीवों की प्रणाली चली। यह सब हुआ कैसे ? किस तरह अप्राण निश्चेतन-अवस्था में प्राण जागे ? क्या सृष्टि के प्रारम्भ से ही चेतना की स्थिति उसमें नहीं थी ? कैसे संभव हो सकता है कि अप्राण द्रव्य पदार्थ (Nonliving matter) में से, भू-तत्व में से प्राण का, जीव का, आविर्भाव हुआ हो। कैसे हो सकता है कि प्राण और चेतना का प्रारम्भ, उद्गम् भू-पदार्थ (Matter) में से हो ? यह एक प्रश्न है। ठीक है, अभी तक इस बात का निश्चित पता नहीं कि इस पृथ्वी पर प्राण और चेतना का आरम्भ किस प्रकार हुआ, इस विषय में प्राणी-शास्त्र-वेत्ताओं एवं वैज्ञानिकों के अभी तक तो केवल अनुमान मात्र हैं। अभी तक तो उनका इतना ही कहना है कि प्राण और चेतना का उदय होने के पहले सृष्टि निश्चित-रूप

से निष्प्राण, अचेतन अवस्था में थी एवं प्राण का आविर्भाव अवश्य भू-तत्वों में से ही हुआ।—किन्तु कैसे यह घटना हुई इसका कोई निश्चित अनुमान नहीं। प्राणी—शास्त्र—वेत्ता कैसे कहते हैं कि भू-तत्व में से प्राण का विकास हुआ? प्राण के प्रारम्भ के विषय में उनके क्या अनुमान हैं? इन प्रश्नों पर विचार करने के पहिले यह जान लेना जरूरी मालूम होता है कि क्या वे भेद या भेदात्मक गुण हैं जो अप्राण वस्तु को प्राणमय-जीव से प्रथक करते हैं। यह भेद निर्देष करते समय ही हम इस बात की विवेचना भी करेंगे कि किस प्रकार अ-प्राण वस्तु में ही परिवर्तन होते होते परिवर्तन की एक ऐसी स्थिति आ जाती है कि वह परिवर्तित वस्तु अपनी पूर्व स्थिति से एक गुणात्मक विभिन्नता रखने लग जाती है।

जीवधारियों में दो मुख्य ऐसी विशेषताएं है जिनसे वे अप्राण वस्तुओं से सर्वथा भिन्न माने जाते हैं; पहिली विशेषता यह है कि जीवधारी दूसरी वस्तु (खाद्य) को खाते हैं, स्वयं खाद्य वस्तु में से आवश्यक तत्वों को अपने में ही जज्ब कर लेते हैं, और इस प्रकार स्वयं अपने शरीर को बढाते हैं। दूसरी विशेषता यह है कि वे अपने ही जैसे दूसरे जीवधारियों (संतानों) की उत्पत्ति करते हैं? संक्षेप में,--जीव भोजन करते हैं और संतानोत्पत्ति करते हैं। यहां हम मानव जैसे

विशेष विकसित जीव की कल्पना अभी नहीं करते, जो उपरोक्त दो बातों के अतिरिक्त आदर्श की बातें भी किया करता है। मशीनें तेल, कोयला इत्यादि खा सकती हैं, किंतु वे स्वयं अपने शरीर को बढ़ा नहीं सकतीं,-वे स्वयं अपने ही जैसे बच्चे पैदा नहीं करसकतीं। जीवधारियों की अन्य विशेषता यह भी होसकती है कि उनके शरीर की टूट फूट स्वयं उनका शरीर ही ठीक करता है, एवं परिस्थितियों के अनुकूल वे स्वयं अपना नियमन करते हैं। जैसे, शरीर में घाव होने से, शरीर में ही ऐसे गतिमय तत्त्व मौजूद हैं कि वह घाव भरजाता है, बाह्य तापक्रम में परिवर्तन होने पर भी यथा ३२ डीगरी से ११४ डीगरी गरमी तक कम ज्यादा गरमी होने पर भी शरीर, अपनी ९८ डीगरी की गरमी बनाये रखता है। ये विशेषतायें जीवधारियों की अपनी हैं जो अ-प्राण पदार्थों में नहीं पाई जाती। किंतु इस फरक को बहुत दूर तक,--सीमान्त तक नहीं लेजाना चाहिये। प्रकृति में निर्पेक्ष कुछ नहीं है–सब कुछ सापेक्ष है। यह आज का एक विज्ञान–सिद्ध तथ्य है। प्रकृति में सत्य परमार्थ (Absolute) नहीं, सत्य सापेक्ष है। हम सत्य की हद में तभी तक रहेंगे जब तक यह कहें कि एक वस्तु अन्य से अधिक जीव–मयी और चेतनाशील है। यदि ऐसा कहें कि अमुक वस्तु शत प्रतिशत् प्राणमय और चेतनामय है, एवं अमुक वस्तु सर्वथा प्राण–शून्य और अचेतन तो स्यात् हम

गलती करें। किन्तु साथ ही साथ यह भी कहना ठीक नहीं होगा कि अ-प्राण वस्तु एवं स-प्राण जीव में कोई गुणात्मक भेद है ही नहीं। भेद है और हम यहां यही दिखलाने का प्रयत्न करेंगे कि एक ही वस्तु में विकास एवं परिवर्तन होते २ वह वस्तु सहसा एक ऐसी छलांग सी मारती है कि दूसरे ही पल में वह वस्तु अपनी प्रारम्भिक स्थिति से गुण में बिल्कुल भिन्न होजाती है—उसमें गुणात्मक परिवर्तन होजाता है। रेडियम की विचित्र घटना से आप परिचित होंगे। यह स्वर्ण से भी बहुगुणा अधिक मूल्यवान एवं जाज्वल्यमान एक धातु होती है। इस पृथ्वी पर यह बहुत कम पाया जाता है। प्रत्येक भौतिक तत्व मूल में कुछ विद्युत् कणों का बना हुआ होता है। कुछ हां-धर्मी कण (Positive) जिन्हें; प्रोटोन (प्राणु) कहते हैं, और कुछ ना-धर्मी कण (Negative) जिन्हें इलक्ट्रोन (विद्युद्णु) कहते हैं। रेडियम धातु का यूनिट भार २२६ है एवं उसका परमाणु ८८ प्रोटोन ८३ इलक्ट्रोन का बना हुआ है जबकि हाईड्रोजन गैस का परमाणु १ प्रोटोन और १ इलक्ट्रोन का ही बना हुआ होता है। रेडियम का परमाणु प्रोटोन और इलक्ट्रोन की इतनी भीड़ को सम्भाल नहीं सकता,—परमाणु के केन्द्र में से विशेष इलक्ट्रोन छिटकते रहते हैं, वे विद्युत् कण के रुप में विकीर्ण होते रहते हैं। विकीर्ण होते होते एक ऐसी अवस्था आ जाती है जब उसमें अपेक्षाकृत कम प्रोटोन एवं

इलक्ट्रोन, एवं केवल २०७ यूनिट भार रहजाता है, और तब सहसा वह शीशे (Lead) के रूप में परिवर्तित होकर रह जाता है। बहुमूल्यवान रेडियम पड़ा पड़ा स्वयं शीशा बनजाता है। एक धातु दूसरी धातु बनजाती है—मानो स्वर्ण का ढेला पड़ा पड़ा मिट्टी रह गया हो। इसी प्रकार एक और उदाहरण लीजिये। हाईड्रोजन एवं ओक्सीजन दो भिन्न भिन्न गैसे हैं—दोनों गंध रहित, रंग रहित एवं अदृश्य। इन ऐसे दो गैसीय पदार्थों में जल की स्थिति की कल्पना नहीं की जासकती, किन्तु यदि हाईड्रोजन के दो परमाणु एवं ओक्सीजन के एक परमाणु का किसी प्रकार संगठन करदिया जाये, तो उनके संघात से एक सर्वथा भिन्न गुणवाली वस्तु-यथा, जल की उत्पत्ति होजाती है। ऐसे ही और उदाहरण लिये जासकते हैं। इनसे स्पष्ट है कि यदि वस्तुओं के मूल संगठन (बनावट) में किसी प्रकार परमाणुओं की कमी ज्यादती करदी जाये अथवा पदार्थों के परमाणुओं का किसी विशेष मात्रा में संगठन करदिया जाये, जोकि विशेष ताप (गर्मी) अथवा विद्युत तरंगों के प्रभाव से हो सकता है, तो एक सर्वथा भिन्न गुण-वाली वस्तु का आविर्भाव हो सकता है। दूसरे शब्दों में इस बात को यों व्यक्त किया जा सकता है कि मात्रा भेद से गुण-भेद संभवित है। इसी न्याय से भू-पदार्थों में से एक सर्वथा भिन्न गुणवाली वस्तु चेतनजीव का आविर्भाव होना संभव माना जासकता है। वास्तव में जिन रासायनिक

तत्वों से भौतिक जगत का निर्माण हुआ है उनकी सत्ता चिरंतन नहीं मानी जा सकती। ये तत्व स्वयं विकास–प्रक्रिया से उद्भूत हैं। प्रकृति में जिन तत्वों से अभी तक हमारा परिचय है अथवा जो तत्व अबतक प्रकृति में वर्तमान हैं पर जिनका हमें ज्ञान नहीं, उनके अतिरिक्त नये तत्वों का कालांतर में प्रादुर्भाव होना संभवित घटना मानीजासक्ती है। इसी प्रकार गतिमान, प्रकृति पदार्थ में विकास प्रक्रिया होते होते एक ऐसा परिणमन बिन्द (Turning point) आया जब एक भिन्न गुण–वाली वस्तु अर्थात् चेतन वस्तु का प्रादुर्भाव होगया। और कौन कह सकता है कि मानव स्वयं में कालांतर में कोई ऐसा गुणात्मक परिवर्तन हो जो आज की स्थिति में हमारे लिये कल्पनातीत हो। खैर! यदि हम इस बात को मानलेते हैं कि मात्रा भेद, एवं पदार्थों के परमाणुओं के किसी विशेष संगठन से गुण–भेद हो सकता है तो हम यह जानना चाहेंगे कि आखिर वह कौनसा विशेष रूप से संगठित भूत–पदार्थ था, कैसी स्थिति में वह था, जिसमें चेतना या जीव नामक एक नवीन मौलिक–गुण का आविर्भाव हुआ। यह बात प्रायः ५० करोड़ वर्ष या इससे भी अधिक पुरानी है। उस पदार्थ स्थिति का जिसमें प्राणों का सर्व–प्रथम आगमन हुआ पता लगालेना कोई आसान काम नहीं था, फिर भी पिछले वर्षों में रसायन–शास्त्र एवं प्राणी–शास्त्र द्वारा कुछ ऐसे रहस्यों का उद्घाटन हुआ जिनसे उपरोक्त आदि

स्थिति की कल्पना कर लेना, उस स्थिति को जान लेना जिस स्थिति में भूत-पदार्थ में प्राण सहसा प्रकट हुए, असंभव नहीं। रसायन-शास्त्र एवं प्राणी-शास्त्र के अनुसन्धानों से पहिले तो यह ज्ञात हुआ कि उन भौतिक या रासा-यनिक तत्वों में जो प्राण-मय शरीर के उपादान कारण हैं और उन रासायनिक तत्वों में जिनकी अ-प्राण वस्तुएं बनी हैं कोई भी भेद नहीं है। अर्थात् निश्चित-रूप से जीवधारियों के शरीर भी—उनके शरीर के प्रत्येक अवयव एवं रस जैसे, खून, मांस, मज्जा इत्यादि सब बिना किसी अपवाद के केवल रासायनिक-तत्वों के जैसे, कार-बन, हाईड्रोजन, ओक्सिजन, नाईट्रोजन, इत्यादि के मिश्रण से बने हुए हैं। उनमें कोई भी ऐसा भौतिक रासायनिक तत्व नहीं जो अ-प्राण पदार्थों में नहीं पाया जाता। यहां तक कि प्राणी शरीर में पाए जाने वाले कितने ही रस या रसायन अब शरीर के बाहर प्रयोगशालाओं में बनाये जा सकते हैं। १६ वीं सदी के प्रारम्भ तक ऐसा समझा जाता था कि प्राणी-शरीर में पाए जाने वाले कितने ही रसायन या रसायन प्रक्रियायें, प्रयोग-शाला या आदमी के हाथ से बाहर की चीजें हैं, उन्हें तो शरीर में छिपी हुई कोई रहस्यमयी जीवन-शक्ति ही बना सकती है। किन्तु आज प्राणी-शरीर में पाये जाने वाले कितने ही रसायन अथवा प्राणिज पदार्थ जैसे पेशाब में पाए जाने वाला रसायन यूरिया (Urea), अन्य पदार्थ जैसे थाईरोजिन, इन्सोलिन,

इत्यादि प्रयोगशाला में बन रहे हैं, और कितनी ही रसायनिक प्रक्रियाएं, जो शरीर में होती रहती हैं जैसे पाचन की कई क्रियाएं आदि,—शरीर के बाहर प्रयोगशाला में दोहराई जा सकती है। माना जीवधारी एवं अजीव वस्तुएं एक ही भौतिक रसायनिक तत्वों की बनी हुई हैं, किन्तु फिर भी उनमें प्राण अ-प्राण का मुख्य गुणात्मक भेद बना ही रहा—दोनों में उपादान सर्वथा एक होते हुए भी एक में प्राण, चेतना, संचरित है दूसरा मूक है--इस गुत्थी को कोई भी प्राणी—शास्त्री या साइंस--वेत्ता नहीं खोल पाया। यही रहस्य इस विश्वास का आधार बना रहा कि कोई आध्यात्मिक, परा—भौतिक शक्ति ही प्राण एवं चेतना का संचार कर रही है। किन्तु इस रहस्य पर भी बहुत कुछ प्रकाश पड़ा जब पिछली शताब्दी में सेल—सिद्धान्त (जीव—कोष सिद्धान्त) का आविष्कार हुआ। इस सिद्धान्त के अनुसार सभी प्राणी और वन-स्पति (बड़े से बड़े हाथी से लेकर छोटे से छोटे जीवाणु एवं घास पत्ती तक) जीव-कोषों (Cells) से मिलकर बने हैं। बड़े प्राणी करोड़ों अरबों जीव-कोषों के संग-ठन हो सकते हैं। साथ ही में यह भी पता लगा कि कुछ सूक्ष्म-जीवाणु (प्रोटोजोआ) केवल एक ही जीव-कोष के बने हुए होते हैं और फिर भी वे आहार—बिहार की सब क्रियाएं करते हैं। ये जीव-कोष (Cells) हैं क्या ? इनको अति सूक्ष्म पिंड शरीर मान सकते हैं—इतने सूक्ष्म कि एक के ऊपर एक जीव-कोष रखा

जाए तो एक इंच की दूरी में दस हजार जीव-कोष समाजायें। ये बिना अणुवीक्षण यन्त्र की सहायता के नंगी आंखों से नहीं देखे जा सकते। ये इतने छोटे पिंड शरीर भी बने होते हैं, मात्र एक भौतिक रासायनिक पदार्थ कारबन कमपाउण्ड (प्रांगार-वस्तु) के जिसे प्लाज्मा (Plazma) कहते हैं। इस प्लाज्मा में एक नाभिकण होता है—और इसी नाभि-कण में समाहित रहता है वह तत्त्व जिसे प्राण कहते हैं। अर्थात् जीव-कोष के (जो एक कारबन कमपाउण्ड का बना होता है) दो भाग हुए,—एक अंदर का नाभि-कण जो सजीव भाग है और जिसे जीवन-कण (Protoplasm) कहते हैं और दूसरा बाहर का जीवन-कण का आहार-शरीर जो निर्जीव भाग है और जो एक अर्ध-तरल (पानी से कुछ गाढ़ा) भौतिक-तत्त्व कारबन कमपाउण्ड (प्रांगार-वस्तु) का बना है जिसे प्लाज्म (Plazm) या क्रिप्टो-प्लाज्म (Criptoplazm) कहते हैं। तो प्राण-तत्त्व की खोज करते करते हम इस बात तक तो पहुंचे कि वह प्राण-तत्त्व अर्ध-तरल कारबन कमपाउण्ड (प्रांगार-योग) के बने एक खोल (आहार-शरीर) के अन्दर स्थित है। जीव-कोष के नाभि-कण (Proto-plazm) एवं कारबन-कमपाउण्ड के बने उसके बाहरी अर्ध-तरल खोल (आहार-शरीर) में परस्पर किस प्रकार का संबन्ध है? पता लगाया गया है कि इन दोनों के बीच के अवकाश (Space) में कारबन-कमपाउण्ड (प्रांगार-योगिक--पदार्थ) के अणु-गुच्छ

गतिमान रहते हैं—और वहीं कहीं प्राण का रहस्य छिपा रहता है। ये अणु-गुच्छ कोलोइड (Colloids) कहलाते हैं जो कारबन-कमपाउण्ड के व्यूहाणुओं (Molecules) का बना एक चिपचिपासा पदार्थ होता है और जो प्रकिण्व प्रक्रिया (Fermentation) पैदा करता है, खमीर पैदा करता है।
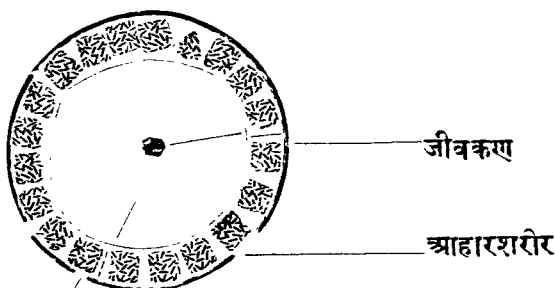
वह अवकाश जिसमें फरमेंटेशन पैदा करने वाले कोलाइडस् गतिमान रहते हैं। इस गति के द्वारा आहार, जोकि एक विशेष प्रकार के रस में परिवर्तित हो चुका है, जीवनकण में स्थित जीवन दीप्ति को जगाये रखता है।

इससे यही आभास मिलता है कि आहार-शरीर और जीवन-कण के बीच जो कुछ रासायनिक-प्रक्रिया की गति होती रहती है उसीसे जीव-कण प्रति-पल नव-जीवन प्राप्त करता रहता

है। अर्थात् स्वयं जीव-कण की स्थिति आहार (भौतिक पदार्थ) में है। कुछ ऐसी ही भौतिक-रासायनिक प्रक्रिया उस समय हुई होगी जब सर्व प्रथम सृष्टि में प्राण का उदय हुआ। यह आहार रासायनिक गति द्वारा प्राण (Life) में किस प्रकार परिणत हो जाता है इस विषय में हिन्दुओं की धार्मिक-पुस्तक गीता के एक श्लोक का उद्धरण उचित ज्ञात होता है। वह इस प्रकार:—

अहं वैश्वानरो भूत्वा प्राणीनां देह माश्रितः।
प्राणापान समायुक्तः पचाम्यन्नं चतुर्विधम॥

"मैं वैश्वानर रूप से सब प्राणियों के देह में वास करता हूँ—चतुर्विध प्रकार का अन्न (देह के धारण—पोषण के लिए केवल पृथ्वी-तत्व का बना अन्न नहीं, किन्तु पोषण के लिए आकाश, वायु, जल एवं पृथ्वी इन सब तत्वों का बना हुआ अन्न) प्राणापान करके (मुख, अन्ननली, पेट, कलेजा, आंतड़िया,—चमड़ी, मूत्र-पिण्ड आदि अनेक ग्रंथियों द्वारा भक्षण—पचन—शोधन करके) उचित रूप से पचाता हूँ (जीव-कोषों में आत्म-सान् करता हूं)। यही अन्न पचन होने पर—जीव कोषों में आत्म-सात् होने पर, "चेतन रूप" से प्रकट होता है— प्रकाशित होता है।

मानों प्राणों की आहुति प्राणों में ही होमी जारही है। अर्थात् अन्न में स्थित प्राण, देह में स्थित प्राण में अर्पित किया जारहा हो, देह में स्थित प्राण अर्थात् वैश्वानर, अर्थात् परमात्मा।

मानों अन्न की परिणति चेतना में हो जाती हो (Matter converting into spirit) ।

अब यदि यह दिखला दिया जाए कि उस भौतिक रसायनिक पदार्थ कारबन-कंमपाउण्ड में ही कुछ ऐसी भौतिक रसायनिक प्रक्रियाएं या गति होती रहती हैं जिसके फलस्वरुप उस कमपाउण्ड में गुणात्मक परिवर्तन होकर जीव का आविर्भाव होजाता है तो "जीवन रहस्य" पर से पर्दा उठाया जा सकता है। प्रकृति में एवं रसायन-शास्त्र में ऐसे भी कई अन्वेषण, अनुसन्धान हो चुके हैं जो उपरोक्त संभावना की ओर संकेत करते है। प्रसिद्ध प्राणी-शास्त्री हिकल (Haeckel) ने समुद्र की सतह पर तैरते हुए मोनेरा (Monera) नामक कुछ प्राणियों का पता लगाया; ये बहुत ही सरलतम प्रकार के बहुत ही छोटे प्राणी होते हैं, इतने अपेचीदा और छोटे होते हैं कि इनके शरीर के भिन्न भिन्न कोई अलग अवयव होते ही नहीं, ये जीव बिना किसी विशेष शकल–सूरत के होते हैं। एक मोनेरा का शरीर एक चिपचिपी सी चीज का (Slime or mucus) का छोटा सा ढ़ेला (Lump) मात्र होता है, जो पूर्णतय: एक रस: कारबन कमपाउण्ड का बना होता है। उसमें वह नाभि कण, प्राण–तत्व का वह केन्द्र बिन्दु भी नहीं होता जो उपरोक्त वर्णित जीव–कोष में पाया जाता है, और फिर भी इसमें वे गुण

होते हैं जो एक अ-प्राण पदार्थ को जीवधारी से प्रथक करते हैं–यथा गति और सन्तानोत्पत्ति जिनका उल्लेख ऊपर कर आये हैं। इससे यही अनुमान लगाया जासकता है कि सेल् (जीव-कोष) के जीव--कण (Proto-plazm) के आविर्भाव की संभावना कारबन--कमपाउण्ड के ही भौतिक, रसायनिक गुणों या भौतिक-रसायनिक प्रक्रियाओं में निहित है। इस प्रकार "आदि जीवन" जो इस सृष्टि में आर्विभूत हुआ उसका उद्गम स्थान हम एक साधारण रसायनिक पदार्थ, कारबन कमपाउण्ड (भौतिक-तत्व, कारबन, हाईड्रोजन, नाईट्रोज़न, ओक्सिजन से मिलकर बना हुआ एक योगिक-पदार्थ) में पा सकते हैं। वास्तव में कारबन-पदार्थ वह कड़ी है जो जीव-अजीव के भेद को मिटाती है। ऐसा कोई भी जीवधारी नहीं जिसके शरीर के अंश अंश में, जिसके प्रत्येक जीव--कोष में कारबन पदार्थ न हो। यह भी हम जानते हैं कि परमाणुओं (Atoms) के अपने अपने विशेष गुण इसीलिए हैं कि उनको बनाने वाले प्रोटोन्स (प्राणु) एवं इल्कट्रोन्स (विद्यु-दणु) की संख्या भिन्न भिन्न है। हाईड्रोजन के गुण हाईड्रोजन में इसीलिये है कि उसमें इल्कट्रोन्स की संख्या एक है। रेडियम में अपना विशेष गुण इसीलिये है कि इसमें इल्कट्रोन्स की संख्या ८२ है, शीशे में अपना विशेष गुण इसीलिए है कि उसके इल्कट्रोन्स की एक विशेष निश्चित संख्या है। अर्थात् मूल में भिन्न भिन्न परिमाण में इल्कट्रोन्स (विद्यु-दणु)

और प्रोटोन्स (प्राणु) के मिश्रण से ही भिन्न-भिन्न गुण वाले पदार्थों की उत्पत्ति होती है। अतः जैसे ८३ (१) इलक्ट्रोन्स वाली रेडियम धातु में प्रकाश—विकीर्ण करने का अपना एक विशेष गुण होता है, जिस प्रकार २८ (१) इल्कट्रोन्स वाले चुम्बक पदार्थ में लोह–धातु को आकर्षित करने का अपना एक विशेष गुण होता है, उसी प्रकार बाहरी सीमा पर ४ (१) इल्कट्रोन्स रखने वाला कारबन भी जीवन-निर्माण करने की अपनी एक विशेष क्षमता रखता है। उपरोक्त मोनेरा प्राणी को जिसमें जीव–कण (सेल्–का वह भाग जो प्राण है) नहीं, हम जीवधारी और अ-प्राण वस्तु के बीच की एक स्थिति मान सकते हैं। पिछले ही कुछ वर्षों में इससे भी निम्न-स्तर के कुछ ऐसे प्राणियों (?) का पता लगा है जिनको जीवधारी प्राणी एवं अ–प्राण वस्तु दोनों कह सकते हैं। ऐसे हैं कुछ कुछ अकुलाते से जीव जिनको 'वीरस्" कहते हैं। ये इतने छोटे होते हैं कि इनको अणुवीक्षण यन्त्र से भी नहीं देखा जा सकता, केवल परली–कासनी रोशनी वाले यन्त्र (Ultraviolet-rays-microscope) की सहायता से इनका फोटो लिया जा सकता है। ये स्वतंत्र अवकाश (Space) में नहीं रह सकते किन्तु इनके रहने के उचित वातावरण जैसे कोई रसायनिक-रस, फोड़े-फुन्सी के रस, वनस्पति के रस इत्यादि प्राणज योगों (Organic compounds) में ही रह सकते हैं। उस वातावरण में

उत्पन्न होकर ये बढ़ते तो रहते हैं किन्तु और किसी प्राणधारी के समान प्रक्रिया इन प्राणियों में नहीं होती। इनके विषय में प्रसिद्ध प्राणी-शास्त्रज्ञ हैल्देन का कहना है "एक तरफ कुछ विद्वानों को बड़े जोर से कहते सुनते हैं कि बिरस् सजीव है, और दूसरी ओर भी कितने ही विद्वान हैं जो कि उतने ही जोर के साथ कहते हैं कि ये निर्जीव हैं, और तीसरी तरह के विद्वान हैं जिनका कहना है कि इनमें चेतन-अचेतन का भेद लाना ही गलत है। सैद्धान्तिक वाद-विवाद से नहीं, बल्कि रसायनिक प्रयोगों से हमें उस सेतु का एक छोर मिल गया है, जो कि जीवन और रसायन शास्त्र की सीमाओं को मिलाता है।" इस विरस् के उपरान्त एक और प्राणी आते हैं जिन्हें हम बेकट्रिया-फेज (Bacterio-Phage) कहते हैं। ये भी अति सूक्ष्म अकुलाते से जीवाणु हैं जिनकी किसी रसायनिक-योग (Chemical-Compound) से स्वतंत्र स्थिति नहीं। इनकी कल्पना आप कई दिन की पड़ी हुई दही में कीजिए-उस दही में कुछ अकुलाती सी, कुछ गतिमान सी स्थिति आपको मिलेगी। उस दही में अकुलाते से, गतिमान से जो कुछ भी हैं, वे ये ही बेकट्रिया-फेज हैं। आप उस अकुलाने की, गति की स्थिति को कोई रसायनिक प्रक्रिया कहेंगे या अकुलाते से, गतिमान से जो कुछ भी सूक्ष्म अणुगुच्छ से उसमें दिखलाइ देते हैं उनको स-प्राण जीव कहेंगे ? एक दृष्टि से तो उनको प्राणधारी जीव ही कहना

पड़ेगा क्योंकि उनकी संख्या बढ़ती ही रहती है-उनकी प्रसव क्रिया चाहे किसी भी प्रकार की हो। किन्तु ये ऐसे जीव हैं जिनके रहने के लिए ओक्सिजन की आवश्यकता नहीं होती। यह बात इसी तथ्य की ओर संकेत करती है कि दही में प्राणधारी जीव किसी रसायनिक प्रक्रिया द्वारा उद्भूत हुए,—उस रसायनिक प्रक्रिया द्वारा जिसे प्रकिण्व प्रक्रिया (Fermentation) कहते हैं। इस प्रकिण्व प्रक्रिया (Fermentation) द्वारा कारबन वाले कई रसायनिक पदार्थों में जीवाणु उत्पन्न होते हुए पाए गये हैं, उनमें से बहुत से ऐसे जिन्हें जिन्दा रहने के लिए ओक्सिजन की जरुरत नहीं रहती। इस का यह अर्थ निकला कि मानों प्राण भी एक भौतिक-रसायनिक प्रक्रिया है। किन्ही विशेष रसायनिक पदार्थों में, विशेष परिस्थितियों में फरमेंटेशन (Fermentation) होकर प्राण का उद्भव हो जाता है। इसी आधार पर अनुमान लगाया गया है कि सृष्टि में सर्व प्रथम प्राणों का उद्भव कैसे हुआ। पृथ्वी की उत्पत्ति के बाद वायु-मंडल में या तो ओक्सिजन गैस था ही नहीं या था तो बहुत कम था। उस समय के वायुमंडल में अमोनिया (नाईट्रोजन का एक योग-एक रसायनिक गैस) एवं कारबनडाओक्साइड (ग्राँगार-द्विजारेय एक रसायनिक गैस) की उपस्थिति की साक्षी मिलती है। वायुमंडल के ये अमोनिया एवं कारबनडाओक्साइड समुद्र के पानी में मिलकर एक

रसायनिक योगिक-पदार्थ (A Chemical compound) बनाए हुए थे। उस समय पानी अभी गर्म ही था और उस गर्मी की वजह से यह संभव था कि कुछ रसायनिक प्रक्रिया उस पानी में दूसरे रसायनिक पदार्थों के साथ हो सके। सूर्य की एक विशेष प्रकार की रश्मियां जिन्हें कासनीपार की रश्मियां (Ultraviolet rays) कहते हैं वायु-मंडल को पार करके पृथ्वी तक आई और उपरोक्त रसायनिक योगिक-पदार्थ पर उनकी प्रक्रिया हुई। ये रश्मियां वायु-मंडल को उसी समय पार कर सकती हैं जब उसमें ओक्सिजन न हो, और यह हम बतला ही आए हैं कि उस समय के वायु-मंडल में ओक्सिजन नहीं था। उस प्रक्रिया के फल-स्वरुप अनेक रसायनिक परिवर्तन समुद्र के पानी में, जहां कहीं भी उपरोक्त रसायनिक योगिक-पदार्थ था (अमोनिया एवं कारबनडाई ओक्साइड एवं गर्म समुद्र का पानी मिलकर बना हुआ योगिक पदार्थ) हुए,—और उन परिवर्तनों के फलस्वरुप कारबन के ऐसे योगिक पदार्थ बन गए जिनमें अकिण्व प्रक्रिया (Fermentation) हो सकती थी। और तब उन्हीं कारबन-कमपाउण्ड में फरमेंटेशन (Fermentation) के द्वारा प्राण की उत्पत्ति हुई। आज सभी अधिकारी विद्वान इस बात को मानते हैं कि प्राण का आरम्भ कहीं छिछले खारे पानी में ही हुआ जिस पर गर्म सूर्य की किरणें आकर पड़ती थीं। एक बार प्राण का आरम्भ होने पर तो फिर वहां से प्राणी, एक तरफ

तो गहरे पानी में तथा दूसरी ओर शनैः शनैः समुद्र-तट तक और फिर समुद्र-तट से स्थल पर दूर तक फैले। एक बार जब प्राण की प्रणाली चल निकली तब तो न्यूनतम विकसित, केवल एक जीव-कोष वाले प्राणधारी जीवों में से, शनैः शनैः अधिकाधिक पेचीदा एवं अधिकाधिक विकसित जीवों का प्रादुर्भाव होता गया।

हमने देखा कि वह मूल-तत्व जिसकी यह सृष्टि बनी हुई है उसकी मूल-स्थिति हाँ-धर्मी विद्युत-कणों (प्रोटोन, प्राणु) एवं ना-धर्मी विद्युत-कणों (इल्कट्रोन, विद्युदणु) के रूप में है। इन विद्युत-कणों के ही संघात से सृष्टि के समस्त भिन्न भिन्न पदार्थ बने। एक प्रोटोन और एक इल्कट्रोन का संघात (योग) हुआ तो वह हाइड्रोजन बना, किसी विशेष निश्चित संख्या में इल्कट्रोन प्रोटोन का संघात हुआ तो वह यूरेनियम बना इत्यादि। उन्हीं विद्युत-कणों के संयोग से भिन्न भिन्न तत्वों के परमाणु (Atoms) बने। परमाणुओं ने ही मिल कर रसायनिक व्यूहाणु (Molecule) की सृष्टि की। इन्हीं व्यूहाणुओं (Molecules) ने चमत्कारी अणु-गुच्छकों (Colloids) को पैदा किया, जिनका वर्णन ऊपर हो चुका है। अणु-गुच्छक ही प्राण एवं अप्राण के बीच की कड़ी बने—और उन्हीं में गुणात्मक परिवर्तन होकर प्राण का उदय हुआ।

विकास के इस वैज्ञानिक सिद्धान्त को मान्यता देने पर उन धार्मिक अथवा दार्शनिक मान्यताओं की स्थिति नहीं रहती जो यह कहते हैं कि जीवन-तत्व या चेतना तो प्रथक ही एक स्वतन्त्र वस्तु है, और जो कहते हैं कि प्राण और चेतना भूत-पदार्थ के साथ साथ या इसके पहिले से विद्यमान थे।

मन का विकास

ऐसा माना जाता है कि मन या चेतना का भी प्राण के साथ ही साथ उदय हुआ। हम आसानी से यह कल्पना नहीं कर सकते कि उस आरम्भिक एक जीव-कोष वाले प्राणधारी में भी कोई मन होगा;–किन्तु बीज रूप से मन की स्थिति हम उसमें मान सकते हैं क्योंकि जीवधारी के साथ जीवनेच्छा बन्धी हुई है। यह जीवनेच्छा–मैं जीवित रहूँ–यह अहं, मन का आदि रूप ही है,–यद्यपि इसकी स्पष्ट अभिव्यक्ति तो विशेष विकसित प्राणियों में ही होती है। यह मन और चेतना है क्या ? यह भी उस शरीर से जो भौतिक-तत्व (Matter) में से विकसित हुआ है कोई भिन्न वस्तु नहीं है। शरीर का एक विशेष भाग होता है जिसे मष्तिष्क कहते हैं और जो प्राणी के सिर की हड्डी के ढांचे में स्थित है। यह भाग (मष्तिष्क) भी शरीर के सब अन्य अवयवों की तरह अनेक जीव-कोषों का बना हुआ होता है। इस मष्तिष्क की प्रक्रिया का नाम ही मन अथवा चेतना, अथवा बुद्धि अथवा चिन्तन है। यदि किसी प्रकार मष्तिष्क को कोई

आघात् पहुंचा दिया जाए और उसे बिल्कुल शून्य कर दिया जाए तो वे कोई भी प्रक्रियाएं नहीं हो सकतीं जिन्हें बुद्धि या चिन्तन या मनन कहते हैं। तो क्या मानव-प्राणी में जो सुख-दुख, सहानुभूति, प्रेम, द्वेषादि की वृत्तियां हम पाते हैं— उसमें संकल्पात्मक विकल्पात्मक अनेक जो उद्वेग उठते रहते हैं, सौन्दर्य के साथ एकात्म होने की उसमें जो प्रेरणा जाग्रत होती रहती है,-उसे अनेक जो विचित्र विचित्र अनुभूतियां होती रहती हैं जिनका कोई थाह नहीं ?—क्या ये सब उस भौतिक तत्वों के बने मष्तिष्क की ही प्रक्रिया मात्र हैं ? क्या मन, चेतना के ये सब गुण मष्तिष्क की तरह जो एक भौतिक-पदार्थ माना गया है, अन्य किसी भी भौतिक-पदार्थ यथा लोहा, पत्थर, मिट्टी में मौजूद हैं ? ऐसा नहीं,-क्योंकि मन भूत-पदार्थ की हर किसी स्थिति में नहीं पाया जा सकता,-वह तो भूत-पदार्थ का एक विशेष रुप से संगठित रुप है, उस संगठित रुप की, एक क्रिया, प्रवाह, एक विशेष गति है। चिन्तन, मनन, विचार, भाव की स्थिति आप द्रव्य-पदार्थ के उस विशेष संगठित रुप (प्राणी के मष्तिष्क) से प्रथक नहीं मान सकते। हां, गुण जो मष्तिष्क में अभिव्यक्त होते हैं वे भौतिक-पदार्थों में नहीं पाये जाते,—किन्तु इस बात को हम देख आए हैं कि कारण (Cause) के गुणों का कार्य (Effect) में सदा बना रहना अनिवार्य नियम नहीं है—कार्य में गुणात्मक परिवर्तन होता है। यह संभव है कि

आज जो गुण प्राणी-मष्तिष्क का है, उससे भी सर्वथा भिन्न गुण, ऐसा गुण जिसकी आज हम कल्पना भी नहीं कर सकते, विकसित हो जाये। जिस प्रकार अ-प्राण वस्तु में प्राण नामक गुण का विकास एक अद्‌भुत घटना थी, उसी प्रकार अन्य किसी अलौकिक गुण का विकास इसी भूत-पदार्थ में से उद्‌भूत प्राण और चेतनाधारी जीव में संभव है। मनुष्य या किसी भी चेतना-धारी जीव के विकास की कितनी असंख्य संभावनायें हैं, इसकी कल्पना भी हम साधारणतया नहीं कर सकते।

प्राण एवं चेतना के प्रादुर्भाव के पश्चात् असंख्य प्रकार के जीवों और अन्त में मानव का विकास किस प्रकार हुआ—यह अब हमें देखना है।

—×—

आदि भूत-द्रव्य से प्राण के उद्‌भव की श्रेणियां (*Stages*) अनुमानित

Dynamic matter existing in the forms of electrons and protons—combining into atoms of different elements—combining into molecules—one combination turning into carbon compound—by chemical action chan-

ging into a stage midway between life and non-life, like virus, bactriaphoge,—forming into life-cells.

गतिमय भूत-द्रव्य प्राणु-विद्युदणु के रूप में—भिन्न भिन्न पदार्थ तत्त्वों के अणु—व्यूहाणु—प्रांगार योग—रासायनिक प्रक्रिया द्वारा प्राण अ-प्राण के बीच की स्थिति जैसे विरस्, बेक्ट्रीयाफेज—जीवकोष (प्राण)।

६

जीवों का क्रमिक विकास

आदि प्राण (Life) का क्यों भिन्न भिन्न रूपों में विकास हुआ ?

आज असंख्यों प्रकार के प्राणी इस विश्व में दिखलाई देते हैं, भिन्न भिन्न रंग रूप के, भिन्न भिन्न बनावट के, भिन्न भिन्न आयतनों के, भिन्न भिन्न जातियों के। जीवाणु के समान छोटे से छोटे प्राणी से लेकर (जिसे हम बिना अणुवीक्षण यन्त्र

की सहायता के नहीं देख सकते) हाथी के समान बड़े, और हाथी भी क्या समुद्र की व्हेल मछली के समान बड़े से बड़े प्राणी तक;-बीजाणु के समान अविकसित चेतना एवं अविकसित बुद्धि वाले प्राणी से लेकर मनुष्य के समान विकसित चेतना और बुद्धि वाले प्राणी तक, अनेक रूपों में प्राण गतिमान हैं-- अनेक रूपों में जीवन-नृत्य चल रहा है। सृष्टि में इन नाना प्रकार के जीवों की नाना प्रकार की जीव-जातियों की स्थिति के विषय में पहिले यही माना जाया करता था कि सब प्रकार की वन-स्पतियां और जीव परमात्मा ने एक बार ही उत्पन्न कर दिए थे-और फिर वंशानुवंश उनकी परम्परा चलती रही। किन्तु जीवों की जातियों की विभिन्नता के विषय में यह सिद्धान्त मान्य नहीं। आज इस संबन्ध में जो सिद्धान्त मान्य है, उसे "विकासवाद" कहते हैं। इसके अनुसार सब प्रकार की जीव जातियां किन्हीं अन्य पूर्व-स्थित अपेक्षाकृत कम जीव-जातियों से अवतरित हुई हैं-ये पूर्व स्थित अन्य जीव-जातियां किन्हीं और अपेक्षाकृत कम अन्य जीव-जातियों से अवतरित हुई थीं- और इस प्रकार चलते चलते हम उस आदि स्थिति तक पहुंचते हैं जब एक ही जीव-कोष वाला सरलतम प्राणधारी जीव था। यह एक दिन का काम नहीं था-यह एक वर्ष का काम नहीं था- इस प्रकार के विकास में लगे करोड़ों वर्ष। तो इन नाना प्रकार के जीवों का आविर्भाव एवं विकास तो हुआ सरल से सरलतम

सूक्ष्मतम शरीर में उदय होने के पश्चात् क्यों वह प्राण अनेक भिन्न भिन्न रूपों में विकासमान हुआ ? और दूसरा प्रश्न यह है कि कौनसी वह रीति या ढङ्ग था जिसका अनुसरण करके उस आदि प्राण का अनेकों रूपों में विकास हुआ ?

आदि प्राण का क्यों भिन्न भिन्न रूपों में विकास हुआ इसका हम क्या उत्तर दें ! वैज्ञानिक तो यही कहता है कि आदि मूल-भू-तत्व वास्तव में एक वस्तु नहीं, एक स्थिर पदार्थ नहीं,- वह तो एक गति है एक प्रक्रिया है जो प्रतिपल होती रहती है- और उसी प्रक्रिया के फलस्वरुप उस आदि भू-तत्व के अनेक रुप विकसित होते रहते हैं, बनते रहते हैं, बिगड़ते रहते हैं। क्या किसी निश्चित उद्देश्य से, किसी निश्चित उद्देश्य की ओर वह गति है, वह प्रक्रिया है ? वैज्ञानिक यह नहीं जानता। वह तो इतना ही जानता है कि यह गति यह प्रक्रिया, यह विकास होता रहता है। मनुष्य के समान गहनतम-चेतना विकसित होने पर वह मनुष्य उस गति में, उस विकास क्रिया में. अपनी ओर से किसी भी उद्देश्य की कल्पना कर ले, किन्तु उस आदि भू-तत्व स्वयं में, उस गति स्वयं में कोई उद्देश्य निहित नहीं।

किस प्रकार यह विकास होता है

किस प्रकार एक आदि जीव में से भिन्न भिन्न जातियों के जीव विकसित हुए-इस बात का पता लगाने के लिए अनेक

वैज्ञानिकों के, अनेक प्राणी-शास्त्रज्ञों के अनेक प्रयास हुए हैं। दो प्रसिद्ध प्राणी-शास्त्रज्ञों के नाम उल्लेखनीय हैं, एक तो फ्रांन्स का लेमार्क (Lamarck) और दूसरा इंगलेंड का डारविन (Darwin)। डारविन के बाद भी अनेक अनुसन्धान होते रहे और इस शास्त्र की प्रगति होती रही। आज विकास के ढंग के विषय में प्राणी-शास्त्रज्ञों में जो मत प्रचलित है, वह "प्राकृतिक-निर्वाचन" (Natural selection) का सिद्धान्त कहलाता है जिसका हम संक्षेप में इस प्रकार वर्णन कर सकते हैं:—

(१) किसी एक प्राणी के सन्तानें उत्पन्न हुई। वे सन्तानें अपने माता-पिता के अनुरूप होती हैं-अर्थात् सन्तानों में आनुवंशीयता होती है। इसका इतना ही अर्थ है कि गदहे के गदहा ही पैदा होगा और मनुष्य के मनुष्य। किन्तु इतनी आनुवंशीयता होने पर भी सन्तानों में परस्पर विभिन्नता होती है, और वे अपने माता-पिता से भी कई बातों में विभिन्न होते हैं। उनकी शक्ल-सूरत, उनका स्वभाव, उनके शारीरिक अवयव इत्यादि बिल्कुल हूबहू अपने माता-पिता से, या परस्पर एक दूसरे से नहीं मिलते। उनमें प्रत्येक में अपनी-कुछ व्यक्तिगत-नवीनता होती है। इस नवीनता को परिवर्तन कहते हैं। ऐसी कोई व्यक्तिगत नवीनता ही शनैः शनैः विकसित होकर-पीढ़ी दर पीढ़ी में विकसित होकर- जाति परिवर्तन कर डालती है।

(२) शारीरिक अवयवों, शक्ल-सूरत, स्वभाव इत्यादि में यह विभिन्नता बहुत कुछ अंश तक चारों ओर के वातावरण की विभिन्नता की वजह से आ-उपस्थित होती है। कुछ विभिन्नता आनुवंशीय (जन्मजात) भी होती है। उदाहरण स्वरुप एक जानवर के साधारणतय: लाल आंखें हैं और शरीर का रंग भूरासा। यह संभव हो सकता है कि जन्म से ही इस जानवर की किसी एक सन्तान की आंखें गुलाबी हों और शरीर का रंग काला। यह बात अभी तक पूर्णतय: ज्ञात नहीं कि सहसा ऐसा परिवर्तन, ऐसी नवीनता क्यों आ उपस्थित होती है। यह नवीनता जो एक सन्तान में आई वह जनकबीज के द्वारा इस सन्तान की सन्तानों में आनुवंशिक ढंग से प्रकट होती रह सकती है।

(३) प्रकृति के क्षेत्र में एक ही जीव-जाति के भिन्न २ व्यक्तियों में तथा भिन्न भिन्न जीवजातियों में एक निर्वाचन सा चलता रहता है,-अर्थात् प्रकृति में वे जीव जीवित नहीं रह पाते जिनमें ऐसे परिवर्तन या ऐसी नवीनतायें आगई हों जो चारों ओर के प्राकृतिक वातावरण की कठोरता को, या प्राकृतिक वातावरण के सहसा परिवर्तन को नहीं सह पाते; एवं वे जीव जीवित रह जाते हैं और अपनी परम्परा चलाते रहते हैं जो प्रकृति के वातावरण की या उस वातावरण में किसी भी परिवर्तन की कठोरता को सफलता से सह लेते हैं। दूसरे शब्दों

में प्रकृत्य: वे जीव अथवा जीव जातियां छंटकर बुझती रहती हैं जिनमें आ उपस्थित होने वाली नवीनतायें प्रकृति के अनुकूल नहीं बैठतीं और वे जीव अथवा जीव-जातियां बढ़ती और चलती रहती हैं जिनमें आ उपस्थित होने वाली नवीनतायें प्रकृति के अनुकूल बैठती हैं। इसीको "प्राकृतिक निर्वाचन" (Natural Selection) कहते हैं। एक उदाहरण से यह बात समझ में आ सकती है। "एक कीड़ा सूखी काली जगह में पीढियों से रहता था। समय बदला, अब वह जमीन हरी भरी होगई। अब कीड़ा हरी पत्तियों और हरे पौधों में रहता है। उसकी सन्तानों में अधिकांश कीड़े चमकीले, लाल और काले रंग के हैं, और दो चार हरे रंग के। कीड़ों को खाने के लिये कितने ही पक्षी, कितने ही दूसरी जाति के कीड़े भी मुंह बाये हुये हैं। ऐसे कीड़े का जल्दी संहार होजाता है जो अपने आस-पास की जमीन हरी घास से बिल्कुल अलग रंग रखता है, क्योंकि शत्रु की नजर उस पर फौरन पड़ जाती है, और हरे रंग का कीड़ा बच जाता है। अपने रंग के कारण बचे हुये ये हरे कीड़े अपने वंश को आगे ले जायेंगे। "हरे रंग के रुप में जो नवीनता कीड़े में प्रकट हुई वह प्रकृति के अनुकूल बैठी।"

(४) अनुकूलनवीनता (परिवर्तन) जो एक जीव में प्रकट हुई थी—वह एक के बाद दूसरी पीढ़ियों में प्रकट एवं विकसित होती रहती है—और शनैः २ वह नवीनता इस स्थिति

तक बढ़ जाती है कि बाद वाले जीव अपने आदि पूर्वज की अपेक्षा जिसमें यह परिवर्तन उत्पन्न नहीं हुआ था—सर्वथा एक भिन्नतर जाति के दिखने लगजाते हैं। इसी प्रकार एक जीव-जाति से दूसरे प्रकार की जीव-जाति का विकास हो जाता है। इससे यह भी नहीं समझ लेना चाहिये कि यह अनिवार्य है कि यह विकास अविच्छिन्न प्रवाह की भांति ही चले;—ऐसी भी स्थितियां आती हैं कि विकास एक अविच्छिन्न प्रवाह के फल स्वरुप नहीं, किंतु एक कुदान के फल स्वरुप हो;—अर्थात् यह जरुरी नहीं कि विकास में एक कड़ी के बाद दूसरी कड़ी लगातार जुड़ी हुई मिले-ऐसी भी स्थितियां हैं जिनमें वह कड़ियों का तारतम्य नि मिले,—और ऐसा मालूम हो कि जीव एक स्थिति से दूसरी विकसित्त स्थिति तक,—एक प्रकार के रुपगुण की स्थिति से दूसरे प्रकार के रुप गुण की स्थिति तक, एक कुदान सी मार कर पहुँच गया है।

ऊपर समझाया गया ही वह ढंग है जिसके अनुसार जाति परिवर्तन और जीवों का विकास होता रहता है। जीवधारी प्राणियों के विकास का इतिहास जानने के पहिले कुछ और बातें हैं जिनको जान लेना यह विकास का इतिहास समझ लेने में सहायक होगा। प्राणीशास्त्र की व्याख्या के अनुसार प्रकृति में उच्च तथा निम्नस्तर के प्राणी कौन होते हैं? वे ही प्राणी

अपेक्षाकृत उच्च होते हैं जिनका अपने चारों ओर के प्राकृतिक वातावरण पर अधिक नियंत्रण (Control) हो; दूसरे शब्दों में जो चारों ओर की परिस्थितियों और प्राकृतिक वातावरण से अपेक्षाकृत अधिक मुक्त हों,–अर्थात् उन पर अपेक्षाकृत कम निर्भर रहते हों। अधिक से अधिक आत्मनिर्भरता एवं वातावरण एवं परिस्थितियों पर यह नियंत्रण (Control) आधारित है– इन बातों पर कि प्राणी की बनावट कैसी है, उसके शरीर के अवयव किस हद तक स्वयंचालित हैं, उसकी ज्ञानेन्द्रियां एवं उसका मस्तिष्क बाहरी दुनिया का कितना ज्ञान प्राप्त करने की क्षमता रखता है और उसकी अनुभूतियां कितनी गहराई तक पहुँच सकती हैं। जैसे जैसे आप जीवधारियों के विकास का इतिहास पढ़ेंगे, तैसे तैसे आप यह देख पायेंगे कि ज्यों २ प्राणी ने विकास किया त्यों त्यों वह परिस्थितियों और वातावरण पर कम निर्भर होता गया एवं उन पर उसका नियन्त्रण (Control) बढ़ता गया। किंतु इसका यह मतलब नहीं कि ज्यों ज्यों उच्चतर प्राणियों का विकास होता जाता है त्यों त्यों निम्नतर प्राणियों की जातियां सब खत्म होती जाती हों। विकास का यह अर्थ नहीं। चेतना ही पदार्थ के उच्च से उच्चतर संगठन (Organization) का स्वरूप है। किंतु साथ ही निम्नतर प्राणियों की स्थिति भी बहुधा बनी रहती है। बात इतनी ही है कि निम्नतर प्राणियों की गति और व्यवहार की परिस्थितियां

और क्षेत्र बहुत ही सीमित होते हैं और वे कम से कम इतनी निपुणता तो अपने शरीर के अवयवों के गठन में, एवं बुद्धि में प्राप्त किये हुए होते हैं कि अपने सीमित क्षेत्र में तो वे जीवित रह सकें, इसीलिये ऊँचे प्रकार के प्राणियों के साथ निम्न जाति के प्राणी भी बने रहते हैं।

जीवों के विकास का इतिहास

ऐसा माना जाता है कि वास्तविक मनुष्य का आविर्भाव हुए लगभग केवल ५० हजार ही वर्ष हुए हैं—और सभ्यता की वह स्थिति जिसमें इतिहास लिखा जाता था केवल चार या पांच हजार वर्ष पूर्व की है, तो आज से करोड़ों वर्ष पहिले पृथ्वी की क्या दशा थी और किस प्रकार के प्राणी रहते थे इत्यादि बातों का मनुष्य ने कैसे पता लगा लिया ? इस विषय की चर्चा हम तीसरे अध्याय में कर आये हैं। वहां हमने पढा होगा कि पृथ्वी के गर्भ में स्थित चट्टानों की भिन्न भिन्न स्तरों में जीवन का यह इतिहास लिखा हुआ है। चट्टानों की स्तरों में हमें प्राचीन जीवों के चिन्ह उनकी पथराई हुई हड्डियों (Fossils) के रूप में मिलते हैं,—उनके ढ़ांचे, पैरों के चिन्ह, वनस्पतियों के तनहे, पत्ते, फल इत्यादि के फोसिल (Fossils) मिलते हैं। इन्हींके आधार पर अनेक वर्षों तक कड़ा परिश्रम करते हुए प्राणी विकास की कहानी की रूप-रेखा तैयार की गई है, और ज्यों

ज्यों नये तथ्यों का उद्घाटन होरहा है इस रूप-रेखा की कमियों की पूर्ति की जा रही है।

१. अजीव चट्टान युग (Azoic Age)

लगभग दो अरब या इससे अधिक वर्ष तो हुये वाष्पपिंड की सूरत में पृथ्वी की उत्पत्ति हुए। शनैः शनैः पृथ्वी ठण्डी हुई और ठंडा होने के फलस्वरूप वे सबधातु तथा अन्य उपादान जो गैस रूप में पृथ्वी में विद्यमान थे, धीरे धीरे तरल तथा ठोस रूप में परिवर्तित हुए। आज की पृथ्वी की स्थिति में पृथ्वी के केन्द्र से लेकर पृथ्वी की सतह तक प्रायः ४००० मील की दूरी है। अनुमान है कि केन्द्र के पास सबसे भीतरी गर्भ जो प्रायः २२०० मील मोटाई का है वह प्रायः लोहा और निकल धातु का बना है— सम्भवतः पृथ्वी के गर्भ में अभी तक बहुत तेज गर्मी होने की वजह से ये धातुएँ तथा अन्य उपादान तरल या अर्धतरल दशा में हों। प्रायः २२०० मील मोटी पृथ्वी की सबसे भीतरी तह पर, लगभग १७०० मील मोटी खोल धातु एवं बसाल्ट की है और इसके ऊपर तीस मील मोटी खोल पत्थर चट्टानों की है। पत्थर-चट्टानों का यह सबसे ऊपरी खोल कई स्तरों का, कई सतहों का बना है। शनैः शनैः धूलमिट्टी, पानी में घुल घुल कर, कीचड़ बन बन कर और सूख सूख कर कठोर होती गई और चट्टानों का एक स्तर बन गई। इस स्तर पर फिर मिट्टी, कीचड़ जमा होने लगा और धीरे धीरे दूसरी सतह बन गई। इस प्रकार स्तर पर स्तर जमती

गई और ऊपरी खोल की वे चट्टानें बनी जिन्हें हम आज "स्तरीय-पत्थर" (Sedimentary-rock) कहते हैं। इन्हीं स्तरीय चट्टानों में "जीवन का इतिहास" लिखा हुआ मिलता है। इनका परीक्षण करने से पता लगा है कि इनमें सबसे पुरानी चट्टानों की आयु प्रायः १ अरब ६० करोड़ वर्ष की आंकी जा सकती है। इन चट्टानों की आधी या आधी से भी अधिक आयु तक की स्तरों में तो जीवन का कोई भी चिन्ह नहीं मिलता। आज से ८० करोड़ वर्ष पूर्व की चट्टानों की जो स्तरें हैं उनमें भी जीवों के कोई चिन्ह नहीं मिलते—अतएव ऐसी चट्टानों के युग को (Azoic Rocks age) "अजीव चट्टान• युग" नाम दिया गया है। संभवतः प्राण अभी उदय हुआ ही नहीं था।

२. प्रारम्भिक जीव युग (Paleozoic Age)

क.—ऐसे सूक्ष्मजीव जिनके अवशेष चिन्ह तो नहीं मिलते किन्तु जिनकी स्थिति का अनुमान लगाया जाता है:—

संभवतः ६० करोड़ वर्ष पूर्व छिछले समुद्रों में अनेक प्रकार के बहुत छोटे छोटे जेलीफिश (Jelly-fish) की तरह के अस्थि-हीन, अंग-हीन अनन्त प्राणी पानी की सतह पर तैरते थे, एवं काई की तरह के अनेक प्रकार के घास-पौधे भी पानी में पाए जाते थे। ऐसे प्राणियों के अस्तित्व का केवल अनुमान लगाया जाता है—

उनके किसी भी प्रकार के अवशेष चिन्ह विद्यमान रहने की संभावना हो ही नहीं सकती थी। प्राण का, जीवधारी प्राणियों का यह आरम्भ काल ही था। प्राकृतिक परिस्थितियां बहुत विषम थीं,—समुद्रों का जल शान्त तथा शीतल नहीं था—एवं ऐसी संभावना है कि प्राणधारी व्यक्तियों (जीवों) का जीवन काल कुछ घण्टे तक का ही होता होगा—जाति परिवर्तन शीघ्र शीघ्र होता होगा। उत्तर-काल की तरह नहीं जब अधिक विकसित जीव के जाति-परिवर्तन में लाखों वर्ष लगते थे।

ज्यों ज्यों हम चट्टानों की ऊपरी स्तरों की ओर बढ़ते हैं त्यों त्यों हमें प्राचीन जीवों के चिन्ह अधिकाधिक मिलते जाते हैं। हमें सीपसी खोखले वाली अनेक प्रकार की छोटी छोटी मछलियां, पानी में रेंगने वाले कीड़ों के समान अनेक प्राणी जिन्हें मूंगे का नाम दिया गया है, एवं सामुद्रिक बिच्छु जो ६ फीट तक लम्बे होते थे, एवं अन्य अनेक प्रकार के रीढ़-हीन जल-जीवों के चिन्ह मिलने लगते हैं। वह युग जिसमें ये जल-प्राणी उदय हुए, भयंकर ज्वार-भाटों का युग था, अतएव जब समुद्र के जल में ज्वार आता था तो ये जल-प्राणी किनारों तक, जमीन के ऊपर तक बहकर चले जाते थे, और लहरों के वापस समुद्र में लौट आने पर भी अनेक जीव स्थल पर रह जाते थे। वे वहां सूख जाते थे और मर जाते थे। यह भी संभव है कि भाटे के जोर में बहुत से जीव पानी की गहराई तक बहा लिए

जाते थे एवं वहां सूर्य का प्रकाश न मिलने से तथा सरलता से हवा न मिलने से, वहां भी मर जाते थे। अतएव जैसी प्राकृतिक परिस्थितियां उस समय थीं उनमें यह बहुत संभव था कि जीवित रहने के लिए, सूर्य की तेज किरणों से बचने के लिए उन जीवों पर Shell की तरह खोखलों का विकास शनैः शनैः हो गया होगा। वह युग जिसमें इन प्रारम्भिक जीवों का उदय एवं विकास हुआ "प्रारम्भिक जीव युग" (Paleozoic-Age) कहलाता है। अब तक जो कुछ कहा गया है उससे इस बात पर तो आपका ध्यान चला गया होगा कि आदिम जीव-प्राणी का छिछले-समुद्री-जल पर ही उदय हुआ। प्रारम्भिक जीव-युग के पूर्व भाग तक स्थल पर न तो किन्हीं पौधों का जन्म हुआ था न किन्हीं अन्य प्राण-धारियों का। ऐसी भौतिक तथा रसायनिक स्थिति समुद्र के कुछ कुछ गर्म एवं खारे जल में ही थी कि वहां पर प्राण का उदय एवं विकास हो सका।

उपरोक्त प्रारम्भिक जीवों के अतिरिक्त, ज्यों ज्यों काल बीता त्यों त्यों और नये नये जीवों का विकास होता गया।

ख. मत्स्य कल्प—इस युग की चट्टानों में पूर्व काल मे सर्वथा भिन्न प्रकार के अवशेष चिन्ह मिलते हैं। जिन प्राणियों के ये चिन्ह मिलते हैं उनके दांत एवं आंख आदि अवयव स्पष्ट रूप से विकसित थे, एवं इनमें रीढ़ की हड्डियों का ढांचा

भली-प्रकार विकास पा चुका था। सृष्टि में रीढ़ की हड्डियों वाले ये सर्व-प्रथम प्राणी थे। ये प्राणी जल में खूब मुक्त रुप से तैरते थे-ये रीढ़ की हड्डियों वाले सर्व-प्रथम-मत्स्य (मछली) थे। अनेक भू-शास्त्रियों का मत है कि आज से प्रायः ५० करोड़ वर्ष पहले ये जीव विद्यमान थे। अनन्त ये मछलियां इधर-उधर पानी में तैरती थी, कुदकती थीं, सामुद्रिक घास में फिरती रहती थीं। इनकी लम्बाई प्रायः २ फीट होती थी, किन्तु उनमें कुछ ऐसी जातियों की मछलियां भी थीं जो २०-२० फीट तक लम्बी होती थीं। प्रारम्भिक-जीव-युग (Paleozoic-age) में कौनसे जीव इन मछलियों के निकटतम पूर्वज थे-विकास की यह कड़ी नहीं मिलती, किन्तु इतना ही अनुमान लगाया जाता है कि कोई नरम प्राणी ही जिनमें हड्डी का ढांचा अभी नहीं बना था किन्तु जिनके मुंह में दांत इत्यादि सख्त हिस्से बनने लग गये थे, वे ही इनके पूर्वज होंगे। ये मत्स्य इस युग में इतने बहुतायत से पाए जाते हैं कि भू-शास्त्रियों ने इस युग का नाम ही "मत्स्यकल्प" रख दिया है।

ग. 'कार्बन कल्प'—मत्स्ययुग में भूमि पर प्राण के कोई चिन्ह नहीं थे। प्राणधारी जीव अभी जल तक ही सीमित थे। उस काल की भूमि भी क्या थी—केवल नंगी नंगी चट्टानें खड़ी थीं,—मिट्टी, रेत का कोई नाम नहीं था। जलवायु के भयंकर परिवर्तन होते रहते थे—कभी तो कुछ लाखों वर्षों तक पृथ्वी बर्फ से ढक जाती थी, फिर कुछ लाखों वर्षों तक साधारण

गर्मी का युग आजाता था,—इसका कारण यह था कि पृथ्वी की धुरी के चक्र में परिवर्तन होते रहते थे—महाद्वीपों की शक्ल बद-लती रहती थी—(यह कल्पना बिल्कुल नहीं करनी चाहिये कि करोड़ों वर्षों पूर्व या लाखों वर्ष पूर्व तक हमारे महाद्वीपों की शक्ल वही थी जो आज है)। इन करोड़ों, लाखों वर्षों के काल में कल्पनातीत परिवर्तन हुए हैं। प्राचीन युगों में अनेक भयंकर भूचाल होते थे—कहीं पहाड़ों की श्रेणियां बनती थीं,—कहीं बिगड़ती थीं। स्थल संबंधी ऐसी वे परिस्थियां थीं—जब 'प्राण' ने जल से थल तक प्रयाण किया। यह प्रयाण भी सहसा नहीं हुआ—बहुत धीरे २ यह काम हुआ। ऐसा होने में कई प्राकृतिक कठिनाइयां थीं। हम जानते हैं कि हम हवा में श्वास लेने पर ही जीवित हैं। किन्तु स्यात् यह नहीं जानते कि पानी में घुली हुई हवा ही से हम श्वास प्रश्वास लेसकते हैं। अर्थात् हवा में जब तक सील (Moisture) न हो, या हमारे श्वास लेने वाले शरीर के अवयव किसी भी प्रकार हवा में सील नहीं लायें, तब तक श्वास लेना बहुत कठिन है। हमारी यह आदत इसी लिये है कि आखिर हमारे शरीर मूलतः तो उन्हीं प्राणियों के ही तो विकसित रूप हैं जो जलवासी थे—जिनका प्रादुर्भाव जल में ही हुआ था। वे आरंभिक जल-प्राणी पानी में घुली हुई हवा में श्वास लेते थे। अतः ये जलजीव यदि जल के बाहर आते हैं और जल से दूर पृथ्वी पर रहने लगते हैं तो उनके अवयवों में कुछ ऐसा परि-

वर्तन होना चाहिये जो सूखी हवा अंदर जाने पर उसको सील (Moisturp) दे सके। प्रकृति की इस आवश्यकता के अनुसार शनैः शनैः ऐसे ही अवयवों का विकास प्राणियों में हुआ। पहिले तो जल जीव अपनी जिल (Gill-सांस लेने का अविकासित अवयव) से पानी में घुली हुई हवा लेलेते थे, पीछे इन अवयवों के ऊपर एक खोल का विकास हुआ,–फिर कई नालियों का विकास हुआ जो हवा में सील देती रहें,–और इस प्रकार धीरे धीरे जाकर फेफड़ों का विकास हुआ, जिन फेफड़ों की सतह को कई प्रकार के तरल पदार्थ शरीर के अंदर बनकर गीला करते रहते हैं, जिससे कि फेफड़ों की हवा घुलकर प्राणी के खून में बराबर जाती रहे।

वनस्पति के लिए भूतल तक पहुँचने में भी ऐसी ही कठिनाइयां थीं। वे ये कि,–वनस्पति यदि भूतल पर चली जाये तो उसको पानी कहां से मिले, और वह अपने अवयवों को खड़ा किस आधार पर रखे, जिससे कि धूप जो कि वनस्पतियों के लिये आवश्यक है, उसको खूब मिलती रहे। इन दोनों कठिनाइयों को वनस्पति ने शनैः शनैः पार किया, अपने लिये लकड़ी के से तनहे का विकास करके जो पौधे को खड़ा रखने के लिये सहारा भी देता था, एवं अपने अंदर पानी का समावेश भी रखता था। ऐसा होने पर तो पानी के अनेक घास पौधे, अनेक प्रकार के जंगी जंगी पेड़ पहिले दल दल भूमि में,—और फिर नीची सतह की भूमि तक फैल गये।

वनस्पति जीव के दलदल भूमि और नीचे किनारों की भूमि में पहुँचने के बाद ही जीव प्राणी भूमि की ओर प्रयाण करते हैं। ज्यों २ अनेक प्रकार के पेड़ पौधे दलदल भूमि की ओर फैले, उनके साथ ही साथ अनेक प्रकार के जानवर,-जलबिच्छु, कनखजूरे जैसे जानवर,–केंकड़े, रीढ़ की हड्डीवाले अनेक जानवर, और धीरे २ मैंडक, और फिर रेंगनेवाले (Newt) प्रकार के जीव, इत्यादि भी दलदल भूमि में फैल गये। यह बात याद रखनी चाहिये कि उपरोक्त समस्त वनस्पतियां एवं जीव प्राणी अर्द्ध-जलचर किस्म के प्राणी थे,–अर्थात् जल में से चूंकि अभी अभी इनका विकास हुआ था-अभी तक इनमें यह क्षमता या विकास की वह स्थिति नहीं आ पाई थी कि वे जल से बहुत दूर बहुत ही सूखी भूमि, पहाड़ या पठारों इत्यादि पर रह सकें। सत्य है कि वे दलदल भूमि और नीची सतह की भूमि में रहने लग गये थे किंतु संतानोत्पत्ति के लिये, अंडे देने के लिये (आजकल के मैंडकों की तरह) सरक कर उन्हें जल में ही जाना पड़ता था। वनस्पतियों को अपनी जड़ें जल में ही फैलानी पड़ती थीं, तब कहीं वे लगती थीं।

यह अनुमान लगाया गया है कि पहिले वनस्पति, पेड़, पौधे ही जल में से चलकर थल तक पहुँचे। थल पर उनके अच्छी तरह से जमजाने के बाद ही जीव-प्राणी थल पर गये।

इस युग में अनेक विशाल विशाल पेड़ों और वनस्पतियों का बाहुल्य रहा। उन्हीं के अवशेष कोयले के रुप में अब हमें पृथ्वी के गर्भ में मिलते हैं, इसलिये इस युग को "कार्बन कल्प" का नाम दिया गया है।

३. मध्य जीव युग (Mesozoic Age)

सरीसृप कल्प—इस युग का काल आज से लगभग २० करोड़ वर्ष पूर्व से ८ करोड़ वर्ष पूर्व तक का अनुमानित किया जाता है। इस युग के आगमन के पूर्व भी पृथ्वी की शकल सूरत में, जलवायु में, अनेक प्रकार के परिवर्तन हुए। हजारों वर्ष तक तापमान साधारण रहता था फिर हजारों वर्ष तक पृथ्वी के अनेक भाग ठंडी बर्फ से ढके रहते थे।

तापमान इत्यादि में भयंकर परिवर्तन चलते ही रहते थे। ऐसा अनुमान है कि इस युग के अंतिमकाल में अनेक लम्बे अर्से तक ठंड का साम्राज्य रहा। ऐसी ही ठंडी जलवायु का जब साम्राज्य होगा तो कार्बन युग के पृथ्वी के विशाल क्षेत्रों में फैले हुए जंगी जंगी पेड़ पौधों का बहुत अंश तक अन्त होगया होगा, और कालांतर में शनैः शनैः उनपर मिट्टी पत्थर जमते गये होंगे। और वे ही कालांतर में खनिज रूप में परिवर्तित होकर पृथ्वी के गर्भ में दब गए। उसी युग के उन पेड़ों को आज हम पत्थर के कोयले की खदानों के रूप में पाते हैं।

परिवर्तन के ऐसे युगों में ही प्राणियों में अनेक प्रकार की क्षमताओं का, शक्तियों का, विकास होता है, और वे प्राणी परिवर्तित वातावरण के अनुकूल अपने में भी परिवर्तन लाते रहते हैं। ठंडी-काल के उपरान्त इस युग में जब पृथ्वी का तापमान साधारण अवस्था में आया, तो अनेक प्रकार के पेड़, अनेक नए प्रकार के जीवों, जानवरों का प्रादुर्भाव हुआ—ऐसे जीवों का जिनको सन्तानोत्पत्ति के लिए अपने अण्डे देने को जल में नहीं जाना पड़ता था,—जिनके अण्डों का पेट में रहते हुए ही जीव-रूप में इतना विकास हो जाता था कि जन्म होते ही सीधा हवा में श्वास ले सकें,—यह आवश्यकता न रहे कि वह हवा उनको पानी में घुलकर मिले। ये प्राणी सरीसृप जाति के जीव थे।—जैसे बड़े बड़े सर्प, अजगर, मगरमच्छ, कछुए इत्यादि। इनमें से एक जाति के प्राणी वन-स्पति खाते थे, दूसरे जाति के प्राणी मांस। एक अन्य प्रकार के भी प्राणी थे जिन्हें डिनोसारस कहते हैं—ये पूंछ से लेकर मुंह तक ८४–८४ फीट तक विशाल-काय जानवर होते थे—इतने विशालकाय कि इस पृथ्वी पर इतने बड़े जानवर पहिले कभी भी दिखलाई नहीं दिये थे-और न अब तक भूतल पर रहने वाले इतने बड़े जानवर कभी पैदा हुए। इस जाति के जानवर अब लुप्त (Extinct) हो चुके हैं। ऊपर जिस प्रकार के सरी—सृप जानवरों का वर्णन किया है—वे भूमि पर ही रहते थे;—उनमें से अनेक समुद्र की ओर लौट आए और

वहीं समुद्र में रहने लगे।

एक और अन्य प्रकार के भी प्राणी इस मध्य-जीव-युग में रहते थे–वे सरीसृप रेंगनेवाले–जानवर तो होते थे, किन्तु उनके अगले पैर चमगादड़ की तरह के होते थे, चमगादड़ की तरह के कुछ पंख के समान अवयव भी। ये जानवर कुदकते थे, पेड़ पौधों तक थोड़ा थोड़ा उड़ते थे–जंतुओं को पकड़ कर खाने के लिये। रीढ़ की हड्डी रखते हुए ये पहिले प्राणी थे जो बड़े थे। प्राणीशास्त्रज्ञों ने इस जाति के जानवरों को टैरोडेक्टील्स (Pterodactyls) नाम दिया है। किन्तु अब इस जाति के प्राणी भी लुप्त हैं।

जानवरों के साथ ही साथ अनेक प्रकार के पेड़ पौधों का विकास हुआ। अब ये पेड़ पौधे बीज देते थे और विकास की ऐसी स्थिति में थे, कि उनके बीज भूमि पर पड़ने पर, एवं वर्षा द्वारा उचित जल मिलने पर उत्पन्न हो जाते थे।

इस प्रकार हम देखते हैं कि "प्राण" ने इस युग में पहुंचते पहुंचते पर्याप्त विकास कर लिया था।

४. नवजीव युग

आज से लगभग ८ से ४ करोड़ वर्ष पूर्व इस युग का प्रारम्भ हुआ। करोड़ों वर्षों तक मध्य जीवयुग के

सरीसृप प्राणियों का इस सृष्टि में अखण्ड राज्य रहा। प्राकृतिक परिवर्तन जारी थे—पहाड़, झील, नदियों, समुद्रों की शकल एवं स्थितियां बदल रही थीं—लाखों वर्षों तक कभी गर्मी पड़ती थी; कभी भयंकर भूगर्भिक उत्पात होते थे, फिर लाखों वर्षों तक भयंकर जाड़ा। ऐसे ही भयंकर परिवर्तनों के समय में हम अपने चट्टानों के लिखित इतिहास में देखते हैं कि सहसा सरीसृप प्रकार के प्राणियों का लोप होजाता है एवं लाखों वर्षों तक किसी भी प्राणी के अवशेष चिन्ह या फोसिल (Fossils) चट्टानों में नहीं मिलते। सम्भवतः ये लाखों वर्ष भयङ्कर सर्दी के रहे होंगे और ऐसी परिस्थितियों में विशेष प्राणी पनप नहीं पाये होंगे। जीवित रहने के लिये खूब युद्ध (Struggle) चला होगा, एवं जीव जातियों को प्रकृति के परिवर्तन के अनुरूप अपने आपको बनाने के लिये साधना करनी पड़ी होगी—इसी सिलसिले में अनेक नई प्रकार की प्राणी जातियों का विकास हुआ। जब से नव-जीव युग के प्राणियों के चिन्ह हमें चट्टानों के पृष्ठों में दृष्टिगोचर होने लगते हैं, उस समय की पृथ्वी की प्राकृतिक दशा का इस प्रकार अनुमान लगाया जाता है कि यही काल था जब हिमालय पर्वत, आल्पस पर्वत, रोकी एवं ऐंडीज पर्वत भूगर्भ में से धकाये जाकर ऊपर आरहे थे, और आज के महाद्वीपों एवं महासागरों की रूपरेखा कुछ कुछ बनने लगी थी।

क. जंगलों एवं घास के मैदानों का प्रादुर्भाव होना–

उत्तर प्रारम्भिक जीव युग में हम दलदलों में बड़े बड़े पेड़ों का जिक्र कर आये हैं। नव-जीव युग तक आते आते ये पेड़ जमीन पर अनेक स्थलों में फैल गये एवं बड़े बड़े जंगलों का प्रादुर्भाव हुआ–साथ ही साथ इस युग में घास के मैदान बने। इस युग के पहिले घास के मैदानों की स्थिति के चिन्ह सर्वथा नहीं मिलते। इसी युग में अनेक प्रकार के पुष्पों वाले पेड़ पौधों का आविर्भाव होता है और साथ ही साथ मधुमक्खियों एवं तितलियों का।

ख. पक्षी-(उड़ने वाले जानवरों) का आगमन–मध्य जीव युग में हम टैरोडेक्टील्स (Pterodactyls) नामक प्राणियों का–ऐसे प्राणियों का जो कुछ कुदकते थे–एवं कीटों पतंगों को खाने के लिये कुछ कुछ उड़ते थे, जिक्र कर आये हैं। इन प्राणियों का तो सर्वथा लोप होगया, किन्तु प्रकृति के परिवर्तनों के परिभूत सरीसृप जाति में से दो शाखाओं का विकास हुआ। एक ने तो सर्दी एवं अन्य जानवरों से अपने बचाव के लिये अपना त्राण इस अवस्था में ढूंढा कि वे किसी प्रकार पेड़ों एवं पहाड़ों की ऊंचाई तक पहुँच जायें, अतएव शरीर को ढकने के लिये पंख एवं उड़ने के लिये परों का विकास हुआ। इस जाति के प्राणी पक्षी

कहलाये। शनैः शनैः छोटे छोटे प्राणियों का आगमन हुआ जिनके शरीरों में पहिले तो एक प्रकार के बड़े पर (Quill) का विकास हुआ, फिर पंख और परों का। आकाश जो अबतक प्राणशून्य था, प्राणों से प्रफुल्लित हो उठा—और अनेक प्रकार की चिड़ियाओं की बोली से गुञ्जरित हो उठा। सरीसृप जातिमें से जिस दूसरी शाखा का विकास हुआ वह स्तनधारी जीवों की थी।

ग. स्तनधारी (Mammals) प्राणियों का प्रादुर्भावः—

इस युग में स्तनधारी प्राणियों का आगमन ही सबसे अधिक महत्त्वशाली घटना थी। अबतक तो जितने भी लाखों प्रकार के प्राणी इस सृष्टि में आये थे उनकी यह विशेषता थी कि वे, उनका जन्म होते ही, जन्म देने वाले प्राणियों से पृथक होजाते थे और व्यक्तिशः अपना जीवन पृथक निर्वाह करने लगजाते थे। जन्म देनेवालों को यह भान भी नहीं होता था, उनको यह चेतना भी नहीं होती थी कि उन्होंने अपने ही जैसे प्राणियों को जन्म दिया है। अपने बच्चों से किसी भी प्रकार की संवेदनात्मक, सामाजिक सम्बन्ध की अनुभूति उन्हें नहीं होती थी। अब ऐसे जीवधारियों का आगमन हुआ जिनके बच्चों का गर्भ में ही पूर्णरुपेण विकास होजाता था, और साथ ही साथ जन्म लेने के बाद भी उन बच्चों को अपने निर्वाह, भोजन, के लिये

कुछ दिनों तक, महीनों तक, अपनी जन्मदात्री पर निर्भर रहना पड़ता था। इस जन्मदात्री के शरीर में स्तनों का विकास होचुका था—और उसके स्तन वे प्राण-दायक माध्यम थे जिससे जन्मदात्री एवं उसके बच्चों में एक संवेदनात्मक पारिवारिक सा सम्बन्ध स्थापित होता था-बच्चे यह महसूस करते थे कि उनके मातायें हैं—मातायें यह महसूस करती थीं कि उनके बच्चे हैं। यह संवेदना केवल मूक संवेदना नहीं होती थी—सर्वप्रथम इन्हीं स्तनधारियों में उस वाणीशक्ति का भी प्रादुर्भाव हुआ-जिससे वे अपना भाव किसी न किसी बोली में, चिल्लाहट में-परस्पर प्रकट करदेते थे। इस चेतना, संवेदना, जागृति के साथ ही साथ मस्तिष्क का भी शनैः शनैः विकास हुआ। नव-जीव युग में मस्तिष्क एवं चेतना का विकास—यही एक बात थी जिससे ये जीव सरीसृप जीवों से बिल्कुल भिन्न जाति के हुए-और उस परम्परा का आरम्भ हुआ जिसमें यह संभव माना जासकता था कि मानव-प्राणी का भी विकास होसके। दूसरी विशेषता इस जाति की यह थी कि सर्दी से रक्षा करने के लिये इनके शरीर में बालों का विकास हुआ- सृष्टि में ये सर्वप्रथम बालधारी जीव थे।

ज्यों ज्यों काल बीतता गया, इस युग के प्राणियों में शनैः शनैः विकास होता गया और विकास होते होते फल फूल

वनस्पति,—एवं जीव-प्राणी इस पृथ्वी पर ऐसे ही दृष्टिगोचर होने लगे जो आज की वनस्पति से, आज के जानवरों से मिलते जुलते थे। आज की दुनिया के घोड़े, ऊँट, हाथी, कुत्ता, चीते, शेर, बघेरे इत्यादि इत्यादि जानवरों के पूर्वज उस युग में दृष्टि-गोचर हुए।

स्तनधारी जीवों के अनेक किस्मों के अवशेष चिन्ह चट्टानों में मिलते हैं। कुछ जीवों का विकास एक दिशा की ओर होरहा था, कुछ का दूसरी दिशा की ओर। कुछ तो घासाहारी चार पैरोंवाले जीव अपने शरीर को इसी दिशा में (थलचारिता एवं घास पत्तों पर निर्वाह) पूर्णता की ओर पहुंचा रहे थे, कुछ वापिस समुद्र एवं जल की ओर उन्मुख होगये थे, एवं कुछ ऐसे प्राणियों का विकास होरहा था जो पेड़ों में कूदते, फांदते फिरते थे। ये अन्तिम प्रकार के प्राणी ही वे थे जिनको आज हम बन्दर, लंगूर इत्यादि के नाम से पहिचानते हैं। अनेक प्राणी जो शरीर की पूर्णता की ओर अधिक उन्मुख थे वे हाथी जैसे विशालकाय होगये; जो तेज दौड़ने की कला में विशेषता पाने की ओर उन्मुख होगये वे घोड़ों के समान टांगोंवाले होगये—किन्तु शरीर या किन्हीं विशेष शारीरिक अवयवों की यह पूर्णता हासिल करलेने पर भी प्रकृति के क्षेत्र में वे लोग पूर्ण स्वतन्त्रता प्राप्त नहीं करसके। बुद्धि ही ऐसा कर सकती थी—अतएव कुछ

भाग्य-शाली प्राणियों का विकास इस दिशा की ओर विशेष रुप से होने लगा कि उनके मष्तिष्क का अन्य अवयवों की अपेक्षा अधिक विकास हो। ऐसा अनुमान है कि उपर्युक्त प्रारम्भिक प्रकार के बन्दर, लंगूर आदि प्राणियों का आविर्भाव नव-जीव युग के प्रारम्भिक काल में ही—आज से लगभग ४ करोड़ वर्ष पहिले ही हो चुका था। ऐसी ही बन्दर जाति के प्राणियों में एक ऐसे प्राणी की स्थिति का अनुमान किया जाता है जो कुछ कुछ तो पूंछवाले बन्दर से, कुछ कुछ निपुच्छ बन्दर (Ape) से मिलता जुलता था, जो अपने पिछले पैरों के सहारे ज़मीन पर खूब दौड़ता था और पेड़ों पर भी बड़ी सरलता से चढ़ता उतरता था; जिसके हाथ बड़े कुशल थे, जो सूखे फलों को जैसे बादाम, अखरोट इत्यादि को पत्थर से तोड़ लेता था और पत्थरों को इधर उधर भी फैंक सकता था,—जिसके मष्तिष्क में "नटखट पन" सूझता रहता था—कल्पना कीजिए ऐसे ही प्राणी अपने पूर्वज थे!

लाखों लाखों वर्षों तक शनैः शनैः, प्राणी सृष्टि में जब इस प्रकार के परिवर्तन हो रहे थे–इस भूतल पर भी, इसके जल में थल में, इसके वायुमंडल में, इसके तापमान में, इसकी गति में अनेक प्रकार के उथल पुथल होरहे थे। प्राण का वसंत एक तो उस समय आया था जब 'प्रारंभिक जीव युग' में विचित्र

विचित्र प्रकार के असंख्य छोटे मोटे जीव जल में अकुलाने लगे थे। प्राण का दूसरा वसंत उस समय आया जब "मध्य जीव-युग" में अनेक प्रकार के सरीसृप इस भूमि पर रेंगने लगे;-प्राण का तीसरा वसंत उस समय आया जब "नव जीव" युग में अनेक स्तनधारी जीव जंगलों, पहाड़ों में इधर उधर घूमने फिरने लगे,-रहने लगे-अपने बच्चों के प्रति अपने अंतर में एक संवेदना लिये हुए। फिर जैसा पूर्व युगों में हुआ था-भयंकर शीतपात हुआ-पृथ्वी के अनेक खंड बर्फ से ढक गये-विशेष क्षमता वाले प्राणी ही अपना जीवन, अपना वंश बना रख पाये। भू-शास्त्रियों ने, एवं-जीवशास्त्रियों ने, इस पृथ्वी पर बार बार जो शीत के आक्रमण होते थे उनकी बड़ी चर्चा की है। वे कहते हैं कि नव-जीव युग के दीर्घकालीन समय में ४ बार हिम प्रकोप हुआ-जिनको वे प्रथम, द्वितीय, तृतीय एवं चतुर्थ हिम-युग के नाम से संबोधित करते हैं। लाख लाख वर्षों तक स्तनधारी जीवों की, लंगूरों, बंदरों एवं 'मानव-समान' बंदरों की जीव-प्रणाली इस दुनिया में चलती रही-फिर आज से लगभग ६ लाख वर्ष पूर्व प्रथम हिमपात हुआ। बीच बीच में हजारों हजारों वर्षों के सम-शीतोष्ण काल आते रहे,-फिर अंत में आज से केवल ५० हजार वर्ष पूर्व चतुर्थ हिमयुग प्रारंभ हुआ-बर्फ के तूफान, बर्फ की आंधियां, बर्फ की वर्षा ने पृथ्वी को आच्छादित करदिया-ऐसा ही काल जब बीत रहा था तब लाखों लाखों वर्षों से चलता

आता हुआ "नव जीव युग" पदार्पण कर रहा था सृष्टि की उस महत्त्व पूर्ण अवस्था में जब इस धरातल पर "मानव" का प्रादुर्भाव हुआ ।

—×—

जीव विकास की कहानी-का सार

(१) किन उपादानों से और किन रूपों में ?

भूत-द्रव्य (Matter) गतिमय इलक्ट्रोन प्रोटोन (प्राणु एवं विद्युदणु) के रूप में, भिन्न भिन्न पदार्थ-तत्वों के परमाणु (Atoms), इनसे तत्त्वों के मोलीक्यूल्स (व्युहाणु), इनसे कार्बन कंपाउण्ड (प्रांगार योग), इससे रसायनिक प्रक्रिया द्वारा प्राण अ-प्राण के बीच की स्थिति वाले पदार्थ जैसे विरस, बक्ट्रीयाफेज (Virus & Bacteriophage), इनसे जीवाणु, इससे एक जीव-कोष वाले सूक्ष्म प्राणी, इनसे जलचर अ-रीढ़धारी प्राणी, इनसे रीढ़धारी मत्स्य, इनसे अर्धजलचर प्राणी, इनसे थलचर सरीसृप प्राणी, इनसे स्तनधारी प्राणी, जिन्हीं की एक शाखा मानव-प्राणी हुआ ।

मानव
कपि, निपुच्छकपि
पक्षी
स्तनधारी-प्राणी
पशु
गाय, भैंस, घोड़ा
सरीसृप प्राणी
सांप, अजगर,
मगरमच्छ
मेंढक,
टोडपोल
अर्ध जलचर
प्राणी
रीढ़धारी प्राणी
जलचर
मत्स्य-अनेक
प्रकार के
जैली मछली
जलचर,
अरीढ़धारीप्राणी
वनस्पति
स्पोंज
जीव-कण

जीव-विकास

(विज्ञान ने प्राणी-विकास के संबंध में तो उपर्युक्त अनुमान लगाया है। विकास के ये चरण अपने आप में पूर्ण नहीं हैं,—केवल संकेत मात्र हैं,—और न ही इसका यह अर्थ है कि ज्यों ज्यों अगले स्तर तक विकास होता गया, पूर्व स्तर की स्थितियां विलीन होती गईं। विश्व में, छोटे मोटे, विकसित, अर्द्ध विकसित सभी प्रकार के पदार्थों और जीवों की स्थिति (Existence) समानांतर रूप से बनी रहती है)

(२) किस काल क्रम से ? निम्न काल क्रम केवल अनुमानित है—अभी सिद्ध नहीं।

आज से प्रायः २ अरब वर्ष पूर्व	सूर्य से वाष्प पिण्ड रूप में पृथ्वी की उत्पत्ति	यह "आकाश" "प्रकृति" स्थिति
पृथ्वी की उत्पत्ति के बाद ६०–७० करोड़ वर्षों तक	पृथ्वी का वाष्प रूप से ठोस रूप में परिवर्तन। जल थल भाग पृथक होना; स्तरीय चट्टानों का शनैः २ बनना।	
अनुमानतः आज से ६०–७० करोड़ वर्ष पूर्व	"प्राण" — "चेतना" का उदय	

काल	युग		कल्प	विवरण
आज से ६० करोड़ वर्ष पूर्व से २० करोड़ वर्ष पूर्व तक	"प्रारंभिक जीव युग"	लगभग ४० करोड़ वर्षों तक इस युग के जीवों की प्रणाली चलती रही।	जलचर "अ-रीढ़धारी"	अति सूक्ष्म प्राणी—गोलमाल मुरब्बा, मूंगे, निरावयव जैली मछली इत्यादि जिनके शरीर के बीच में से टुकड़े होकर, वे पृथक २ टुकड़े ही पृथक २ जीव होजाते थे और इस प्रकार सन्तानोत्पत्ति होती रहती थी। एवं अन्य अनेक जल-प्राणी। अभी किसी में भी हड्डी का विकास बिल्कुल नहीं हो पाया था।
			"मत्स्यकल्प"	रीढ़धारी प्राणियों की प्रणाली आरंभ होती है। अनेक प्रकार की मछलियां विशेषकर।
			अर्धजलचर प्राणी	सामुद्रिक बिच्छु, मैंडक, टोडपोल जाति के प्राणी जो जल में ही रहते थे, किंतु अवसर पड़ने पर कुछ देर दलदल भूमि पर भी रह सकते थे। दलदल भूमि के पेड़।

आज से २० करोड़ वर्ष पूर्व से ६ करोड़ वर्ष पूर्व तक	"मध्य जीव युग"	लगभग १५-२० करोड़ वर्षों तक इन जीवों की प्रधानता रही।	"सरीसृप-प्राणी" Reptiles.	१. सांप, अजगर, मगरमच्छ इत्यादि भूमि पर रेंगने वाले प्राणी । २. बड़े बड़े डिनोसार, टेरोडक्टील्स जाति के प्राणी जो आज लुप्त हैं।
६ करोड़ वर्ष पूर्व से लेकर आज तक	"नव जीव युग"	७ करोड़ वर्षों से इस युग के जीवों की प्रधानता रही है।	"स्तनधारी" प्राणी	क. पक्षी-अनेक प्रकार के हवा में उड़ने वाले प्राणी। ख. पशु-गाय, भैंस, घोड़ा, ऊंट, कुत्ता, शेर लंगूर, वानर, अर्धमानव इत्यादि
आज से लगभग ५० हजार वर्ष पूर्व	"अर्धमानव" के बाद "वास्तविक मानव"—हम आप जैसे मानवों का उदय			

दूसरा खंड

[आज से लगभग ५ लाख वर्ष पूर्व से
ई. पू. लगभग ६ हजार वर्ष तक]

मानव का उद्भव

[मानव के प्रारंभिक उद्भव काल से लेकर पूर्ण विकसित मानव
(*Homo Sapien*) के आगमन और प्रारंभिक जीवन तक]

७

मानव का उद्भव

—❀०❀—

प्रस्तावना

इस पृथ्वी पर मनुष्य सबसे पहिले कब उत्पन्न हुआ ? क्या सबसे पहिले एक पुरुष स्त्री का जोड़ा उत्पन्न हुआ और फिर उससे मानव सृष्टि फैली ?—या कई स्त्री पुरुष एक साथ उदय हुए ? पृथ्वी का कौनसा वह भाग था जहां सबसे पहिले मनुष्य की उत्पत्ति हुई ?—या कई स्थलों पर एक साथ मनुष्य का उदय हुआ ? इत्यादि, कई ऐसे प्रश्न हैं जो स्वाभाविक रूप से हमारे मन में उठ सकते हैं, जब हम मनुष्य

की उत्पत्ति के विषय में विचार करने बैठें - यह विचार करने बैठें कि आखिर हमारे आदि माता-पिता—पूर्वज कौन थे ?

जिस अध्याय में हम "सृष्टि की उत्पति" पर विवेचन कर आये हैं, उसमें मनुष्य की उत्पत्ति के विषय का, एवं उपरोक्त प्रश्नों का क्या संभवित उत्तर हो सकता है इसका, कुछ तो आभास मिलचुका होगा। फिर भी इन प्रश्नों पर यहां स्पष्ट विचार किया जायेगा, चाहे ऐसा करने में जो कुछ पहिले लिखा जा चुका है उसकी कुछ पुनरावृत्ति करनी पड़े।

विश्व—सृष्टि के आदिमें "जो कुछ स्थिति", जो कुछ एक वर्णनातीत परिव्याप्त ज्वलन्त वाष्प सी वस्तु थी—मानिये वह एक महाज्योति थी। इस महाज्योति में से उद्भूत हुए अनेक नक्षत्रगण। एक नक्षत्र से जो हमारा सूर्य है—उद्भूत हुई यह हमारी पृथ्वी। सूर्य का यह एक खण्ड थी—अतएव थी यह धधकती हुई आग का एक विशाल गोला। करोड़ों वर्षों तक यह पृथ्वी निष्प्राण, शून्य सी पड़ी रही—अनेक प्रकार की घटनायें—अनेक प्रकार के परिवर्तन इस पर हुए— शनैः शनैः यह आग का गोला ठण्डा हुआ,—इस पर समुद्र बने, झीलें एवं नदियां बनी; पहाड़ बने, बर्फगिरा, आंधियां चली;—कल्पना कीजिए कितनी विशाल, कितनी अचिंतनीय ये घटनायें थीं। क्या इन घटनाओं का कुछ अर्थ था ? कौन उस समय वहां

प्राणयुक्त, मन एवं चेतनायुक्त जीव था जो उन घटनाओं को देखता और उनका अर्थ लगाता ? मानो ये घटनायें निरर्थकसी निष्प्रयोजनसी होरही थीं—उनका कोई द्रष्टा इस पृथ्वी पर नहीं था। फिर, आज से करोड़ों वर्ष पहिले, किसी युग में, किसी दिन,–इन अ-प्राण घटनाओं की पृष्ठ भूमि पर, निष्प्राण पदार्थ में जागे प्राण। मानो अनन्त अन्धकारमय सृष्टि में ज्वलित हो उठी हों प्रकाश की किरणें—शून्य में जागृत हो उठी हों दो आंखें; एवं भाव-शून्यता में भासित होने लगा हो कुछ अर्थ। किन्तु ये प्राण सर्वप्रथम प्रकट हुए अति सूक्ष्म जीवकोषों में, अति साधारण जीवों में–जिनमें केवल प्राणमात्र थे—अभी चेतना या मन नहीं। जो कुछ हो, जिसका इस पृथ्वी पर कोई द्रष्टा नहीं था ऐसी निष्प्राण, निष्प्रयोजन सृष्टि में आखिर एक प्रणाली तो चल निकली,—ऐसी एक वस्तु तो आविर्भूत हुई जो स्वयं स्पंदित होती थी—जो चलती फिरती थी–जो भोजन खाती थी—जो अपने ही में से अपने जैसे अन्य जीवों का प्रादुर्भाव करके, अपना समय आने पर विलीन होजाती थी। हम विचार करें तो यह एक कल्पानतीत घटना थी। इन्हीं प्रारम्भिक जीवों के साथ करोड़ों वर्षों तक मानो प्रकृति का प्रयोग चलता रहा, प्रच्छन्न रुप से एक क्रिया चलती रही—। अस्थिहीन, रीढ़हीन जीवों में से विकसित हुई मछलियां रीढ़युक्त एवं अस्थियुक्त,- फिर बड़े बड़े मगरमच्छ, फिर पृथ्वी पर रेंगनेवाले सर्प एवं

अजगर, फिर अनेक पक्षी और फिर पशु, वानर एवं वन मानुष। जीवों के अनन्त भेद--असंख्य जातियां प्रकट हुई, जिन सब में प्राण अबाधगति से गतिमान था, विकासोन्मुख था, मानों हर घड़ी एक सुन्दर मन्दिर की तलाश में वह था जिसमें सुखद रूप से वह प्रस्थापित हो सके। आखिर घड़ता घड़ाता एक सुन्दर सुखद मन्दिर मिला यह मानव-देह, जिसमें प्राण के साथ साथ विकसित हो उठे चेतना या मन। चेतना और मन! अनन्त काल से व्याप्त वह आदि महाज्योति, असंख्य वर्षों से घूर्णित ये नक्षत्र, सूर्य, ग्रह और पृथ्वी—सबके सब अपने आदि काल से अचेतन, निस्पृह, गूंगे, मौन। इस जड़भव में जाग उठे प्राण, चेतना, मन। सर्वप्रथम अन्तरिक्ष में गूंज उठी वाणी। मानव-उर स्पंदित हो हंस उठा--रो उठा। "मैं" जागा। मन पूछने लगा "मैं" कौन हूँ! इस मानव प्राणी के उद्भव एवं विकास की कहानी कम मनोरंजक नहीं हो सकती।

मानव के उद्भव के विषय में हिंदूमत

इस विश्व-सृष्टि की उत्पत्ति से लेकर करोड़ों, अरबों वर्षों में शनैः शनैः वानर, वन-मानुष के विकास तक की कहानी तो हम पिछले अध्यायों में कह आये हैं। इससे आगे की कड़ी हमें पकड़नी है। वानर एवं वन-मानुष के विकास तक की कहानी तक तो पाश्चात्य "विकासवाद" (Law of Evolution) एवं हिन्दू

धर्म शास्त्र प्राय: एक से मत के रहे हैं, किंतु मनुष्य की उत्त्पत्ति के प्रश्न पर दोनों विचारों में एक आधार भूत फर्क आ पड़ता है। पाश्चात्य विकासवाद को तो यह बात मान्य है कि आदि मानव (Original man) किसी बंदर-सम प्राणी की कोख में से निकला, और फिर प्राकृतिक निर्वाचन द्वारा धीरे धीरे उन्नत एवं विकसित होता गया। यह बंदरसम प्राणी जिसकी कोख में से मानव निकला, किसी अन्य इतर जीव जाति की कोख में से निकला था, इस प्रकार यह श्रृंखला आदि निम्नतर प्राणियों तक, प्रारंभिक एक जीव-कोष (Single cell) वाले प्राणियों तक-चली जाती है। किंतु हिंदूमत जो वेद, उपनिषद्, एवं अन्य धर्मशास्त्रों के आधार पर बना है,–उसकी मान्यता यह है कि आदि मानव किसी बंदर या बंदरसम प्राणी की कोख में से नहीं निकला। सृष्टि में जितनी भी जातियों के जीव पैदा हुए, प्रत्येक जाति के आदि प्राणी स्वत: ही सीधे प्रकृति के तत्त्वों (Germs) में से ही उद्‌भूत हुए। हां उस जाति के अन्य प्राणी फिर इन आदि प्राणियों की कोख में से निकले,-और इस प्रकार कोख में से उत्त्पन्न होते हुए फैले,-फिर उन जीव जातियों का विकास या ह्रास निश्चय ही प्राकृतिक एवं यौनिक निर्वाचन द्वारा हुआ। इसका अर्थ यह है कि सब मानव एक ही आदि माता पिता की संतान नहीं हैं-उपयुक्त परिस्थितियां उपस्थित होने के पश्चात पृथ्वी के कई भूखंडों में एक ही काल में-या कुछ आगे पीछे-अनेक मानव

प्राणी (स्त्री पुरुष) प्रकृति के तत्वों (Germs) में से उद्भूत हुए,-किंतु इन आदि मानव-प्राणियों की-उत्पत्ति के पश्चात फिर जितने मानव प्राणी उत्पन्न हुए वे सब इन आदि मानव-प्राणियों की कोख में से निकले-और इस प्रकार तारतम्य बंध गया। इस प्रकार केवल एक ही आदि बंदर से सब बंदर पैदा नहीं हुए-न एक ही आदि गाय से सब गायें और न एक ही गेहुँ के बीज से सब गेहुँ के पौधे। बंदर जाति का जीव इस पृथ्वी पर इस प्रकार अवतरित हुआ कि पृथ्वी के अनेक भूखंडों पर सब से पहिले अनेक बंदर प्रकृतिकी कोख में से निकले, और फिर तो इन आदि बंदरों से बंदरों की वंशावली चल निकली। इसी प्रकार अन्य जीव भी। किंतु इसका यह अर्थ नहीं कि अधिक पूर्ण एवं विकास युक्त जीव, अपेक्षाकृत कम पूर्ण या कम विकास युक्त जीव के पहिले सृष्टि में अवतरित हुआ हो। प्रकृति के आदि तत्त्वों में से पहिले तो सरल, कम विकसित जीव उत्पन्न हुए-फिर सीधे प्रकृति के तत्वों में से ही,-पूर्वज जाति के जीवों में से नहीं,-अधिक विकसित जीव और इस प्रकार फिर अंत में पूर्णतय: विकसित जीव-मानव। इस प्रकार हिन्दू मान्यता के अनुसार मानव अवतरित तो बंदर या बंदर सम किसी जीव की उत्पत्ति के पश्चात हुआ-किंतु यह नहीं कि वह बंदर या बंदर सम किसी प्राणी की कोख में से उत्पन्न हुआ हो। इस प्रकार हिन्दू मान्यता के अनुसार प्रारंभिक मानव एक ही आदि पूर्वज से

उत्पन्न नहीं हुए। जैसा अभी कहा है, पृथ्वी के भिन्न भिन्न भूखंडों में जलवायु संबंधी एवं अन्य उपयुक्त परिस्थितियां उत्पन्न होने पर, भिन्न भिन्न अवसरों पर अनेक मानव-प्राणी सीधे प्रकृति के तत्वों में से उद्‌भूत हुए-और फिर इन आदि मानव-प्राणियों (स्त्री पुरुषों) की कोख में से उत्पन्न होते हुए, अपनी परिस्थितियों के अनुकूल वे बनते, फैलते, परिवर्तित एवं विकसित होते गये।

मनुष्य की उत्पत्ति के संबंध में उपर्युक्त हिन्दू मत केवल प्राचीन शास्त्रों पर आधारित है—उसका आधार आधुनिक वैज्ञानिक अनुसंधान नहीं। फिर भी यह जान लेना उचित है कि कुछ वर्षों पूर्व तक अनेक प्राणी-शास्त्र-वेत्ताओं (Biologists) के जीवों के उत्पत्ति संबंधी विचार बिल्कुल उपर्युक्त हिन्दू विचार के ही समान थे। इन प्राणी-शास्त्रियों का एक सिद्धान्त (Theory) थी जिसे शास्त्रीय भाषा में "स्वप्रगटीकरण का सिद्धान्त" (Theory of Spontaneous Generation) कहते हैं। इस सिद्धान्त का आशय यही है कि इस पृथ्वी पर अनेक जातियों के जीव पैदा हुए, उन जातियों के आदि प्राणी किसी पूर्वज (Predecessor) जाति के जीवों में से विकसित न होकर, सीधे प्रकृति के तत्वों में से ही उद्‌भूत हुए। यह बात उपर्युक्त हिन्दूमत से मिलती है। इस सिद्धान्त का सबसे जबरदस्त पोषक आधार यही था कि जीवों के विकास की कन्ट्यूनिटी (Continuity) में जीवों के विकास

की श्रृंखला में अनेक कड़ियां लुप्त थी—अब भी नहीं मिल रही हैं—और इसीलिए यह मान्य कर लिया गया कि भिन्न भिन्न जातियों के जीव अपने उत्पत्ति काल में प्रथक प्रथक स्वतः ही प्रकृति में से उद्भूत होते हैं, उनका परस्पर श्रृंखला बद्ध कोई संबंध नहीं। किन्तु पिछले वर्षों में अनेक ऐसे सबूत (Evidences) मिले हैं, जिनके आधार पर विकास की श्रृंखला में अनेक कड़ियां अज्ञात होते हुए भी प्रायः सभी प्राणी-शास्त्र वेत्ताओं में उपर्युक्त सिद्धान्त अब अमान्य हो गया है और यही बात अब सबने स्वीकार करली है कि सब जीव जातियां एक दूसरे से मूलभूत रूप से (Organically) संबंधित हैं—एक दूसरे से विकसित हुई हैं,—अपेचीदा जीव से पेचीदा (Complex) जीव, और इस प्रकार होते होते अंत में मानव।

वैज्ञानिक मत

अब इस आधुनिक "विकासवाद" के वैज्ञानिक-मत के अनुसार देखना है कि मनुष्य की उत्पत्ति किस पूर्वज से, कैसे और कब हुई ?—और उसका विकास किस प्रकार हुआ ? इस संबंध में यह बात ध्यान में रखनी चाहिये कि मनुष्य के उत्पत्ति काल एवं उसके पूर्वज के संबंध में वैज्ञानिकों एवं जीव शास्त्रियों ने करोड़ों वर्ष पुरानी चट्टानों की भिन्न स्तरों में, एवं गुफाओं इत्यादि में प्राप्त पथराई हुई जीव-हड्डियों, मानव हड्डियों (फोसिल), पत्थर के औजारों इत्यादि के रूप में सामग्री

मिली है—उसी के आधार पर अपने अनुमान लगाये हैं। ये अभी केवल अनुमान ही हैं, केवल साध्य, अभी तक पूर्णतया सिद्ध वस्तु नहीं। इस संबंध में अभी तक विशेषतया केवल युरोप की चट्टानों एवं गुफाओं और उनमें प्राप्त अस्थियों और औजारों का ही कुछ संतोषजनक अनुसंधान हुआ है, और यह अनुसंधान कार्य केवल पिछले १००–१२५ वर्षों का ही है। एशिया और अफ्रीका के विशाल भूखंड अभी प्रायः अनन्वेषित (Unexplored) ही हैं—और यह बात असंभव नहीं कि इन स्थलों का वैज्ञानिक रूप से अनुसंधान होने पर कई अप्रत्याशित (Unexpected) परिणाम निकलें और मनुष्य का उत्पत्ति-काल हजारों वर्ष, संभव है लाखों वर्ष अपेक्षाकृत और पुराना सिद्ध हो जाये, एवं उसके विकास और सभ्यता के विषय में अनेक नई बातें उद्घाटित हों।

मनुष्य की उत्पत्ति इत्यादि के सम्बन्ध में अभी तक की ज्ञातव्य बातों के आधार पर जो अनुमान लगाया गया है, उस पर पूर्व अध्याय में प्रकाश डाला जा चुका है। अनुमानतः ५० करोड़ वर्षों से भी अधिक पहिले प्रकृति में इस पृथ्वी पर जिस "प्राण" (Life) का उदय हो चुका था, जो धीरे धीरे विकासमान असंख्य नाना रूपों में अभिव्यक्त होता हुआ चला जारहा था—वह करोड़ों वर्षों के परीक्षण, परिश्रम, निर्वाचन के बाद

"नवजीव युग" काल में इतने एक उच्च विकासमान जीवधारी के रूप में अभिव्यक्त होरहा था जो विकास की एक और सीढ़ी तय कर चुकने पर "मनुष्य" बनता है। मनुष्य का निकटतम पूर्वज यह कौन और कैसा जीवधारी था ?

मानव के निकटतम पूर्वज

मनुष्य का मूल किस विशेष प्राणधारी जीव में था यह बात अभी अंधेरे ही में है। मनुष्य के निकटतम पूर्वज के विषय में कई अनुमान लगाये जाते हैं। साधारणतया तो यह सोचा जाता है कि मनुष्य किसी एक "मनुष्य सम बिना पूंछ वाले बन्दर" जैसे—चिपञ्जी, ओरोंग या गोरिल्ला (जो जानवर अफ्रीका में पाये जाते हैं) में से अवतरित हुआ। कुछ नृवंशशास्त्री यह भी अनुमान लगाते हैं कि मनुष्य मूल में दो तीन प्रकार के जीवधारियों में से अवतरित हुआ हो-जैसे--अफ्रीका का हब्शी गोरिल्ला जानवर-सम किसी पूर्वज में से निकला हो और चीनी चिपञ्जी सम जानवर में से, एवं इसी प्रकार ओर। आजकल जो विचार प्रचलित है और विशेषज्ञों में प्राय: मान्य है, वह यही है कि मनुष्य का पूर्वज पेड़ों पर कूदने फांदने वाला नहीं बल्कि भूमिचर (जमीन पर चलने वाला) एक बिना पूंछ वाला बन्दर (नकली बन्दर-Ape) था। मनुष्य का यह पूर्वज "निपुच्छ कपि" (Ape) उपरोक्त

आज से लगभग ५ लाख वर्ष पूर्व से ई. पू. लगभग ६ हजार वर्ष तक

"नवजीव युग" में (जिसका प्रारम्भ आज से लगभग ६ करोड़ वर्ष पूर्व हुआ) पेड़ों पर नहीं बल्कि जमीन पर रहता था, चट्टानों में इधर उधर छिपा फिरता था, और सम्भवतः पत्थरों का भी अखरोट सूखेफल इत्यादि तोड़ने में प्रयोग करता था। इस "निपुच्छ कपि" के पूर्वजों ने स्यात् "मध्य जीव युग" में (आज से ६ करोड़ वर्ष से पहिले के काल में) ही पेड़ों पर रहना छोड़ दिया था—हां उनकी पृथक एक शाखा आज जैसे बन्दरों की तरह पेड़ों पर कूदने फांदने वाली ही बनी रही।

यह तो हुई मनुष्य के निकटतम पूर्वज की बात जो प्रायः ४ करोड़ वर्ष पहिले मिलता था। अब प्रश्न यह रहा कि वह प्राणधारी जीव जिसे हम मनुष्य कहते हैं सर्वप्रथम कब इस पृथ्वी पर अवतरित हुआ? प्राणी-विज्ञान अब तक इतना अपूर्ण है कि इस सम्बन्ध में निश्चित पूर्वक कुछ नहीं कहा जा सकता। ऐसे मनुष्य जिन्हें हम अपने जैसा ही मनुष्य मान सकते हैं—जो पूर्ण मानव देह धारी हैं—इनके अवतरित होने के पहिले कुछ अपूर्ण विकसित प्रकार के मानव-प्राणी हमें इस पृथ्वी पर मिलते हैं। इसका अनुमान चट्टानों एवं गुफाओं में मिलने वाली अस्थियों के अवशेषों के आधार पर ही लगाया गया है,—और इनको हम अर्द्ध-मानव की कक्षा में रखते हैं।

८

अर्द्ध मानव-प्राणी

(Sub-human)

(प्राचीन पाषाणयुग-पूर्वार्द्ध;-आज से लगभग
५ लाख वर्ष पूर्व से ५० हजार वर्ष पूर्व तक)

लगभग ६ लाख वर्ष पहिले के काल के, पत्थर एवं चकमक के बेढंगी रीति से घड़े हुए कुछ औजार हमें मिलते हैं। उस काल के प्राणियों की हड्डियां जिन्होंने ये औजर बनाये होंगे प्राप्त नहीं होतीं,-किन्तु यह प्रायः निश्चितसा है कि इस काल में कुछ ऐसे प्राणी विद्यमान अवश्य होंगे जिन्होंने ये हथियार बनाये होंगे। इसका यह अर्थ नहीं कि ६ लाख वर्ष से पहिले के काल में मानव-सम प्राणी अर्थात अर्द्ध-मानव विद्यमान ही नहीं थे। संभव है ये अर्द्धमानव उपरोक्त "नव-जीव युग" में किसी काल में विद्यमान हों--किन्तु उस काल की न तो हमें कोई अस्थियां न कोई अन्य सामग्री ही चट्टानों में मिलतीं। उनके सर्वप्राचीन निशान स्वरूप तो ६ लाख वर्ष पहिले के उपरोक्त चकमक और पत्थर के औजार ही प्राप्त हुए हैं। फिर जावा द्वीप के ट्रिनिल नामक स्थान में सन् १८६१ ई. में एक प्राणी की हड्डियों के कुछ अवशेष मिले। इनसे यह अनुमान लगाया जाता है कि

लगभग ५ लाख वर्ष पहिले यह प्राणी वहां रहता होगा। उसकी हड्डियों की बनावट से यह अनुमान लगाया गया है कि न तो वह पूर्ण मानव ही था और न "निपुच्छ कपि" ही—वह दो टांगों पर चलने वाला (द्विपद) एक कपि-सम प्राणी था।

उपरोक्त मानव की शकल जैसे प्राणी की झलक के बाद लगभग दो ढ़ाई लाख वर्ष पुरानी चट्टानों की स्तर में हमें एक जबड़े की हड्डी मिलती है। यह हड्डी जर्मनी के नगर हिडलबर्ग के निकट लगभग ८० फीट गहराई के एक खड्डे में मिली थी। जिस प्राणी की ये हड्डियां थीं उसके विषय में यह अनुमान लगाया जाता है कि वह विशालकाय लम्बे लम्बे हाथों वाला बालदार अजीब शकल सूरत का कोई मानव होगा। इस प्राणी का नाम नृवंश-शास्त्रज्ञों ने 'हिडलबर्ग" मानव रक्खा है। जैसा ऊपर कह आये हैं ऐसे मानव आज से लगभग दो ढ़ाई लाख वर्ष पूर्व इस दुनिया में रहते होंगे। वे लोग पत्थर के औजारों तथा हथियारों का प्रयोग करते थे—ये औजार ६ लाख वर्ष पूर्व मिलने वाले पत्थर के औजारों से अधिक अच्छे बने हुए थे।

इसके उपरान्त एक लाख वर्ष तक के पूर्व के किसी मानव-प्राणी के अवशेष चिन्ह नहीं मिलते हैं। फिर सन १९२१ में ग्रेट ब्रिटेन के ससेक्स प्रांत में एक खोपड़ी की हड्डियों के कुछ

अवशेष मिले। चट्टानों की जिन स्तरों में ये अवशेष मिले उनको लगभग १ लाख वर्ष पुराना बतलाया जाता है। इन अस्थियों के आधार पर जिस प्रकार के मानव का अनुमान लगाया जाता है वह मानव भी पूर्ण विकसित मानव नहीं है। उसके माथे की हड्डियां बहुत मोटी हैं अतएव मस्तिष्क रखने के लिये स्थान (Cavity) कम है। इस प्राणी का नाम इओनथ्रोपस (पिल्टडौन) मानुष रक्खा गया।

फिर आज से ५० हजार वर्ष पूर्व की चट्टानों की स्तरों में तो मानव-प्राणी की अस्थियों के अनेक अवशेष मिलते हैं। इनमें मुख्य उल्लेखनीय वह प्राणी है जिसका नाम "नींडर्थल मानुष" रक्खा गया है। इसकी हड्डियों के अवशेष जर्मनी के डसलडोर्फ नगर के निकट नींडरथाल नामक स्थान में मिले थे। इसकी बनावट के विषय में यह अनुमान लगाया जाता है कि वह मोटी हड्डियों के ढ़ांचे का बना एक प्राणी था—कुछ कुछ आगे को झुका हुआ, ऐसा कि अपना सिर बिल्कुल सीधा खड़ा न कर सके। उसके हाथों के अंगूठे की बनावट से ऐसा प्रतीत होता है कि वह आसानी से सब काम कर सकता था जो आज का मानव अपने अंगूठे से कर सकता है। उसकी जबड़े की हड्डी उपरोक्त हिडलबर्ग प्राणी की जबड़े की हड्डी से मिलती जुलती है, इससे अनुमान लगाया जाता है कि लगभग २ लाख वर्ष पहिले

वाले मानव हीडलबर्ग की ही जाति का यह कोई प्राणी हो सकता है। सन् १६२१ में अफ्रिका में ब्रोकनहिल नामक स्थान पर एक प्राणी की खोपड़ी की हड्डियों के अवशेष मिले। यह प्राणी नींडरथाल अर्द्ध-मानव एवं पूर्ण विकसित वास्तविक मानव के बीच की कड़ी सा मालूम होता है, क्योंकि वह वास्तविक मानव के अधिक निकट था बनिस्पत नींडरथल मानुष के। इस प्राणी का नाम नृवंश शास्त्रज्ञों ने "रोहडेशियन मानुष" रक्खा है।

ऊपर लिखित बातों से यह अनुमान बनता है कि इस पृथ्वी पर ६ लाख और सम्भव है उससे भी कहीं अधिक वर्ष पूर्व से लेकर लगभग ५० हजार वर्ष पूर्व तक कुछ प्रकार के अर्द्ध-मानव प्राणी इस पृथ्वी पर रहते थे जो मामूली बने पत्थर के औजारों का प्रयोग अपने कामों में करते थे। इसलिये लगभग ६ लाख वर्ष पूर्व से ५० हजार वर्ष पूर्व तक के इस काल का नाम इतिहासज्ञों ने "प्राचीन पाषाण युग" रक्खा है।

इस प्रकार के अर्द्ध-मानव पृथ्वी के किन किन भागों में रहते थे? क्या खातेपीते थे? क्या पहिनते थे? क्या बोलते थे? इसकी कल्पना कीजिए! हजारों लाखों वर्ष पुराना वह जमाना जिसमें अर्द्ध-मानव रहते थे! विश्व के उद्भव से लेकर ढूंढते ढूंढते, अनुसंधान करते करते, हम "अर्द्ध-मानव" के आविर्भाव

तक की स्थिति तक तो आ पहुँचे हैं। इसका आविर्भाव तो संभव है ५-६ लाख वर्ष पहिले हो चुका होगा, किन्तु इसके विशेष अवशेष चिन्ह तो ५० हजार वर्ष पूर्व के काल के ही मिलते हैं-जिससे यह अनुमान बनता है कि इस काल में पृथ्वी के कई भागों में वे रहरहे थे। अतएव आज से ५० हजार वर्ष पूर्व हमारी पृथ्वी और उसके जीवों का क्या इतिहास था इसका एक अनुमान चित्र बनाइये। यह चित्र ही वह पृष्ठ भूमि होगी जिसमें वास्तविक मानव का उदय हुआ।

आज से ५० हजार वर्ष पूर्व

सबसे पहिले तो याद रखिये, आज से ५० हजार वर्ष पूर्व पृथ्वी की वह शकल नहीं थी जो आज है। सम्पूर्ण उत्तरीय यूरोप एवं ऐशिया हिम से ढ़का हुआ था। जहां आज सिन्ध, संयुक्तप्रांत, बिहार और बंगाल हैं वहां समुद्र लहलहा रहा था। जहां आज भू-मध्यसागर है वहां अनेक भाग स्थल के थे। इत्यादि। देखिये मान चित्र।
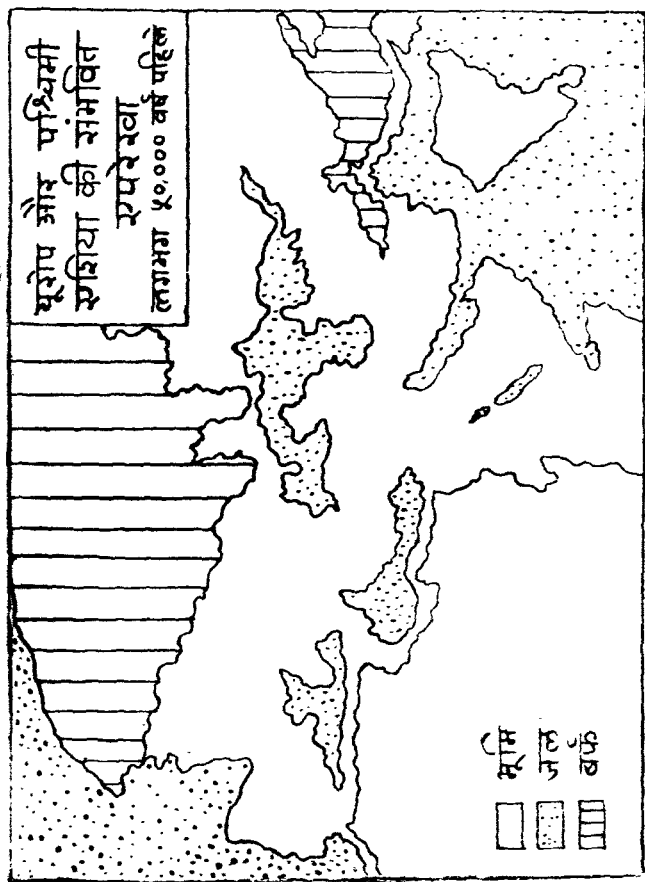
तुलना कीजिये आज की रूपरेखा से

दुनियाँ की सूरत लगभग ६ करोड़ वर्ष पूर्व जब "नवजीवन युग" प्रारम्भ होता है। धीरे धीरे करोड़ों वर्षों में जाकर दुनियाँ की वह सूरत बनी जो आज है।
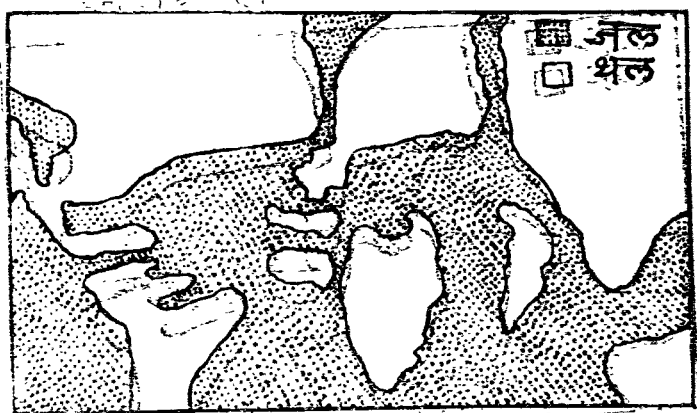
तुलना कीजिये आज के दुनियां के नक्शे से

ऐसा अनुमान लगाया जाता है कि प्राचीन पाषाण युगीय अर्द्ध-मानव तत्कालीन दुनिया में बहुत ही कम संख्या में किंतु प्रायः सभी जगहों पर फैला हुआ था।

इस पृथ्वी पर उस काल में अनेक प्रकार के विशालकाय जानवर; हाथी, गेंडे, महागज (Mammoth), तलवार जैसे दांतों वाले शेर, मैदानों, जंगलों, कंदराओं में इधर उधर घूमा करते थे। जैसे ये जानवर थे, एक दृष्टि से, वैसे ही वे अर्द्धमानव भी जानवर थे-और अन्य जानवरों की तरह बिल्कुल नग्न इधर उधर खुले में रहा करते थे, घूमा फिरा करते थे। इन प्राणियों का सिर मोटी हड्डियों का बना होता था अतएव मस्तिष्क की (Capacity) कम। विशेषकर सिर का अगला भाग जिसे माथा कहते हैं और जिसमें विचार, वाणी एवं स्मरण शक्ति का स्थान है, वह तो आज के मानव के माथे से अपेक्षाकृत बहुत कम विकसित था. और सिर का पिछला भाग जो स्पर्श, दृष्टि एवं शारीरिक शक्ति से संबंधित है, वह अधिक विकसित। इस आदमी के बड़े २ नाखून होते होंगे और शरीर पर बड़े बड़े बाल। वह जंगली जानवरों से बहुत डरता था। रीछ, शेर, चीता आदि बड़े बड़े जानवर तो उसे अपना शिकार ही बना लेते थे। जंगली गाय, भैंस, घोड़ा आदि भी उसे अनेक बार मार डालते थे। इन जानवरों का मुकाबला करने के लिये उसका पहला काम मिट्टी या पत्थर का डला या लकड़ी की छड़ी

उठाना था। यही उसका पहिला शस्त्र था। अन्य जानवरों की अपेक्षा उसके शरीर की बनावट ऐसी थी कि अंगूठे और उंगलियों का प्रयोग इस प्रकार कर सके। फिर उसमें चतुराई, चालाकी, साहस का उदय हुआ शनैः शनैः—और फिर तो पत्थर, चकमक इत्यादि के हथियार बनने लगे होंगे। अर्द्धमानव की इस दशा को जंगली अवस्था ही कह सके हैं। चेतना. मन, समझ का अधिक विकास अभी तक उसमें नहीं हो पाया था

ये अर्द्धमानव कहां और कैसे रहते थे इसका एक सुन्दर वर्णन वेल्स की "एन आउटलाइन ऑफ वर्ल्ड हिस्ट्री" में मिलता है। बहुत संक्षेप में वह वर्णन हम यहां देते हैं। ये अर्द्ध-मानव पहिले तो यों ही इधर उधर घूमा फिरा करते होंगे। फिर इन लोगों ने खुले में ही किसी पानी वाले स्थल के निकट (झील, नदी, तालाब के निकट) अपना बास करना आरंभ किया। आग के प्रयोग से इनका परिचय होगया होगा—अतएव खुले में ही अपने बैठने, रहने, सोने की जगह के चारों ओर रात्रि को तो आग जला लेते होंगे जिससे जंगली जानवरों को वे दूर रख सकें, दिन में ये लोग आग को राख के नीचे दबा कर रख देते होंगे। बार बार आग को जलाना इन लोगों के लिये कठिन होता होगा। चकमक पत्थरों की रगड़ से, या पत्थर और किसी धातु के टुकड़े की रगड़ से सूखे पत्तों द्वारा ये आग जलाया करते होंगे।

कुछ थोड़े से लोगों का एक छोटा सा समूह एक साथ रहता था। बुढ्ढा आदमी जो समूह का पिता होता था वही समूह का मालिक होता था। समूह के सब युवा, स्त्री, बच्चे उससे डरते थे। वह तो बैठा बैठा पत्थर चकमक पत्थर, तथा हड्डियों के औजार बनाया करता था और उनको तेज किया करता था–बच्चे उसका अनुकरण किया करते थे–स्त्रियां जलाने के लिये ईन्धन, एवं औज़ारों के लिये पत्थर, चकमक बिन कर लाया करती थीं, दिन में युवा लोग भोजन शिकार की तलाश में निकल जाते थे। बुढ्ढा, युवाओं को स्त्रियों से स्यात् नहीं मिलने देता था। बुढ्ढा युवाओं को समूह से बाहर कर देता था या मार भी दिया करता था। अवसर आने पर स्त्रियां और युवा लोग भाग जाया करते थे।

जानवरों की खाल से अपने शरीर को ये ढ़कने लग गये थे। खाल को धोकर, साफ करके एवं सुखा कर काम में लेते थे। स्त्रियां कुछ विशेष प्रकार के खाल के कपड़े बना कर पहिना करती होंगी। अपने पत्थर एवं चकमक के औजारों से (जैसे छुरा, बर्छी) ये जानवरों का शिकार किया करते थे-लकड़ी के बल्लम इत्यादि भी प्रयोग में आते थे। बड़े बड़े जानवर जैसे शेर, रींछ इत्यादि का शिकार स्यात् नहीं होता था। खरगोश, लोमड़ी इत्यादि का शिकार करते होंगे। शेर इत्यादि जैसे बड़े जानवर

को तो कभी बीमार पाते होंगे या अन्य किसी मुश्किल में पाते होंगे तभी उनका शिकार करते होंगे। ये लोग उनका कच्चा ही मांस खालेते थे। ये लोग मांसाहारी एवं फलाहारी भी थे-अनेक प्रकार के सूखे फल जैसे अखरोट, गिरियां, जंगली मधुमक्खियों का शहद इनको अवश्य मिलते थे। पालतू जानवरों से, खेती से अभी सर्वथा अपरिचित थे। ये अपने मुर्दों को दफनाया करते थे।

इस प्रकार ये अर्द्ध-मानव बसते और रहा करते होंगे। उपरोक्त रहन सहन का चित्र तो विशेषज्ञों द्वारा अनुमानित एक चित्र है, जो कुछ प्राप्त सामग्री (Evidences) के आधार पर तैय्यार किया गया है। किंतु हम लोग भी कल्पना कर सकते हैं कि वह अर्द्ध-मानव कैसे रहा करता होगा-हम लोगों से लगभग कई लाख, अनेक हजार वर्ष पूर्व। फिर सोचिये-२ अरब वर्ष पुरानी यह पृथ्वी, उसमें १॥ अरब वर्ष तो जल, थल, पहाड़, नदी, झील, बन इत्यादि बनने में ही लग गये,-फिर कहीं प्राण जागे;-और फिर ५० करोड़ वर्ष लगे उस "प्राण" को मानव रूप में अवतरित होने में। इतने विशाल काल-मान में केवल २-३ लाख वर्ष पूर्व ही तो मानव अवतरित हुआ और वह भी अभी केवल अर्द्ध-मानव। इस अर्द्ध-मानव के अवशेष मिलते रहे २-३ लाख वर्ष से ५० हजार वर्ष पूर्व तक। और फिर कहीं जाकर आज से अनुमानतः ५० हजार वर्ष पूर्व इस पृथ्वी पर

दिखलाई दिये वे मानव जो हम आप जैसे ही मानव थे, जो पूर्णमानव प्राणी थे।

९

वास्तविक मानव-प्राणी

(प्राचीन पाषाणयुग-उत्तर भाग; लगभग ५०
हजार वर्ष पूर्व से १५ हजार वर्ष पूर्व तक)

वास्तविक-मानव-प्राणी आज से लगभग ५० हजार वर्ष पूर्व इस सृष्टि के रंगमंच पर आया। तभी से मानवजाति का इतिहास प्रारम्भ होता है। इस वास्तविक मानव की जो परम्परा चली उसके विषय में हम यह जानना चाहेंगे कि आदि आरम्भ में इस परम्परा का चलाने वाला, विकास की शृंखला में अन्य किसी प्राणी से विकसित होकर एक ही मानव था—या एक साथ अनेक मानव हुए ? यदि एक ही मानव था तो पृथ्वी के कौन से भाग में उसका आविर्भाव हुआ ? यदि अनेक मानव थे तो वे एक ही भूखण्ड में अवतरित हुए या अनेक भूखण्डों में ? यदि कई भूखण्डों में अलग अलग अवतरित हुए तो एक ही काल में हुए या आगे पीछे कई कालों में ? इन प्रश्नों का सीधा, निश्चित, प्रमाणित उत्तर देना अभी कठिन है। यदि

विकासवाद के सिद्धान्त जिन्हें पूर्व अध्याय में समझाया गया है आप हृदयंगम कर पाये हैं तो उनके आधार पर इन प्रश्नों का उत्तर इस प्रकार बनेगा।

संभवतः ये लोग विकसित हुए थे—पच्छिमी एशिया में (इराक, ईरान के घास के मैदानों में) उत्तरीय अफ्रीका में, एवं भू-मध्यसागर के उन भूमि खण्डों में जो किसी ज़माने में भूखंड थे किन्तु आज जलमग्न हैं। कई पुरातत्ववेत्ता एवं जीव-विज्ञान शास्त्री इनके मूल उत्पत्ति स्थान के विषय में यह अनुमान लगाते हैं कि लगभग ५० हजार वर्ष पहिले वास्तविक मानव (Homosapien) एक ही स्थान मध्य एशिया में उद्‌भूत हुआ और वहां से दुनिया में चारों ओर फैला और कालांतर में जलवायु तथा अन्य परिस्थितियों के प्रभाव से कई जातियों में विभक्त होगया। विकास की शृंखला में ये मानव किन अर्द्ध-मानव प्राणियों की सीधी (Direct) सन्तान थीं ?—उपरोक्त हिडलबर्ग मानव की, या इओनेथ्रोपस की, या नीडरंथाल मानव की या रोहडेशियन मानव की ? जितने अनुसंधान हुए हैं उनसे तो यही पता लगता है कि वास्तविक मानव उपरोक्त किसी भी अर्द्ध-मानव की सन्तान नहीं था। हिडलबर्ग मानव या इओनथ्रोपस प्रकार के मानव तो बहुत पहिले ही लुप्त हो चुके थे—केवल नीडरंथाल मानव की परंपरा

आज से ५० हजार वर्ष पूर्व तक मिलती है। यह नया पूर्ण (वास्तविक) मानव इस नींडरथाल मानव का भी सन्तान नहीं था। उसकी तो स्वतन्त्र ही एक शाखा चली आरही थी,— नींडरथाल एवं हिडलबर्ग मानव इस नये प्राणी के काका ताऊ या चचेरे भाई हो सकते थे, पिता या सगे भाई नहीं। कालांतर में नींडरथाल प्रकार का मानव भी लुप्त हो गया।

ऐसा अनुमान लगाया जाता है कि जिस ज़माने में नींडरथाल मानव इस पृथ्वी पर रह रहा था, उसी ज़माने में एक अन्य प्रकार के मानव की परम्परा प्राचीनकाल में किसी "निपुच्छ कपि" प्राणी से उद्भूत होकर पहिले से चली आरही थी जो नींडरथाल मानव से अधिक सौम्य, अधिक सभ्य था, जिसका सिर, जिसके हाथ पैर सम्पूर्णतया उसी भांति के थे जो आजके मानव के हैं। "पूर्ण मानव", वास्तविक मानव की इस शाखा को नृवंश-शास्त्रवेत्ताओं ने "होमो सेपीअन" (*Homo Sapiens*) "आधुनिक मानव" नाम दिया है। आज इस संसार के सभी मानव प्राणी चाहे उनकी उपजातियां (*Races*) भिन्न भिन्न हों इस 'होमो सेपींअन' प्रकार के प्राणी से अवतरित हुए हैं। देशकाल, जलवायु, रहन सहन की भिन्न भिन्न परिस्थितियों में होमो सेपीअन कई उपजातियों (*Races*) में विभक्त होगया हो, किन्तु जिसे 'जातिपरिवर्तन" (*Species Differentiation*)

कहते हैं—वह इस जाति में या इसके किसी प्राणी में नहीं हुआ। अर्थात् यह नहीं हुआ कि होमो सेपाइन जाति स्वयं के किन्हीं प्राणियों में भिन्नता आने से वे किसी अन्य प्रकार के जीव (*Species*) में परिणत होगये हों।

सर्वप्रथम जिसकाल में इस आधुनिक मानव (*Homo Sapiens*) के अस्थि अवशेष दृष्टिगोचर होते हैं–उसी समय में हम इसे दो उपजातियों (*Races*) में विभक्त हुआ पाते हैं। संभव है दो से अधिक उपजातियां रही हों किन्तु उस काल के अवशेष चिन्ह तो अभी तक केवल दो जातियों के ही मिले हैं। पहिली क्रोमेगनन जाति, जिसकी हड्डियों के अवशेष फ्रांस के क्रोमेगनन स्थान में सन् १८६८ में मिले। दूसरी ग्रिमाल्डी जाति जिसके अवशेष मेनटोन के नज़दीक ग्रिमाल्डी गुफा में मिले।

क्रोमेगनर्ड पुरुष ६ फीट से भी अधिक लंबे होते थे, स्त्रियां आज की स्त्रियों से कुछ अधिक लम्बी। उनके मस्तिष्क–पुरुष एवं स्त्री दोनों के आज के लोगों के मस्तिष्क से बड़े होते थे। ग्रिमाल्डी जाति के लोग क्रोमेगनर्ड लोगों से बिल्कुल भिन्न थे-वे आजकल के हब्शी जैसे थे और शरीर में भी क्रोमेनगर्ड लोगों की तरह विकसित नहीं। किंतु इन दोनों जातियों के मस्तिष्क का अग्रभाग जिसमें बुद्धि, वाणी, एवं स्मरण शक्ति का निवास होता है, हमारे ही समान विकसित था, हमारे ही तरह

के उनके हाथ थे, एवं हमारी ही तरह की उनकी बुद्धि। इन दोनों जातियों के अस्थि-अवशेष तो एक काल के मिलते हैं, किंतु जीव-विज्ञान शास्त्री इस संबंध में भिन्न भिन्न मत रखते हैं। कोई कहते हैं क्रोमगनन लोग पहिले थे, कोई कहते हैं ग्रिमाल्डी लोग पहिले थे। किंतु विशेषतयः यूरोपिय देशों में पर्याप्त अनुसंधान होने की वजह से अपेक्षाकृत क्रोमनगर्ड लोगों के आदि जीवन और रहन सहन के विषय में अधिक ज्ञातव्य बातों का पता लगा है। अन्य देशों के प्रारंभिक मानवों के विषय में अभी इतनी जानकारी हासिल नहीं हुई है। अतएव यहां हम क्रोमनगर्ड लोगों का ही वर्णन करते हैं-इन लोगों की आदिम-मानव के रूप में कल्पना करके।

ये लोग कंदराओं एवं गुफाओं में रहते थे। अभी तक इन लोगों को वनस्पति रोपण और स्यात् पशु पालन का भी ज्ञान नहीं हुआ था। वास्तविकतः ये लोग शिकारी अवस्था (*Hunting stage*) में ही थे-और घोड़े, भैंसे (*Bison*), रेन्डीयर, महागज इत्यादि का शिकार किया करते थे-और उन्हीं का मांस खाया करते थे। ये लोग मुर्दों को दफनाया करते थे-और दफनाते समय मुर्दों के साथ प्रायः भोजन, आभूषण, हथियार भी रख दिया करते थे। काले, भूरे, सफेद, लाल और पीले रंगों से ये परिचित थे और मुर्दा शरीरों को दफनाते समय इन रंगों से रंग दिया करते थे।

इन लोगों के चकमक पत्थर एवं हड्डियों के बने अनेक औजार तथा हथियार मिलते हैं जो पूर्वार्द्ध प्राचीन पाषाण युग के हथियारों से (अर्द्ध-मानव प्राणियों के हथियारों से) बहुत ही अधिक सुन्दर, सुदृढ़, एवं अच्छे बने हुए हैं। इन लोगों के, शंख एवं सीप के बने आभूषण भी मिले हैं। ये लोग चट्टानों पर एवं गुफाओं की दीवारों पर चित्र खोदते थे और रंग भी करते थे। बिसन (जङ्गली भैंसा), घोड़ा, रींछ, रेन्डियर, महागज इत्यादि जानवरों के ही चित्र विशेषतया खोदते या बनाते थे—मानव शकल सूरत के चित्र बहुत कम। हाथी दांत में खुदी हुई जानवरों की अनेक मूर्तियां भी मिली हैं और कुछ पत्थर की बनाई हुई मूर्तियां। इन बातों से इन लोगों के मानसिक विकास का पता लगता है। ये लोग चित्रकार तो निश्चित रुप से बहुत अच्छे थे।

आदि मानव क्या सोचता था ?—

आज हम आत्मा परमात्मा, कर्म, ज्ञान, भक्ति, वेदान्त, आदर्शवाद, यथार्थवाद अन्तसचेतना आदि सूक्ष्मतम आध्यात्मिक बातों के विषय में सोचते हैं। राष्ट्रीय, अन्तर्राष्ट्रीय, राजनैतिक, आर्थिक, इत्यादि सामूहिक जीवन की समस्याओं को सोचते हैं। प्राणु, विद्युदणु (इल्कट्रोन, प्रोटोन) सापेक्षतावाद, क्रान्तम सिद्धान्त, तारामण्डल, ग्रह, चन्द्र, सूर्य, आदि की

अन्वेषणात्मक बातों की वैज्ञानिक ढंग से जांच करते हैं। कला, सौन्दर्य, शिव और सुन्दर की परिभाषा करते हैं— इत्यादि। कितनी गहन और पेचीदा ये बातें हैं-और कितना सूक्ष्म और विकसित वह मस्तिष्क जो इन गहनतम एवं गूढ़तम बातों में आत्म विश्वास के साथ विचरण करता है—किन्तु क्या आदिम मानव भी ऐसा ही सोचा करता था ? इस विशाल सृष्टि में वह अभी अभी तो अवतरित हुआ ही था,—लाखों वर्षों तक पशु तथा अर्द्ध-मानव अवस्था में से गुजरता हुआ अभी अभी तो मानव बना ही था—मानो वह अभी बच्चा ही था। पाशविक जीवन की स्मृतियां अभी ताजा ही थीं-वे सर्वथा तो आजतक भी नहीं भुलाई गई हैं। वह सूर्य, चन्द्र और नक्षत्र अपने ऊपर निरभ्र आकाश में देखता तो होगा, किन्तु पशु समान उनको देखकर रहजाता होगा, उसके दिमाग़ को अभी ये बातें परेशान नहीं करती थीं कि कहां से सूर्य चन्द्र आये-और कहां से वह आया ! वह तो उसके सामने आने वाली निकटतम वस्तुओं के विषय में ही कुछ सोचता होगा, जिनसे उसका खाने पीने, मरने मारने, डर भय का सम्बन्ध हो। शेर और रींछ के विषय में सोचता होगा, जिनसे डरकर उसको अपना बचाव करना पड़ता था— हिरण, लोमड़ी, ख़रगोश के विषय में सोचता होगा जिनका शिकार उसे करना पड़ता था अपना पेट भरने के लिये। ये ही जंगली जानवर उसके 'विचार जीवन' के विषय होंगे; उन्हीं

की स्मृति इन आदिम मानवों द्वारा अंकित किये हुए चित्रों में मिलती है। चट्टानों और पत्थरों पर खुदे हुए एवं अंकित जानवरों के चित्र ही स्यात् मानव की आदि कला है।

अभी तक बोलना, अपनी इच्छा तथा भाव दूसरे तक पहुँचा देने में समर्थ-इतना भाषण करना उसे नहीं आया था; बोली, भाषा धीरे धीरे विकसित हो रही थी। अपनी आवश्यकता क्या करने से पूरी होसकती है, क्या करने से नहीं, इस विषय में सोचता जरुर होगा और इसी के फल स्वरुप आदि विज्ञान का जन्म हुआ। वह ऐसे काम करता होगा जिससे वह सोचता होगा कि उनके करने से उसे इच्छित फल मिलेगा। अमुक कार्य का अमुक फल होगा (अमुक कारण (*Cause*) से अमुक परिणाम (*Effect*) निकलेगा)-यही सोचना और पता लगा लेना विज्ञान है-आदि मानव ऐसा सोचता और करता था, किंतु उसकी विचार शक्ति एवं उसके अनुभव अभी इतने सीमित थे कि उसे अनेक ग़ल्तियां करनी पड़तीं थीं। वह अंधेरे से, बड़े जानवरों से, बादलों की गर्जना और बिजली से, आंधी तूफान मे डरता था, और सोचता था कि प्रत्येक वस्तु में कोई शक्ति है और अमुक अमुक कार्य करने से उस शक्ति को प्रसन्न किया जासकता है। यही उसका अपूर्ण विज्ञान (*Fetishism*) था। उपरोक्त वस्तुओं से डरना एवं उनको प्रसन्न करने के लिये कुछ

अमुक काम करना (जैसे–जानवरों की बलि देना, आदमी की बलि चढ़ाना, नाचना कूदना इत्यादि) प्रारंभ में इसमें किसी धर्म की भावना समाहित नहीं थी । कालांतर में जाकर ही ये बातें धर्म का एक अंग बनीं ।

आदिमानव में एक और प्रमुख भाव पाया जाता है। और वह है अपने समूह के "बड़ेरे आदमी" से भय खाना। जिन औजारों, हथियारों का उपयोग "बड़ेरा आदमी" करता था उनको अन्य कोई स्त्री, बच्चा छू नहीं सकता था। जहां वह बैठता था उस स्थल पर अन्य कोई बैठ नहीं सकता था-इस प्रकार के अनेक प्रतिबन्धों (*Taboos*) ने आदि मानव के मन में घर कर लिया था। समूह की बड़ी स्त्री बच्चों की देखभाल करती थी और उनको क्रोधित "बड़ेरे आदमी" के क्रोध से बचाती थी। इसी "बड़ेरे आदमी", बुड्ढे आदमी और बच्चों की रक्षक समूह की स्त्री के "विचार" से धीरे धीरे विकसित होकर देवीदेवताओं की कल्पना होने लगी ।

आदि मानव को स्वप्न तो आते ही थे-उसकी चेतना बच्चे की तरह कल्पना में भी डूबती थी-किंतु उसे स्वप्न उन्हीं चीजों के आते थे और उसकी कल्पना उन्हीं चीजों तक सीमित थी जो निकटतम रूप से उसके जीवन से संबंधित थीं।-यथा, समूह का बड़ेरा-मृत्य या जीवित, पत्थर (जिनके वह हथियार बनाता था)-

जानवर (जिनका वह शिकार करता था और जिनसे वह डरता था)-और धीरे धीरे ज्यों ज्यों वाणी का विकास होने लगा-ये स्वप्न एवं कल्पनायें कहानी के रुप में कहीं जाने लगीं,-और इस प्रकार अनेक जानवर दुश्मन बने, अनेक मित्र;-मृत बड़ेरे स्यात् भूत बने; यहां तक कि आजतक हम जानवरों और भूतों की कहानियां अनेक लोगों में प्रचलित पाते हैं। धीरे धीरे भय और आश्चर्य की भावना" में उत्पन्न होकर, आदिकालीन (*Primitive*) कल्पना का सहारा पाकर देवी देवताओं की सृष्टि ये लोग कर रहे थे और इस प्रकार धार्मिक विश्वासों की रुपरेखा बन रही थी। कालांतर में ये आदि मानव सूर्य एवं सर्प की पूजा करते हुए पाये जाते हैं तथा 'स्वास्तिक" चिन्ह को एक धार्मिक चिन्ह मानने लगते हैं।

इस प्रकार अंधेरे में अपना रास्ता ढूंढते हुए के समान, आदि मानव शनैः शनैः प्रकाश और स्वाधीनता की ओर बढ़ने का प्रयत्न करता जारहा था।

लगभग ४०-५० हजार वर्ष पूर्व से २५ हजार वर्ष पूर्व के काल में (प्राचीनपाषाण-युग की उत्तर कालीन सभ्यता वाले) ये आधुनिक मानव क्रोमेगनन लोग यूरोप में दृष्टिगोचर हुए। ये लोग संभवतः दक्षिण-पश्चिम ऐशिया, उत्तर अफ्रिका एवं भू-मध्य सागर के भूखंडों से उद्भूत होकर यूरोप में फैले। संभव है मध्य

एशिया में ही उद्भूत होकर वहां से अन्य भागों में फैले हों। उस काल में भारत, अमेरिका, चीन में कौन और कैसे मानव रहते थे? यह जानने के पहिले उस समय की भौगोलिक स्थिति जानना आवश्यक है। आज से लगभग ५० हजार वर्ष पूर्व उत्तर और दक्षिण भारत के बीच समुद्र था, एशिया महाद्वीप और अमेरिका भूखंड जहां आजकल बेहरिंग का मुहाना है वहां वे जुड़े हुए थे। ऐसा अनुमान लगाया जाता है कि अमेरिका में प्राचीन पाषाण युग के पूर्वकाल में तो मानव का उदय ही नहीं हुआ था। पूर्ण विकसित मानव ही आज से लगभग २० हजार वर्ष पहिले उत्तर पूर्वीय एशिया से जाकर वहां बसा। वह उस थल मार्ग से गया जो आज बेहरिंग मुहाने के रूप में जल मग्न है। पहिले वह उत्तरीय अमेरिका पहुँचा और फिर वहां से दक्षिण की ओर बढता हुआ अनेक युगों में दक्षिण अमेरिका तक पहुँचा। फिर तो बेहरिंग के पास समुद्र फैल गया और अमेरिका का संबंध पुरानी दुनिया से प्रायः बिल्कुल टूट गया-जब तक कि कोलम्बस ने सन् १४९२ में फिर से उसका पता नहीं लगा लिया।

भारत में मध्यप्रांत की गुफाओं में पुरातन मानव की ठठरियों के रूप में जो सामग्री मिली है उसके आधार पर यह अनुमान लगाया जाता है कि बहुत कुछ यूरोप में क्रोमेगनन मानव की तरह ही दक्षिण भारत में आज से लगभग ४० से २५

हज़ार वर्ष पूर्व—"वास्तविक मानव" (आधुनिक मानव) रहते थे और उनका रहन सहन ऊपर-वर्णित प्राचीन पाषाण कालीन लोगों की तरह ही होगा। इस काल के पहिले भी नींडरथाल मानव की तरह अर्द्ध-मानव प्राणी दक्षिण भारत में रहते होंगे। किन्तु उपरोक्त वास्तविक मानव (*Homo Sapiens*) दक्षिण भारत में ही उद्भूत हुए या मध्यएशिया से यहां आये—यह निश्चित रुप से कहना कठिन है। किन्तु उत्तर भारत में जो दक्षिण भारत से समुद्र द्वारा पृथक किया हुआ एक अलग भूखण्ड था, और जिसमें इतनी ही भूमि थी जो आधुनिक काश्मीर, पंजाब एवं हिमालय में सन्निहित है, उस काल में कौन और कैसे मनुष्य रहते थे इसका अभीतक कुछ अनुमान नहीं लगा है। भारत के प्राचीन वैदिक साहित्य के आधार पर हां भारतीय विद्वानों ने कुछ अनुमान लगाया है (देखिये अध्याय २० आर्यों की उत्पत्ति)। उन विद्वानों में श्री सम्पूर्णानन्द के मत के अनुसार उत्तर भारत में (पंजाब ओर काश्मीर जो उस समय सप्त-सिंधव कहलाता था) आज से २५ से ३० हज़ार वर्ष पूर्व सुसभ्य आर्य रहते थे—जिन्होंने उसी काल में संसार के सर्वप्राचीन ग्रन्थ ऋग्वेद की रचना की। इन आर्य लोगों को भी यदि पाषाण-युगीय सभ्यता में से गुजरना पड़ा हो तो संभव है विकास की ऐसी स्थिति इन्होंने सुदूर पुरातन काल में यहीं सप्तसिंधव में ही रहते हुए बिताई हो। सम्भव है ये मध्य एशिया के

होमो सेपीअन ("आधुनिक मानव") से पृथक स्वतन्त्र रूप से विकसित हुए हों ।

आज से ४० से २५ हजार वर्ष पूर्व जिस समय यूरोप में क्रोमेगनन टाइप के "आधुनिक मानव" रह रहे थे—संभव है चीन में भी उस काल में, या उस काल के कुछ पूर्व या बाद में क्रोमेगनन टाइप से भिन्न जाति के किन्तु पूर्ण मानव प्राणी (अर्द्ध-मानव नहीं) रह रहे हों। चीन में भी कुछ मानव अस्थियों के अवशेष मिले हैं। सन् १९३९ ई. में "पेकिंग्एड मानुष" मिला, जिसका समय ढ़ाईलाख वर्ष पुराना बतलाया जाता है। यह मानव "नेअन्डर्थल मानुष" की तरह अर्द्ध-मानव ही था। इससे अनुमान लगता है कि मानव विकास की वे सब कोटियां जिनका जिक्र हम उत्तर अफ्रीका एवं यूरोप के विषय में कर आये हैं, चीन में भी घटित हुई होंगी। संभव है यहां के सर्वप्रथम वास्तविक मानव यहीं उद्भूत हुए हों और उन्होंने स्वतन्त्र अपनी सभ्यता का विकास किया हो,—या मध्यएशिया से जाकर उधर बसे हों।

४० से २५ हजार वर्ष पूर्व प्राचीन पाषाण युग के उत्तर कालीन जिन "वास्तविक मानव"—आधुनिक प्रकार के लोगों का और यूरोप में उनकी शिकारी एवं जंगली एवं गुफाओं में वास करने वाली स्तर की सभ्यता का जिक्र किया है—इन लोगों

को कालांतर में हम इतिहास के पर्दे पर से विलीन होता हुआ पाते हैं। इन लोगों के बाद एक अंधकारमय सा युग आता है, और मनुष्यों के विकास और जातिगत विशेषताओं (*Racial Differentiation*) की उत्पत्ति के विषय में कुछ भी शृंखला बद्ध रूप में नहीं मिलता।

केवल आज से १२-१५ हजार वर्ष पूर्व नई प्रकार के लोग यूरोप में फैलते हुए पाये जाते हैं—ये नये लोग पालतू जानवर रखते थे खेती करना जानते थे। जीवन में एक नये प्रकार का रहन सहन इनका था—जिसे इतिहासज्ञों ने "नवीन-पाषाण युग का रहन सहन" नाम देकर उल्लेख किया है।

१०

नव-पाषाण युग का मानव

(आज से लगभग १५ हजार वर्ष पूर्व से लगभग ६ हजार वर्ष पूर्व प्रथम प्राचीन सभ्यताओं के उदय होने तक)

आज से ४०-५० हजार वर्ष पूर्व दुनिया का जो नकशा था, वह शनैः शनैः बदलता हुआ जा रहा था, और लगभग १२-१५ हजार वर्ष पूर्व दुनिया के नकशे की रूपरेखा प्रायः

वही होगई थी जो आज है। महाद्वीपों, नदी, पहाड़, झीलों की स्थिति और सीमा प्रायः वैसी ही बनचुकी थी जैसी आज है, और उसी प्रकार के पेड़ पौधे और जीव-प्राणी पाये जाते थे जो आज पाये जाते हैं। साईबेरिया, उत्तरीय अमेरिका आदि स्थानों पर से बर्फ हट चुकी थी,—स्कॅंडिनेविया और रूसदेश आदमियों के बसने योग्य स्थल बन रहे थे, ऐशिया और अमेरिका बेहरिंग मुहाने में समुद्र फैलने से पृथक हो चुके थे, उत्तरी और दक्षिण भारत के बीच जो समुद्र लहलहा रहा था वह पट चुका था। यूरोप में पूर्वकाल में पाये जाने वाले अनेक जानवर जैसे महागज तलवार जैसी दांतोंवाले शेर, मस्कवैल, इत्यादि सर्वथा विलीन होचुके थे। मानो यदि आज का मानव उस १२-१५ हजार वर्ष पूर्व की दुनिया का चक्कर लगाता तो आज की सभ्यता द्वारा अंकित किये गये जो चित्र इस दुनिया के पर्दे पर हैं, उनको छोड़कर वह दुनिया की शकल सूरत, रूपरेखा पहाड़, पठार, बन, नदी, झील प्रायः वैसी ही पाता जैसी आज हैं। और यह भी बात निश्चितसी है कि नवीन पाषाण युग से लेकर मानव उपजातियों (*Human Races*) की जो परम्परा चली वह अभी-तक चली आरही है।—बीच में बड़ा कोई भेद या विभिन्नता पैदा नहीं हुई। परस्पर युद्ध, मेल मिलाप, समिश्रण, आदान प्रदान होता रहा, किन्तु होमो सेपिअन (आधुनिक मानव) की जो शाखायें—उपजातियां भिन्न भिन्न भूभागों में नवीन-पाषाण युग

में रहती हुई पाई जाती हैं—वे प्रायः सभी अपनी अपनी विशेषताओं के साथ अभीतक चली आरही हैं। उस काल में रहने योग्य दुनिया के प्रायः सभी हिस्सों में ये नव–पाषाण युगीय सभ्यता वाले लोग फैले हुए थे—यथा, उत्तर अफ्रीका, एशिया माइनर, ईरान, भारत, चीन, दक्षिण पश्चिम एवं मध्य यूरोप, पूर्वीय द्वीप समूह। उत्तरीय यूरोप एवं उत्तरीय ऐशिया जो काफी ठण्डे स्थल थे उनमें अभी मानव धीरे धीरे फैलने ही लगा होगा। अमेरिका में वास्तविक मानव प्राचीन पाषाण युग के उत्तरकाल में पुरानी दुनिया से चले गये थे और वहां उनका विकास कुछ अपने ही ढ़ंग का हुआ,—संभव है नव–पाषाण काल के आरम्भ में अभी तक जब बेहरिंग का मुहाना जमीन ही था तो इस नव-पाषाण युग के कुछ लोग अमेरिका गये हों।

नव–पाषाण युगीय सभ्यता

इस काल में मानव खुरदरे पत्थरों के अतिरिक्त चिकने पत्थरों के बने औजारों और हथियारों का प्रयोग करने लगगया था—विशेषतः चिकने पत्थरों की बनी चीजों का। प्राचीन पाषाण युग की अपेक्षा खुरदरे पत्थरों के हथियार अधिक सुघड़ सुडोल तेज ओर चमकीले होते थे। मुख्य औजार एवं हथियार कुल्हाड़ी था जिसका दस्ता लकड़ी का वना होता था। हड्डियों के आभूषण भी बनाये जाते थे—कालांतर में जाकर सोने, चांदी के भी आभूषण बनने लगे।

पहिले पहल तो जंगलों में उत्पन्न प्राकृतिक अन्न (जिसके उत्पन्न करने में मनुष्य का किंचितमात्र भी हाथ न लगा हो) गेहूँ, जौ, मक्का इत्यादि का उपयोग करने लगे—फिर बीज बोना: पौधे आरुपण (*Planting*) करना प्रारम्भ किया।—और इस-प्रकार खेती होने लगी। साथ ही साथ पशुपालन भी सीख लिया—गाय, बैल, भेड़ बकरी, घोड़ा, कुत्ता, सूअर इत्यादि पालने लगे। केवल शिकार पर निर्वाह करना छूट गया। खेती करना, पशु-पालना, ये चीजें हमको बहुत स्वाभाविक एवं साधारण मालूम होती हैं। किन्तु कल्पना कीजिए उस प्रारम्भिक मानव की जो न तो समझता था बीज क्या होता है, कैसे उगाया जाता है, कौनसे मोसम में उगाया जाता है, अन्न उपजाने के लिये किस प्रकार भूमि तैयार की जाती है, इत्यादि। उसको इन सब बातों का अपने आप आविष्कार करने में कितना समय लगा होगा—कैसे उनको प्रथमबार इन बातों की सूझ हुई होगी ? अनेक भूलों, एवं गलतसही तर्क जो कि कोई काम वास्तविकत: करने के बाद ही उनको सूझता होगा, करने के बाद ही शनैः शनैः उसने अपना रास्ता निकाला होगा। इसका कुछ अनुमान इस बात से लगाइये कि आजसे १५० वर्ष पहिले रेलगाड़ी का नाम तक नहीं था और आज वह रेलगाड़ी हमारे लिये कितनी स्वाभाविक वस्तु होगई है। जिस प्रकार जार्ज स्टीफनसन ने अनेक भूलों और गलत सही परीक्षणों के बाद सबसे पहिले

रेल का इंजन बनाया, उसी प्रकार पशुपालन और खेती पूर्वकाल के मनुष्यों के लिये सर्वथा एक नई चीज होगी और अनेक परीक्षणों एवं भूलों के बाद ही धीरे धीरे उन्होंने इन कलाओं को सीखा होगा। वास्तव में तो जंगली गेहूँ पहिले स्वयं पैदा होता ही था—उसी जंगली गेहूँ को पीसकर पहिले इन लोगों ने पकाना और खाना सीखा होगा, और फिर कहीं जाकर इस जंगली गेहूं को बोना और इसकी खेती करना। यह जंगली गेहूँ सबसे पहिले कहां से आया ? यह तो वनस्पति क्षेत्र में "प्राकृतिक निर्वाचन" द्वारा स्वयं विकासित एक वस्तु थी। भिन्न भिन्न प्रकार की वनस्पतियां और जीव प्रकृति में विकसित और विलीन होते रहते हैं।

पशु पालन और खेती के अतिरिक्त चाक का आविष्कार उन लोगों ने कर लिया था। चाक के ऊपर मिट्टी के बर्तन बनाने लगे थे। सरकंडो और तिनकों के भी बर्तन बनाते थे। आग का जिससे परिचित तो अर्द्ध-मानव प्राणी भी प्राचीन पाषाण युग में ही होगये थे, अब अधिक उपयोग होने लगा। मांस पका कर एवं अन्न पीस कर पका कर ये लोग खाने लगे। पत्तों या खाल से शरीर ढकना बंद होगया था, अब पौधों के रेशों के कपड़े बुनना प्रारंभ होगया था और इन बुने हुए कपड़ों से ही मानव अपना शरीर ढांका करता था। ये लोग घर भी

बनाने लग गये थे- विशेषतय: कच्चे मकान ही बनते थे और मकानों के आंगनों को मिट्टी से लीप लिया जाया करता था। उस काल के अनेक अवशेष चिन्हों से यह एक और बात देखी जाती है कि जब जब जहाँ जहाँ जिन जिन लोगों में खेती का प्रारंभ हुआ है-उसी के साथ साथ एक विशेष प्रकार की मान्यता भी उन लोगों में पाई जाती है। वह मान्यता है-रक्त भेंट चढ़ाने की, मनुष्य बलि या पशु बलि करके। बीज बोने के समय पर, एवं अनाज पक जाने के समय पर ये लोग किसी विशेष सुन्दर नवयुवक या युवती का बलिदान करते थे—कुछ कालांतर में पशुओं का बलिदान करने लगे होंगे। क्यों ये लोग ऐसा करते थे इसका कारण तो अभी तक मनोवैज्ञानिकों के अध्ययन का एक विषय ही बना हुआ है। अभी तक तो ऐसा ही सोचा जाता है कि इस मान्यता के पीछे उन अर्धसभ्य मानवों में कोइ तर्क नहीं था-कोई बुद्धि की प्रेरणा नहीं थी, इस प्रकार की मान्यता तो यों ही बच्चे के से स्वप्न-प्रभावित मन की सी बात होगी। दूसरी बात यह थी कि ये लोग अपने मृतकों को दफनाया करते थे-और उनको दफना कर उस पर मिट्टी धूल का एक बड़ा ढेर बना देते थे, या पत्थर चुन देते थे। इन लोगों को स्यात् अभी तक मौसमों का अच्छा ज्ञान नहीं था-और न तारों का ज्ञान, जिससे ये जान पाते कि कब बीज बोने का ठीक समय आगया है और कब फसल संग्रह करने का। इन अर्ध सभ्य मानवों में जिन

किन्हीं कुछ विशेष कुशल व्यक्तियों ने तारों के विषय में, मौसम के विषय कुछ जान लिया होगा-वे ही मानव-समूह के पूजनीय व्यक्ति, या गुरु पुजारी या जादूगर जादूगरनी बन जाते थे, और उनसे सब लोग डरते थे। इन्हीं गुरु, पुजारी, पंडित लोगों ने शेष साधारण जनों में स्वच्छता के प्रति रुचि और गंदगी के प्रति भय के भाव पैदा किये होंगे। ये पुजारी-गुरु जादूगर-पंडित श्रेणी के लोग वास्तव में कोई धर्म और दर्शन के ज्ञाता नहीं थे। ये लोग तो ऐसे ही थे जिन्हों ने प्रकृति और अपने चारों ओर की वस्तुओं को देख कर कुछ प्राकृतिक ज्ञान (विज्ञान) का आधार बना लिया था, ये लोग पहिचान ने लग गये थे कि कब चंद्रमा बढ़ता घटता है कब कौनसे तारे के उदय होने पर विशेष मौसम प्रारम्भ होती है, इत्यादि। इसी ज्ञान की शक्ति के प्रभाव से ये लोग मानव-समूह के गुरु पुजारी बन गये थे। ये लोग अपने ज्ञान को सर्वथा गुप्त रखते थे, किसी को बताते नहीं थे, मानो वह कोई जादू मंत्र टोणा हो। आदि मानव के "बड़ेरे आदमी" के भाव में से, पुरुषों के प्रति स्त्री और स्त्रियों के प्रति पुरुषों की अनेक भावनाओं में से, गंदगी और पवित्रता की भावना में से, फ़सल पक जाने के समय बलिदान की भावना में से, और मानवों के अपूर्ण विज्ञान, जादू टोणा, एवं गुप्त रहस्य में से-वह भावना उदय होरही थी जिसे 'धर्म' कहते हैं,-और यह भावना अर्ध-सभ्य मानव के मन में शनैः शनैः संस्कारित हो रही थी। इस परम्परा

के धर्म ने, अंध संस्कारों ने अनेक युगों तक मानव बुद्धि को बांधे रक्खा-अब भी अनेक मानव लोगों की बुद्धि उन प्राचीन संस्कारों का गुलाम बनी हुई है। १७ वीं शताब्दी के अंत तक इंगलैंड, फ्रांस इत्यादि यूरोपीय देशों में शहरों से दूर अनेक गावों के लोगों का रहन सहन एवं उनका मानसिक संस्कार उसी स्तर का बना हुआ था जो नवीन-पाषाण युग के मानवों का था। और पूर्वीय देशों में तो आज तक यह दशा है।

जिस प्रकार की रहन सहन एवं मानसिक अवस्था के लोगों का विवरण ऊपर दिया है इनके अवशेष, एवं इस प्रकार की सभ्यता के चिन्ह पच्छिम में ठेठ दक्षिण ईंगलैंड से लेकर स्पेन, फ्रान्स, भू-मध्य सागर के समस्त देश, उत्तर अफ्रीका, एशिया माईनर पच्छिम भारत, चीन और फिर अमेरीका के पीरु एवं मेक्सिको तक में मिलते हैं। उत्तरीय यूरोप, उत्तरीय एशिया एवं दक्षिण अफ्रिका में इसके कोई चिन्ह नहीं मिलते। उपर्युक्त प्रकार की सभ्यता जो इन अनेक देशों में फैली इसका उद्गम स्थान कौन था-किन किन देशों में किस प्रकार और किन शताब्दियों में यह सभ्यता फैली,-यह अभी तक भूत के अंधेरे में ही लुप्त है-इस विषय का निश्चित ज्ञान अभी तक ऐतिहासज्ञों को नहीं हो पाया है। संभव है इस सभ्यता का जन्म दक्षिण-पच्छिम ऐशिया (मेसोपोटेमिया, ऐशिया माइनर) में हुआ हो. संभव है उत्तरीय अफ्रीका (मिश्र) में हुआ हो-और वहां से

जगह जगह चारों ओर यह सभ्यता फैली हो। अभी तक तो निश्चित इतना ही है कि लगभग १०-१२ हजार वर्ष पूर्व दक्षिण यूरोप में ऐसे लोग फैले हुए थे-और यदि यह सभ्यता यूरोप में पूर्व की ओर से आई थी तो ऊत्तर अफ्रीका (मिश्र ?), दक्षिण-पच्छिम एशिया (मेसोपोटेमिया, एशिया माईनर) तथा भारत में, १०-१२ हजार वर्ष से भी काफी पहिले, संभव है १२-१५ हजार वर्ष पूर्व तक ऐसी सभ्यता फैली हुई होगी। पृथ्वी के उपरोक्त भू-भागों में तो इस नवीन-पाषाण युगीय सभ्यता के लोग फैले हुए थे, किंतु उत्तरीय एवं मध्य यूरोप, तथा ठेठ उत्तरीय भारत एवं भारत से ऊपर मध्य ऐशिया और ठेठ उत्तरीय एशिया में मानव-प्राणी बस रहे थे या नहीं ?-वहां का क्या हाल था ? अभी तक तो इतना ही कहा जा सकता है कि पृथ्वी के इन भागों में भी लोग बसे हुए थे-किंतु वे लोग भिन्न प्रकार की जाति (*Races*) के लोग थे-और उनका विकास स्वतंत्र ही अपने ढंग पर हो रहा था। ये लोग मुख्यतय: इधर उधर घुम्मकड़ जाति के लोग थे। यूरोप के नव-पाषाण युग में, अर्थात् १०-१२ हजार वर्ष पूर्व सारी दुनिया पर मानव भिन्न भिन्न शाखाओं (उपजातियों) में विभक्त हो चुका था।

इस प्रकार हम देखते हैं कि लगभग ५ लाख वर्ष पूर्व जिस अर्धमानव प्राणी का उदय हुआ; एवं लगभग ५० हजार वर्ष पूर्व जिस वास्तविक मानव का—वह शनैः शनै अनेक

परिस्थितियों, कठिनाइयों को पार करता हुआ,—विकास करता हुआ सभ्यता के इस स्तर तक आकर पहुंचा— आज से केवल १०-१२ हजार वर्ष पूर्व। आज हम अपने विकसित मस्तिष्क से देख सकते हैं—मानव चेतना में अन्तर्निहित, स्वयंजात एक जीवनेच्छा (*Will to Live*) है—उसके शरीर के अणु अणु, अंग अंग में व्याप्त अदृश्य एक प्रेरक शक्ति है जो उसे प्रेरित करती रहती है—जीवन धारण किये रखने के लिये, जीवित रहने के लिये—और जीवन को सुखमय बनाने के लिये। क्या यह प्रेरक शक्ति है—क्यों यह सर्वजीवों में व्याप्त है – यह रहस्य तो अभी रहस्य ही है। इतना ही हम कह सकते हैं कि है यह जीवनेच्छा (*Will to Live*) सब में व्याप्त। मानव भिन्न भिन्न युगों में, भिन्न भिन्न देशों में उदय हुआ हो एवं फैला हो—उसका विकास भिन्न भिन्न स्तरों पर हुआ हो—किन्तु उपरोक्त एक जीवनेच्छा, एक प्रेरक शक्ति तो सभी में व्याप्त रही—और व्याप्त है।—और मानव के मूल में—न केवल मानव के मूल में किन्तु सर्वजीवों के मूल में वही एक "ऐक्य" है।

११

मनुष्य की उपजातियां
(Races of Mankind)

पिछले अध्याय के अन्त में हमने लिखा है कि स्पेन से

लेकर समस्त भूमध्यसागर के समीपवर्ती देशों में, उत्तर अफ्रीका में, दक्षिण भारत में, तथा पूर्वीय द्वीप समूहों से लेकर अमेरिका के मैक्सिको एवं पीरु प्रांतों तक, आज से लगभग १०–१२ हजार वर्ष पूर्व, नव-पाषाण युगीय सभ्यता (खेती, पशुपालन, गांवों का रहन, पुजारी धर्मगुरु, पेड़, सर्प एवं देवताओं की पूजा) वाले भूरे रंग के लोग फैले हुए थे। इन लोगों की सभ्यता इतिहास में कार्ष्णेय सभ्यता (*Brunet Civilization*) के नाम से भी प्रसिद्ध हुई है। उस काल में पृथ्वी के उस बेल्ट (भाग) के उत्तर पच्छिम में जहां यह सभ्यता प्रशस्त थी, एक अन्य प्रकारके लोग (लम्बा क़द, गोरा रंग. नीली आंखें, भूरे बाल), उत्तर पूर्व में दूसरे ही प्रकार के लोग (पीला वर्ण, चपटी नाक, उभरी हुई गाल की हड्डियां, आंखें छोटी और तिरछीं), तथा दक्षिण अफ्रीका और आस्ट्रेलिया में और प्रकार के ही लोग (मोटे होठ, ऊन जैसे बाल, कृष्ण या ताम्रवर्ण) बसे हुए थे या धीरे धीरे फैलते हुए बस रहे थे। कुछ भारतीय विद्वानों की राय में उत्तर भारत में स्वर्ण वर्ण, लम्बे क़द, काली आंखें एवं काले बालों वाले लोग बसे हुए थे। ऐसी ही विशेषताओं वाले लोग प्रायः आज भी ऊपर निर्दिष्ट भू-भागों में बसे हुए हैं। उपर्युक्त विभिन्नताओं को हम निम्नतालिका से निर्देशित कर सकते हैं:—

मानव की उप-जातियाँ (Races)

शारीरिक विशेषतायें	किन भू-भागों में बसे हुए हैं	भाषा परिवार	उप-जाति नाम
* १. भूरा रंग, पुष्ट शरीर	स्पेन, पुर्तगाल, भूमध्यसागर तटवर्तीप्रदेश (प्राचीन)		भू-मध्यीय
	एशिया माइनर, अरब	सेमिटिक	सेमिटिक
	दक्षिण--भारत	द्राविड़भाषायें	द्राविड़ (जो अब आर्यों में मिल गई है)
	उत्तर अफ्रीका-मिश्र (प्राचीन)	हेमेटिक	हेमिटिक (प्राचीन)
	दक्षिण पूर्वीय ऐशिया द्वीप समूह	?	(भूमध्यीय)

* ये प्रायः वे जातियां है जो नव-पाषाणयुग में भू-मध्यसागर तटीय प्रदेशों में सौर पाषाणी सभ्यता का विकाश कर रही थीं।

२. पीतवर्ण, चपटी नाक उभरी हुई गाल की हड्डियां, आंखें छोटी और तिरछी।	वृहद् चीन और तुर्कीस्तान	(i) यूराल अल्ताई (मंगल) (ii) चीनी	मंगोल
३. गोरवर्ण, लम्बा कद नीली आंखें, भूरे बाल	कुछ हिस्सों को छोड़कर समस्त यूरोप	इंडो जर्मन	नोर्डिक आर्य
४. कृष्ण या ताम्रवर्ण, मोटे होंठ, ऊन जैसे बाल	अफ्रीका एवं आस्ट्रेलिया		निग्रो (हब्शी)
५. स्वर्ण वर्ण, लम्बा कद, काली आंखें, काले बाल	भारत	आर्यन	भारतीय आर्य

जब विकासवाद की दृष्टि से हमने देखा कि मानव का विकास पूर्व स्थित किसी एक ही मानव-सम "निपुच्छ कपि" की जाति से हुआ, अर्थात् मानव का पूर्वज एक ही था तो "मानव" में उपर्युक्त विभिन्नतायें कैसी और क्यों ? इस प्रश्न से इस विचार को पुष्ट आधार मिलता है कि मनुष्य की उपजातिया विशेषतः मुख्य उपजातियां स्वतंत्र, पृथक पृथक भिन्न २ कालों में उद्भूत हुई। इसी बात के आधार पर ईसाई लोगों की "*Noah of the ark*" "आर्क का नोह" की कहानी में कुछ ही वर्ष पूर्व तक पाश्चात्य लोग विश्वास बनाये रक्खे। इस कहानी के अनुसार 'नोह' के तीन संतानें हुई (*Sham, Ham & Japhet*) शाम, हाम और जाफेट; और इन्हीं संतानों की संतान मनुष्य जाति ३ या ४ सर्वथा विभिन्न उपजातियां (*Races*) बनीं। ये उपजातियां आदि से ही पृथक रहीं क्योंकि पृथक पृथक पूर्वजों की संतानें थीं। इस कहानी के साथ साथ पूर्वीय विद्वान् श्री धीरेन्द्रनाथपाल का भी मत उल्लेखनीय है। उनका मत वैज्ञानिक न हो किन्तु विचारोत्पादक अवश्य है। उनका कहना है कि प्रकृति का विकास प्रकृति के तीन गुणों (यथा सत्व, रजस्, तमस्) के अभ्युदय से होता है। सत्व अर्थात् जो चेतना और ज्ञान प्रधान है; रजस् अर्थात् जो राग द्वेष, लोभ, इच्छा-युक्त कर्म प्रधान हैं; तमस् अर्थात् जो अचेतन और अज्ञान प्रधान है। अप्रस्फुटित प्रारंभिक तत्वों में से, ग्रह, पृथ्वी, जलथल, वायुमन्डल, उत्पन्न

हुए। ये सब निश्चेतन थे। तदुपरान्त वनस्पति, असंख्य जीव उत्पन्न हुए-इनमें चेतना थी यद्यपि उच्च ज्ञान नहीं। अर्थात् इनमें तमस् के साथ साथ रजस् की अभिव्यक्ति हुई एवं सात्विक की ओर गति रही, अर्थात् प्रकृति का प्रस्फुटन तामस् स्थिति से सात्विक की ओर हुआ। इसी प्रकार जब मानव सृष्टि की उत्पत्ति हुई, उसमें भी इन तीनों गुणों की क्रमशः अभिव्यक्ति हुई-पहिले तमस् गुण प्रधान फिर रजस् गुण प्रधान और फिर सात्विक गुण प्रधान मानव। अतएव सर्व प्रथम जिस मानव का उदय हुआ वह तामस् गुण-प्रधान था। तमोगुण के अनुरूप ये लोग काले, आलसी एवं भद्दे रूप के थे। संभव है पिछले अध्यायों में वर्णित ग्रीमाल्डी (*Grimaldi*) प्रकार के काले लोग *Croma-gnon* (क्रोमेगनन) प्रकार के गोरे लोगों से पहिले आविर्भूत हुए हों। जहां तक आधुनिक अन्वेषणों से पता लगा है, ये लोग अफ्रीका, मलाया प्रायद्वीप एवं पोलिनेशिया में उत्पन्न हुए। ये भूभाग प्राचीन काल में अलग अलग नहीं थे, किंतु सब जुड़े हुए थे और इन सबका मिलकर एक महाद्वीप था जिसे 'गोंडवाना महाद्वीप' कहते हैं। इन लोगों के तामस् गुण-प्रधान होने का अनुमान इसी से लगता है कि इनमें से कुछ जातियों ने तो दूसरे सभ्य लोगों के सम्पर्क में आने से कुछ विकास किया, किंतु अधिकतर वे असभ्य ही बने रहे—और आज तक भी उनके वंशज (अफ्रीका, आस्ट्रेलिया आदि प्रदेशों के आदिम निवासी ?)

उसी असभ्य स्थिति में हैं जैसे सर्वप्रथम वे थे। इसके पश्चात रजोगुण प्रधान लोग (लाल, भूरे, क्रूर, क्रियाशील बरबर लोग) उद्‌भूत हुए। तमोगुण लोगों के वंशज रूप नहीं—किंतु स्वतंत्र रूप से उत्पन्न। इनका प्रादुर्भाव अधिक शीत भू-प्रांतों में हुआ-स्कैंडिनेविया एवं पश्चिमी रूस के किनारों से लेकर साईबेरिया के पूर्वीय किनारे तक। इन लोगों की जातियां विशेषतया वे हैं जिनको प्राणी-शास्त्रज्ञों ने टच्यूरेनियन, सीथीयन, यूराल अल्टाई एवं मंगोल नाम दिया है। आज का पुरातत्त्व इतिहास भी यही बतलाता है कि आर्यों के आने से पहिले समस्त उत्तरीय एशिया एवं यूरोप में इन्हीं जातियों के लोग फैले हुए थे। प्रकृति तमस् गुण से जागृत होकर, रजोगुण की ओर उठी, एवं उसका विकास सत्त्व में चरम सीमा तक पहुंचा। एतदर्थ सबके पश्चात, ऐसे भूभाग में जो न तो अधिक तापमय था, न अधिक शीत, किंतु जहां का जलवायु सम और शांतिप्रद था, वहां स्वर्ण प्रभा वाले सात्विक लोग स्वतंत्ररूप से उद्‌भूत हुए। सात्विक वृत्ति वाले ये लोग वे आर्य थे जिनका उदय काश्मीर में हुआ और जिन्होंने निर्भय, मुक्त आत्मा एवं परमात्मा के सात्विक ज्ञान की अनुभूति की। कालान्तर में, उपर्युक्त तीन उपजातियों में परस्पर कम-विशेष संमिश्रण होता रहा,—इस प्रकार अनेक अन्य उपजातियां बनीं। काले और लाल (दक्षिण गरम देशों के काले एवं उत्तर ठंडे प्रदेशों के लाल) (तामस् एवं रजस् गुण प्रधान)

लोगों के सम्मिश्रण से वे भूरे (कुछ कुछ सांवला रंग लिये हुए) (*Brunet*) वर्ण की जातियां बनीं जो मिश्र, मेसोपोटेमिया. भू-मध्य सागर तटवर्ती प्रदेशों में फैली हुई थीं और जिन्होंने कार्ष्णेय सभ्यता (*Burnet Civilization*) का विकास किया, यथा— कृषि एवं पशुपालन प्रारंभ किया एवं तदंतर प्राचीन मिश्र और सुमेरिया की सभ्यताओं का विकास किया,—एवं जिन लोगों में जानवर एवं वनस्पति रूप वाले देवताओं, एवं पुरोहितों जादुगरों के प्रति भय की भावना रहती थी,— जिन लोगों में उस प्रकाश का उदय नहीं हो पाया था जो दर्शन करवाता था कि मनुष्य मुक्त है-वह स्वयं परमात्म-स्वरुप है। और फिर आर्यों के सम्मिश्रण से वे गौर वर्ण वाले, नीली आंखों एवं भूरे बालों वाले लोग बने जो आजकल यूरोप निवासी हैं। कुछ वर्ष पूर्व तक प्राणी-विज्ञान शास्त्रियों की एक थ्योरी (सिद्धान्त) प्रचलित थी-"*Spontaneous Generation*" (स्वयं प्रकटी करण), जिसका आशय यही था कि इस पृथ्वी पर अनेक जातियों के जो जीव पैदा हुए उन जातियों के आदि प्राणी किसी 'पूर्व-स्थित' जाति के जीवों में से विकसित न होकर, स्वतः सीधे प्रकृति के तत्त्वों में से ही उद्‌भूत हुए। इसी का आधार लेकर राज पुरुष लोगों ने, राष्ट्रीय तानाशाहों ने, इस धारणा को पुष्ट किया और अपनी नीति का अंश बनाया कि उपजातियों के शारीरिक भेद इतने दृढ़ और अमिट हैं कि मानो ये मानव

की पृथक् जातियां (*Species*) कही जा सकती हैं। इसी प्रश्न का एक दूसरा पहलू है।-क्या सभी मनुष्य एक ही पूर्वजों की संतान हैं या भिन्न भिन्न पूर्वजों की ? इस प्रश्न का अर्थ यह है कि आरंभ में मनुष्य जाति किसी एक देश में पैदा होकर वहां से सारी पृथ्वी पर फैल गई या एक ही साथ पृथ्वी के विभिन्न देशों में मनुष्य पैदा हुए ? यदि इस प्रश्न का उत्तर यह है कि मनुष्य एक ही साथ पृथ्वी के विभिन्न प्रदेशों में पैदा हुए-अर्थात् मनुष्य भिन्न भिन्न पूर्वजों की संतान हैं, तो इस विचार को पुष्टता मिलती है कि मनुष्य की उपजातियां मूलतः भिन्न हैं-और वे पृथक् पृथक् देशों में भिन्न भिन्न काल में स्वतंत्र रूप से अपने अपने विशेष गुणों के साथ उद्भव होकर विकसित हुई। यदि उपरोक्त प्रश्न का यह उत्तर है कि मनुष्य आरम्भ में एक ही भू-भाग में पैदा हुए और वहां से भिन्न भिन्न देशों में धीरे धीरे फैले तो इसका यह अर्थ होगा कि मनुष्य की उपजातियों में कुछ भेद होते हुए भी समस्त मनुष्य मूलतः एक हैं। किंतु उपरोक्त प्रश्न का कोई एक निश्चित ऊत्तर देना कठिन है। यह भी एक प्रश्न मन में आसकता है कि यदि सब मनुष्य एक ही पूर्वजों के वंशज हैं तो वह कौनसा भाग्यशाली भू-भाग था जहां मनुष्य का पहिले पहल अवतार हुआ ? कुछ पुरातत्त्व वेत्ताओं का यह विचार कि मनुष्य सर्व प्रथम मध्य ऐशिया में उद्भूत हुआ और वहां से शनैः शनैः चारों ओर फैला, और फिर भिन्न भिन्न

परिस्थितियों एवं जलावायु के अनुरुप उसकी उपजातियाँ बन गई केवल अनुमान मात्र है। खैर-जो कुछ हो, इतना तो निश्चित रुप से कहा जा सकता है कि मूल में चाहे जैसे उत्त्पत्ति हुई हो मनुष्य मात्र की जाति एक है-इस अर्थ में कि, मनुष्य मनुष्य के साथ ही यौन-संबंध द्वारा वंशोत्पादन कर सकता है। रंग, रुप, वर्ण, बुद्धि, विचार में अनेक भेद हों, परंतु सभी प्रकार के स्त्री पुरुषों में यौन संबंध हो सकता है और स्थायी वंश परंपरा चलाई जा सकती है। मानव स्वयं अपनी चाहे जितनी उपजातियां मानले पर प्रकृति को इन भेदों का पता नहीं-उसकी दृष्टि में मनुष्य की एक जाति है। प्राणी विज्ञान की भी, विकासवाद की भी यही मान्यता है। परन्तु उपजातियों (*Races*) में जो प्रत्यक्ष भेद हैं (जिनका विवरण अध्याय के प्रारंभ में दिया गया है) उनका कारण भी कुछ होना चाहिये। जब यह बात निश्चित है कि मनुष्य मात्र की जाति एक है तो उपजातियों की उत्त्पत्ति इसी प्रकार हुई होगी कि लोग एक दूसरे से बहुत प्राचीन काल में पृथक होगये। सबके पूर्वज एक रहे हों या अनेक और सब आदिम मनुष्यों का जन्म किसी एक प्रदेश विशेष में हुआ हो या कई प्रदेशों में परन्तु अति प्राचीन काल में मनुष्य अलग अलग टोलियों में विभक्त हो गया। यह पृथक्त्व कब हुआ ठीक नहीं कहा जा सकता। पृथ्वी पर कई बार भौगर्भिक उपद्रव हुए हैं-जहां आज समुद्र है वहां स्थल था, जहां

स्थल है वहाँ समुद्र था। फिर भी ४०-५० हजार वर्ष तो हुए होंगे, क्यों कि १०-१२ हजार वर्ष पूर्व काल में तो उपजातियाँ बन चुकी थीं। कुछ लोग बर्फीले प्रदेशों में जा पड़े, कुछ गर्म रेतीले प्रदेशों में, कुछ गर्म पठारों में,-कुछ समुद्र तटवर्ती प्रदेशों में-कुछ दूरस्थ द्वीपों में-कुछ सौभाग्य से ऐसे भूखंडों में जहाँ का जलवायु सम और सौम्य था और भोजन भी सुलभ। अनेक पर्वतों, पठारों, समुद्रों का व्यवधान बीच में आजाने से एक बार पृथक होकर फिर अनेक वर्षों तक सम्पर्क में न आसके। भिन्न भिन्न भौगोलिक परिस्थितियों में पड़ कर, भिन्न भिन्न जलवायु में रहते रहते-प्रकृति के भिन्न भिन्न रूपों एवं दशाओं का मुकाबला करते करते अनेक वर्षों में इन लोगों के शारीरिक अवयवों में मानसिक एवं बौद्धिक विकास में, एवं जीवन दृष्टिकोण में अन्तर आने लगा. और विभिन्न शाखाओं में अपनी अपनी परिस्थितियों एवं वातावरण के अनुकूल इनका विकास होने लगा। कोई तो जलवायु एवं वातावरण के प्रभाव से काले होगये, कोई भूरे, कोई पीले और कोई गोरे। कोई तो सुस्त एवं अ-प्रगति शील बनगये, किन्हीं लोगों को भोजन के लिये निरन्तर तीव्र प्रयत्न करते रहना पड़ा और प्रकृति से युद्ध। किन्हीं लोगों को जिन्हें जलवायु की सौम्यता और मधुरता मिली, एवं भरपूर सुप्राप्य भोजन, वे दृश्य अदृश्य, अन्तर और बाह्य लोक के गूढ़ रहस्यों को ढूंढने में लग गये।

यहां यह बात ध्यान में रखनी चाहिये कि मानव जाति के इतिहास में दो विरोधी शक्तियां लगातार एक साथ काम करती रही हैं। अन्य जीवों की तरह एक तो यह गति बनी रही है कि ज्यों ही कुछ लोग मूल जाति से पृथक हुए,—उनमें किसी भी प्रकार का सम्पर्क न रहा,—तो वे अपनी विशेष परिस्थितियों के अनुकूल अपनी मूल जाति से विभिन्न दिशा में विकसित होने लगे हों—इस हद तक भिन्न दिशा में उनका विकास होने लगा हो कि वे लोग एक जीव-जाति (*Species*) ही अलग बन जायें। दूसरी यह विपरीत गति बराबर बनी रही है कि भिन्न भिन्न स्थलों पर फैले हुए मानव परस्पर मिलते रहे हैं, उनका सम्मिश्रण एवं परस्पर एक दूसरे में मिल जाना (Blending) होता रहा है। अतएव प्रथम गति के अनुसार चाहे भिन्न स्थानीय (Local) परिस्थितियों में रहने के फलस्वरूप मानव की उपजातियां बन गई हों—किन्तु साथ ही साथ दूसरी विरोधी गति होने की वजह से कोई भी उपजाति एक भिन्न जीव-जाति (Species) नहीं बन पाई। आज की परिस्थितियों में तो उप-जातियों में सम्मिश्रण, एवं लेन देन और मेल मिलाप की ही शक्ति अधिक प्रबल है और मानवजाति विभिन्नता की ओर उन्मुख नहीं—एकता की ओर उन्मुख है।

एक बात और ध्यान में रखनी चाहिये। ऊपर जिस तालिका में उपजातियों के भेद दिखलाये गये हैं—वे केवल

साधारणतया ही ठीक हैं—वास्तव में तो मानव मानव में प्रत्येक युग में इतनी संकरता एवं साहचर्य्य बना रहा है कि हम उपरोक्त उपजाति विभेदों के अतिरिक्त और भी छोटे मोटे भेदों की ओर निर्देश कर सकते हैं, और साथ ही साथ यह भी निश्चितपूर्वक नहीं कह सकते कि आज कोई भी उप-जाति अपने शुद्ध मूलरूप में बनी हुई है।

१२

दूसरे खण्ड का सार

संगठित सभ्यताओं का उदय होने के पूर्व मानव का विकास—

कालक्रम से

(देखिये तालिका अगले पृष्ठ पर)

काल—अनुमानत:		मानव की स्थिति	विस्तार
आज से ५ लाख वर्ष पूर्व से ५० हजार वर्ष पूर्व तक	प्राचीन-पाषाण-युग (पूर्व काल)	**अर्द्ध-मानव**-जो अब लुप्त हो चुका है। पत्थर की कुल्हाड़ी और भाले,-वृक्षों की छाल या पत्ते या जानवरों की खाल से शरीर ढकना; खुले में आग जलाकर उसके चारों ओर संध्या के समय इकट्ठे होना—या गुफाओं में रहना	इनके अवशेष:— जर्मनी—हिडलबर्ग मानुष जर्मनी—नींडरथाल मानुष ब्रिटेन—पिल्टडान मानुष अफ्रिका—रोहडेशियन मानुष जावा—जावा मानुष
आज से ५० हजार वर्ष पूर्व		वास्तविक मानव (Homo Sapiens) का उदय	स्यात् मध्यएशिया (आधुनिक पामीर तुर्किस्तान) में उद्‌भव होकर इधर उधर फैला। या उत्तर अफ्रीका, भू मध्यसागर स्थल, ईरान, मेसोपोटेमिया, चीन भारत इत्यादि भू खंडों में कुछ आगे पीछे पृथक २ उदय हुआ

आज से ५० हजार वर्ष पूर्व से १५ हजार वर्ष पूर्व तक	प्राचीन-पाषाण-युग (उत्तर-काल)	पत्थर एवं चकमक के सुडोल, सुघड़, सुन्दर, औजार एवं हथियार; गुफाओं में वास; गुफाओं में चित्रांकन; शिकारी अवस्था, खाल के कपड़े; मुर्दों को गाड़ना; समूह में बड़े बूढ़े का भय।	भूमध्यसागर स्थल; उत्तर अफ्रीका दक्षिण पच्छिम ऐशिया; दक्षिण भारत, दक्षिण पच्छिम यूरोप; उत्तरीय यूरोप एवं एशिया से बेहरिंग होकर अमेरिका जाना।
आज से १५ हजार वर्ष पूर्व से ६ हजार वर्ष पूर्व तक (संगठित सभ्यताओंका उदय होने के पहिले)	नव-पाषाण-युग	चकमक पत्थर; तांबा एवं कांसा धातु का प्रयोग; खेती और पशु-पालन; कच्चे घरों एवं गांवों में रहना; कपड़े बुनना। चाक को चलाकर मिट्टी के बर्तन बनाना। देवी देवताओं की पूजा और बलि-भेंट।	दक्षिण ब्रिटेन से लेकर, स्पेन, फ्रांस भू मध्य सागरीय प्रदेश; उत्तर अफ्रीका, एशिया माइनर, मेसोपोटेमिया; पच्छिम एवं दक्षिण भारत, चीन, अमेरिका में पीरु और मेक्सिको।

तीसरा खंड

मानव की सर्वप्रथम संगठित सभ्यतायें

(जो अब लुप्त हैं)

(अनुमानतः ६००० ई. पू. से २००० ई. पू. तक)

आज से लगभग ५ लाख वर्ष पूर्व से ई. पू. लगभग ३ हजार वर्ष तक

१३

मानव की सर्व प्रथम संगठित सभ्यतायें

भूमिका

यहां पर कुछ पुनरावृत्ति आवश्यक है। इतने काल पहिले जिसका बिल्कुल सही अनुमान लगाना कठिन है,—इसीलिये साधारण भाषा में कहते हैं अनन्तकाल पहिले, यह सम्पूर्ण सृष्टि एक अद्‌भुत, अनिर्वचनीय, कुछ व्यक्त कुछ अव्यक्त, मानो काल-आकाश-गति की बनी, धुंधली वाष्पपिंडसम "कुछ" थी। उस व्यक्ताव्यक्त में से टूटकर घूर्णित होते हुए अनन्त सूर्य निकले। उन्हीं सूर्यों में से एक अपना वह सूर्य था जिसे दिन

प्रतिदिन हम देखते हैं। यह सूर्य करोड़ों वर्षों तक अपनी ही कक्षा में घूर्णित होता रहा। इसी सूर्य में कुछ उद्वेग उत्पन्न होने से इस विशाल काय अग्निपिंड में से इसी के अनेक छोटे मोटे टुकड़े टूटकर इससे पृथक हुए और वे इसके चारों ओर तीव्र-गति से चक्कर लगाने लगे। यही टुकड़े जिनमें हमारी पृथ्वी भी एक है, ग्रह कहलाये।

वैज्ञानिक ज्योतिषियों का यह अनुमान है कि हमारी पृथ्वी को उपरोक्त प्रकार से सूर्य से अलग हुए आज लगभग २ अरब वर्ष होगये। उस समय यह पृथ्वी भी सूर्य के समान एक अग्नि-पिंड थी। ज्यों ज्यों काल बीतने लगा त्यों त्यों यह ठण्डी हुई — जल, पहाड़, चट्टान, मिट्टी की भूमि आदि शनैः शनैः इसमें बने और फिर उपयुक्त परिस्थितियां आने पर वह अद्भुततम घटना हुई जिसे हम कहते हैं—"भूत-द्रव्य में से प्राण जागे।" (Emergence of Life From Matter)। यह घटना लगभग ५० करोड़ वर्ष पहिले की है, जब इस पृथ्वी पर अनेक जीव आंखों से टिमटिमाते और अन्तर में अकुलाते सहसा नजर आये। गतिमान, विकासमान द्रव्य आगे की ओर गति करता गया और करोड़ों वर्षों तक अनन्त प्रकार के जीवों की स्थिति को प्राप्त करता हुआ, अनन्त प्रयोगों में तिरोहित और उत्थित होता हुआ आज से लगभग ५ लाख वर्ष पूर्व उस जीव

की स्थिति को पहुंचा जो दो पैरों पर सीधा तो खड़ा होता था किन्तु घटनाओं के पूर्वापर सम्बन्ध को समझता नहीं था—जो अर्द्ध-मानव था। किन्तु आज से लगभग ५० हजार वर्ष पूर्व उस प्राणी का उदय हुआ जो वाणी का उच्चारण करता था और अपने अन्तर की भावना व्यक्त करने के लिये व्यग्र रहता था। यह था वह "प्राण-युक्त चेतनामय" मानव। ऐसे मनुष्य आज से लगभग ५० हजार वर्ष पूर्व एक साथ पृथ्वी के कई भागों में इधर उधर टहलते नजर आते हैं। ये वे पहिले मनुष्य थे जो इस अद्भुत अनन्त सृष्टि में इस पृथ्वी पर उद्भवित हुए। यहीं से मनुष्य जाति की प्रगति का इतिहास प्रारम्भ होता है।

प्रारंभ में यह मानव बिल्कुल जंगली अवस्था में था। अन्य स्तनधारी जानवरों (Mammals) की तरह बच्चे पैदा होते थे, पैदा होने पर कुछ बड़ा होने तक मां के सहारे पलते थे, और फिर रेवड़ों (Herds=समूह) में रहने लग जाते थे। अभी तक यह मानव जानवरों की तरह नंगा घूमता फिरता था, फल फूल खाता था; फिर पेड़ों के नीचे या कंदराओं और गुफाओं में रहने लगा, वृक्षों की छाल या पत्तों से अपना तन ढकने लगा,-पत्थर के कुल्हाड़े और भाले बनाने लगा, जिससे वह अपनी रक्षा करता था,-शिकार भी करता था,-मांस को भून कर खाने लगा था एवं खाल के कपड़े पहिनने लगा था।

विकास की यह वह स्थिति थी जब मनुष्य प्रकृति में प्राप्त कंद मूल फल एवं शिकार के रुप में भोजन संग्रह करता था, स्वयं भोजन उत्पादन नहीं करता था। जंगली अवस्था को पार करके अर्धसभ्य अवस्था में आया, जब पत्थर के तेज और चमकीले हथियार बनाता था, ताम्र औजार भी बनाने लगा था, पशु पालन करता था, खेती करता था. कच्चे घर बनाता था और उनमें रहता था; मिट्टी के बर्तन भी बनाता था एवं तन ढकने के लिये कपड़े। अनेक देव देवियों एवं पुरोहितों, जादूगरों से डरता था और उनको प्रसन्न करने के लिये बलि चढ़ाता था। यह रहनसहन का वह ढंग था जिसे पुरातत्त्ववेत्ताओं ने 'नव-पाषाण सभ्यता' नाम देकर उल्लेखित किया है। विकास की यह वह स्थिति थी जब मनुष्य अपने भोजन का स्वयं उत्पादन करने लगा था। संसार का कौनसा वह भूखंड था जहां मनुष्य ने सर्व प्रथम भोजन उत्पादन करना अर्थात् खेती करना प्रारम्भ किया? पुरातत्त्ववेत्ताओं के इसमें भी भिन्न भिन्न मत हैं। कुछ विद्वानों का मत है कि मिश्र ही वह प्रदेश था जहां सबसे पहिले खेती प्रारंभ हुई और फिर वहां से दुनिया के दूसरे हिस्सों में फैली-यथा प्राचीन सुमेर, असीरीया, ईरान, भारत, चीन इत्यादि। रहन सहन का यह ढंग आज से लगभग १०-१२ हजार वर्ष पहिले पच्छिम में उत्तर अफ्रीका से लेकर. भूमध्यसागर-प्रदेशों में यथा स्पेन, फ्रांस. मिश्र, एशिया माइनर में विस्तारित होता हुआ पूर्व में

भारत, पूर्वीय द्वीप समूह, चीन और फिर उससे भी आगे दक्षिण एवं मध्य अमेरिका तक फैला हुआ था। किंतु इस स्थिति को हम सभ्यता की स्थिति नहीं कहते।

सभ्य स्थिति

सभ्यता की स्थिति उसी को माना गया है जब मनुष्य की "सामाजिक चेतना" कुछ विशेष जाग्रत होती है, और वह समाज का संगठन करके, स्थिर होकर, सामूहिक रूप से एक स्थान पर रहने लगता है, और सामाजिक व्यवहार और सहकारिता के भाव को समझने लगता है। वह यह भी समझने लगता है कि अपने चारों ओर की प्राकृतिक परिस्थितियों में वह परिवर्तन ला सकता है और बदल कर, उनको बहुत हद तक अपने जीवन के लिये सुखद भी बना सकता है। स्वतः अनुभूत सौंदर्य की भावना अभिव्यक्त करने के लिये उसमें गति उत्पन्न होती है, और उत्तरोत्तर सुन्दर ढंग से अपनी अनुभूति को वह अभिव्यक्त करता है।

भाषा

यहां हमें एक और बात समझ लेनी चाहिये जिसका उल्लेख हमने अभी तक नहीं किया है। वह यह कि सामाजिक जीवन के विकास में, सभ्यता के विकास में भाषा का ही मुख्य स्थान है-यहां तक कि यदि भाषा न हो तो सभ्य, सामूहिक

जीवन संभव ही नहीं हो सकता। जानवर और मनुष्य में एक बड़ा अंतर यही है कि जानवर की वाणी (भाषा: Speech) नहीं होती मनुष्य की वाणी (भाषा) होती है। जब तक मनुष्य जंगली, या अर्द्ध-सभ्य अवस्था में था-उसकी वाणी का विकास नहीं हो पाया था। पशुओं में तो वाणी का विकास होना ही संभव नहीं हो पाया था, क्यों कि वाणी का उद्भव तभी होता है जब 'चेतना' अथवा मन में विचार हो। जब पशु में शनैः शनैः परिवर्तन होकर मानव का विकास हुआ तो यह विचार शक्ति ही उसकी एक विशेषता थी-और इसी विचार शक्ति से स्पंदित होकर मानव में वाणी (भाषा) का धीरे धीरे विकास हुआ आज जो कुछ भी मनुष्य का जीवन है, वह उसके 'विचार' का ही फल है, और विचार की यह धरोहर जो आज के मनुष्य को मिली है, वह भाषा ही के द्वारा संभव हो पाई है। कल्पना कीजिये, यदि हम लोगों में अपने भाव, अपने विचार प्रकट करने के लिये भाषा रुपी माध्यम नहीं होता तो कैसी अपनी स्थिति होती। जितना महत्व भाषा बोलने का है उतना ही महत्व उस भाषा को लिपि-बद्ध करने का भी है। यदि हम अपने विचारों, अपने भावों, अपने अनुभवों को केवल बोल ही सकते हैं, लिख कर उनका रिकार्ड नहीं रख सकते, तो उस बोलने का महत्व केवल उसी समय तक के लिये रह जाता है जिस समय हम कोई बात बोलते हैं-और केवल उन्हीं लोगों तक सीमित जो उस बात

को सुनते हैं; इस प्रकार एक पीढ़ी अपने ज्ञान और अनुभवों को आने वाली पीढ़ियों के लिये नहीं छोड़ सकती। रट रटा कर ज्ञान की परम्परा को चलाया जा सकता है, किंतु कुछ ही काल तक और कुछ ही लोगों तक सीमित। आज विज्ञान, दर्शन, धर्मशास्त्र, साहित्य का जो विकास हो पाया है, वह बिल्कुल असंभव होता यदि लिखने की कला का आविष्कार आदमी नहीं कर लेता।

अब सोचिये कि क्या वे मानव प्राणी जो सर्वप्रथम इस पृथ्वी पर उत्पन्न हुए प्रारम्भ से ही अपनी कोई भाषा लाये थे? क्या उनके प्रकट होते ही वे संस्कृत या चीनी या ग्रीक या लेटिन भाषा बोलने लग गये थे? यदि प्रारम्भ से ही वे भाषा ज्ञान के साथ उत्पन्न हुए थे, तो क्या उन सब की एक ही भाषा थी या भिन्न भिन्न कई भाषायें? ये जटिल प्रश्न हैं, इनका आज की स्थिति में कोई सुनिश्चित उत्तर नहीं है। प्रारम्भ में एक भाषा थी या कई इस प्रश्न का उत्तर तो इसी पर निर्भर है कि आदि काल में मानव पृथ्वी के एक ही भाग में उत्पन्न हुआ या कई भागों में? यदि एक ही भाग में उत्पन्न हुआ तो सब भाषाओं का मूल एक ही होना चाहिये—वह मूल भाषा कालांतर में जाकर ही जब आदि मानव को भिन्न भिन्न भू भागों में भिन्न भिन्न परिस्थितियों में रहते हजारों वर्ष होगये कई भाषाओं में रूपां-

तरित हुई। और यदि मानव एक ही साथ पृथक पृथक कई भू भागों में प्रकट हुआ तो संभव है मूल में ही भाषायें कई हों। आधुनिक भाषाओं के रूपों और संगठनों का जो विस्तृत अध्ययन किया गया है, उससे तो यही अनुमान लगता है कि सब भाषाओं का मूल एक नहीं है। इतना तो कम से कम निश्चित माना जाता है कि मनुष्य किसी भी विशेष भाषा के ज्ञान के साथ उत्पन्न नहीं होता—और प्रारम्भिक मानव की कोई भी सुनिश्चित भाषा नहीं थी। भाषा का आविर्भाव और उसका विकास तो शनैः शनैः हजारों वर्षों में जाकर हुआ। मूल में भाषा एक रही हो या अनेक, किन्तु बाद में जाकर जब मानव कई उपजातियों में विभक्त होचुका था उस समय का तो यही पता लगता है कि पृथ्वी के जिन जिन भू-भागों में ये उपजातियां बसी हुई थीं, उन भू-भागों के वातावरण एवं जलवायु के अनुकूल भिन्न भिन्न भाषाओं का विकास हुआ।

जिस प्रकार और जीवों में, विशेषतयः पशु पक्षियों में आवाज करने के अवयवों का विकास उनके शरीर में होचुका था, वैसे ही मानव-प्राणी भी जब वे प्रारम्भ में अवतरित हुए तो आवाज करने के पूर्णतयः विकसित अवयवों के साथ ही अवतरित हुए। अर्थात् वे आवाज तो कर सकते थे, चिल्ला सकते थे–किन्तु अपनी इच्छाओं और उद्वेगों को पृथक पृथक अच्छी

तरह समझाने के लिये उनके पास बोली या भाषा नहीं थी। इसका अनुमान लंका के आदिम निवासी वेदाज से लगाइये, जिनकी स्थिति आज भी प्रारम्भिक मानव की तरह ही है। लंका के आदिम निवासी अपनी स्त्रियों तक के नाम का सम्बन्ध अपनी स्त्रियों से नहीं जोड़ सकते जब तक वे स्त्रियां स्वयं उनके सामने न हों। मालूम होता है कि प्रारम्भिक काल में ये प्रारम्भिक मानव हाथ मुंह आदि की हरकतों या इशारों से ही अपना काम निकालते थे। वे आवाज करना तो जानते ही थे अतएव धीरे धीरे कुछ खास खास भावों अथवा दैनिक जीवन की चीजों के लिये खास खास ध्वनियों का व्यवहार होने लगा। ये खास खास ध्वनियां ही उन कुछ खास खास भावों या चीजों के लिये शब्द बन गये। ऐसा संभव है कि पशु पक्षियों की, पेड़ पत्तों की, पानी के चलने या गिरने की, आश्चर्य या खुशी में स्वयमेव निकलने वाले शब्दों की जैसी ध्वनि सुनी वैसे ही शब्द भी बन गये। फिर हृदय के भाव, उद्वेग, चीजों की आवश्यकता एवं विचार आपस में समझने समझाने की ज्यों ज्यों उत्कट आवश्यकता पड़ती त्यों त्यों शनैः शनैः शब्द भी बनते रहते। ज्यों ज्यों सामाजिक सम्पर्क, परस्पर विनिमय और सभ्यता बढ़ती गई, भाषा की शब्द सम्पत्ति भी त्यों त्यों बढती रही। आज सभ्य लोगों की विकसित भाषाओं में लाखों शब्द हैं और हम अनुमान लगा सकते हैं कि आज से १०–१२ हजार वर्ष पहिले मानव जब

नव-पाषाण युगीय स्थिति में था तो उसकी शब्द सम्पत्ति स्यात् कुछ सैंकड़ों तक ही सीमित होगी। इसी काल में मानव को कई उपजातियों में हम विभक्त प्राय पाते हैं—और जैसा ऊपर कह आये हैं इन उपजातियों की भाषाओं का रुप भी भिन्न भिन्न था। जिन जातियों ने जिन भूखण्डों में सभ्यता का अधिक विकास किया वहां पर उनकी भाषा भी अधिक विकसित हुई।

संसार की अनेक भाषाओं के मूल में ८-९ बीजों की कल्पना की जाती है जिनमें प्रमुख ये हैं:—

१. आर्यन—जिससे पहिले संस्कृत, ग्रीक, लेटिन, फारसी इत्यादि भाषायें निकली और फिर इनसे निकलीं आधुनिक भारतीय भाषायें यथा हिन्दी, गुजराती, मराठी, बंगला इत्यादि; एवं आधुनिक यूरोपीय भाषायें यथा अंग्रेजी, जर्मन, फ्रैंच, इटालियन, रुसी, डच, स्पेनिश, इत्यादि। इससे मालूम होता है कि हमारी भारतीय अनेक भाषाओं एवं यूरोप की अनेक भाषाओं का उद्गम एक ही स्थान में हुआ।

२. सेमेटिक—जिससे यहूदी, अरबी, सीरीयन, अबीसीनीयन इत्यादि भाषायें निकली।

३. निग्रो (हब्शी)—जिसमें आधुनिक निग्रो भाषायें समाहित है—किन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि भिन्न भिन्न निग्रो भाषाओं

का उद्‌गम एक ही पूर्वज भाषा से नहीं हुआ।

४. यूराल अल्ताई–जिससे आज की मंगोल, मंचू, तुर्की, एवं यूरोप की मग्यर भाषायें निकलीं।

५. चीना–जिससे चीनी, तिब्बती, बर्मी, एवं स्यामी भाषायें निकलीं। इत्यादि।

लिपि

भाषाओं का विकास तो इस प्रकार हुआ किन्तु यह नहीं समझ लेना चाहिये कि भाषाओं का विकास होने के साथ ही साथ वे लिपिबद्ध भी होगईं। भाषाओं का उदय एवं पर्याप्त विकास होने के हजारों वर्ष बाद लिपि का आविष्कार हुआ। हम पूर्व अध्यायों में लिख आये हैं कि पाषाण कालमें मनुष्य गुफाओं में अनेक चित्र अंकित किया करता था। ये चित्र मानो उन प्रारम्भिक मनुष्यों की अनुभूतियों एवं उद्‌गारों एवं भावों की ही अभिव्यक्ति करते थे—उन चित्रों को देखने वाला मानो चित्र अंकित करने वाले के भाव समझ लेता हो। ये चित्र-अंकन ही सर्वप्रथम माध्यम थे जो एक मानव के भावों का मर्म दूसरे मानव को कराते थे। ज्यों ज्यों सभ्यता का विकास होता गया-मनुष्य को यह जरुरत महसूस होती गई कि उनकी बातों का, उनकी मनशाओं का, उनके इक़रारनामों का किसी न किसी रूप में रिकोर्ड होना चाहिये। इसी आवश्यकता से प्रेरित होकर

धीरे धीरे चित्रांकन से प्रारम्भ होकर विकसित लिपि का आविष्कार हुआ। पहिले तो मूल वस्तु को व्यक्त करने के लिये छोटे छोटे चित्र बने, धीरे धीरे इन चित्रों से चीज के बजाय किसी विचार का प्रकटीकरण किया गया, फिर अनेक वर्षों बाद चित्रों का उपयोग ध्वनि को जाहिर करने के लिये होने लगा। तदुपरान्त चित्र से दो या दो से अधिक ध्वनियों वाले शब्दों का उतना अंश ही सूचित किया जाने लगा जितना एक बार में बोला जा सकता है—अर्थात् पहिले तो शब्दों के चित्र, फिर शब्दांशों (Syllables) के चित्र (या विशेष प्रकार की रेखायें) बने, और फिर जाकर वे भिन्न भिन्न चित्र विशेष विशेष ध्वनियों वाले अक्षरों के ही प्रतीक बन गये।

उपर्युक्त सर्वप्रथम लेखन कला का आविष्कार मेसोपोटेमिया (सुमेर) में आज से लगभग ७–८ हजार वर्ष पूर्व हुआ। सुमेरियन लोगों की लिपि एक प्रकार की चित्र लिपि ही थी जिसे वे मिट्टी की पट्टियों (Tablets) पर लिखते थे एवं उसके पश्चात उन पट्टियों को पका लिया जाता था जिससे वह लिखी हुई वस्तु स्थायी होजाती थी। भारतवर्ष में सिन्धु सभ्यता के मोहेंजोदारो एवं हरप्पा में जो लिखावट खपड़ों पर मिली है, वह भी अनुमानतः आज से ६–७ हजार वर्ष पूर्व की है। कुछ इन्हीं तरीकों से मिश्र में भी आज से ६-७ हजार वर्ष पूर्व पहिले

चित्र लिपि और फिर ध्वनि लिपि का आविष्कार हुआ, जिसे प्राचीन काल के फीनीशियन लोगों ने आगे विकसित किया एवं वर्णमाला का आविष्कार किया। स्यात् फीनीशियन लोगों की वर्णलिपि से प्रभावित होकर ग्रीक लोगों ने अपनी ग्रीक भाषा की वर्णलिपि का आविष्कार किया। इनसे स्वतन्त्र रूप से चीन में भी एक प्रकार की चित्रलिपि का आविष्कार हुआ—और चीन की लिपि तो अब भी एक प्रकार की चित्र लिपि ही बनी हुई है। संस्कृत हिन्दी की देवनागरी की लिपि के सम्बन्ध में भारतीय इतिहासकार श्री गौरीशङ्कर हीराचन्द ओझा ने शाम शास्त्री का यह मत उद्धृत किया है कि "देवताओं की प्रतिमा बनाने के पूर्व उनकी उपासना सांकेतिक चिन्हों द्वारा होती थी, जो कई प्रकार के त्रिकोणादि यन्त्रों के मध्य में लिखे जाते थे, और वे यन्त्र "देवनगर" कहलाते थे। उन देवनगरों के मध्य में लिखे जाने वाले अनेक प्रकार के सांकेतिक चिन्ह कालांतर में अक्षर माने जाने लगे; इसी से उनका नाम 'देवनागरी' हुआ।"

कई हजारों वर्ष पूर्व लिपि का आविष्कार होजाने पर भी मानव का वर्षों का अनुभव, ज्ञान, साहित्य, साधारण जन में अधिक प्रसारित नहीं हो पाया क्योंकि लिखने का आविष्कार होने पर भी लिखने के साधनों की कठिनाई सामने रही। सर्वप्रथम तो स्यात् धातु की पैनी कलम से पत्थरों एवं शिलाओं पर ही मनुष्यों

ने लिखा। फिर चमड़े पर भी लिखा जाने लगा। भारतवर्ष में ताम्र एवं भोजपत्र पर लिखा जाने लगा,—एवं धातु पत्रों पर भी प्रशस्तियां, धर्म वाक्य इत्यादि लिखे जाने लगे।

प्राचीन मिश्र में तो पेपिरस पौधे की छाल एवं गूंदे को कूट-कर एक प्रकार का कागज बनाया जाता था जिसपर लिखा जाता था और प्राचीन सुमेर में मिट्टी की टेबलेट्स पर। ऐसा भी अनुभव है कि मिश्र में बना कागज बेबीलोन और सिंध में भी जाता था। अर्वाचीन शकल में ज्ञात कागज का आविष्कार सर्व प्रथम चीन में हुआ। कागज के आविष्कार के बाद भी साहित्य का सर्व-साधारण में प्रचलित होना संभव नहीं था, क्योंकि किसी लेख की हाथों से हजारों प्रतियां नकल करके लोगों में प्रसारित करना कोई बहुत आसान काम नहीं था। यह तो तभी संभव हो पाया जब आज से केवल ५०० वर्ष पूर्व सन् १४५० में यूरोप में छापे-खाने का आविष्कार हुआ, और छापेखाने में मूल हस्त लिखित लेख की अनेक प्रतियां छपकर लोगों में फैलने लगीं। वैसे यूरोप में छापेखाने के आविष्कार के बहुत पहिले प्राचीन चीन में भी ब्लोक प्रिन्टिग (ब्लोक छपाई) का आविष्कार हो चुका था किंतु वह ढंग अन्य देशों में प्रचलित नहीं होपाया था। यूरोप में छापेखाने के आविष्कार के बाद भी, भिन्न भिन्न देशों में भिन्न भिन्न लिपियों के छापेखानों के प्रचलित होने की बात तो

पिछले १५०-२०० वर्षों की ही है। इसके पूर्व तो समस्त प्राचीन साहित्य, ज्ञान विज्ञान एवं दर्शन यत्र तत्र विशेषतया अज्ञात स्थानों में हस्त लिखित पोथियों में ही बद्ध पड़ा था।

कल्पना कीजिए-पृथ्वी के २ अरब वर्ष के इतिहास में-वास्तविक मानव के ५० हजार वर्ष के इतिहास में,-मानों कल ही सर्वसाधारण के लिये प्रकाश का द्वार खुला हो। अभी तो सर्व साधारण को प्रकाश का आभास मात्र मिलने लगा है। कितना ज्ञान अभी सर्व साधारण तक पहुँचाना शेष है। कितना अनंत प्रकाश "मानव" के लिये आत्मसात करना अभी शेष है।

अद्भुत इस सृष्टि की, अद्भुत इस मानव की कहानी है यह कहानी तो अभी प्रारंभ ही हुई है।

१४

प्राचीन मेसोपोटेमिया

(सुमेर, बेबीलोन, असीरिया, केल्डिया की सभ्यता)

ईरान (फारस) की खाड़ी के उत्तर में जो आधुनिक ईराक़ प्रदेश है, उसको इतिहासकारों ने मेसोपोटेमिया नाम दिया है—

मेसोपोटेमिया का अर्थ है नदियों के बीच की भूमि। वास्तव में उत्तर पश्चिम से आती हुई दो नदियां यूफ्रेटीज (दजला) और टाईग्रीस (फरात) फारस की खाड़ी में गिरती हैं और इन दो नदियों के बीच की भूमि को मेसोपोटेमिया कहा गया है। आजकल तो फारस की खाड़ी में जहां ये दोनों नदियां गिरती हैं, उनका मुहाना एक ही है, किन्तु प्राचीन काल में आज से लगभग ८-१० हजार वर्ष पूर्व ये दोनों नदियां पृथक पृथक गिरती थीं और इन दोनों नदियों के मुहाने के बीच में भी काफी लम्बी चौड़ी भूमि थी। यही मुहानों के बीच की भूमि प्राचीन काल में सुमेर कहलाती थी, जिसमें प्राचीन काल के प्रसिद्ध नगर निपुर, उर, इरीदू, तेलओजओबीद इत्यादि बसे हुए थे। उस समय फारस की खाड़ी का पानी भी आज की अपेक्षा अधिक ऊपर तक फैला हुआ था। इन हजारों वर्षों में दोनों नदियां अपनी मिट्टी से समुद्र को पाटती रहीं और फारस की खाड़ी की सीमा भी बदल गई। सुमेर प्रदेश से आगे उत्तर में प्राचीनकाल में अक्काद प्रदेश था जिसकी राजधानी बेबीलोन थी। उससे भी आगे बढ़कर असीरिया प्रदेश था जिसकी राजधानी असुर थी। सुमेर, अक्काद और असीरिया ये तीनों प्रदेश सम्मिलित रुप में मेसोपोटेमिया कहलाते हैं, और तीनों प्रदेशों की प्राचीन सभ्यतायें काल-क्रम में सबसे पहिले सुमेर, सुमेर के बाद बेबीलोन बेबीलोन के बाद असीरिया और फिर केल्डिया जाति

के लोगों का दूसरा बेबीलोन साम्राज्य, इस प्रकार आती हैं। इन सब सभ्यताओं का प्रायः एक ही प्रवाह और तारतम्य था, और ये सब प्राचीन मेसोपोटेमिया की सभ्यता मानी जाती हैं।

इस सभ्यता का विकास कब और कैसे हुआ और किन लोगों ने किया

पिछले अध्याय में हम देख आये हैं कि आज से लगभग १०-१२ हजार वर्ष पूर्व स्पेन के पच्छिमी छोर से लेकर पूर्व में प्रशांत महासागर तक, यथा फ्रांस, इटली, मिश्र, एशिया माइनर, भारत, चीन में उत्तर कालीन नव-पाषाण युगीय स्तर की अर्द्ध-सभ्य अवस्था फैली हुई थी-जिसमें कृषि, पशुपालन, कृषिसम्बन्धी देव देवियों की पूजा और भेंट, मिट्टी के बर्तन बनाना इत्यादि बातें प्रमुख थीं। इसी अवस्था में से विकास पाकर सामाजिक दृष्टि से सुसंगठित सुमेर प्रदेश की वह सभ्यता बनी जिसके अवशेष हमें ६-७ हजार वर्ष ई. पू. तक के मिलते हैं। सबसे पहिले मानव के इतिहास में हम इस पृथ्वी पर नगर बसते हुए पाते हैं एवं लोगों को एक सभ्य सुसंगठित समाज बनाकर रहता हुआ पाते हैं। सुमेर, बेबीलोन, असीरिया की सभ्यतायें सर्वथा लुप्त प्राय हैं-किन्तु उन लुप्त सभ्यताओं का चित्र एवं इतिहास जो आज हमने बनाया है, वह उन खुदाईयों के फल स्वरुप जो उक्त प्रान्त में आज से कई दशक वर्ष पूर्व

हुई। इन खुदाइयों में उस प्राचीन काल के अद्भुत नगर, महल, सड़कें, कूए, मन्दिर, देवताओं की मूर्तियां, लेखनकला, अनेक लेख, मुद्रायें, मोहर, मिट्टी के बर्तन, चांदी सोने के आभूषण इत्यादि के अवशेष मिले हैं, जिनसे उन प्राचीन सभ्यताओं का चित्र हमारे सामने स्पष्ट हुआ है। अभी अभी पिछले कुछ वर्षों में पेनसिलवेनिया और शिकागो विश्वविद्यालयों के अमरीकी पुरातत्त्व-गवेषकों को प्राचीन सुमेर के प्रसिद्ध नगर निपुर के कुछ शिलालेख प्राप्त हुए हैं। इनमें से अधिकतर शिलालेख उस समय के लोगों के निजी "लेखसंग्रहालयों" के हैं। इनमें से कुछ शिलालेख "शिक्षा ग्रंथों" और कुछ "निर्देश ग्रंथों" के रूप में प्रयुक्त किये जाते थे। इन शिलालेखों में कुछ में गणित के प्रश्न हैं और कुछ में कानूनी समस्यायें। एक शिलालेख में जनता को विद्याध्ययन के लिये निमन्त्रित किया गया है, और इस प्रकार शिक्षा के लिये लोगों को प्रेरित करने वाला यह सबसे प्राचीन लेख है। इतना असन्दिग्ध रूप से कहा जासकता है कि सुमेरियन जाति उस जमाने की दृष्टि से बहुत आगे बढ़ चुकी थी और वह धीरे धीरे समाज शासन व्यवस्था और वैयक्तिक उत्तरदायित्व के आदर्श की ओर अग्रसर हो रही थी।

यह निश्चित पूर्वक कहना कठिन है कि सबसे प्राचीन सभ्यता कौनसी है,-कि सबसे पहिले सभ्यता का विकास मिश्र

में हुआ या सुमेर में,—या इन दोनों सभ्यताओं का विकास संसार में सबसे पहिले लगभग एक ही काल में पृथक पृथक स्वतंत्र रूप से हुआ, या इन दोनों सभ्यताओं से भी पहिले अपने ही ढंग की (जैसा कि कुछ भारतीय पुरातत्त्ववेत्ता कहते हैं) भारतीय आर्य संस्कृति का एवं चीन में अपने ही ढंग की चीनी संस्कृति का विकास हुआ। जिस प्रकार आधुनिक काल में तरतीब-वार समस्त संसार का इतिहास लिखा जाता है, यह बात उस पुराने जमाने में तो प्रायः थी नहीं, फिर भी उस जमाने के अवशिष्ट चिन्हों, मुद्राओं, धातुपत्र एवं शिलालेखों के आधार पर कुछ अनुमान इतिहासकारों ने लगाये ही हैं—एवं अब तक जो कुछ सामग्री अथवा जो कुछ भी तथ्य उस पुराने काल के मिले हैं—उससे कई पाश्चात्य विद्वानों की अब तक तो यही धारणा बनती है कि सुमेर की ही सभ्यता सबसे प्राचीन सभ्यता है। ई० पू. ६०००—७००० वर्ष के जो अवशेष सुमेर में मिले हैं इतने पूर्वकाल के अवशेष मिश्र में भी जिसकी सभ्यता अतिपुरातन मानी जाती है, नहीं मिलते। भारत एवं चीन के पुरातन इतिहास के विषय में तो हम कह सकते हैं कि पाश्चात्य विद्वानों का ज्ञान अभी अधूरा ही है। जो कुछ भी हो इतना तो हम देखते हैं कि थोड़े से ही पूर्वापर अंतर से प्राचीन दुनिया में प्रायः एक ही साथ चार संस्कृतियों का विकास होता है यथा दजला और फरात की नदियों की घाटी में सुमेर और बेबीलोन सभ्यता का, नील नदी

की घाटी में मिश्र की सभ्यता का, भारत में सिंधु नदी की घाटी में सिंधु सभ्यता का (आर्य-सभ्यता नहीं) एवं ठेठ पूर्वीय चीन में ह्वांगहो और यांगटीसिक्यांग नदी की घाटियों में चीनी सभ्यता का। इतना ही नहीं कि इन नदियों की उपत्यकाओं में भिन्न भिन्न सभ्यतायें विद्यमान थीं, किन्तु अपनी सुविकसित अवस्थाओं में वे समकालीन भी थीं और परस्पर उनमें सांस्कृतिक एवं व्यापारिक विनिमय भी होता रहता था।

यहां यह बात देखने की है कि नदी की घाटियों में ही प्राचीन सभ्यताओं का विकास होता है, अन्य जगहों पर नहीं। इसका भौगोलिक कारण ही है। भौगोलिक परिस्थितियों का मनुष्य के जीवन एवं उसके विकास में बहुत महत्त्वपूर्ण स्थान होता है। प्राचीन काल में मनुष्य स्थिर होकर उसी जगह ठहर सकता था, जहां वर्ष में बारहों महीने खेतों की सिंचाई के लिये पानी उपलब्ध हो सके, पशुओं के लिये चारा मिल सके, और घर बनाने के लिये कुछ सामग्री उपलब्ध हो। ऐसी परिस्थितियां उपर्युक्त नदियों की घाटियों में विद्यमान थीं। मिश्र में नील नदी की घाटी में मिट्टी एवं ऐसा पत्थर जो आसानी से इमारतों के काम आसके बहुतायत से मिलता था। मेसोपोटेमिया में यदि पत्थर नहीं था तो वहां एक प्रकार की ऐसी मिट्टी थी जो सूर्य की गर्मी से पककर पक्की ईंट की तरह बन जाती थी। इन नदियों

की घाटियों में खूब घास पैदा होता था, एवं अन्न के उत्पादन के लिये बारहों महीना सिंचाई का साधन था। अतएव ऐसे स्थलों पर मनुष्यों का स्थायीरूप से घर, गांव, नगर बनाकर बस जाना स्वाभाविक था। इन उपत्यकाओं में बहुत से लोग स्थायी रूप से बस गये। शनैः शनैः उनकी जन संख्या में वृद्धि हुई, एवं उन्होंने संगठित सभ्यताओं का विकास किया।

इस सृष्टि में, इस पृथ्वी पर यह पहिला ही अवसर था कि मानव स्थिर होकर एक जगह बसने लगा उसमें सामाजिक चेतना और उत्तरदायित्त्व का विकास हुआ, और प्राकृतिक परिस्थितियों को अपने लिये सुखद बनाने का उसने सामूहिक रूप से प्रयास किया।

इन नदियों की घाटियों के अतिरिक्त पृथ्वी पर दूसरी जगहों पर घुमक्कड़ लोग (Nomadic People) भोजन की तलाश में इधर उधर घूमा फिरा करते थे। इन लोगों की वजह से इतिहास का यह एक अपूर्वतम तथ्य बराबर बना रहा है कि-शांत स्थिर बसे हुए लोगों में एवं इन घुमक्कड़ लोगों में बारबार संघर्ष चलता रहा है-नये घुमक्कड़ लोग आये हैं पुराने बसे हुए लोगों को जीता है, या ये उन्हीं में घुल मिलकर वहीं बस गये हैं। एवं फिर नये घुमक्कड़ लोगों का प्रवाह आया है-और इस प्रकार

सभ्यताओं का आरोहण अवरोहण, उत्थान पतन होता रहा है और इतिहास गतिमान रहा है।

सुमेर

सुमेर की सभ्यता का विकास सुमेरियन लोगों ने किया जो आज सर्वथा लुप्त हैं। कौन ये सुमेरियन लोग थे, कहां इनका उद्गम था, यह अभी निश्चितरूप से नहीं कहा जासकता। ये लोग आर्य, सेमेटिक, मंगोल निग्रो उपजातियों से अन्य ही लोग थे। इन उपजातियों से इनका कोई सीधा संबंध नहीं बैठता। स्यात् ये वे ही भूरे या गहरे बादामी रंग (Brunet) के लोग थे जो नव-पाषाण युग में पच्छिम में स्पेन से लेकर पूर्व में प्रशांत महासागर तक भूमध्यसागर तटीय प्रदेशों में फैले हुए थे।

हां, कुछ विद्वानों की राय है कि सिंधु (भारत) से ही कुछ लोगों ने मेसोपोटेमिया जाकर आज से ७–८ हजार वर्ष पूर्व सुमेरी सभ्यता को जन्म दिया था। मेसोपोटेमिया में पहिले से ही नव-पाषाण युगीन उपरोक्त भूरे रंग के लोग बसे हुए थे, उन्हीं में सिंधु लोगों के सम्पर्क से संगठित सभ्यता का विकास हुआ। तो ये सिंधु लोग कौन थे ? ये वे ही लोग थे जिनमें प्राचीन सिंधु (मोहेंजोदाड़ो, हरप्पा) सभ्यता का विकास हुआ था, जिस सभ्यता के विषय में कुछ विद्वानों द्वारा यह माना जाता है

कि यह भारत की प्राचीन द्रविड़ जाति और आर्यजाति दोनों के मेल से बनी थी। इसमें संदेह नही कि सिंधु सभ्यता और सुमेर बेबीलोन की सभ्यता बहुत मिलती जुलती हैं।

सुमेर के प्राचीन लोगों ने पहिले ग्राम बसाये और फिर ये ही ग्राम विकसित होकर नगर बने। कई नगरों के अवशेष मिले हैं जिनमें निपुर, निनेवेह मुख्य हैं। इन नगरों में पकी हुई चमकदार ईटों के सुन्दर सुन्दर मकान बने हुए थे। मिट्टी के अनेक प्रकार के सुन्दर सुन्दर बर्तन एवं मूर्त्तियां उस प्राचीन काल की उपलब्ध हुई हैं। आरंभ में प्रत्येक नगर का शासन अलग अलग था–वास्तव में ये छोटे छोटे नगर राज्य थे। इन नगरों के राजा होते थे। मंदिरों के पुरोहित, पुजारी एवं वैद्यचिकित्सक, जादू टोना करने वाले लोग ही राजा होते थे। प्रत्येक नगर का एक मुख्य देवता होता था–उस मुख्य देवता का नगर में एक मुख्य मंदिर होता था, उस मंदिर का पुरोहित (पुजारी) ही नगर का राजा होता था। धर्मगुरू एवं नगर का शासक एक ही व्यक्ति होता था।

नदियों में से नहरें निकालकर ये अपने खेतों को सींचते थे। नहरों द्वारा खेतों को सींचने की कला अद्भुतरूप से विकसित थी। गेहूँ, जौ की खेती मुख्यतया होती थी। गाय, बैल, भेड़, बकरी, गदहे, इन लोगों के पालतू जानवर थे। घोड़े से ये लोग परिचित नहीं थे।

इनकी विचित्र एक "चित्र लेखन कला" थी । मिट्टी की छोटी छोटी टाइलों अर्थात् पट्टियों पर अपनी चित्रलिपि के चित्र ये लोग कुरेदते थे—वे मिट्टी की टाइलें बाद में पकाली जाती थीं और इस प्रकार उनके लेख सुरक्षित रहते थे। इनकी भाषा को क्यूमीफर्न भाषा (Cumeifern) कहा गया है जिसको पढ़ने और समझने में आधुनिक पुरातत्त्ववेत्ता सफल हुए हैं। इस तरह के बहुत से लेख उपलब्ध हुए हैं जिनसे उन लोगों के रहन सहन और इतिहास का पता लगता है। जहाजरानी उद्यम का भी ये लोग धीरे धीरे विकास कर रहे थे ।

भिन्न भिन्न नगर राज्यो में आपस में लड़ाइयां और झगड़े होते रहते थे। अंत में इरेच नामक नगर राज्य के राजा-पुरोहित ने समस्त सुमेर प्रदेश को मिलाकर एक साम्राज्य स्थापित किया जो फ़ारस की खाड़ी से पच्छिम में भू-मध्यसागर तक फैला हुआ था। इस पृथ्वी पर स्यात् यह पहिला संगठित साम्राज्य था ।

बेबीलोन

सुमेर प्रदेश में उपरोक्त नगर राज्य जब स्थित थे, उसी समय अरब रेगिस्तान की सेमेटिक जातियां इधर उधर घुमक्कड़ लोगों की तरह घूमा करती थीं। इन्हीं जातियों की अक्काद जाति

के एक सरदार ने जिसका नाम सार्गन था सुमेर पर हमला किया, और वहां अपना राज्य स्थापित किया। सार्गन जिसका ऐतिहासिक काल अनुमान से २७५० ई० पू. माना जाता है, इतिहास का प्रथम सैनिक शासक था। उसका राज्य विस्तार फ़ारस की खाड़ी से भू-मध्यसागर तक फैला हुआ था। उसका साम्राज्य सुमेर अक्काद साम्राज्य कहलाता है। सुमेरीयन लोगों की ही सभ्यता, लिपि, भाषा, देवपूजा इत्यादि इन नये विजेताओं ने अपनाली। इस वंश के राजा ज्योंही कमजोर हुए तो सेमेटिक लोगों की एक अन्य जाति ने इस प्रदेश पर हमला किया, बेबीलोन नाम का एक सुन्दर नगर बसाया। अतएव उनका साम्राज्य भी बेबीलोन साम्राज्य कहलाया। इस जाति का प्रसिद्ध राजा हमुरबी हुआ जिसका काल लगभग २१०० ई० पू. अनुमानित किया जाता है। इसके राज्य काल में व्यापार की बहुत उन्नति हुई, शासन के संगठित नियम एवं कानून इस सम्राट ने बनाये। इतिहास में स्यात् यही सर्व प्रथम राजा था जिसने शासन संबंधी एवं व्यक्तियों के सामाजिक व्यवहार संबंधी कानून बनाये। इसके शासनकाल में कई बड़े बड़े नगर बसे, जिनके अबतो अवशेष मात्र मिट्टी के नीचे दबे हुए मिलते हैं। किन्तु इन भग्नावशेषों में विद्वानों को राजा हमुरबी द्वारा लिखे गये (जैसा ऊपर कहा गया है मिट्टी की पट्टियों पर खुदे हुए) अनेक पत्र मिले हैं–जो उसने राज्य के भिन्न भिन्न विभागों के अफ़सरों को लिखे थे और जिनमें उसने शासन संबंधी., तथा

मंदिर, धर्म एवं काल गणना संबंधी अनेक आदेश दिये थे। इन पत्रों के अतिरिक्त पत्थर का एक लंबा टुकड़ा भी मिला है जिस पर हमुरबी के शासन कानून अंकित हैं। उन पत्रों में जो आदेश हैं–उदाहरण स्वरूप वे इस प्रकार हैं–कि यूफ्रीटीज (दजला) नदी में व्यापारिक विकास एवं आवागमन में जितनी रुकावटें आती हैं उनको साफ कर देना चाहिये। कर समय पर एकत्रित हो जाना चाहिये, एवं जो लोग कर अदा नहीं करते हैं उनको सजा मिलनी चाहिये। बेईमान न्यायाधीशों एवं राजकर्मचारियों को भी न्याय के सामने प्रस्तुत होना पड़ेगा, इत्यादि इत्यादि।

उपरोक्त "प्राप्त पत्थर" में जो कानून खुदे हैं उनमें से कुछ इस प्रकार हैं:—

(१) यदि कोई पुत्र अपने पिता को पीटे तो उसका हाथ काट दिया जाय। (२) जो किसी की आँख फोड़े तो उसकी आंख फोड़ दीजाये। (३) किसी कारीगर की लापरवाही से यदि मकान गिरजाये तो मकान वाले का जो नुकसान हो वही नुकसान कारीगर का किया जाये (४) नहरों को खराब करने वाले को कड़ी सजा दी जाये, इत्यादि।

राजा के, उपरोक्त पत्रों में जो आदेश लिखित हैं, एवं पत्थर पर जो कानून खुदे हुए हैं, उनसे उस प्राचीन काल की समाज व्यवस्था के विषय में बहुत कुछ मालूम होता है। यह

सामाजिक व्यवस्था बहुत ही संगठित एवं विकसित थी । तीन श्रेणी के लोग समाज में थे—

१ उच्चवर्ग–जिसमें पुरोहित, पुजारी, शासनकर्ता, राज्य कर्मचारी लोग थे ।

२ मध्यम वर्ग--जिसमें वशेषतः व्यापारी थे ।

३ गुलाम–जिसमें विशेषतः खेतीहर मजदूर, नौकर थे ।

ऐसा भी अनुमान होता है कि स्त्रियों की स्थिति बहुत ऊंची थी । स्त्रियां बहुधा व्यापार भी किया करती थीं । बहु पत्नीत्व की प्रथा का प्रचलन था किन्तु स्त्रियों को तलाक का अधिकार था ।

व्यापार, बैंकिंग (लेन देन), खेती, सिंचाई के लिये नहरें, एवं नगरों की स्वच्छता के लिये नालियां-इत्यादि इन बातों पर विशेष ध्यान दिया जाता था ।

हमुरबी की मृत्यु के पश्चात साम्राज्य फिर तितर बितर हो गया । १७०० ई. पू. में इसका पतन होना प्रारंभ हुआ, किंतु ८ वीं शती ई० पू० तक किसी प्रकार यह चलता रहा । नये सेमेटिक लोग इस प्रदेश में आगये, जिन्होंने सब व्यवस्था को नष्ट भ्रष्ट करदिया । बेबीलोन की सभ्यता से वे कुछ भी लाभ नहीं उठा सके । बेबीलोन की प्राचीन भाषा भी समाप्त होगई एवं उसकी

जगह एक प्रकार की सेमेटिक भाषा का जो उस जमाने की यहूदी भाषा से कुछ कुछ मिलती जुलती थी प्रचलन हो गया।

बेबीलोन के लोगों ने सुमेरियों की ही लेखन कला को अपनाकर उसे अधिक उन्नत कर लिया था। मिट्टी की पट्टियों पर धातु की कलमों से लिखा जाता था। इस प्रकार पुस्तकें लिखी जाकर मंदिरों में रक्खी जाती थीं। उसकाल का एक महाकव्य मिला है जो "गिलगमिश" महाकाव्य के नाम से प्रसिद्ध है। अनेक दंत-कथायें भी उन लोगों में प्रचलित थीं। उन लोगों में सृष्टि रचना और महाप्रयल की एक कहानी प्रचलित थी जो एक चट्टान पर लिखी हुई मिली है। लगभग २००० ई. पू. में इन सबका अस्तिव होना चाहिये। सृष्टि रचना और प्रलय की इसी कहानी को बाद में यहूदियों ने, अपनी बाइबल में अपना लिया, और यहूदियों की बाइबल से मुसलमानों ने अपनी कुरान में।

बेबीलोन में गणित, ज्योतिष, इतिहास, चिकित्सा शास्त्र, व्याकरण, दर्शन का भी ज्ञान था, जिससे कालांतर में जूडिया, फलस्तीन, सीरिया, अरब और ग्रीस के लोग भी प्रभावित हुए।

असीरीया

जब बेबीलोन साम्राज्य खत्म प्राय हो रहा था तो टाईग्रीस युफ्रीटीज इन दो नदियों की घाटी के उत्तर भाग में एक नये राष्ट्र का ही उदय होरहा था। इस नये राष्ट्र का मुख्य

नगर असुर था, जिससे इस राज्य का नाम ही असीरीया हुआ। असुर पहिले एक छोटासा नगर राज्य ही था। यहां के निवासियों ने बेबीलोन की सभ्यता से ही काल-गणना, लेखन कला, मूर्तिकला एवं सभ्यता की अन्य बातें सीखीं। असीरीयन लोगों ने सीरिया, इजराइल, जूडिया एवं मिश्र साम्राज्य के भी कई भागों पर कुछ काल के लिये विजय प्राप्त की एवं अपना एक महान असीरीयन साम्राज्य स्थापित किया। इस साम्राज्य का सर्व प्रथम प्रसिद्ध सम्राट सार्गन द्वितीय था जिसका काल (७२२-७०५ ई. पू.) माना जाता है। सार्गन के पुत्र सेनाकरीब (७०५-६८१ ई. पू.) ने प्रसिद्ध बेबीलोन नगर को तो विध्वंस कर दिया किन्तु उसने एक नया शानदार नगर बसाया जिसका नाम निनेवेह था; इसी नगर को सेना करीब ने असीरीयन साम्राज्य की राजधानी बनाया। इसी नगर में सम्राट ने एक बहुत विशाल महल बनवाया। इस महल में अलबस्टर पत्थर पर चित्रत अनेक चित्र मिले हैं। इन चित्रों में सम्राट की विजयों का चित्रण है एवं सिंह और अन्य जङ्गली जानवरों के शिकार के भी चित्र हैं। ये सब चित्र कलापूर्ण ढ़ंग के हैं। इस महल से जुड़े अनेक सुन्दर सुन्दर उद्यान भी थे। सेनाकरीब सम्राट का पौत्र असुरबनीपाल बड़ा विद्या प्रेमी था। अपने राज्य-काल में उसने एक विशाल पुस्तकालय बनवाया और जितने भी मिट्टी की पट्टियों पर प्राचीन लिखित लेख अथवा पत्र

(Documents) उसको मिले वे सब उसने अपने पुस्तकालय में संग्रहीत किये। उपरोक्त सेनाकरीब द्वारा निर्मित महल में लगभग ३ लाख मिट्टी की पट्टियों पर लिखित उस काल के धार्मिक साहित्यिक, वैज्ञानिक लेख मिले हैं ये पट्टियां अब ब्रिटिश म्यूजियम, लन्दन में सुरक्षित हैं। उस काल की ऐतिहासिक बातें इन्हीं रिकोर्डों से उद्घाटित हुई हैं। इस प्रकार असुरबनीपाल का राज्य 'ज्ञानोदय' का राज्य था।

किन्तु सम्राट को अनेक जाति के लोगों को दबाकर अपने आधीन रखना पड़ता था, और यह काम सम्राट अपनी सैनिक शक्ति के ही बल पर कर सकता था। इस दृष्टि से असी-रीयन साम्राज्य एक सैनिक साम्राज्य ही था। असीरीयन राज्य के विरुद्ध विद्रोह चलते ही रहते थे। इसी प्रकार ६०६ ई. पू. में असीरीयन लोगों के साम्राज्य का दक्षिण की ओर से बढ़कर आती हुई सेमेटिक लोगों की केल्डिया (खाल्दी) नामक एक जाति द्वारा अंत किया गया —निनेवीह नगर पर क़ब्ज़ा कर लिया गया और मेसोपोटेमिया की भूमि पर केल्डियन साम्राज्य की स्थापना हुई। असीरीयन लोगों की इस हार पर उन प्रदेशों की कई छोटी छोटी जाति के लोगों को जैसे जूडिया के यहूदी, फिल्सतीन के फिल्सतीन लोग एवं सीरीया के सीरीयन लोगों को बहुत ही खुशी हुई, ऐसा एक विवरण यहूदी लोगों की

प्राचीन धर्म पुस्तक "प्राचीन बाईबाल" (Old Testament) में आता है।

केल्डिया (खल्द)

इस साम्राज्य का सबसे महान सम्राट नेबूकाड्रेजार (Nebuchadrazzar) था--जिसने असीरीयन साम्राज्य काल में विध्वस्त पुराने बेबीलोन नगर को फिर से बनवाया और उसे अपने साम्राज्य की राजधानी चुना। इस सम्राट का शासन काल (६०४–५६१ ई० पू०) था। पड़ोस की सब छोटी छोटी जातियों को जीतकर इस सम्राट ने अपने आधीन किया। जूडिया के यहूदी लोगों को वहां से हटाकर वह अपनी राजधानी बेबीलोन में लेगया और वहीं उनको बसाया। सम्राट ने बेबीलोन नगर को बहुत सुन्दर एवं समृद्ध किया। नगर में एक बहुत विशाल और सुन्दर महल बनवाया–इतना सुन्दर कि जितना मेसोपोटेमिया में किसी सम्राट के राज्यकाल में नहीं बना था। अपनी स्त्री को प्रसन्न करने के लिये उसने संसार प्रसिद्ध झूलतेबाग (Hanging Gardens) भी बनवाये।

झूलते बाग (Hanging Gardens)

प्राचीन बेबीलोन के लोग अनेक देवी देवताओं को पूजते थे। देवताओं के सुन्दर सुन्दर विशाल मंदिर बनवाये जाया करते थे–जिनमें बड़े बड़े पुजारी पुरोहित लोग रहते थे। बहुधा

शासक या सम्राट ही प्रधान पुरोहित भी होता था। बेबीलोन के सम्राट नेबूकाड्नेजार ने एक बहुत विशाल, स्तम्भशैली (Towerlike) का मंदिर बनवाया। यह मंदिर बहुत ऊंचा था और इसके अनेक खंड थे। प्रत्येक खंड के बारजों (Balconies) में सुन्दर सुन्दर पुष्पित पौधे, वृक्ष एवं उद्यान लगाये गये थे--मानों मुख्य भवन के भिन्न भिन्न खंडो के बाहर की ओर झरोखों में ये घने पुष्पित पौधे और उद्यान ऐसे लग रहे हों जैसे आकाश में लटक रहे हैं। आश्चर्यजनक इंजीनीयरिंग ढ़ंग से इस प्रकार एक नहर बनाई गई थी जो कि मन्दिर के चारों ओर शिखर से ऐडी तक बहती रहती थी, झरोखों (Terraces) पर लगे उद्यानों को सींचती रहती थी और मन्दिर के समस्त भवन को ठण्डा और खुशनुमा बनाये रखती थी। ये झूलते बाग प्राचीन काल की दुनिया की सात आश्चर्यजनक चीजों में से एक हैं। इनकी प्रसिद्धि उस काल के सभी प्रदेशों में फैली हुई थी। पिछले कुछ वर्षों में जब ऐतिहासिक खुदाइयां ईराक में हो रही थीं--तब इन झूलते उद्यानों के अवशेष मिले थे।

केल्डियन साम्राज्य काल में कला कौशल एवं व्यापार की बहुत उन्नति हुई। बेबीलोन उस प्राचीन कालीन दुनिया का एक बहुत ही धनिक और समृद्धिवान नगर माना जाता था। केल्डियन लोगों ने विशेषतया नक्षत्र विद्या में उन्नति की। इन

लोगों को १२ राशियों का ज्ञान था—एवं जूपीटर, मार्स वीनस, मर्करी एवं शनि आदि ५ ग्रहों का भी इनको ज्ञान था।

इस प्रकार हम देखते हैं कि प्राचीन सुमेरियन लोगों के काल (लगभग ६ हजार वर्ष ईसा पूर्व) से प्रारम्भ होकर यूफ्रिटीज और टाईग्रीस (दजला, फरात) नदियों की मेसोपोटेमिया उपत्यका में एक प्राचीन समृद्धिवान सभ्यता का उदय और विकास हुआ। कुछ इतिहासज्ञों की राय में यही सभ्यता संसार की सर्व प्रथम सभ्यता थी, और मिश्र, ईरान, सिंध आदि देश के लोगों ने सभ्यता का पाठ यहीं से पढ़ा। केल्डीयन लोगों का राज्य जब इस प्रदेश पर था—उनके अंतिम समय में उत्तर में ईरान के आर्य्यन लोगों के यहां अनेक हमले हुए--और ५३८ ई० पू० में मीडीया और ईरान के आर्य्यन लोगों ने इस साम्राज्य पर अपना अधिकार जमा लिया। इन आर्य्यन लोगों के बाद आधुनिक काल तक मेसोपोटेमिया में पहिले ग्रीक, फिर रोमन, फिर अरब और तुर्क लोगों के साम्राज्य क्रमशः स्थापित हुए। प्राचीन नगरों का विध्वंस हुआ-नये नगर स्थापित हुए—आज के प्रसिद्ध नगर हैं बगदास, बसरा इत्यादि,—इस प्रदेश का नाम है ईराक़ और वहां के रहने वाले हैं अधिकतर अरब जाति के मुसलमान। आज (१९५०) ईराक़ में अरब जाति के सुल्तान का राज्य है।

प्राचीन मेसोपोटेमिया

सभ्यता की विशेषतायें

मेसोपोटेमिया (सुमेर, बेबीलोन, असीरीया, केल्डिया) सभ्यता के प्रारम्भिक काल में कुछ छोटे छोटे नगर राज्य थे। इन नगर राज्यों के शासक पुरोहित होते थे, जो मन्दिर के पुजारी होते थे। इन प्राचीन सभ्यताओं का आरम्भ ही मानो मन्दिरों के साथ साथ हुआ। मन्दिरों में अद्भुत शकल सूरत वाले देवताओं की मूर्तियां होती थीं। ये मूर्तियां या तो स्वयं देवता मानी जाती थीं या लोगबाग इन मूर्तियों को देवताओं के प्रतीक समझते थे। कृषि से सभ्यता का आरम्भ हुआ था एवं कृषि की ऊपज से सम्बन्ध रखने वाले इनके देवता थे—सूर्य देवता, प्रकृतिदेवी, वृषभदेव। इन देवताओं के नाम इनकी अपनी भाषा में दूसरे ही थे। लोगों का समस्त धार्मिक जीवन इन देवताओं, पुरोहितों और मन्दिरों में ही सीमित था। देवताओं की कृपा दृष्टि से ही अच्छी फसल पैदा होती थी, बीमारियां दूर होती थी और युद्ध में शत्रुओं की हार होती थी, एवं उनकी कोप दृष्टि से ही समस्त विपरीत बातें होती थीं। इसीलिये पुरोहित और पुजारी लोग ही शासक होते थे। मंदिर ही उस काल के ज्ञान विज्ञान, शिक्षा और कला के केन्द्र थे जहां पुजारी लोग सर्वसाधारण को बतलाते थे कि अमुक समय में बीज बोने

चाहिये,—अमुक समय में धान कटना चाहिये, इत्यादि। मन्दिरों में ही जादू टोना और दवाइयों से बीमारियां ठीक की जाती थीं। मन्दिरों में ही उस काल की लिखाई पढ़ाई का काम होता था। उस काल में बड़े बड़े विशाल और सुन्दर मन्दिर बने हुए थे। प्रत्येक नगर का अपना मुख्य देवता और उसका मुख्य मन्दिर होता था। उस काल में बेबीलोन का मुख्य देवता "बाल मार्दूक" था और इस देवता का नगर में एक विशाल मन्दिर था। धीरे धीरे ज्यों ज्यों समाज बढ़ने लगा, भिन्न भिन्न नगर राज्य सम्पर्क में आने लगे, परस्पर व्यापार बढ़ने लगा, त्यों त्यों भिन्न भिन्न नगर राज्यों एवं जातियों में झगड़े एवं युद्ध होने लगे। ऐसी परिस्थितियों में एक केन्द्रीय शक्ति की आवश्यकता होने लगी जो युद्धों का संचालन कर सके और शासन कार्य भी चला सके। इस प्रकार धीरे धीरे पुरोहित-पुजारी वर्ग से पृथक ही शासक वर्ग का उत्थान हुआ। शासक और सम्राट हुए और उनके नीचे प्रभावशाली कर्मचारियों का एक वर्ग उत्पन्न हुआ। धीरे धीरे मन्दिरों की अपेक्षा राजाओं के दरबार (कोर्ट) अधिक महत्त्वशाली होगये और उनके बनाये हुए नियमों और आज्ञाओं से समाज का परिचालन होने लगा। यद्यपि शासक, राजा और सम्राट, पुरोहितों से अब पृथक वर्ग के लोग होचुके थे तथापि समाज में साधारण लोगों के मानस पर पुरोहितों का साम्राज्य बना हुआ था। ऐसी अनेक परिस्थितियां आती थीं

जब सम्राटों को, पुरोहितों को अपना पोषक और सहायक मानकर चलना पड़ता था। यहां तक कि असीरीयन जाति का राज्य जब बेबीलोन पर हुआ तब उस विदेशी जाति को बेबीलोन के देवता "बाल मार्दूक" को मान्यता देनी पड़ी, उसकी पूजा करनी पड़ी, और तभी प्रजा का सहयोग उसे प्राप्त हो सका।

मेसोपोटेमिया की सभ्यता और संगठित राज्य की स्थिति प्रायः ६००० ई. पू. से प्रारंभ होकर ५०० ई. पू. तक, इस प्रकार लगभग ५-६ हजार वर्षों तक बनी रही। इसमें साम्राज्य काल तो पिछले ढाई तीन हजार वर्षों का रहा। हमने देखा कि इस लम्बे अरसे में मेसोपोटेमिया में सुमेर, अकाद, असीरीया और केल्डिया इत्यादि प्रदेशों की जातियों के शासक और सम्राट एक के बाद दूसरे आये। इन लोगों ने अनेक बड़े बड़े महल, मंदिर, उद्यान, सड़कें इत्यादि बनवाईं, व्यापार बढाया, कला-कौशल, नक्षत्र-विद्या, साहित्य की उन्नति की। एक के बाद दूसरे शासक आये, इस प्रकार कई हजार वर्षों तक समाज-शासन चलता रहा; जन साधारण के जीवन का प्रवाह वही था—खेती करना, गरीबी में रहना और शासक को अपना लगान चुका देना;—पुरोहित से अपनी भलाई बुराई पूछ लेना और मन्दिर में उत्सव के समय सेवा भेंट में अन्न चढ़ा देना। जो कारीगर, शिल्पी लोग थे वे सम्राटों, पुरोहितों और अन्य

धनिकों के लिये मकान, महल और मन्दिर बनाने में लगे रहते थे—उनको सजाने के लिये लकड़ी, धातु, हाथीदांत, मिट्टी इत्यादि की कलापूर्ण वस्तुयें बनाते रहते थे। जुलाहे, रंगरेज, खाती, सुनार, कुम्हार, लोहार, मूर्तिकार, आदि अनेक प्रकार के शिल्पियों का उल्लेख बेबीलोन के लोगों में मिलता है। व्यापारी लोगों का बाजारों में व्यापार चलता रहता था। बेबीलोन और निनेवेह के प्रसिद्ध व्यापारिक नगरों में मिश्र, अरब, भारत, चीन की चीजों का व्यापारियों में परस्पर लेन देन होता रहता था।

गेहूँ, जौ, मक्का की खेती होती थी। अनाज हाथ से पीसा जाया करता था और ईंट के चूल्हों पर रोटियां पकाई जाती थीं। खजूर एवं अन्य फल भी पैदा होते थे। भेड़, बकरी एवं चौपायों का पालन होता था। ऊन के सुन्दर वस्त्र बनते थे। रुई के कपड़े भारत से, एवं रेशम के कपड़े चीन से आते थे। इन लोगों की सबसे अधिक समृद्ध एवं सुन्दर कला मिट्टी के बर्तनों की थी—जिन पर सुन्दर पोलिश होती थी और उस पर चित्रकारी। मूर्तिकला एवं स्थापत्य कला का इतना विकास नहीं होपाया था जितना मिश्र में हुआ—क्योंकि इस प्रदेश में पत्थर सरलता से उपलब्ध नहीं होता था। खेती, ऊन, खजूर, और मिट्टी के बर्तन ये ही वस्तुयें यहां समृद्धि की आधार थीं।

स्त्रियों का समाज में उच्च स्थान था, उन्हें धन और सम्पत्ति पर भी निजी अधिकार प्राप्त था। पहिले तलाक का अधिकार भी उन्हें प्राप्त था—किन्तु सभ्यता की पिछली शताब्दियों में यह अधिकार उन्हें नहीं रहा।

मेसोपोटेमिया की इस दीर्घकालीन सभ्यता और साम्राज्य की तुलना कीजिए आधुनिक ऐतिहासिक काल से। कहां उनका ५-६ हजार वर्षों का लम्बा जीवन, कहां आधुनिक ऐतिहासिक काल का कुछ ही शताब्दियों का जीवन। ऐसा प्रतीत होता है उस समय जीवन, और समाज और इतिहास मानो बहुत धीरे धीरे सरकता था। आज के पिछले १५० वर्ष में तो समाज और इतिहास की चाल बहुत ही तीव्रगामी होगई है।

१५

प्राचीन मिश्र की सभ्यता

जब सुमेर में सुमेरियन सभ्यता का विकास हो रहा था, प्रायः उसी समय नील नदी की घाटी मिश्र (Egypt) में मिश्र की प्राचीन सभ्यता का विकास हो रहा था। जैसा पहिले उल्लेख कर आये हैं यह निश्चित पूर्वक नहीं कहा जा सकता कि सुमेर

और मिश्र की सभ्यता में कौनसी सभ्यता अपेक्षाकृत पुरानी है और न यही कहा जा सकता कि इन दोनों का उद्गम एक ही था या भिन्न भिन्न। कौन ये लोग थे जिन्होंने इस प्राचीन मिश्र की सभ्यता का विकास किया ? इन प्राचीन मिश्र के लोगों का संबंध किसी भी आधुनिक मनुष्य उपजाति (Races) के साथ नहीं जोड़ा जा सकता। मिश्र में प्राचीन पाषाण काल के चिन्ह मिलते हैं, तदुपरान्त नव-पाषाण कालीन खेती पशुपालन इत्यादि के अवशेष भी। किन्तु फिर एक व्यवधान सा पड़ जाता है, और ५७०० ई० पू० में फिर जब मिश्र के इतिहास पर से पड़दा उठता है तो हमें वहाँ पाषाण-युगीय लोगों से सर्वथा भिन्न प्रकार के लोग दृष्टिगोचर होते हैं, जो काफी सभ्य हैं और शनैः २ अपनी सभ्यता का विकास करते जाते हैं। कहाँ से मिश्र में नये लोगों का आगमन हुआ, या मिश्र में इनका उदय हुआ यह निश्चित नहीं। इस संबंध में लंदन विश्व विद्यालय के प्रसिद्ध मानव-विकास शास्त्रवेत्ता श्री पेरी (W. J. Perry) महाशय का तो यह मत है कि इस पृथ्वी पर मिश्र में ही सर्व प्रथम सभ्यता का विकास हुआ और यहीं से दुनियां के अन्य लोगों ने सभ्यता सीखी। अपनी पुस्तक "सभ्यता का विकास" (The Growith of Civilization 1928) में बहुत ही पांडित्यपूर्ण ढंग से वे इस बात का प्रतिपादन करते हैं कि प्राचीन पाषाण काल के मानव की स्थिति से नव-पाषाण काल के मानव

की स्थिति तक क्रमवार विकास केवल मिश्र में ही हुआ। मिश्र में ही भौगोलिक एवं प्राकृतिक ऐसी सुविधायें थीं कि वहाँ के लोगों ने सर्व प्रथम खेती का आविष्कार किया और वहीं से फिर खेती की कला पहिले समीपस्थ देशों में यथा मेसोपोटेमिया, फारस, में फैली और फिर भारत, चीन एवं यूरोप के पच्छिमी भागों में फैली। इस खेतीहर स्थिति से ही विकासमान होकर मिश्र के लोगों ने सुसंगठित समाज की सर्वप्रथम स्थापना की, एवं स्थापत्यकला, मूर्तिकला, चित्रकला, लेखनकला, ज्योतिष इत्यादिका सुविकसित रुप प्राप्त किया। कुछ पौर्वात्य विद्वानों का यह मत है कि वे लोग जिन्होंने मिश्र सभ्यता का विकास किया उसी नस्ल के थे जिसके उनके मतानुसार सुमेरियन लोग थे। सुमेरिन लोगों को ये विद्वान प्राचीन द्रविड़ एवं आर्य जाति के सम्मिश्रण से बना मानते हैं। सिंध से या भारत के पच्छिमी किनारे से जहाजों में ये लोग अफ्रीका पहुँचे होंगे।

प्राचीन मिश्र के इन लोगों की सभ्यता और वे लोग स्वयं कई हजार वर्षों तक इतिहास में पनपकर, अपना नाटक खेलकर अंत में लुप्त होगये। आज तो उस प्राचीन सभ्यता के केवल अवशेष मिलते हैं जिनसे अवश्य यह ज्ञात होता है कि यह सभ्यता थी बहुत विकसित। ये ही वे लोग थे

जिन्होंने संसार प्रसिद्ध 'पिरेमिड' (Pyramid=समाधियां, स्तूप) बनाये थे जो आज भी हम लोगों के लिये एक अद्‌भुत आश्चर्य की वस्तु बने हुए हैं ।

मिश्र और सुमेर का परस्पर सम्पर्क था। मिश्र के लोगों का रहन सहन का ढंग, इनके देवता और पूजा का ढंग एवं इनकी लेखन विधि और भाषा सुमेर से प्राय: भिन्न थी यद्यपि सभ्यता और संस्कृति के आधार तत्व साधारणतया एक से थे। ये लोग भी लिखते तो थे एक प्रकार की चित्रलिपि किंतु सुमेरियन चित्र लिपि से भिन्न एवं सुमेरियनों की तरह मिट्टी की टाइल पर नहीं किंतु पेपीरस रीड (Papyrus Reed) पर। पेपीरस एक झालदार वृक्ष होता था जो मिश्र की घाटी में बहुतायत से उत्पन्न होता था। वह वृक्ष आजकल मिश्र के केवल उत्तरी भाग में कहीं कहीं पैदा होता है। इन्हीं पेपीरस रीड पर लिखे हुए लेखों से मिश्र के लोगों के इतिहास, धर्म, रहन सहन इत्यादि का पता लगता है। मिश्र के राजा सुमेरियन राजाओं की तरह "पुरोहित-राजा" नहीं होते थे किंतु ये राजा स्वयं देवता की ही प्रतिमूर्ति या देवताओं के ही वंशज माने जाते थे। ये शासक "फेरो" (Pharaoh) कहलाते थे। मिश्र के इतिहास का कालक्रम वहां के फेरों की वंश परम्पराओं की संख्या से निर्देशित किया जाता है—जैसे प्रथम वंश, द्वितीय वंश इत्यादि। जिस काल में

मिश्र के राजाओं का प्रथम राज्यवंश प्रारंभ होता है, ऐसा अनुमान किया जाता है कि उस काल से भी पूर्व कुछ शासक लोग वहां शासन कर चुके थे। ऐसा मान सकते हैं कि प्रायः ५००० ई. पू. से सामाजिक जीवन संगठित होने लगा-और इस प्रकार धीरे धीरे ३३०० ई. पू. में प्रथम राज्य वंश की वहां स्थापना हुई। फेरों के शासन काल को तीन भागों में बांटा जासकता है।

(१) प्राचीन राज्य काल (३५०० से २७०० ई. पू. तक)
(२) मध्य राज्य काल (२७०० से १८०० ,, ,, ,,)
(३) साम्राज्य काल (१६०० से १००० ,, ,, ,,)

साम्राज्य काल में उत्तर में सीरीया, जूडिया आदि प्रदेशों तक फेरों का राज्य रहा। इस प्रकार मिश्र में लगभग चार हजार वर्ष या इससे भी अधिक समय तक 'राज्य वंश' स्थापना के पूर्व के राजा एवं भिन्न भिन्न 'राज्य वंशों' के राजा शासन करते रहे। इन चार हजार वर्षों में उत्तर में मेसोपोटेमिया के बेबीलोन एवं असीरीयन राजाओं से मिश्र के फेरों के युद्ध हुए, अनेक इनकी संधियां हुईं।—कभी मिश्र के फेरों का साम्राज्य विस्तार हुआ, कभी बेबीलोन साम्राज्य का विस्तार। एक बार मिश्र पर अरब के अर्ध-सभ्य बद्दुओं के घोर आक्रमण भी हुए, यहां तक कि उन्होंने १८०० ई. पू. के आसपास समस्त मिश्र पर अधिकार

जमा लिया और कई शताब्दियों तक वे वहां राज्य करते रहे। इन्होंने जिस राज्य कुल की स्थापना की वह 'हिक्सो (Hyksos) कुल' कहलाया। कई शताब्दियों तक मिश्री लोग इनके आधीन रह कर अंत में उठे, हिक्सो राजाओं को मिश्र से निकाल बाहर किया और फिर प्राचीन मिश्री फेरो शासक बने। इन अरबों के अतिरिक्त मिश्री लोगों और शासकों का संबंध तत्कालीन अन्य जातियों से भी रहा। कहते हैं कि लगभग २००० ई. पू में बेबीलोन साम्राज्य के एक प्रसिद्ध नगर 'उर' के वासी संत अबराहम (जो यहूदियों की बाइबल के ही अबराहम हैं और मुसलमानों की कुरान के इब्राहिम) अपने स्वतंत्र विचारों के कारण, एवं तत्कालीन अनेक देवीदेवताओं एवं मंदिरों में विश्वास के विरुद्ध केवल एक ईश्वर में आस्था रखने के कारण अपने नगर से निकाल दिये गये और उन्होंने मिश्र में जाकर शरण ली। वे वहां कुछ वर्ष रहे, एक मिश्री स्त्री से शादी की, और अंत में अरब लौट कर आगये, जहां उनके इस्माइल नामक संतान पैदा हुई। ऐसी मान्यता है कि यहूदी जाति इन्हीं अबराहम की नस्ल से है। ये ही यहूदी अरब से फैल कर उत्तर में जूडिया और इजराइल प्रदेशों में जाकर बस गये थे और वहां अपना राज्य कायम कर लिया था। इन्हीं यहूदी लोगों से, भिन्न जाति के सीरीयन लोगों से, एवं फारस के आर्य्यन लोगों से मिश्री फेरों के अनेक युद्ध हुए।

इन चार हजार वर्षों तक एक विकसित समाज और सभ्यता का इतिहास चलता रहा। अनेक विशाल नगर, मन्दिर, भवन, महल, अद्भुत स्तूप बने; कला, कौशल, पठन पाठन साहित्य, चिकित्सा, गणित की प्रतिष्ठा हुई; शासकों ने अनेक शासन नियम बनाये, अनेक सन्धियां की जिनके रिकोर्ड इनके लेखों में मिलते हैं। लगभग १००० ई. पू. में मिश्री साम्राज्य और सभ्यता का ह्रास होने लगा, अन्त में अलक्षेन्द्र महान के नेतृत्व में ग्रीक लोग यहां सन् ३३२ ई. पू. में आये, उन्होंने मिश्र के ३१वें राज्यवंश का जो उस समय वहाँ शासन कर रहा था अंत किया और ग्रीक राज्य स्थापित किया। सैकड़ों वर्षों तक ग्रीक टोलमी राजाओं का राज्य रहा, फिर रोमन लोग आये, और फिर ७वीं शती में अरब लोग। इस उथल पुथल में प्राचीन मिश्र जाति और मिश्र सभ्यता लुप्त होगई। आज वहां अरबी मुसलमान सुल्तान वैधानिक प्रमुख की हैसियत से एक राष्ट्र सभा द्वारा शासन करता है। अरबी यहां की भाषा है और इस्लाम वहां के लोगों का धर्म।

मिश्री लोगों द्वारा आविष्कृत चीजें

प्राचीन मिश्र में जो कुछ था, और आधुनिक मिश्र में भी जो कुछ है वह सब वहां की नील नदी की बदौलत। नील नदी मिश्र का जीवन है। नील नदी में प्रतिवर्ष बाढ़ें आया करती हैं। प्राचीन मिश्र के लोगों ने नील नदी में

प्रतिवर्ष आने वाली बाढों का धीरे धीरे निरीक्षण करके, नहरों एवं बांधों द्वारा खेतों की सिंचाई का आविष्कार किया। वे लोग लकड़ी का काम, पत्थर की घड़ाई का काम एवं स्थापत्य कला को अच्छी तरह से समझते थे। वे लोग सूत कातना एवं कपड़ा बुनना भी जानते थे। सोना, तांबा, कांसा, आदि धातुओं के उपयोग से प्ररिचित थे। ऐसा अनुमान लगाया जाता है कि इन्हीं लोगों ने कुर्सियों, गद्देदार कुर्सियों, कई प्रकार के वाद्ययन्त्रों, सुन्दर आभूषणों, एवं आभूषणों को रखने के लिये सुन्दर सुन्दर संदूकों, एवं कई प्रकार क प्रकाश दानों (Lamps) का आविष्कार किया। स्यात् उस्तरे से हजामत करने का आविष्कार भी इन्हीं लोगों ने किया था। समुद्रों के ऊपर चलने वाली बड़ी बड़ी जहाजों का आविष्कार कर्त्ता भी इन्हीं प्राचीन मिश्र के लोगों को माना जाता है।

कम से कम तीन बड़ी चीजों के आविष्कार का श्रेय तो इन्हीं लोगों को जाता है—पहिला भाषा की वर्णमाला, दूसरा सौरकाल गणना। सन् ४२४१ ई० पू० में इन लोगों ने सौरगणना के अनुसार सर्व प्रथम केलेंडर बनाया। ३६५ दिन का वर्ष काल माना गया, इसको इन्होंने १२ महीनों में विभक्त किया, ३० दिन का एक महीना माना गया और शेष ५ दिन के वर्ष के अंत में छुट्टी के माने गये। आकाश

मंडल के तारों को इन लोगों ने भिन्न भिन्न नक्षत्र-पुञ्जों (Constellations) में विभक्त किया एवं १२ राशियां स्थित कीं। तीसरा-मृत शरीरों की ममी (Mummy) बनाकर उनको हजारों वर्षों तक कायम रखना। ऐसा प्रतीत होता है कि मिश्र के लोग हाथ के काम में बहुत ही दक्ष थे। जिस किसी चीज को भी बनाते थे उसे बहुत ही सुन्दर और पूर्ण बनाते थे। उन लोगों की बनाई हुई पत्थर की मूर्तियाँ, राजाओं की समाधियां, और उन समाधियों के ऊपर बड़े बड़े मस्तब और स्तूप बहुत ही विचक्षण हैं-जो कि आज भी संसार को आश्चर्यचकित किये हुए हैं।

मिश्र के स्तूप (पिरामिड)

(प्राचीन काल की सात अद्भुत वस्तुओं में से एक)

मिश्र के लोगों का मृत्यु के विषय में अपना ही एक विश्वास बना हुआ था। वे सोचते थे कि मृत्यु के पश्चात भी प्राणी को उसकी गहरी नींद में से जगाया जा सकता है, और फिर से उसका जीवन चेतनामय बन सकता है। यह मरा हुआ जीव चेतन युक्त होकर देव-लोगों के द्वीप में आनंद से अमर जीवन का उपभोग करता है। मृत्यु के विषय में यह विश्वास मेसोपोटेमिया, बेबीलोन, एवं क्रीट द्वीप के माइनोअन लोगों के इस विश्वास से भिन्न था, कि मृत्यु के बाद जीव नीचे अंधेरी

दुनिया में चले जाते थे और वहां एक छायामय जीवन व्यतीत करते थे। मिश्र के लोगों का मृत्यु के संबंध में उपर्युक्त विचार होने की वजह से ही वहां पर सुन्दर सुन्दर क़ब्र, क़ब्रों के अन्दर मृत शरीर की ममी रखी जाना, एवं क़ब्रों के ऊपर बड़े २ विशाल स्तूप बनाना जिससे मृत शरीरों को कोई छू छा न सके, उन्हें बिगाड़ न सके—यह प्रथा चली। इन स्तूपों के अवशेष अब भी मिलते हैं, इनमें से कुछ स्तूप तो सर्वथा अपनी प्रारंभिक हालत में हजारों वर्षों के बाद आज भी विद्यमान हैं। एक आदिकालीन धार्मिक विश्वास से प्रेरित होकर मनुष्य ने भी अपने मृत शरीर को कायम रखने का क्या अनुपम ढंग निकाला! ये ममी, कब्र और क़ब्रों पर स्तूप केवल राजाओं और रानियों के लिये ही बनते थे। साधारण लोग तो मामूली कब्रों में ही दफना दिये जाते थे। बड़े बड़े स्तूपों (पिरामिड) की प्रथा तो मिश्र के तीसरे राज्य वंश से चली। चौथे राज्य वंश के प्रमुख तीन शासकों ने यथा–चिपोस, चिफ्रेन एवं माईसरनीयस ने, जिनके राज्य काल में मिश्र ने अभूतपूर्व उन्नति की और देश धन धान्य एवं ऐश्वय से परिपूर्ण रहा, अपने अपने लिये एक एक इस प्रकार तीन बहुत ही महान स्तूप बनवाये। ई. पू. २७ वीं शताब्दी की ये बातें हैं। उपर्युक्त तीन स्तूपों में से एक "स्तूप महान" कहलाता है। ये तीन प्रमुख स्तूप जिनके नीचे प्राचीन मिश्र के शासकों के मृत देह की ममी समाधियों में रक्खी हुई हैं, मिश्र के आधुनिक नगर

काहिरो से कुछ मील दूर गिज़े नामक स्थान पर हैं। इन स्तूपों तक पहुंचने के लिए पहिले त्थर की एक विशाल मूर्ति आती है जिसका शरीर 'शेर' का है, एवं "मुंह" मानव का। यह स्फीन्क्स (Sphinx) कहलाती है। यह मूर्ति २४० फ़ीट लम्बी एवं ६६ फीट ऊंची है।—और दूर से ही पथिक की ओर मानो ऐसे देखती, और कहती हुई प्रतीत होती है कि तुम्हारा पिरेमिड तक जाना उचित नहीं। पिछले लगभग ४७०० वर्षों से यह अद्भुत मूर्ति दिन प्रति दिन उदय होते हुए सूर्य को देख रही है-कवियों ने कल्पना की है—क्या ऐसा करते करते यह थक नहीं गई होगी? यह मूर्ति क्या है—किसका यह प्रतीक है, और क्यों एक टक देख रही है—यह भी हजारों वर्षों तक एक रहस्य ही बना रहा। कुछ ही वर्ष पहिले यह बात विदित हुई कि इस स्फिक्स की मूर्ति का मुंह फेरो जिफ्रेन का है—और फेरो जिफ्रेन ने ही इसे बनवाया था। इस विशाल मूर्ति को पार करके ही स्तूपों तक पहुँचना पड़ता है। "स्तूप महान" का आधार चबूतरा ७०० फीट लम्बा, ७०० फीट चौड़ा है—इस आधार चबूतरे के ऊपर दूसरा चबूतरा, अपेक्षाकृत पहिले से छोटा—और इस प्रकार एक के ऊपर दूसरा लघु से लघुतर;—और इस प्रकार बढ़ते बढ़ते इसकी ऊँचाई ४८० फीट तक चली गई है। कल्पना कीजिए इस पर्वत सम विशालकाय स्तूप की। इस स्तूप के अंदर ही दो बहुत ही सुन्दर 'कमरे' बने हुए हैं-ये,

एक राजा की क़ब्र है, और दूसरी उसकी रानी की। वैसे तो ये स्तूप ठोस बने हुए हैं, किन्तु नीचे क़ब्रों तक पहुँचने के लिये उन स्तूपों में रास्ते कटे हुए हैं--और प्रकाश और वायु के लिये अद्भुत इंजीनीयरिंग कुशलता से टनल बनी हुई हैं-यहां तक कि क़ब्रों के पास से नील नदी की एक धारा प्रवाहित होती है। क़ब्रों तक जो रास्ते जाते हैं उनकी दीवारें बहुत ही सुंदर चिकने पत्थरों की बनी हैं जिन पर अनेक चित्र चित्रित हैं। इन रास्तों में, मानो छत को आधार देते हुए-अनेक सुंदर सुंदर स्तंभ बने हुए हैं। ये रास्ते सीधे सपाट नहीं, किंतु चक्करदार हैं, मानों वे भूल भुलैया हों। इसी आशय से ऐसा किया गया है कि कोई प्राणी फेरों की क़ब्रों तक न पहुंच सकें और किसी प्रकार की चोरी न कर सकें। वे कमरे जो कि क़ब्रें हैं, और भी अधिक सुंदर हैं-दीवारें अनेक चित्रों से चित्रित हैं। एक कमरे में एक बहुत ही सुन्दर बने कफन में राजा के शव की ममी रक्खी हुई है, दूसरे कमरे में रानी की। कमरों में अनेक बहुमूल्यवान आभूषण, सुन्दर कलापूर्ण बर्तन, हथियार, कपड़े, घड़ों में खाद्य-पदार्थ रक्खे हुए हैं जिससे कि राजा या रानी को अपने मृत्यु के उपरांत स्वर्गिक जीवन में किसी भी चीज की कमी न रहे। कमरे में वाद्ययंत्रों के बनाने वालों की, संगीतज्ञों की, तथा अन्य सहचारियों की मूर्तियां भी हैं जिससे स्वर्गिक जीवन में राजा को आनंद के सब साधन उपलब्ध हों। प्रत्येक पिरामिड

के पास ही उस फेरो का मंदिर है जिस फेरो का वह पिरामिड है। ये मंदिर "स्तम्भों (Pillars) के आधार पर स्थित छत"-इस शैली के बने हुए हैं। स्थापत्य कला की इस शैली में से ही वह शैली विकसित हुई जिसके अनुसार बाद में ग्रीस के मंदिर बने।

ममी (Mummies)

मृत शरीर को कई भागों में से चीरकर उसके हृदय, मस्तिष्क, तथा अन्य कई अवयवों को सूक्ष्म यंत्रों से निकाल लिया जाता था, एवं उस शरीर के आंतरिक भागों को कई दवाइयों एवं सुगंधित पदार्थों से साफ किया जाता था एवं धोया जाता था। फिर उसमें स्वर्ण धातु, एवं अनेक सुगंधित पदार्थ भरकर उसे ठोस बना दिया जाता था और फिर एक स्वच्छ महीन लम्बे कपड़े में उस शरीर को खूब लपेट दिया जाता था। चेहरा पेंट कर दिया जाता था और ऊपर से इस प्रकार चित्रित कर दिया जाता था मानो वह राजा की ही प्रतिमूर्ति हो। इस प्रकार मृत शरीर की ममी बनाकर श्रेष्ठ लकड़ी या धातु के बने हुए कफन (संदूक) में वह ममी रखदी जाती थी। कफन पर चारों ओर राजा के जीवन के महत्त्वपूर्ण कार्य एवं उसकी जीवनी उनकी भाषा में अंकित करदी जाती थी।

हजारों वर्षों के पुराने राजाओं की उन प्रतिमूर्तियों को, एवं उस काल के इतिहास को सुरक्षित रक्खे हुए मिश्र के ये

विशाल पिरामिड वास्तव में अद्भुत हैं। प्रसिद्ध अंग्रेजी कवि विलियम मोरिस की कविता "दी राईटिंग ओन दी इमेज" में पिरामिडों के अन्तर भाग में रक्खी हुई मूर्तियों, चित्रों एवं धन वैभव का ही कल्पना-चित्र मालूम होता है।

इनका धर्म, इनके मन्दिर और देवता

प्राचीन मिश्र के इन लोगों की आरंभ में कई स्वतंत्र जातियाँ थीं-प्रत्येक जाति का अपना अपना एक भिन्न देवता होता था। लोगों की ऐसी कल्पना थी कि इन देवताओं का धड़ मानव शरीर जैसा होता था, किन्तु ऊपरी भाग अथवा सिर मुँह किसी जानवर का होता था-जैसे किसी देवता का मुँह बन्दर का होता था, किसी का हिप्पोपोटेमस (Hippopotamus) का, किसी का बाज का, किसी का बिल्ली एवं किसी का गीदड़ का। इन देवताओं की खुशी और नाराजगी पर ही लोगों का सुख दुख निर्भर करता था-अतएव उनको खुश करने के लिये उनकी पूजा होती थी और उनको भेंट चढाई जाती थी। उस जमाने के लोगों का कुछ ऐसा ही विश्वास बना हुआ था। इन देवताओं के सब मानवीय संबंधों की भी कल्पना की जाती थी; देवताओं की स्त्रियां होती थीं, बच्चे होते थे-इत्यादि। इन जातियों में परस्पर युद्ध होता रहता था और विजित जाति को विजेता जाति के देवता को मान्यता

देनी पड़ती थी । भिन्न भिन्न जातियों में लड़ाई होते होते, ऐसा अनुमान है कि सन् ४३०० ई० पू० तक मिश्र में केवल दो जातियाँ रह गई थीं, शेष सब इन्हीं ही जातियों में घुल-मिल गई थीं, और समस्त मिश्र प्रदेश केवल दो राज्यों में विभक्त था--उत्तरी मिश्र एवं दक्षिणी मिश्र। उत्तरी मिश्र में उस जाति का राज्य था जिसका देवता (Totem) सर्प (Uraens) था; दक्षिण मिश्र में शासन करने वाली जाति का देवता (Totem) होरस (Falcon God) था। अन्त में उत्तर एवं दक्षिण मिश्र के दोनों राज्य भी मिलकर एक संयुक्त राज्य बन गये। इस प्रकार के लेख मिलते हैं कि उत्तर और दक्षिण मिश्र के संयुक्त राज्य का प्रथम शासक मेनी (Menes) था। इस प्रकार शासन क्षेत्र में परिवर्तन के साथ साथ और समस्त मिश्र का एक फेरो (शासक) स्थापित होने के साथ साथ राज धर्म में भी परिवर्तन हुआ--और एक राज्य की स्थापना होते ही केवल एक देवता का आधिपत्य हो गया। इस देवता का नाम "रे" देवता (सूर्य्य देवता) था--और इसी 'रे' देवता को सर्वोपरि देवता माना जाता था। इस रे देवता के अन्य भी कई नाम थे--जैसे आतन, ओसिरिस ताह, आमन इत्यादि। यही देवता मिश्र को धन धान्य एवं समृद्धि देने वाला था। यद्यपि मिश्र के शासकों में इस सर्वोपरि देवता की मान्यता बढ़ गई, किन्तु साधारण जन, साधारण

किसान का विश्वास तो उन पुराने भिन्न भिन्न देवताओं में ही बना रहा जिनको वे मिश्र में एक एकाधिपत्य राज्य स्थापित होने के पूर्व, अपना सखा, स्वामी और भाग्य-विधाता मानते आये थे। मिश्र के फिरो अपने आपको उपर्युक्त रे (सूर्य्य) देवता की ही संतान मानते थे--और वे सूर्यवंशी कहलाते थे। दक्षिण मिश्र का एक प्रमुख देवता चंद्र (?) था-एवं अनेक शासक अपने आपको चंद्रवंशी मानते थे। इसी एक बात को आधार बनाकर प्रसिद्ध "मानव--विकास" शास्त्रवेत्ता पेरी महाशय ने यह अनुमान लगाया है कि यही मिश्र से ही चीन, भारत एवं समस्त अन्य प्राचीन सभ्यताओं के शासकों में अपने आपको सूर्य या चंद्रवंशी राजा कहने की प्रथा चली।

इन भिन्न भिन्न विचित्र विचित्र देवताओं की मूर्तियों की स्थापना के लिये—जिनको खुश करने से, जिनकी पूजा करने से, जिनको भेंट चढ़ाने से वे प्रसन्न होते थे और लोगों को सुख समृद्धि देते थे—जिनके नाराज होने से लोगों को आफत और दुःख का सामना करना पड़ता था—बड़े बड़े विशाल और सुन्दर मन्दिर बनाये जाते थे। इन मन्दिरों में यह एक विशेष बात देखी गई है कि मन्दिर के अंतरिम भाग जिसमें मूर्ति होती थी, उसका द्वार ज्योतिष गणना के अनुसार किसी निश्चित दिशा की ओर बना होता था, जिससे कि वर्ष के

निश्चित दिनों में यथा (२१ मार्च एवं २१ सितम्बर जिस रोज दिन और रात बराबर होते हैं) सूर्य की किरणें द्वार में से होती हुई सीधी मूर्ति के ऊपर पड़ें। किसी किसी मन्दिर का द्वार किसी निश्चित नक्षत्र की ओर अभिमुख करके बनाया जाता था। मन्दिर के आंतरिक भाग में मूर्ति की स्थापना होती थी—मूर्ति के सामने एक वेदी होती थी, जिस पर भेंट या बलि चढ़ाई जाती थी। सभ्यता के प्रारंभ के साथ ही साथ इन मन्दिरों का भी प्रारम्भ हुआ। मन्दिरों में ये मूर्तियाँ पत्थरों या धातुओं की बनी होती थीं—इन मूर्तियों को या तो स्वयं देवता समझ लिया जाता था या देवताओं का प्रतीक । मन्दिरों से संबंधित एवं देवताओं की पूजा से संबंधित अनेक पुजारी, मन्दिरों के कर्मचारी इत्यादि होते थे। इन पुजारी लोगों की अपनी पृथक ही एक स्वतन्त्र जाति होती थी जिसका समाज में बहुत ऊँचा स्थान था । इन पुजारी लोगों का मुख्य काम मन्दिरों में देवताओं की पूजा तथा भेंट चढ़ाना ही होता था। विशेष विशेष अवसरों पर—जैसे बीज बोने के समय या धान पक जाने के बाद धान काटने के समय, विशेष सामूहिक पूजा और भेंट अर्पण का समारोह होता था। इन पूजाओं के निश्चित दिनों के आसरे से ही सर्व साधारण लोग जानते थे कि अब तो बीज बोने का समय आगया—अब धान काटने का—इत्यादि । किन्तु उस ज़माने में मन्दिरों और पुजारियों का महत्त्व उक्त बातों के

अतिरिक्त और भी कई बातों में होता था। इन्हीं मन्दिरों में राजाओं का तथा ज़माने की महत्त्वपूर्ण घटनाओं का वृतान्त सुरक्षित रक्खा जाता था—मन्दिरों में ही दीवारों पर चित्र अंकित किये जाते थे, जो उस काल की कला और इतिहास पर प्रकाश डालते हैं। दीवारों पर ऐसे अनेक चित्र अंकित हैं जिनमें किसी राजा को विजय यात्रा करके लौटता हुआ दिखाया गया है, और कहीं देवता राजा को आशीर्वाद दे रहे हैं। इन्हीं मन्दिरों में लेखन कला का प्रारम्भ हुआ एवं सूर्य और नक्षत्रों की चाल और काल गणना के विज्ञान का आरम्भ हुआ। पुजारी लोग केवल पूजा कर देना और भेंट चढ़ा देने का ही काम नहीं करते थे–किन्तु वे बीमारों का इलाज भी करते थे एवं जादू टोने के द्वारा व्यक्तियों को सुख समृद्धि दिलवाने का प्रयत्न भी करते थे। प्राचीन काल में ज्ञान, विद्या, साहित्य, इतिहास के केन्द्र ये मन्दिर ही थे। साधारण जनता तो भोली, अशिक्षित, एवं अज्ञानाधंकार में ही अपना जीवन बिताती थी।

मिश्र के एक प्रसिद्ध फेरो (इरवनातन या अमेनोफिस चतुर्थ) ने जिसका शासन काल १३७५ ई. पू. से प्रारंभ हुआ माना जाता है, लोगों के धार्मिक विश्वास में एक क्रान्तिकारी परिवर्तन करने का प्रयास किया। उसने यह घोषित किया कि फेरो देवताओं के वंशज नहीं किंतु साधारण लोगों की तरह

मानवी लोग ही हैं। इसने अपनी पूर्वजों की प्राचीन राजधानी थीबीज (मिश्र में) को छोड़ दिया और एक नई राजधानी बसाई जिसका नाम तलअलअमरना था। इसका साम्राज्य ठेठ मिश्र में सुदूर दक्षिण भाग से लेकर मेसोपोटेमिया में यूफ्रीटीज नदी तक फैला हुआ था। इसने इन सब राज्यों के भिन्न भिन्न देवताओं के मंदिरों को बंद करवा कर, केवल एक देवता आतन की पूजा का प्रचलन करना चाहा। 'आतन' (Aton) सूर्य का ही दूसरा नाम था। राजाओं, पुजारियों और लोगों का यही विश्वास था कि भिन्न भिन्न देवता जिनकी शकल सूरत मूर्तियों में अंकित थी-वैसी शकल सूरत वाले देवता वास्तव में ऊपर देवलोक में रहते थे। किंतु प्रसिद्ध शासक इखनातन ने उस प्राचीन काल में सबसे पहिले यह विचार रक्खा कि आतन (सूर्य देवता) साकार रूप में विद्यमान नहीं (अर्थात् उस रूप में, जिस रूप में उस देवता की मूर्तियाँ मन्दिरों में स्थापित थीं)--यह तो सूर्य की शक्ति का नाम मात्र है यह शक्ति सर्व सम्पन्न है--यह देवता सर्वशक्तिमान है--और यही शक्ति इस पृथ्वी और इसके जीवों का संचालन कर रही है। इन भावों को व्यक्त करते हुए इखनातन ने अनेक संगीतमय पद भी बनाये थे जो आज भी प्राचीन मिश्री भाषा में लिखे हुए मिलते हैं। इखनातन की गणना हम संसार के बुद्ध और ईसा जैसे महान व्यक्तियों में कर सकते हैं। उसके अनेक पदों के भावों की छाया

ईसाइयों की बाइबल और मुसलमानों की कुरान में मिलती है। अनेक वाक्य यों के यों बाइबल और कुरान में मिलते हैं। इस्लाम के क़लमे के वाक्य "एक अल्लाह के सिवाय दूसरा अल्लाह नहीं है और मोहमद उसका भेजा हुआ रसूल है," ज्यों के त्यों इखनतान के भजनों में मिलते हैं; केवल अल्लाह की जगह आतन (सूर्य देव) शब्द है और मोहम्मद की जगह इखनातन। किन्तु इखनातन के उदात्त भावों को सर्व साधारण बिल्कुल भी नहीं समझ सके, ग्रहण करना तो दूर रहा। वास्तव में देखा जाये तो आज भी सर्व साधारण का मानसिक विकास प्राय: उसी स्तर का है जिस स्तर का आज से ८-६ हजार वर्ष पूर्व प्रारंभिक सभ्यता काल के मानव का था।

सामाजिक संगठन

समाज में सर्वोपरि तो फेरो (शासक) होता ही था। मिश्र में फेरो का पद केवल एक शासक या पुजारी के ही समान नहीं होता था, जैसा की सुमेर और असीरिया में था। मिश्र में तो फेरो स्वयं एक देवता या देवता का वंशज माना जाता था और इसीलिये राजघराने में ही राजा का विवाह हो सकता था—क्योंकि साधारण लोग तो देवताओं के वंशज थे नहीं। किस प्रकार मिश्र के राजा इस असाधारण मान्यता तक पहुँचे कुछ कहा नहीं जा सकता। इन फेरों की शक्ति निरंकुश

(Absolute) होती थी। कोई भी उनकी इच्छा के विरुद्ध नहीं जा सकता थ। तभी तो यह संभव हो सका कि अनेक शासक लोग लाखों आदमियों को वर्षों तक काम में लगाकर वे महा-विशाल स्तूप (पिरामिड) बनवा सके। फेरो के नीचे उन्हीं के वंशज राजकुमार होते थे जो फेरो के आधीन रह कर भिन्न भिन्न प्रांत या प्रदेशों का राज्य करते थे, या केन्द्रीय शासन व्यवस्था में ही उच्च पदाधिकारी होते थे। शासन चलाने के लिये अनेक प्रकार के करों की व्यवस्था थी एवं अनेक नियम बने हुए थे। कर न देने वालों को या नियम भंग करने वालों को कड़ी सजा दी जाती थी।

पहिले तो शासक लोग ही मन्दिरों के पुजारी होते थे किन्तु शासन व्यवस्था जटिल होने से और शासकों के राजकीय काम में अधिक व्यस्त होने से, पुजारी पुरोहित लोगों की एक जाति ही अलग बन गई थी। इन पुजारी लोगों का धार्मिक मामलों में लोगों से सीधा सम्पर्क था, और इसी की वजह से बड़े बड़े मन्दिरों के पुजारियों की लोक-शक्ति भी कम नहीं थी-कभी कभी इन पुजारियों की मदद और सहयोग के बिना शासन चलाना कठिन हो जाता था। ऐसे भी विवरण मिलते हैं कि पुजारियों के मन्तव्य के अनुकूल चलने वाले राज्य घराने के किसी विशेष व्यक्ति के पक्ष में शासकों के विरुद्ध षड़यंत्र भी

चलते थे। किंतु मिश्र के फेरों में एवं वहां के मन्दिर के पुजारियों में प्रायः किसी प्रकार का विरोध या द्वन्द्व नहीं हुआ।

फेरो, पुजारी, एवं राज्य कर्मचारी लोग उच्च वर्ग के लोग थे। ये लोग बहुत ही अमीरी ढ़ंग से रहते थे। अनेक लोग इनके नौकर एवं गुलाम होते थे। इन लोगों के रहने के लिये सुन्दर सुन्दर महल और मकान बने हुए थे। जिनमें ऐहिक जीवन के सुख और आनंद की सभी सामग्रियां संग्रहीत रहती थीं। मकानो में अलग अलग पाखाने, स्नान घर होते थे। स्त्रियों के शृङ्गारके लिये अनेक सुगंध पूर्ण साधन विद्यमान थे। महीन सुन्दर सुन्दर कपड़े पहिने जाते थे एवं स्वर्ण और मोतियों के आभूषण धारण किये जाते थे। ऐशो आराम में जिन्दगी बीतती थी।

इस उच्चवर्ग के उपरान्त, व्यापारी, उद्यम उद्योग करने वाले एवं खेतीहर लोग थे। सीरीया, जूडिया, फारस, भारतीय समुद्र तट, मेसोपोटेमिया, अरब आदि देशों से सूखे और सामुद्रिक रास्तों से व्यापार होता था। सोना, मोती, हाथी दांत, तांबा, लकड़ी इत्यादि का आयात होता था एवं गेहूँ, जौ का निर्यात होता था। शिल्पी लोग सुन्दर सुन्दर मिट्टी के बर्तन, घड़े, इत्यादि बनाते थे, उन पर पोलिश एवं रंग किया जाता था, रुई के कपड़े बुने जाते थे, खदानों में काम किया जाता था

एवं धातुओं के बर्तन बनाये जाया करते थे। मिश्र में विशेष काम कांच का होता था-यहां की कांच की बनी चीजें बेबीलोन के बाजार में खूब बिकती थीं। इन शिल्पी लोगों का समुदाय राजाओं एवं अन्य बड़े बड़े घरानों के चारों ओर इकट्ठा होजाता था और उन्हीं उच्चवर्ग के लोगों के लिये और सर्वथा उन्हीं के आधीन इन लोगों का काम चलता रहता था।

समाज का सबसे बड़ा वर्ग तो किसान लोगों का ही था-जो खेती करते रहते थे, देवताओं में भोला विश्वास रखते थे, राजाओं या प्रान्तीय शासकों को कर देते थे, और अशिक्षित और गरीब बने रहते थे। इन्हीं किसानों में से या दक्षिण अफ्रीका की कुछ विजित जातियों में से जैसे नेबूआ के लोग, या युद्धों में पकड़े हुए कैदी, गुलाम वर्ग के लोग होते थे, जिनमें से शासकों के लिये सेना बनती थी, तथा वे और निम्न काम भी करते थे।

उच्चवर्ग के लोगों में स्त्री का बहुत सन्मान होता था, इनकी स्वतंत्र सम्पति होती थी। धनीवर्ग में बहु पत्नीत्व का प्रचलन था किंतु स्त्री को तलाक का अधिकार था। मिश्र में कई स्त्री शासक एवं विजेता भी हुई हैं, जिनमें सबसे प्रसिद्ध जो शासक हुई उसका नाम था हेतशेपसत। इस स्त्री शासक के राज्यकाल में मिश्र बहुत ही समृद्धिशाली रहा और राज्य भर में सुख और शांति रही।

इस प्रकार ईसा के प्राय: ५ हजार वर्ष पूर्व से प्रारंभ होकर लगभग ४५०० वर्षों के अरसे तक यह प्राचीन सभ्यता, यह एक प्राचीन जाति उदय होकर, खिलकर, एवं विकसित होकर अंत में समय के गर्त में विलीन होगई। उन ४-५ हजार वर्ष के विशाल काल की तुलना में तो अपना आधुनिक मशीन युग जो अभी १५० वर्ष ही पुराना है नहीं के बराबर है। जो आधुनिक युग की गति है, उससे तो कौन जाने ४-५ हजार वर्षों में मानव कहाँ तक पहुँच जाये।

—:※:—

१६

मोहेंजोदारो हरप्पा

प्राचीन सिन्धु सभ्यता

भारत में सिन्धु प्रान्त के लरकाना नामक स्थान पर, सिन्धु नदी से हटकर पच्छिम में कुछ रेतीले टीले हैं। इन टीलों का नाम आसपास के सिन्धु निवासियों में "मोहेंजोदाड़ो" प्रचलित है—जिसका अर्थ है "मुर्दों का टीला"। इन टीलों पर स्थित एक बौद्ध बिहार तथा स्तूप के संबंध में भारतीय पुरातत्त्व विभाग के द्वारा सन् १९२२ ई० में कुछ खुदवाई हो

रही थी। खुदाई होते होते अचानक प्रागैतिहासिक युग की कुछ मुद्रायें मिलीं। ऐसी ही अनेक मुद्रायें पंजाब में मौंटगोमेरी जिले के हड़प्पा नामक गांव में कुछ वर्ष पूर्व मिली थीं। इन बातों से प्रभावित होकर मोहेंजोदाड़ो में विशेष खुदाई के लिये पुरातत्त्व विभाग द्वारा एक विशेष योजना बनाई गई एवं सन् १६२२ से लेकर कुछ वर्षों तक मोहेंजोदाड़ों एवं सिन्ध के कई अन्य स्थानों पर, पंजाब में हरप्पा एवं बलूचिस्तान के कई स्थानों पर खुदाई की गई, और उसके फल स्वरूप एक प्राचीन सभ्यता का निश्चित रूप से पता लगा। पुरातत्त्ववेत्ताओं ने इस सभ्यता का नाम "मोहेंजोदाड़ों तथा हड़प्पा" की सभ्यता अथवा "प्राचीन सिन्धु सभ्यता" रक्खा। खोजों के आधार पर यह स्थित हुआ कि उन स्थानों में जहां आजकल सिन्ध, बलुचिस्तान, तथा दक्षिण पच्छिमी पंजाब स्थित हैं, प्राचीन काल में एक बहुत ही विकसित अवस्था की सभ्यता विद्यमान थी। मोहेंजोदाड़ों एवं हड़प्पा उस प्राचीन काल में उन प्रदेशों के बहुत ही सुन्दर ढंग से बने हुए समृद्धिशाली नगर थे, जो संभव है उन प्रदेशों की राजधानियां रहे हों। मोहेंजोदाड़ों में प्राप्त अवशिष्ट चिन्हों से यह धारणा बनाई गई है कि मोहेंजोदाड़ो नगर का प्रारम्भिक काल ३२५० ई. पू. था— इसीकाल में वह नगर पूर्ण विकसित रूप में था। इससे यह तो अनुमान लगाया जा सकता है कि ईसा के प्रायः ४–५ हजार वर्ष पूर्व इस सभ्यता

का आरम्भ वहां होगया होगा। इन नगरों के विकास और सभ्यता के अवशेष प्राय: २७५० ई. पू. तक के मिले हैं। प्राय: कुछ वर्ष इधर उधर इसी काल तक के अवशेष चिन्ह हरप्पा तथा दूसरे स्थानों पर मिलते हैं। इससे यह अनुमान लगाया जाता है कि प्राय: २५०० ई. पू. में ये नगर ध्वस्त और विलीन होगये थे—इनके अचानक ध्वस्त और विलीन होने के कई कारण हो सकते हैं—सिन्धु नदी में भयंकर बाढ़ों का आना; जलवायु में असाधारण परिवर्तन, विशेषतय: मौसमी हवाओं के रुख बदलने से, उसके फल स्वरुप वर्षा कम होने से एवं शनै: शनै: बालूओं के टीलों द्वारा भूमि ढक जाने से। प्राचीन मेसोपोटेमिया एवं मिश्र की सभ्यताओं का लोप तो उत्तर से सेमेटिक तथा आर्यजाति के लोगों के आक्रमण द्वारा हुआ—किन्तु सिन्धु प्रदेश में भी ऐसे कोई आक्रमण हुए हों इसके कोई भी चिन्ह नहीं मिलते हैं। इसका लोप तो स्यात् प्रकृति के हाथों द्वारा ही हुआ।

कौन ये लोग थे जिन्होंने सिन्धु सभ्यता का विकास आज से ५–६ हजार वर्ष पूर्व किया और कैसी यह सभ्यता थी ? यद्यपि इस सभ्यता का विकास भारत में सिन्धु नदी की उपत्यका में हुआ, किन्तु यह भारतीय आर्य सभ्यता नहीं थी। जिन लोगों ने इस सभ्यता का विकास किया वे भी आर्य नहीं

थे—इतना तो निश्चित पूर्वक कहा जा सकता है। यह सभ्यता मिश्र और सुमेर सभ्यता की समकालीन थी और बहुत सी बातों में यहां का रहन सहन, मन्दिर, पूजा आदि का ढंग सुमेर की सभ्यता से मिलता है। वास्तव में ऐसा मालूम होता है कि उस काल में पच्छिम में भू-मध्यसागर तटवर्ती प्रदेशों से लेकर, यथा मिश्र, एशिया माइनर, सीरिया से लेकर इलम (प्राचीन ईरान), मेसोपोटेमिया और फिर मोहेंजोंदाड़ो और हरप्पा एवं दक्षिण भारत,—और फिर सुदूरपूर्व में चीन के तटवर्ती प्रदेशों तक जिस नव-पाषाण युगीय (खेती, पशुपालन, मन्दिर, पुजारी और पूजा) सभ्यता का प्रसार था—और जिसके तदन्तर मिश्र में मिश्र सभ्यता का विकास हुआ, मेसोपोटेमिया में सुमेर, बेबीलोन, असीरीया सभ्यता का विकास हुआ, उसी प्रकार सिन्धु प्रान्त में सिन्धु नदी की उपत्यका में मोंहेंजोदाड़ो और हरप्पा (सिन्धु सभ्यता) का विकास हुआ। यह भी निश्चित है कि इन सब देशों का परस्पर सम्पर्क था और इन में व्यापार एवं सांस्कृतिक विनिमय होता रहता था। ये सब सभ्यतायें नगर-प्रधान एवं व्यापार प्रधान थीं। इन्हीं बातों से अनुमान लगाया जाता है कि सिन्धु सभ्यता वाले उसी जाति के लोग थे, जिस जाति के सुमेरियन लोग थे। इन सभी लोगों का कद मध्यम, शरीर पुष्ट और वर्ण कुछ भूरासा (काला गोरा मिश्रित या गहरा बादामी) था। कुछ विद्वान इन लोगों को भारत के द्रविड़ लोगों

से सम्बन्धित मानते हैं जो केवल दक्षिण भारत में नहीं किन्तु उत्तर भारत और सिन्धु प्रान्त में भी फैले हुए थे। कुछ भारतीय विद्वानों का यह भी मत है कि सप्त-सिन्धव से आर्य दस्यु एवं वृत लोग जो अपने आदि (Original) घर को छोड़कर इधर उधर फैले, उन लोगों का भी प्रभाव सिन्धु सभ्यता वाले लोगों पर पड़ा। जो कुछ हो जिस प्रकार प्राचीन मिश्र, मेसोपोटेमिया, एवं चीन के लोगों की आदि उत्पत्ति (Origin) के विषय में कुछ निश्चित पूर्वक नहीं कहा जासकता वैसे ही मोहेंजोदाड़ो हरप्पा के लोगों की उत्पत्ति (Origin) के विषय में कुछ भी निश्चितपूर्वक नहीं कहा जासकता।

जीवन तथा रीति रस्म

सिन्धु प्रान्त में गेहूँ, जौ और सम्भवतः चावल की भी खेती होती थी पशुओं के दूध, घी से लोग परिचित थे। पालतू पशुओं में बैल, भैंस, भेड़, हाथी, कुत्ता, ऊंट तथा जङ्गली पशुओं में हिरन, नीलगाय, बन्दर, भालू, खरगोश आदि के अवशेष चिन्ह मिले हैं। हरी तरकारी, शाक भाजी, मिठाई, मछली, मांस इत्यादि भी लोगों के भोजन का अंग था। इन सब बातों का पता खुदाई में प्राप्त वस्तुओं के आधार पर मिला है। खुदाई में बड़े बड़े पोलिश किये मिट्टी के घड़े जिनमें अनाज रक्खा जाया करता होगा, तस्तरियाँ, प्याले, थाली, चम्मच,

आदि बड़ी संख्या में मिले हैं, जिनसे यह भी अनुमान किया जाता है कि त्यौहार, विवाह इत्यादि के अवसर पर दावतें भी होती होंगी। कताई, बुनाई की कला में ये लोग बहुत ही प्रवीण मालूम होते हैं। कपास, रेशम, और ऊनी कपड़ों का प्रचलन था। पुरुष लोग तो केवल एक शाल की तरह का कपड़ा शरीर पर लपेट लेते थे--गरीब लोग साधारण कपड़े पहिनते थे, एवं धनी लोग सुन्दर कला-पूर्ण कपड़े तरह तरह से केश-रचना करने का इन लोगों में बड़ा शोक था। पुरुष सुमेरियन लोगों की तरह छोटी छोटी दाढ़ी रखते थे—ओंठ का ऊपरी भाग प्रायः साफ़ रहता था—दोनों ओर से चलने वाले अनेक उस्तरे मिले हैं। इन लोगों के कला प्रेम का सर्वोत्तम उदाहरण उनके आभूषणों से ज्ञात होता है। स्त्रियों के अतिरिक्त बच्चे भी आभूषण पहिनते थे। सब देवी देवताओं की मूर्तियां आभूषणों से लदी हुई रहती थीं। ये आभूषण स्वर्ण के होते थे, किन्तु ग़रीब लोग लाल पकी हुई, पोलिश की हुई मिट्टी के आभूषण पहिनते थे। कुछ आभूषण हाथी दांत के भी होते थे। स्त्रियों के शृङ्गार के लिये अनेक प्रासाधन विद्यमान थे—लकड़ी और हाथी दांत के कंघे, लाल चमकीले रंग की अनेक डिब्बियाँ जिनमें चेहरे पर श्वेत तथा गुलाबी आभा लाने के लिये कुछ पाउडर से रक्खे होते थे,—इत्यादि अनेक वस्तुयें खुदाई में मिली हैं। शृङ्गार के ऐसे ही प्रासाधन सुमेर तथा मिश्र के लोगों में भी प्रचलित थे।

बच्चों के खेल के लिये अनेक खिलौनों के अवशेष भी मिले हैं। अनेक प्रकार के लैम्प तथा मिट्टी के दीपकों का प्रयोग होता था।

गाड़ी तथा रथों का प्रचलन था। ये लकड़ी, ताम्बे, इत्यादि की बनी हुई होती थीं। स्यात् गदहे एवं बैल इनको खींचते थे-घोड़ों से ये लोग अभी अनभिज्ञ थे। गाड़ी और रथों का प्रचलन मिश्र और सुमेर में भी था। ये लोग पशु पक्षियों का शिकार भी करते थे--धनुषबाण इन लोगों का प्रमुख अस्त्र था। पत्थर की गोलियों और गुलेल का प्रयोग भी ये लोग करते थे। इनके अतिरिक्त अन्य औजार तथा हथियार जैसे तलवार, आरियां, दरातियां, हंसिये इत्यादि भी मिले हैं। पशु पक्षियों को लड़ाना, उनके अनेक प्रकार के खेल, फल के, पासों तथा गिट्टियों से खेले जाने वाले खेल,—ये उन लोगों के प्रमोद के मुख्य साधन थे।

स्थापत्य तथा नगर निर्माण कला

मोहेंजादाड़ों की नगर निर्माण प्रणाली वास्तव में बहुत सुविकासित एवं प्रौढ़ थी। कुछ विद्वानों का मत है कि ऐसी उत्तम प्रणाली संसार के अन्य किसी प्राचीन देश में देखने को नहीं मिलती। नगर में चौडी चौड़ी सड़कें थीं, किसी सुनिश्चित योजना के अनुसार गलियाँ तथा मकान बने थे,

सफाई के लिये नाली–प्रणाली (Gutter System) थी। मेसोपोटेमिया के इश्नूना नगर में भी नालियों का अच्छा प्रबंध था, किन्तु मिश्र के नगरों की नालियाँ इतनी वैज्ञानिक और सुन्दर नहीं थीं। नगर में बड़े बड़े स्नानगृह तथा शौचगृह भी सुनिश्चित स्थानों पर पबलिक के लिये बने हुए थे। कूड़ा करकट इत्यादि डालने के लिये स्थान स्थान पर कूड़े खाने (Dust Bins) रक्खे हुए थे। सुमेर और मिश्र में धनिकों के घरों पर तो स्नानागृह बने हुए थे, किन्तु नगरों में सर्व साधारण के लिये कोई स्नानागृह नहीं बने हुए थे, इससे अनुमान होता है कि सिन्धु सभ्यता में नागरिकता का भाव अधिक विकसित था।

मोहेंजोदाड़ो और हरप्पा नगरों की इमारतें प्रायः २ खंड की हैं। इन मकानों में पकाई हुई ईंटें प्रयोग में लाई गई हैं। मिश्र की तरह पत्थर का प्रयोग नहीं है। मेसोपोटेमिया में तो अधिकतर कच्ची ईंटें ही दीवारों के लिये प्रयुक्त होती थीं। वहां केवल स्नानागृहों और शौचगृहों में पकाई हुई ईंटों का प्रयोग हुआ है। दीवारों पर पलस्तर प्रायः मिट्टी का ही होता था। मकानों की छत पीटी हुई मिट्टी, अथवा कच्ची या पकी हुई ईंटों की होती थी। छतों में कड़ियों का प्रयोग बहुत होता था। पानी के लिये कूंए बने थे–इन कूओं की

दीवारें मजबूत ईंटों की बनी हैं । ईंटें इतनी सफाई के साथ चुनी गई हैं कि खुदाई में प्राप्त कूंए साफ किये जाने पर आज भी खूब काम दे रहे हैं । नगरों, एवं मकानों के इस सुन्दर प्रबंध को देखकर ऐसा अनुमान होता है कि कोई उच्च संस्था नगर का प्रबंध करती होगी ।

कला कौशल

सिन्धु प्रांत में सैंकड़ों मृण्मूर्तियां (मिट्टी की मूर्तियां) प्राप्त हुई है । अनेक मुद्रायें तथा ताबीज प्राप्त हुए हैं, एवं असंख्य मिट्टी के बर्तन जिन पर सुन्दर पालिश किया हुआ है। ये मिट्टी की मूर्तियां विशेषतयः बच्चों के खिलौने, और मन्दिरों और देवताओं को भेंट की जाने वाली, तथा पूजा की ही मूर्तियां है। देवताओं की मूर्तियों में अधिकतर "मातृ देवी" की मूर्त्ति मिली है। मिट्टी के बर्तनों की कला बहुत ही सौष्ठ तथा विकसित थी। मिट्टी के बर्तन दो प्रकार के थे-एक वर्ग के बर्तनों पर पतले, हल्के लाल पीले रंग की पालिश होती थी । इन पर रेखा गणित के वृत्तों या कोणों की कारीगरी की हुई है। दूसरे वर्ग के बर्तन अच्छी तरह पकाई चमकीली मिट्टी के होते थे। बर्तनों पर चित्रकारी बहुत ही सुन्दर है । चित्रकारी में विशेषतयः बेल बूंटे पशु पक्षी, पेड़ पत्तियों की आकृतियां चित्रित की गई है । मिश्र तथा सूसा तथा सुमेर के मिट्टी के बर्तनों पर विशेषतयः मनुष्य आकृति का चित्रण हुआ है ।

मिट्टी के बर्तनों की यह कला जितनी उस काल में सुन्दर थी वैसी तो आज कल भी बहुत कम देखने को मिलती है ।

मोंहेंजोदाड़ों में एक पत्थर की मूर्ति भी प्राप्त हुई है-जिसे कुछ पुरातत्ववेत्ता तो पुजारी की मूर्ति बतलाते हैं, एवं कुछ अन्य पुरातत्ववेत्ता किसी योगी की मूर्ति। इस पुजारी या योगी की मूर्ति की शकल बेबीलोन के पुरोहितों से मिलती है। इसके अतिरिक्त सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण शिल्प की दो मूर्तियाँ हड़प्पा से प्राप्त हुई हैं। इनमें से एक लाल और दूसरी नीले-काले पत्थर की है। इन मूर्तियों का शरीर-सौष्ठव यूनान की मूर्तियों से कम आकर्षक नहीं। यहां की खुदाइयों में कुछ पीतल की नर्तकियों की भी मूर्तियां मिली हैं-जिससे ज्ञात होता है कि इन लोगों में नृत्य कला का भी प्रचलन था-और यह नृत्य-कला काफी विकसित थी। किंतु नृत्य का उस काल में क्या ध्येय था, यह ज्ञात नहीं। मोहेंजोदाड़ों में थोड़ी अलंकृत लाल गोमेदा की गुरियाँ भी प्राप्त हुई हैं। यहां पीतल की भी कुछ वस्तुयें प्राप्त हुई हैं। सिंधु प्रान्त की मुद्राओं तथा पट्टियों पर अंकित आकृतियाँ सिंधु कला के सर्वोतम उदाहरण हैं। इन मुद्राओं पर बैल, भैंस, तथा नीलगाय के चित्रण बहुत ही यथार्थ और सुंदर हैं।

रुई के कपड़े

उस काल के सभ्य देशों में स्यात् मिश्र को छोड़ कर

अकेले सिंधु प्रांत में ही बुने जाते थे। रुई के सूत के बड़े बड़े सुन्दर ढंग के कई डिजाइनों के कपड़े बनते थे-और मिश्र और बेबीलोन के बाजारों में बिकते थे। अन्य देशों में तो विशेषतय: ऊन या हैम्प, या रेशम के ही कपड़े बुने जाते थे।

भाषा और लिपि

सुमेर के लोगों की तरह इन लोगों की भी भाषा पर्याप्त विकसित थी। लिपि, जिसमें वह भाषा लिखी जाती थी, सुमेर की लिपि से मिलती जुलती स्यात् एक प्रकार की चित्र लिपि ही थी। विद्वानों ने सुमेर की भाषा और लिपि का तो अध्ययन भी कर लिया है, किंतु सिंधु सभ्यता की भाषा और लिपि पढ़ने में वे अभी सफल नहीं हुए हैं। उनकी लिपि का रहस्य खुलने पर तो अनेक नई बातें इस सभ्यता के विषय में मालूम होंगी, और संभवतः सुमेर और मिश्र की सभ्यताओं पर भी नया प्रकाश पड़े।

धार्मिक-विश्वास

सिंधु प्रांत के लोगों के धर्म का स्वरुप निश्चित रुप से ज्ञात नहीं। इतना अनुमान लगाया जाता है कि इन लोगों ने भी मिश्र एवं मेसोपोटेमिया की तरह विशाल विशाल मंदिर-भवन बनवाये थे। ये लोग मूर्तियों की स्थापना अपने भवनों में भी किसी विशेष कमरे में करते रहे होंगे। उस काल की ज्यादातर

मातृदेवी की मृण्मूर्तियाँ मिली हैं। मातृदेवी की पूजा प्राचीन काल में ईजीयन मे सिंधुप्रांत के बीच के सभी देशों में जैसे इलम, फारस, मेसेपोटेमिया, मिश्र तथा सीरीया में प्रचलित थीं। मातृदेवी की पूजा की उत्पत्ति धरती माता की पूजा से ही हुई है-धरती-माता, प्रकृति ही मनुष्यों का पालन-पोषण करती है। मेसोपोटेमिया के कई लेखों से ज्ञात होता है कि मातृदेवी नगर निवासियों की हर प्रकार की व्याधियों से रक्षा करती थी। यूफ्रीटीज, टाईग्रीस, नील और सिंधु नदी के तटों पर रहने वाले लोगों की आजीविका बहुत कुछ खेती पर ही निर्भर थी, फिर यह स्वाभाविक ही है कि वे धरतीमाता, प्रकृतिदेवी,-मातृदेवी को पूजा विशेषतयः करते थे। मातृदेवी की मूर्ति के अतिरिक्त शिव तथा शिवलिङ्ग की भी कई मूर्तियां मिली हैं-एवं शिवजी की त्रिमुखों वाली आकृति कई मुद्राओं एवं ताम्र-पटों पर अंकित मिली है। इससे अनुमान है कि सिंधु प्रांत के लोग शिवजी की पूजा करते थे और स्यात् योग की प्रणालियों से भी परिचित थे। इसके अतिरिक्त फैलिक (लिङ्ग) की पूजा भी होती थी। लिंगों की अनेक प्रकार की मूर्तियाँ मिली हैं। प्राचीन मिश्र, यूनान, रोम में भी बालपीट की पूजा होती थी-बालपीट लिंग सम्प्रदाय से संबंध रखने वाला देवता था। सिंधु प्रान्त में स्यात् शक्ति उपासना भी प्रचलित थी, एवं पशु पूजा भी होती थी। कुछ सभ्यताओं के लोगों का विश्वास था कि मनुष्य रुप में आने से

पहिले देवता पशु रुप में ही पूजे जाते थे। पशुओं में जिनकी पूजा होती थी उनमें सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण तो था बैल, किंतु हाथी, गैंडा, नीलगाय की भी पूजा होती थी। बैल स्यात् सिंधु प्रांत में शिवजी का वाहन माना जाता था। बैल का सिंधु प्रांत में ही नहीं किंतु संसार के सभी प्राचीन सभ्य देशों में धार्मिक महत्व था। ऐसा प्रतीत होता है कि सिंधु प्रांत निवासी वृत्त-पूजा में भी विश्वास रखते थे। नाग पूजा तथा जल पूजा का भी प्रचलन था। स्वस्तिक तथा यूनानी क्रूश का चित्रण भी मुद्राओं तथा धातु की पट्टियों पर दीख पड़ता है। इन चिन्हों का धार्मिक महत्व माना जाता था। स्वास्तिक तथा चक्र के चिन्हों का संबंध सूर्य और अग्नि से माना जाता है-और सूर्य और अग्नि देवताओं के रुप में पूजित रहे हैं। सिंधु प्रांत के निवासियों की तावीजों एवं जादूटोनों पर भी विशेष श्रद्धा थी। इन तमाम बातों से यही अनुमान लगा सकते हैं कि इन लोगों का बुद्धि का विकास, मनन एवं चिंतन का विकास अभी विशेष नहीं हुआ था, तथा बुद्धि, तर्क, विज्ञान एवं दर्शन की गहराइयों को ये प्रारंभिक मानव स्यात् छू भी नहीं पाये थे। नवीन पाषाण युगीय पुजारी, पुरोहितों एवं शनैः शनैः बनते हुए आदिकालीन धार्मिक संस्कारों पर ही इन लोगों की धार्मिक भावना आधारित थी। इन लोगों का जीवन विशेषकर ऐहिक था-ऐहिक जीवन का सुख उच्चवर्ग के लोग-यथा शासक, पुजारी, पुरोहित तथा अन्य धनिक

लोग भोगते थे-किंतु उस सुख में भी "चेतना" अधिक जागृत नहीं थी, चेतन अनुभूति गहरी नहीं थी।

"सिन्धु सभ्यता" आज से लगभग ६-७ हजार वर्ष पूर्व इस सृष्टि के रंगमंच पर आकर, मिश्र, वेबीलोन सभ्यताओं की भांति नटी का सा कुछ क्षणों तक अपना नृत्य करके विलीन होगई, किन्तु उस नटी के नृत्य की कुछ तरंगे आज भी मानो प्रवाहमान हैं—उनका प्रभाव आज भी भारत में विद्यमान है-और वह है मातृदेवी की पूजा, शक्तिपूजा, शिवलिंग, एवं वृक्षों की पूजा जो भारतीय साधारणजन में आज भी प्रचलित हैं।

—०॥०—

१७

क्रीट की माईनोअन सभ्यता, एवं हिट्टी, सीरिया और फीनीसीया के लोग

माईनोअन सभ्यता

कुछ वर्ष पूर्व भू-मध्यसागर में स्थित क्रीट द्वीप में Sir Arthur Evans सर आर्थर इवान्स कुछ ऐतिहासिक

खुदाइयां कर रहे थे। उन खुदाइयों को करते करते वहां पर एक अति प्राचीन सभ्यता के चिन्हों का पता लगा। अब यह माना जाता है कि लगभग उसी काल में जब कि मिश्र की प्राचीन सभ्यता का विकास होरहा था, क्रीट द्वीप में भी एक सभ्यता का उदय होरहा था। इस सभ्यता को इतिहासकार माईनोअन या इजीयन सभ्यता कहते हैं। वे लोग जिन्होंने इस सभ्यता का विकास किया, उसी प्रकार की काले-गोरे मिश्रित जाति के लोग थे जो नवीन पाषाण युग के उत्तरकाल में भू-मध्यसागर के तटवर्ती प्रदेशों में फैले हुए थे, और इन लोगों ने जिस सभ्यता का विकास किया वह स्थानीय भेदों को छोड़कर ऐसी ही थी जिस प्रकार की सभ्यता का विकास मिश्र या मेसोपोटेमिया में हुआ। इस जाति के लोग जिन्होंने इस इजीयन सभ्यता का विकास किया केवल क्रीट द्वीप में ही नहीं रहते थे किन्तु ये लोग दक्षिण इटली, सिसीली, साइप्रस द्वीप, एशिया माइनर, तथा यूनान में भी फैले हुए थे।

ऐसा प्रतीत होता है कि नवीन पाषाण युगीय सभ्यता जिसमें खेती करना, पशु-पालन, देव-पूजा, मन्दिर पुरोहित इत्यादि बातें विशेष थीं और जो पच्छिमी स्पेन से लेकर पूर्व में चीन तक फैली हुई थीं, उसके आधार पर जिस प्रकार मिश्र, मेसोपोटेमिया और सिन्धु प्रान्त में ऐहिकता परक नगर सभ्यता

का विकास हुआ उसी प्रकार क्रीट द्वीप के क्नोसस (Knosos) नगर में भी एक उच्च, सुन्दर नगर सभ्यता का विकास हुआ। क्रीट में यह सभ्यता वैसे तो लगभग ४००० ई. पू. से चली आती होगी, किन्तु इसका सबसे अधिक विकसित रूप २००५ ई. पू. से १४०० ई. पू. तक माना जाता है। इस सभ्यता का केन्द्र "माईनोस का महल" था, जो क्नोसस नगर में बना हुआ था। यह महल २००० ई. पू. में बनाया गया था। इसके अलावा बहुत से अन्य महल "फेइस्टस" पर बने। इन लोगों ने थियेटर्स (खेल तमाशों को देखने के लिय हजारों दर्शकों के बैठने के लिये स्थायी प्रबन्ध) भी बनाये। यहां के शासक लोग माइनोस (Minos) कहलाते थे, जिस प्रकार मिश्र के शासक लोग फेरो कहलाते थे। इनके महल बहुत ही ठाठ बाट के, सुन्दर, किन्तु जटिल ढ़ंग से बने हुए थे—मानो वे भूल भलैया हों। इन महलों में प्रत्येक प्रकार के सुख और आराम का प्रबन्ध था। अलग अलग शौचगृह, स्नानागृह, शृङ्गारगृह, भोजनगृह, शयनगृह इत्यादि बने हुए थे, एवं उनमें पानी के नलों का भी प्रबन्ध था। इन महलों में वे सभी सुख और आराम और वे सभी सजावटें थीं जो बिजली के काम को छोड़कर आधुनिक महलों में पाई जासकती हैं। ये लोग मिट्टी के बर्तन बनाना, कपड़े बुनना, प्रत्येक प्रकार के जवाहरात का काम करना, हाथी दांत और धातुओं की खुदाई का काम करना, चित्रकला एवं

मूर्तिकला, इत्यादि कामों में बड़े निपुण थे। खूब मौज बहार करते थे एवं खेल तमाशों का इन्हें बहुत शोक था।—विशेष-कर साडों को लड़ाना और जिमने शियम की कसरतें करना। इन लोगों की कला-कुशलता और हस्त कौशल इतना विकसित था कि वर्तमान युग के लोगों को भी उनकी कला-कृतियों को देखकर आश्चर्य होता है। ग्रीक साहित्य की एक पौराणिक कथा भी प्रचलित है कि क्रीट के एक व्यक्ति डिडानस ने सर्वप्रथम एक वायुयान बनाकर उसमें उड़ने का प्रयत्न किया था।

ये लोग भी अपनी सम-कालीन अन्य सभ्यताओं के लोगों की तरह अनेक देवी देवताओं की पूजा किया करते थे। मुख्यतय: "प्रकृति देवी" की जो "पशुओं की स्वामिनी" कहलाती थी। इन देवी देवताओं के लिये सुन्दर सुन्दर मन्दिर बने हुये होते थे जिनमें लोग इनकी पूजा करते थे। इनकी कला कृतियों में पूजा के अनेक दृश्य मिलते हैं।

इन इजीयन लोगों का उस काल के सभी सभ्य देशों से यथा मिश्र, बेबीलोन इत्यादि से समृद्धशाली व्यापार चलता था। इन लोगों की एक भाषा भी थी जो अभी तक पढ़ी नहीं गई है इस प्रकार ईसा के लगभग ४००० वर्ष पूर्व से लेकर सुख, शान्ति और चैन में इस सभ्यता का विकास १४०० ई० पू० तक होता रहा। फिर पता नहीं कि क्या परिवर्तन

इन लोगों में हुआ, या क्या इन में क्या कमजोरी इनमें आई कि इस कला-कौशल पूर्ण सभ्यता का बिल्कुल लोप होगया। ग्रीक साहित्य में इस संबंधी एक कहानी मिलती है कि थिसियस नामक एक ग्रीक-हीरो क्रीट द्वीप में उतरा, क्नोसस के शासक माइनोस के भूल भुलैया जैसे सुन्दर महल में वह माईनोस की पुत्री एरीएडनी की सहायता से गया और वहां पर मिनोटौर नामक राक्षस का संहार किया; जिसको खाने के लिये प्रतिदिन ग्रीक नव जवान पकड़कर लाये जाया करते थे। इस कहानी का संकेत यही है कि आर्य्यन शाखा के ग्रीक जाति के लोग जिनका शरीर बहुत सुन्दर और सुडौल होता था क्रीट, साइप्रेस, एशिया माईनर इत्यादि देशों में बढ़े, क्रीटन लोगों को पराजित किया, क्नोसस के महल का विध्वंस किया, उन प्राचीन सभ्यताओ को उखाड़ फैंका और उन सभ्यताओं के खंडहरों पर अपनी ही सभ्यता का प्रस्थापन किया। क्रीट में क्नोसस के वे सुन्दर सुन्दर आश्चर्य जनक महल जिनके अवशेष चिन्ह अभी अभी ऐतिहासिक खुदाइयों में मिले हैं, उस प्राचीन माइनोअन सभ्यता के स्मृति मात्र हैं।

पश्चिम एशिया की छोटी छोटी जातियां

जिस काल में मिश्र, बेबीलोन, मोहेंजोदारो एवं क्रीट की सभ्यतायें अपने उच्चतम शिखर पर थीं और उनके बडे बड़े

राज्य थे, उसी काल में सेमेटिक लोगों की छोटी छोटी जातियां मिश्र, मेसोपोटेमिया के मध्यवर्ती प्रदेशों में यथा सीरीया, जूडियाइजराइल हिट्टी इत्यादि स्थानों में अपने छोटे छोटे राज्यों की स्थापना कर रहे थे। इन मध्यवर्ती प्रदेशों में बड़े बड़े नगर बसे जिनमें सीरीया का दमिश्क नगर सबसे अधिक प्रसिद्ध था। इन छोटे छोटे प्रदेशों में से ही होकर मिश्र मेसोपोटेमिया का व्यापार चलता था। दमिश्क नगर में उस युग के सभी प्रसिद्ध देशों के व्योपारी एकत्रित होते थे। ये छोटे छोटे प्रदेश कभी तो मिश्र साम्राज्य के आधीन होजाते थे कभी बेबीलोन साम्राज्य के आधीन, कभी कभी इनका स्वतन्त्र अस्तित्व भी बना रहता था। इन्हीं छोटी जातियों या राज्यों में जूडिया की यहूदी जाति थी–जिस पर बेबीलोन के सम्राट नेबूस्केन्डैजर ने अपना आधिपत्य स्थापित किया था और जूडिया से सभी यहूदी आबादी को जबरदस्ती हटाकर बेबीलोन भेज दिया था। यही यहूदी जाति भविष्य में जाकर इतिहास में एक महत्त्वपूर्ण धार्मिक कहानी की रचना करने वाली थी।

फोनेशियन लोग

ईसा के ५-६ हजार वर्ष पहिले सभ्यता और मानव-जीवन की जो चहल पहल भूमध्यसागर के निकटवर्ती

देशों में—यथा मिश्र, मेसोपोटेमिया में, क्रीट, एशिया माईनर, सीरीया आदि प्रदेशों में चली, उन सब में जहाजों द्वारा यातायात का बहुत महत्त्वपूर्ण स्थान है। वैसे तो झीलों एवं नदियों के आस पास रहने वाले मानव नव पाषाण युग में ही बहुत सादी सी नाव बनाकर झीलों, नदियों के जल पर भ्रमण करने लग गये होंगे। स्यात् पहिली नावें, पानी में बहने वाले लकड़ी के गट्ठड़ मात्र होंगे। तब पत्थरों के औजारों में सुधार के साथ साथ लकड़ी की साधारण नाव भी बनने लगी होगी। पहिले ये नावें डाँडों से चलाई जाती रहीं—फिर शनैः शनैः ये ही डांड, नाव की साइड में हुक बनाकर उसमें ये स्थित किये जाकर, पतवार की तरह काम में आने लगे होंगे। और इस प्रकार धीरे धीरे जहाज बनने लगे, तदुपरांत सबसे पहिले खाल या हेम्प के पाल (Sails) भी जहाजों में काम में आने लगे। और इस प्रकार धीरे धीरे बड़े बड़े जहाज बनने लगे जो भूमध्यसागर, फारस की खाड़ी, और लाल सागर की ही यात्रा नहीं करते थे, किंतु हिंदमहासागर में भी चल कर सिंध और दक्षिण भारत के बंदरगाहों तक जाते थे। सामुद्रिक जहाजों की कला वैसे तो सुमेर, मिश्र आदि देशों के लोग जानते थे। ६००० ई. पू. में सुमेर की नावें और जहाजें यूफ्रीटीज और टाइग्रीस नदियों में चलती थीं—मिश्र में नावों और जहाजों के चित्र मिले हैं जो लगभग ढाई तीन हजार वर्ष

ई० पूर्व के हैं। वे चित्र बड़ी बड़ी जहाजों के हैं जो नील नदी के अतिरिक्त भूमध्यसागर में भी चलते होंगे। किन्तु सामुद्रिक बड़ी बड़ी यात्रायें करने वाले या तो क्रीट के माइनोअन लोग थे, या उनसे भी अधिक साहसी सामुद्रिक लोग, सेमेटिक उपजाति के कुछ लोग थे जो फीनीशियन कहलाते हैं और जो एशिया माइनर के उत्तर-पच्छिम तट पर फीनीसीया नामक प्रांत में ईसा के २-३ हजार वर्ष पूर्व बसे हुए थे। वे लोग वहां स्यात् लाल समुद्र के निकटवर्ती प्रदेश से आकर बसे थे। इन फीनीशियन लोगों के अधिकार में भूमि का टुकड़ा छोटा होने से, इन्होंने भिन्न भिन्न द्वीपों में अपने उपनिवेश बसाना शुरु किया, एवं उन दिनों में बसने वाली अन्य जातियों के निवास स्थान से बहुत दूर समुद्र के किनारों पर बसना शुरु किया। इस प्रकार ऐशिया माइनर के पच्छिमी तट पर इन्होंने टायर, सीडन, बेबिलस और अराइस नामक बस्तियाँ बसाई और बाद में जाकर दूर उत्तरी अफ्रीका के किनारे पर प्रसिद्ध नगर कार्थेज बसाया। ये लोग व्यापार भी करते थे और सभ्य देशों के सामुद्रिक नगरों में लूटमार भी। जब लूटमार का अवसर मिलता, तब तो लूटमार करके जहाजों में बैठकर अपनी बस्तियों में चले जाते थे—जब ऐसा संभव नहीं हो पाता था तो व्यापार में संलग्न रहते थे। धीरे धीरे इन लोगों का सामुद्रिक यातायात में इतना प्रभाव होगया कि उस प्राचीन काल का प्रायः बहुतसा

सामुद्रिक व्यापार इन्हीं लोगों की जहाजों में होता था। ये लोग साईप्रस द्वीप का तांबा, ग्रेट ब्रिटेन के कार्नवाल प्रांत का टिन (कलई), मिश्र का काँच का सामान, बेबीलोन के मिट्टी के बर्तन, भारत की चंदन की लकड़ी, मोती और रुई के कपड़े, एक दूसरे देशों में पहुँचाते थे। साहसी और होशियार मल्लाहों की हैसियत से ये लोग उस काल के सभी सभ्य देशों में प्रसिद्ध होगये थे। ऐसा भी पता लगा है कि इन्हीं लोगों ने उस काल में दो महान सामुद्रिक यात्रायें की थीं। एक तो, ५२० ई० पू० में हन्नोन नामक एक फीनिशियन ने जिब्राल्टर से लेकर अफ्रीका के किनारे ठेठ दक्षिण तक और फिर उसके भी आगे काफी दूर पूर्वीय किनारे तक। हन्नोन के पास ६० बड़ी बड़ी जहाजें थीं और अनेक दूसरे फीनीशियन साहसी मल्लाह। अफ्रीका के किनारे किनारे ये लोग चलते जाते थे, और साथ ही साथ अफ्रीका के भिन्न भिन्न भागों का ज्ञान भी प्राप्त करते जाते थे। अफ्रीका के लोगों और दावानलों के रोचक वर्णन इन्होंने छोड़े हैं—उस काल में दक्षिण अफ्रीका सर्वथा एक अनजान देश था। खाद्यान्न समाप्त होने पर उचित स्थल देखकर वहां खेती भी करते जाते थे—और इस प्रकार अपनी यात्रा में आगे बढ़ते रहते थे। कई स्थलों पर इन्होंने अपने मान्य देवताओं के मन्दिर भी बनाये। इनके धार्मिक विश्वास ऐसे ही थे जैसे अन्य तत्कालीन जातियों के। इनका मुख्य देवता "बाल" था—जो सूर्य्य का प्रतीक था, और

मुख्य देवी "आशाटोरथ" जो कि उपज की देवी मानी जाती थी।

फिनीशीयन लोगों की एक दूसरी यात्रा का वर्णन ग्रीक इतिहासकार हीरोडोटस के इतिहास में मिलता है। ऐसा माना-जाने लगा है कि इस यात्रा में फीनीशीयन लोगों ने पूरे अफ्रीका का चक्कर लगाया। यह यात्रा मिश्र के शासकों के २६ वें राज्य-वंश के प्रसिद्ध फेरोनिशो ने करवाई थी। ये लोग स्वेज खाड़ी से रवाना हुए, फिर पूर्वीतट के सहारे सहारे चलते हुए दक्षिण अफ्रीका तक पहुँचे,-वहाँ से पच्छिमी तट की ओर मुड़कर,-पूरे अफ्रीका का चक्कर काट कर, नील नदी के मुहाने पर आकर उतरे। इस यात्रा में प्राय: ३ वर्ष लगे। आजकल जब हमारे विशालकाय जहाज़ प्रशांत महासागर जैसे बड़े बड़े तूफानी महासागरों को रात दिन चलते हुए सरलता पूर्वक पार कर जाते हैं तो हमें लगता होगा कि फीनीशीयन लोगों ने अफ्रीका का जो चक्कर लगाया, उसमें कौनसी ऐसी बड़ी बात की। किंतु हमें यह कल्पना करनी चाहिये कि वह काल जिसमें फीनीशीयन लोगों ने इतनी बड़ी सामुद्रिक यात्रा की-मानव का समुद्रों पर चलने का एक प्रकार से प्रारंभिक काल ही था। इतिहास में फीनीशीयन लोगों का महत्त्व केवल इसी बात में नहीं है कि वे लोग प्राचीन काल में सर्वप्रथम साहसी मल्लाह थे, बड़ी बड़ी

जहाजें बनाते थे और उन्होंने उस युग के सभ्य देशों को व्यापारिक संबंधों में जोड़ा था, किंतु उनका महत्त्व इस बात में भी है कि उन्होंने एक देश की सभ्यता का दूसरे देशों तक प्रचार करने में, एवं सांस्कृतिक आदान प्रदान में बहुत योग दिया। मिश्र के अद्भुत पिरामिड और स्फिंक्स का परिचय दूसरे देशों को इन्हीं लोगों ने कराया। कुछ भारतीय पुरातत्त्ववेत्ताओं और वैदिक साहित्यकों का ऐसा भी अनुमान है कि जिस प्रकार अफ्रीका के ठेठ उत्तर में कार्थेज नगर बना कर उन्होंने अपनी अपनी वस्ती बसाई थी, इसी प्रकार इन लोगों की कुछ बस्तियाँ "भारतीय" सिंधु तट पर भी बसी हुई थीं और वहाँ पर भारतीय आर्य्यों में ये लोग पण्व जाति के नाम से प्रसिद्ध थे। इन्हीं पण्व लोगों के द्वारा आर्य सभ्यता की अनेक बातों का परिचय पश्चिमी देशों को हुआ। ऐसा भी अनुमान है कि फीनीशीयन लोगों ने ही सर्वप्रथम मिश्र की चित्राङ्कन भाषा से अक्षरों का आविष्कार किया और उन्होंने मिश्र से पीपिरस वृक्ष की छाल लाकर उन अक्षरों को पेपिरस रीड (पेपीरस वृक्ष की छाल से बनाई हुई लिखने के लिये एक विशेष वस्तु) पर जमाया और इस प्रकार एक सुविकसित वर्णमाला का सर्वप्रथम आविष्कार किया। फीनीशियन लोगों का कोई विशेष साहित्य नहीं मिलता है क्योंकि ये लोग तो मुख्यतय: व्यापारी थे अतः इनके द्वारा लिखे गये अधिकतर हिसाब किताब के ही रिकार्ड

मिलते हैं। इतना अवश्य है कि ग्रीक लोगों ने इन्हीं की वर्णमाला से अपनी लिखित भाषा (लिपि) का विकास किया ।

उस काल में इन फीनीशियन लोगों और मिश्र तथा बेबीलोन के सम्राटों में झगड़े रहा करते थे। इसके फलस्वरूप फीनीशीयन लोगों की वे बस्तियाँ जो ऐशियामाइनर के सामुद्रिक तट पर बसी हुई थीं, बेबीलोन के सम्राटों द्वारा विध्वंस करदी गई। इनकी केवल एक प्रमुख बस्ती कार्थेज बची रही जो मिश्र से दूर अफ्रीका के उत्तरी तट पर थी, और जो उस काल का प्रसिद्ध नगर और व्यापारिक केन्द्र था। इस नगर को छोड़कर जिसका अंत रोमन लोगों के जमाने में हुआ-शेष सब फीनीशीयन बस्तियाँ और फीनीशीयन लोग ग्रीस और फारस के आर्यन लोगों के आक्रमण के सामने समाप्त होगये-उसी प्रकार जिस प्रकार प्राचीन मिश्र और बेबीलोन के लोग और उनकी सभ्यतायें समाप्त होगई थीं।

१८

अमेरीका की प्राचीन सभ्यतायें

[माया-सभ्यता]

इतिहास

प्राचीन पाषाण युग के उत्तर काल में या नव-पाषाण युग के

आरंभिक काल में उत्तर-पूर्वीय एशिया से कुछ लोग (ये लोग संभवतः मंगालोइड उपजाति के होंगे) बेहरिंग और अलास्का के रास्ते से होकर अमेरिका पहुंच गये। इन लोगों के पहुँचने के पूर्व तो अमरीका विशाल मानव-हीन भूखंड थे-और वहां जंगली भैंस, विशाल शरीर वाले मेगाथेरियन और (Glyptodon) ग्लिपटोडन नाम के जानवर इधर उधर घूमा करते थे। उस समय एशिया और अमरीका महाद्वीप बेहरिंग और अलास्का के पास जुड़े हुए होंगे। तदुपरान्त दोनों महाद्वीप बेहरिंग स्ट्रेट द्वारा पृथक हो गये होंगे अतएव एशिया और अमरीका में किसी प्रकार का भी संबंध नहीं रहा। फिर तो उस समय तक जब कोलम्बस ने १४९२ में अमरीका का पता नहीं लगा लिया, एशिया और यूरोप वासियों के लिये अमरीका बिल्कुल लुप्त रहा। वे प्राचीन पाषाण कालीन लोग जो अमरीका पहुंचे धीरे धीरे दक्षिण की ओर बढ़ते गये और उन्होंने स्वतन्त्र, खेती और पशु पालन के आधार पर अपने राज्यों और अपनी सभ्याओं का विकास किया। अमरीका में केवल ३ ऐसे केन्द्र मिले हैं जहां सभ्यताओं का विकास हुआ था यथा-मध्य अमरीका, मैक्सिको और पीरू। ये सभ्यतायें पूर्व की सौर पाषाणी सभ्यताओं से मिलती जुलती थीं, किंतु उन सभ्यताओं से बहुत बातों में भिन्न भी थी। मध्य अमरीका के कई राज्य मिल कर एक विशाल राज्य बन गये थे। जिसे आज मायापन राज्य कहते हैं—यहां की सभ्यता को ही

'माया-सभ्यता' का नाम दिया गया है। आधुनिक खोजों से पता लगा है कि ई. पू. १५०० में वहां सुंदर विशाल नगरी बसी हुई थी जिसका नाम पेलेक्वी था। अन्य कई बड़े बड़े नगर माथापन राज्य में, एवं मेक्सिको और पीरु राज्यों में बसे हुए थे। बाद में जाकर ई. सन् ९ वीं १० वीं शताब्दी में मैक्सिको की एक 'अजटक्स' नामक जाति के लोगों ने मायापन पर अधिकार कर लिया और एक नया नगर बसाया जिसका नाम टिलोचिल्टन था। ये सभ्यतायें सैंकडों (संभव होसकता २-३ हजार वर्ष तक) उन्नति करती रही।-जिस समय सन् १४९२ में कोलंबस ने अमरीका ढूंढ निकाला, उस समय मेक्सिको और पीरु में पृथक पृथक सभ्यतायें विद्यमान थीं। कोलम्बस के बाद सन् १५१९ में कुछ स्पेन के लोग कोर्टेस के नेतृत्व में अपनी जहाजें लेकर, घोड़े, और बारुद की बंदूकों सहित, मेक्सिको पहुंचे और वहाँ (Aztecs) ऐज़्टेक्स लोगों को बुरी तरह से हरा दिया-वहां के पुरोहित सम्राट का अन्त हुआ,-और न जाने अचानक किस प्रकार उनकी समस्त उच्च विकसित सभ्यता ही विलीन और लुप्त हो गई। विशाल नगर टिलोचिल्टन (Tilochilton) भी जिसके समान सुन्दर और वैभवशाली नगर उस काल में समस्त यूरोप में कहीं नहीं था, बरबाद होगया। माया सभ्यता के अन्य नगर भी विलीन हो गये और जहां पहिले नगर बसे हुए थे और अच्छी खेती होती

थी–वहां गहन बनों का साम्राज्य छा गया।

इसी प्रकार पीरु में भी एक बहुत विकसित सभ्यता विद्यमान थी। वहां के सम्राट् "इनका" कहलाते थे। यह एक आश्चर्य की बात है कि पिछले वर्षों में माया और मेक्सिको सभ्यताओं में कुछ भी सम्पर्क नहीं था–वे एक दूसरे को बिल्कुल नहीं जानते थे-पीरु में बहुतायत से आलू पैदा होता था-इसका माया सभ्यता वालों को बिल्कुल भी ज्ञान नहीं था। सन् १५३० में Piraro नामक एक स्पेनवासी के नेतृत्व में अनेक स्पेन के लोग अपनी जहाजों में पीरु प्रांत में उतरे और जिस प्रकार कार्टेस मैक्सिको में सफल हुआ, उसी प्रकार Piraro पीरु में सफल हुआ। पीरु की सभ्यता भी सहसा लुप्त होगई और समस्त पीरु प्रांत में Spanish लोग आकर बस गये और वहां अपना राज्य स्थापित कर लिया।

फिर तो १७ वीं १८ वीं शताब्दियों में अनेक यूरोपवासी अमेरिका में धीरे धीरे आ बसे। उत्तरी अमेरिका के उत्तरी भाग कनाडा में ब्रिटिश राज्य की स्थापना हुई–उत्तरी अमेरिका के मध्य भाग में सयुंक्त राज्य अमेरिका की, और दक्षिण अमेरिका में कई स्पेनिश राज्य कायम हुए। तभी से अमेरिका का आधुनिक इतिहास प्रारंभ होता है। उत्तरी और दक्षिणी अमेरिका का प्राचीन इतिहास भी सिवाय माया और पीरु सभ्यताओं की कहानी के कुछ नहीं।

सभ्यातओं का वर्णन

अमेरिका की प्राचीन सभ्यताओं में माया सबसे अधिक विकसित तथा प्राचीन थी। यह सभ्यता जिसके आज केवल भग्नावशेष ही रह गये हैं, अभी हाल की खोजों से पता लगा है कि ईसा के लगभग १५-१६ शताब्दियों पूर्व गोटीमाला के उत्तरी भाग में जो मेक्सिको की सरहद में मिलता है और आज पूर्णतया बनों से अच्छादित है, उदय हुई थी। इस सभ्यता का विनाश ईसा की सातवीं शताब्दी के लगभग हुआ। इस सभ्यता का विनाश का कारण आज भी ऐतिहासकों के समक्ष एक पहेली बनी हुई है। कुछ विद्वानों का कहना है कि वहाँ सहसा ऋतु-परिवर्तन होगया-प्रदेश बनों से आच्छादित होगया, महामारी फैली और लोगों को वहाँ से हट जाना पड़ा, वे लोग युकाटन प्रदेशों में चले गये। टोयनबी महाशय का कहना है कि यहां पर जैसा और स्थानों पर पाया जाता है सभ्यता का अंत सभ्यता की ही किसी आंतरिक मानवीय असफलता के कारण हुआ।

कला कौशल

माया संस्कृति एक उच्च संस्कृति थी। उनकी शिल्पकला, लकड़ी और पत्थर पर नक्काशी तथा कपड़ा बनाने की कुशलता अनुपम थी। उनको लोहे का ज्ञान नहीं था-न वे कुम्हार के चाक

से ही परिचित थे। उनका मुख्य ज्ञान उनकी विकसित चित्रलिपि तथा पञ्चांग का ज्ञान है। मूर्ति कला का भी पर्याप्त विकास हुआ था। ये मूर्तियां धर्म से संबंधित हैं। उनको स्वर्ण और जवाहरात का भी परिचय था। अनेक जवाहरात ये दांतो में जड़वाया करते थे। पत्थर के काम भी बहुत ही सुन्दर कला का परिचय मिलता है। पत्थर द्वारा निर्मित भवनों में पिरेमिड के ढङ्ग की बनावट मिलती है-ये पिरेमिड मंदिर थे जब कि मिश्र के पिरेमिड समाधि।

माया धर्म

उनके धर्म का पता उनके शिल्प तथा स्थापत्य कला और २ हस्त लिखित बची हुई पुस्तकों से लगता है। उनका सबसे बड़ा देवता "कुकुल-कान" था।-अर्थात् पंख लगा हुआ सर्प। इसी देवता का स्वरुप बाद में जाकर एक मनुष्य के रुप में कल्पित हुआ जो हाथों में एक सर्प तथा एक पत्ती लिये हुए था। यह जीवन का देवता था। दूसरा देवता "इत्नायना" था-जो आकाश का देवता था। साधारण जनता का प्रमुख देवता "चाक" था, जा वर्षा का देवता माना जाता था। एक अन्य देवता मृत्यु देवता था जिसका चित्र "खोपड़ी तथा अस्थियों" के रुप में माया की कला में बहुधा मिलता है। उनके देवताओं में सूर्यदेव तथा 'मेजदेव' भी थे। इन देवताओं के देख कर हम यही अनुमान लगा सकते हैं कि माया धर्म में प्रकृति की ही पूजा किसी न किसी

रुप में होती थी। उस समय की धार्मिक-क्रियाओं के विषय में कुछ विशेष ज्ञान नहीं हैं। वैयक्तिक उपासना में उपासक अपना कान जीभ इत्यादि छेद कर अपने उपास्य देव को रक्त चढ़ाता था। अंत्येष्ठि-क्रिया के संबंध में अधिक जानकारी प्राप्त नहीं है। स्पेन विजय के समय माया लोगों में मृत शरीर को जलाने तथा भूमि में गाड़ने, दोनों प्रथायें प्रचलित थीं।

सामाजिक जीवन

प्राप्त अवशेष चिन्हों के आधार पर हम उनके सामाजिक जीवन के विषय में केवल कुछ अनुमान ही लगा सकते हैं। मुख्य पेशा कृषि था। जंगलों को काटकर या जलाकर, इस प्रकार भूमि साफ करके वह प्रदेश बसने योग्य बनाया गया था। अनेक निवास स्थानों तथा भवनों का निर्माण हुआ था। इससे प्रकट होता है कि वहां के निवासी स्थिर तथा शान्त जीवन व्यतीत करते थे। समाज में धनिक, पुरोहित, और साधारणवर्ग के लोग होते थे। शासन करने वाला पुरोहित और राजा दोनों ही होता था। कई यूरोपीयन विद्वानों का ऐसा मत है कि इन लोगों में सुसपष्ट कानूनों का प्रचार था। ये हिंसा तथा युद्ध से घृणा करते-थे पशु बलि के स्थान पर अपने देवताओं को पुष्प, जवाहरात इत्यादि भेंट चढ़ाते थे। ऐसा भी अनुमान है कि इस सभ्यता पर भारत का काफी प्रभाव पड़ा था। और उस काल में भारत और अमेरिका में यातायात होता था।

अभी हाल माया सभ्यता के विषय में मेक्सिको सरकार के प्रयत्नों की वजह से हमारे ज्ञान में वृद्धि हुई है। इस सभ्यता के प्राचीन नगर पेलनक में अनेक अन्वेषण हुए हैं। इन खोजों के अनुसार पेलेनक की स्थापना १५०० ई० पू० में हुई थी। ये माया के सभ्यों और पुरोहितों का नगर था, जिसमें अनेक भव्य इमारतें और मन्दिर बनाये गये थे। (Temple of Laws) विधियों के मन्दिर में सुन्दर कला के नमूने मिले हैं। इन नमूनों से स्पष्ट ज्ञात होता है कि उनकी कला का ढंग (Technique) बहुत ही विकसित था। इन कला-कृतियों में जीवन के अनेक चित्र मिले हैं—सिपाही युद्ध करते हुए,—समुद्र जिसमें अनेक जानवर तैर रहे हैं, स्त्रियां घरेलू काम में व्यस्त हैं—इत्यादि। दीवारों पर जो चित्रकारी है उनमें धार्मिक चित्र अंकित हैं—जैसे धार्मिक उत्सव इत्यादि। किन्तु इससे भी बढ़कर उनकी स्थापत्य कला थी। मन्दिरों और महलों की बनावट में, उनके स्तम्भों में पत्थर में खोदे हुए अनेक सजावट के काम हैं—उनमें ज्योतिष सम्बन्धी एवं पत्रा सम्बन्धी गणनायें भी खुदी हुई हैं,—अनेक देवताओं की मूर्तियां भी खुदी हुई हैं।

यह तो अब सिद्ध होता है कि अमेरीका की इन प्राचीन सभ्यताओं में और प्राचीन मिश्र और मेसोपोटामिया में अद्‌भुत समानतायें हैं।

१६

प्राचीन लुप्त सभ्यताओं पर एक दृष्टि

भूमिका

आज से अनुमानतः ५० हजार वर्ष पूर्व वास्तविक मनुष्य के इस पृथ्वी के रंगमंच पर प्रगट होने के बाद से ई. पू. पांचवी छठी शताब्दी तक हमने उसके परिवर्तन और विकास की कहानी की रुपरेखा अंकित करने का प्रयत्न किया। हमने देखा किस प्रकार दो पैरों पर खड़े होने वाले एक जानवर की स्थिति में मनुष्य का सर्व-प्रथम आर्विभाव हुआ, अन्य जानवरों की अपेक्षा केवल एक मस्तिष्क शक्ति कुछ अधिक लेकर, किस प्रकार हजारों वर्षों तक उसने एक जंगली जानवर के मानिन्द गुफाओं, जङ्गलों एवं पेड़ों के नीचे ही नंगे रहते हुए अपना जीवन व्यतीत किया, प्राकृत रुप में मिलने वाले फलों, एवं मांस पर अपना निर्वाह किया एवं अपनी रक्षा के लिये पत्थर के हथियार बनाये। फिर किस प्रकार धीरे धीरे वह नव पाषाण युगीय सभ्यता की स्थिति तक पहुंचा—जब वह खाल से अपने शरीर को ढकता था, समूह बनाकर मिट्टी के कच्चे घरों में रहने लगा

था, प्राकृत रूप में मिलने वाले जंगली गेहूं तथा अन्य दानों को पीसकर, पका कर खानें लगा था, एवं पत्थरों के अच्छे अच्छे हथियार और औजार बनाता था एवं शिकार करता था – फिर इस स्थिति को पार करता हुआ किस प्रकार वह खेती करने लगा था, पशु-पालन करने लगा था, तांबे कांसे के औजार बनाने लगा था एवं गांव में रहने लगा था। फिर किस प्रकार इस स्थिति को पार करता हुआ मनुष्य, भू-मध्यसागर तटवर्ती प्रदेशों में, नील नदी की घाटी में, यूफ्रेटीज़ और टाइलग्रेस नदियों की घाटी में, सिन्धु नदी की घाटी में, एवं सुदूर-पूर्व में व्हांगों और यांगटीसिक्यांग नदियों की घाटी में आज से प्रायः ७-८ हजार वर्ष पूर्व उस सभ्य स्थिति को पहुंचा जब बड़े बड़े नगर बसे, मन्दिर बनें, पुरोहित-सम्राट् हुए, जादू-टोने, देवी-देवताओं में विश्वास के संस्कार बने, राज्यों का संगठन हुआ, रेशम, ऊन एवं सूत के कपड़े बने, अनेक प्रकार के उद्योग-धन्धों का प्रचलन हुआ एवं देश विदेशों में परस्पर व्यापार होने लगा। हम देख सकते हैं कि आज से ७-८ हजार वर्ष पहिले से ही मनुष्य की गति, जीवन-चर्या, उसका रहन सहन, धीरे धीरे लगभग उसी प्रकार का होने लगा था जैसा साधारणतया आज हमारा है। मशीन युग, भाप, रेल, बिजली, हवाई-जहाज, रेडियो ने हमारे जीवन के रहन सहन में जो अभूतपूर्व परिवर्तन किया वह तो केवल पिछले सौ सवा सौ वर्ष की बात है।

कल्पना कीजिये देश-काल के क्षितिज पर मनुष्यों के चलते हुए उस लम्बे जलूस की—नंगा मनुष्य आया, फिर पत्तों एवं खाल से ढ़का हुआ मनुष्य आया, फिर वस्त्राभूषणों से परिवेष्ठित मनुष्य आया, जलूस का आयतन बढ़ता गया, भिन्न भिन्न प्रकार के नाच, रङ्ग, युद्ध, पूजा, गान आनें लगे, जलूस आगे बढ़ता गया, आगे जाने वाले दृष्टि से ओझल होते गये किन्तु कुछ कुछ अपने अवशेष चिन्ह पृथ्वी पर छोड़ते गये जिनके सहारे उनके चित्र इतिहास में अंकित हो सके। ईसा के बाद का हमारा सुपरिचित और अपेक्षाकृत सुज्ञान ऐतिहासिक काल तो केवल दो हजार वर्ष का है किन्तु इसके पूर्व इन प्रारम्भिक सभ्य मानवों का एक जलूस पांच छः हजार वर्षों के लम्बे अर्से तक चलता रहा था। मिश्र, सुमेर-बेबीलोन-असीरीया, मोहेनजोदाड़ों–हरप्पा, क्रीट–फीनीशिया, इन देशों में नगर सभ्यतायें उद्भूत हुई, विकसित हुई ५–६ हजार वर्ष तक गतिमान रहीं और फिर विलीन हो गई। आज जब कि आवागमन एवं आर्थिक, राजनैतिक और सांस्कृतिक सम्पर्क के इतने अधिक विकसित साधन उपस्थित हैं, ऐसा प्रतीत होता है मानों समस्त संसार के मानव एक संस्कृति के विकास की ओर उन्मुख हों। मानव विकास की दिशा तो इसी एकता की ओर है। ईसा के चार-पांच हजार वर्ष पूर्व जिन प्रारम्भिक सभ्यताओं का आगमन इस मानव-संसार में हुआ उनकी क्या

साधारण विशेषतायें थीं,—इस बात को जान लेने से हमें आज के मानव समाज के विकास की रीति, नीति और गति को समझ लेने में एवं उसको यदि हम चाहें तो इच्छानुकूल बदल लेने में कुछ सहायता या कम से कम कुछ संकेत अवश्य मिल सकता है। मिश्र, सुमेर-बेबीलोन-असीरीया, सिन्धु प्रान्त, क्रीट और फीनीशीया की सभ्यताओं में कई मिलते जुलते (Common) तत्व मिलते हैं। भारत की वैदिक-सभ्यता, चीन की सभ्यता, ग्रीस और रोम की सभ्यता अपने ही आदेशों और भावनाओं के अनुरुप पृथक ही विकसित हुई। इन चार प्राचीन सभ्यताओं के आधारभूत तत्व उपरोक्त प्रारम्भिक सभ्यताओं के तत्वों से सर्वथा भिन्न हैं! अतएव इन चार सभ्यताओं के तत्वों का निरुपण अलग ही किया गया है, निम्नांकित वर्णन में उनका समावेश नहीं।

प्राचीन लुप्त सभ्यताओं के साधारण (Common) तत्व

(मिश्र, सुमेर-बेबीलोन-असीरीया, क्रीट, सिन्धु-सभ्यता)

१-काल

इन प्रारंभिक प्राचीन सभ्यताओं का काल अनुमानतः ई० पू० पांच छः हजार वर्ष से ई० पू० पांच, ६ सौ वर्ष तक माना जाता है। अर्थात् इन सभ्यताओं में से कोई कोई तो जैसे मिश्र और सुमेर ईसा के ५-६ हजार वर्ष पहिले प्रारंभ हुई,

कोई कोई सभ्यता इसके एक दो हजार वर्ष पीछे। इस प्रकार प्रारंभ होकर ईसा के ५-६ सो वर्ष पहिले तक इनकी परम्परा चलती रही और फिर ये विलीन होगईं।

२-देश

ये प्राचीन सभ्यतायें दुनियां के निम्न भागों में प्रसारित थीं एवं दुनियां के इन निम्न भागों के सभ्य लोगों में परस्पर व्यापारिक संबंध था। (क) भूमध्यसागर निकटवर्ती देश यथा मिश्र, क्रीट द्वीप, एशिया माइनर. उत्तर अफरीका (ख) अरब (ग) ईरान (घ) ईराक—मेसोपोटेमिया (ङ) भारत (च) चीन।

ईसा के लगभग ५-६ हजार वर्ष पूर्व संसार के इसी भाग में यथा—भूमध्यसागर के निकटवर्ती देश, मिश्र मेसोपोटेमिया एशिया-माइनर, एवं पूर्व में बलुचिस्तान एवं सिन्ध देश के मोहेनजोदाड़ो और हरप्पा, और चीन में—मानवी हलचल मालूम होती है। इस भूभाग में जीवन और सभ्यता की जो चहलपहल चली उसकी अपनी ही एक विशिष्टता थी। इन भूभागों में,असभ्य और अर्धसभ्य स्थिति को पार करके मानव-जाति संगठित सभ्यता की स्थिति में पहुंचती है। आश्चर्य होता है यह देखकर कि मानव भी किन किन परिस्थितियों में होकर गुजरा है और किस किस तरह से वह आगे बढ़ा है।

मानव सभ्यता की प्रथम
हलचल
५-६ हजार वर्ष ई.पू.
सभ्यता की हलचल
वाले प्रदेश
१ मिश्र २ मेसोपोटेमिया
३ सिंधु ४ चीन ५ क्रीट
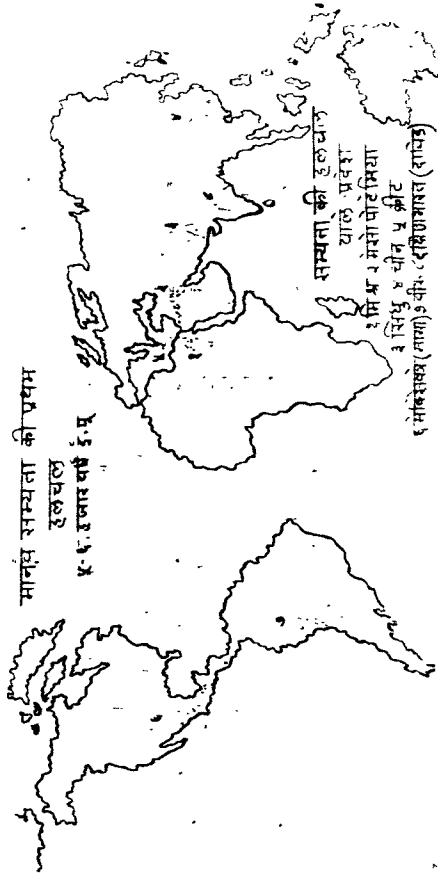
इस काल में जब कि उपरोक्त भूभागों में तो सभ्यता का विकास हो रहा था तो प्रश्न उठता है कि शेष दुनियां में क्या हो रहा था। भूमध्य सागर और मेसोपोटेमिया आदि सभ्यताओं के केन्द्र के उत्तर में यथा, यूरोप में राइन नदी के उत्तर में गौर वर्ण के नोर्डिक लोग इधर उधर घूम रहे थे; उधर एशिया में भारत से उत्तर और चीन से पच्छिम के भू-भागों में असभ्य मंगलोइड लोग इधर उधर घूम रहे थे। सभ्यता के उपरोक्त केन्द्र से दक्षिण की तरफ के भू-भागों में यथा मध्य और दक्षिण अफ्रीका में नीग्रो लोग धीरे धीरे कृषि करना और धातुओं का प्रयोग करना सीख रहे थे। पूर्वी द्वीप समूह एवं आस्ट्रेलिया में प्राचीन पाषाण युगीय आस्ट्रोलाइड उपजाति के लोग जो अति प्राचीन काल में इन देशों में पहुंच गये होंगे अपनी जिन्दगी बिता रहे थे। इन आदिम जातियों के लोग कुछ कुछ अब भी वहां मिलते हैं। मैडागास्कर और न्यूजीलैंड देशों में तो उस काल तक शायद लोग पहुँचे ही नहीं होंगे। ईसा के लगभग १०-१२ हजार वर्ष पूर्व मंगलोइड जाति के कुछ लोग एशिया के उत्तर पूर्वीय भाग बेहरिंग से होकर जो कि उस समय अमेरिका से जुड़ा हुआ होगा, अमेरिका पहुंच गये होंगे। धीरे धीरे यही लोग दक्षिण की ओर प्रस्थान करते गये और मैक्सिको व पीरू एवं मध्य अमेरिका इत्यादि भाग में बस गये। पीछे एशिया से इनका संबंध शायद बिल्कुल टूट गया। स्वतन्त्र इन

लोगों ने मैक्सिको में अलग और पीरु में अलग सौर-पाषाणी सभ्यता का अपने ढङ्ग से विकास किया।

जैसे आज कल प्रायः सर्व साधारण अनेक देशों की सही सही बातों को जानता है ऐसा उस जमाने में नहीं था। व्यौपारियों, सामुद्रिक यात्रियों, भिन्न भिन्न देशों के शासक एवं सम्राट लोगों के संदेशवाहकों को छोड़ कर प्रायः सभी सर्व साधारण भिन्न भिन्न देशों की बातों से सर्वथा अनभिज्ञ थे।

३—ये लोग कौन थे ?

जिन लोगों ने इन सभ्यताओं का विकास किया उनके उद्गम (Origin) के विषय में कुछ निश्चित-पूर्वक नहीं कहा जा सकता। इतना तो कम से कम माना जाता है कि उनका संबंध आजकल की ज्ञात किसी भी मानव उपजाति (Race) यथा आर्यन या मंगोल, या सेमेटिक या नीग्रो उपजाति से नहीं जुड़ता। ऐसा अनुमान लगता है कि ये सभी लोग काले-गोरे मिश्रित वर्ण के मानव थे जो नव पाषाण युग के उत्तर काल में (ई० पू० १०००० वर्ष से लेकर प्रायः ५-६ हजार वर्ष तक) भूमध्यसागर के तटवर्ती प्रदेशों में फैले हुए थे। इन लोगों की सभ्यता का विकास सौर-पाषाणी सभ्यता (Heliolithic Culture) की स्थिति में से हुआ। सभ्यता की सौरपाषाणी स्थिति वह थी जब मानव ने कृषि एवं पशुपालन

करना सीख लिया था, कच्चे घर बनाकर एक जगह टिक कर रहने लग गया था, एवं अनेक स्वकल्पित देवी-देवताओं की शक्ति में विश्वास करने लग गया था। कुछ पौर्वात्य पुरातत्त्व-वेत्ताओं का ऐसा अनुमान अवश्य बनने लगा है कि उपरोक्त प्रदेशों में सभ्यता का विकास भारतीय आर्यों के सम्पर्क से हुआ। इतना तो स्पष्ट है कि मिश्र, बेबीलोन' सुमेर, सिंधु प्रदेशों के लोगों में निकट सम्पर्क था, यद्यपि इनका आदि उद्गम हमें स्पष्ट मालूम न हो।

४–तत्कालीन व्यापार एवं यातायात के साधन

उस समय यातायात एवं पर्यटन के साधन बैलगाड़ियों, रथ, गधे, बैल एवं ऊँटों के काफिले थे। मिश्र, बेबीलोन, इलम (ईरान), अरब में ऊँटों के काफिले चलते थे। शूरु में तो ये लोग घोड़ों से परिचित नहीं थे किन्तु बाद में जाकर इनसे भी इनका परिचय हो गया। समुद्र तट के सहारे सहारे बड़े बड़े जहाजों द्वारा भी यातायात और व्यापर होता था। उस काल की सामुद्रिक जहाजें विशेषकर पतवार से चलाई जाती थी। बाद में पल्लेदार जहाज (Sailed Ships) भी चलने लगी थीं। भारत, अरब, मिश्र, उत्तर-पच्छिमी अफ्रीका, ईजीयन द्वीपों में परस्पर सामुद्रिक रास्ते से व्यौपार होता था। सड़कें भी बनाई गई थीं और नदियों पर पुल। पहिले तो व्यापार वस्तुओं के हेरफेर से ही होता था, मुद्रा (Coins) का प्रयोग नहीं

होता था। एशिया माइनर में लीडीया के वासियों ने लगभग ६०० ई० पू० में मुद्राओं का अविष्कार किया था, और तभी से इन प्राचीन सभ्यताओं के प्रदेश में मुद्राओं का परिचलन हो गया। मुद्रायें विशेषकर सोने या चांदी की बनती थीं। गेहूँ, ऊन, चमड़ा, सोना, चांदी, मोती, जवाहरात, चन्दन एवं अन्य प्रकार की लकड़ी, ऊन, रेशम, रूई के बने सुन्दर सुन्दर कपड़े, पीतल, तांबा एवं पीतल, तांबे के बने हुए बर्तन इत्यादि वस्तुओं का इन देशों में परस्पर व्यापार होता था। जिस प्रकार आधुनिक काल में कलकत्ता, बम्बई, लंदन इत्यादि बड़े बड़े व्यापारिक नगर हैं उसी प्रकार उस प्राचीन काल में मिश्र में थीबीज़ मेमफिस, और मेसोपोटेमिया में उर और बेबीलोन, सिन्धु में मोहेनजोदाड़ो, उत्तरी अफ्रीका में कारथेज एवं क्रीट में नोसस बड़े बड़े व्यापारिक नगर थे। मिश्र, बेबीलोन, और मोहेनजोदाड़ो में चीन से रेशम, मध्य अफ्रीका से हाथी दांत मिश्र से कांच की वस्तुयें आती थीं। रेशम और रुई के सुन्दर सुन्दर महीन कपड़े बुने जाते थे उनकी धुलाई और रंगाई भी होती थी। मिट्टी के सुन्दर सुन्दर बर्तन बनते थे जिन पर पालिश और चित्रकारी भी होती थी।

५—धार्मिक एवं बौद्धिक जीवन

उस काल में इन देशों में केवल व्यापारिक सम्पर्क ही नहीं था किन्तु सांस्कृतिक सम्पर्क भी। उस समय के लोगों का

धार्मिक एवं बौद्धिक जीवन, मन्दिर, देवी–देवता, पुरोहित एवं जादूगर इत्यादि की भावनाओं तक ही सीमित था। भिन्न भिन्न नगरों में अनेक प्रकार के देवी–देवताओं के मन्दिर होते थे। प्रायः सभी देशों में मातृ–देवी प्रमुख थीं। मिश्र में इन देवताओं के अतिरिक्त फेरो (राजा) भी देवता माने जाते थे। अनेक प्रकार के देवताओं की कल्पना उन लोगों ने कर रखी थी, जिनकी मूर्तियां उपलब्ध हुई हैं। सूर्य, नाग, पेड़, पत्थर इत्यादि की भी देवी-देवताओं के रुप में पूजा की जाती थी। कोई देवता कौटुम्बिक सुख देता था, कोई देवता धन देता था, कोई देवता खेतीबाड़ी अच्छी करता था, कोई देवता बीमारी दूर करता था, कोई देवता युद्ध में विजय दिलाता था—इत्यादि इस प्रकार की लोगों की मनोकामनायें थीं और ऐसे ही देवी-देवता इन देवी-देवताओं के प्रति लोगों का प्रेम या सहानुभूती या एकात्मता का संबंध नहीं था; लोग इनसे डरते थे और डर के मारे इनको बलि चढ़ाते थे, बलि चढ़ाकर उनको खुश करने का प्रयत्न करते थे। पुरोहितों में, दवाई जादू–टोना करने वालों में उनका विश्वास था। उस काल में किसी सुसंगिठत अध्यात्म–परक धम का विकास नहीं हो पाया था। बौद्ध, ईसाई, तथा इस्लाम धर्मों का आविर्भाव तो उस प्राचीन काल के अनेक शताब्दियों बाद हुआ। मिश्र के फेरो (राजा) इखनातन को छोड़कर जिसने कुछ धार्मिक–सुधार करना चाहा था, न तो उन लोगों

में एकेश्वरवाद के विचार का उदय हुआ था और न आत्मा-परमात्मा के आध्यात्मिक विचारों तक उनकी बुद्धि और मानस का विकास हो पाया था। निम्न कोटि के मानसिक और बौद्धिक स्तर तक ही उनकी चेतना सीमित थी। इन लोगों का जीवन ऐहिकतापरक विशेष था बौद्धिक एवं आध्यात्मिक कम। मृत्यु के संबंध में इनके कोई सुनिश्चित विचार नहीं बने हुए थे। धुंधला सा कुछ कुछ ऐसा विश्वास बना हुआ था कि मृत्यु के उपरांत मृत शरीर में फिर कभी प्राण का आगमन होता है, और उसके बाद वह प्राणी या तो ऊपर लोक में देवताओं के पास पहुंचता है या नीचे लोक में दुख पाने को, अपने अच्छे बुरे कर्मों के अनुसार। मृत शरीर में फिर से प्राण आते हैं इसी विचार से मृत्य शरीर को गाड़ा जाया करता था, उसको जला नहीं दिया जाता था। राजाओं और धनिकों के लिये तो बडी बडी कबरें (समाधियां) बनती थीं।

इन लोगों के नैतिक गुण संबंधी विचार भी अधिक विकसित नहीं हो पाये थे। सत्य, अहिंसा, करुणा, प्रेम इत्यादि नैतिक गुणों के संबंध में किसी प्रकारके गहन विचारों या इन गुणों संबंधी किन्हीं प्रकार के आदर्शों की विवेचना ये लोग कम ही कर पाये थे। ऐसा ही अनुमान लगता है कि बुद्धिवाद, वैज्ञानिक-विचारधारा; कला में आत्मानुभूती, अथवा रसानुभूती, इन गहरी

अनुभूतियों तक पहुँचने के लिये इन लोगों का पर्याप्त बौद्धिक विकास अभी तक नहीं होपाया था–चेतना की गहन मुक्त अनुभूति इन्हें नहीं होपाई थी। ऐहिक आवश्यकताओं की दृष्टि से हां इन लोगों ने कुछ गणित का ज्ञान, कुछ ज्योतिष का ज्ञान कुछ दवाइयों और चीड़ा-फाड़ी का ज्ञान एवं सुख और ऐशो आराम के लिये कुछ कलाओं का (स्थापत्यकला, चित्रकारी, कई प्रकार के हस्त कलाकौशल इत्यादि का) ज्ञान इन लोगों ने प्राप्त कर लिया था। स्थापत्य याने भवन निर्माण कला एवं छोटी छोटी दस्तकारियों में तो ये लोग बहुत निपुण थे, इतने निपुण कि आधुनिक इञ्जीनीयर और शिल्पकार भी तत्कालीन भवनों एवं दस्तकारी की कृतियों को देखकर चकित होते हैं। किन्तु ये बातें जीवन के मध्य स्तर की ही थीं। ऐसा कुछ भी अनुमान नहीं लगता कि उन प्राचीन सभ्यताओं में किसी ऐसी प्रतिभा का जन्म हुआ हो जिसकी तुलना हम भारतीय ऋषियों से कर सकें या ग्रीक सभ्यता के प्लेटो और अरिस्टोटल (अरस्तु) से कर सकें, या चीन के कनफ्यूसियस और लाओत्से से कर सकें। प्राचीन भारत या चीन या ग्रीस ने तो ऐसे प्रतिभावान व्यक्ति पैदा किये, इतने उच्च मानसिक, बौद्धिक, आध्यात्मिक विकास वाले मनीषी पैदा किये जिनकी तुलना के मनीषी आधुनिक काल में भी न मिलें। किन्तु मिश्र, मेसोपोटेमिया, एवं सिन्धु सभ्यताओं में मानव की बुद्धि का विकास मध्यम स्तर तक ही हो पाया था।

मानव को बुद्धि-स्वतन्त्रता, भाव-स्वतन्त्रता की अनुभूति अभी तक नहीं हो पाई थी देवी-देवताओं के भय से त्रस्त, पुरोहितों और जादू-टोना करने वालों के भय से त्रस्त,-इनकी चेतना थी। तथापि उनके अनेक संस्कार आज भी मानव को विरासत रूप में मिले हुए मालूम होते हैं। यहूदी, ईसाई और इस्लाम धर्मों में पाई जाने वाली सृष्टि रचना की कथा, इनकी कई पौराणिक कथायें एवं कई वचन ज्यों के त्यों मिश्र और बेबीलोन के प्राचीन लेखों से अथवा उस काल में प्रचलित दंत-कथाओं से लिये हुए मालूम होते हैं। यहूदी लोगों का तो २०००-५०० ई० पू० में मिश्र और बेबीलोन से सीधा सम्पर्क ही था। भारत में भी अनेक देव-देवी पूजा, वृक्ष एवं नाग पूजा, शिव एवं शक्ति पूजा सिन्धु-सभ्यता से विरासत में मिले हुए मालूम होते हैं।

६. सामाजिक संगठन

इन प्राचीन सभ्यताओं के काल में ही मानव कई श्रेणियों में विभक्त हो गया था। सर्वोपरि तो थे शासक-सम्राट्, एवं शासक-सम्राटों से ही संबंधित उच्च-वर्गीय लोग जो प्रान्तों या अन्य छोटे भागों के शासक होते थे या उच्च राज्य-कर्मचारी होते थे। इन्हीं के साथ साथ मन्दिरों के पुजारी, पुरोहित, जादू-टोना-दवाई करने वाले उच्च-वर्गीय मनुष्य होते थे जिनका शासकों पर बड़ा प्रभाव होता था। मन्दिरों में पुजारी-पुरोहितों की अतुल सम्पत्ति होती थी—यहां तक कि शासकों और इन

पुरोहितों में परस्पर शक्ति की टक्कर भी होती थी। शासकों को अनेक बार इन पुरोहितों की मर्जी पर ही चलना होता था। शासकों और पुरोहितों का यह द्वन्द इतिहास में प्रायः सभी देशों में अनेक युगों तक चला था। इन उच्च-वर्गीय लोगों की कक्षा में कुछ और लोग भी आते थे जिन्हें हम भूमींदार अथवा जमींदार कह सकते हैं। ये लोग शासकों के रिश्तेदार या भूमिकर एकत्रित करने वाले अन्य अफसर होते थे जो किसान लोगों से भूमिकर एकत्रित करके उसमें से अपना हिस्सा रखकर बाकी का शासक के खजाने में पहुँचा देते थे। ऊपर वर्णित सब लोग उच्च वर्ग के लोग थे इन्हीं लोगों के महलों या मन्दिरों में उस जमाने की कलाकौशल, विद्या, धन, ऐश व आराम एवं आमोद प्रमोद सब बसते थे। इस उच्च-वर्ग के लोगों के नीचे दस्तकारी का काम करने वाले, युद्ध में लड़ने वाले सिपाही, किसान, छोटे छोटे व्यापारी एवं युद्धों में जीते हुए गुलाम इत्यादि निम्न वर्ग के लोग होते थे। ये लोग बहुत गरीब और पीड़ित होते थे। इन बहु-संख्यक साधारण लोगों के जीवन का प्रवाह प्रायः ऐसा ही था जैसा लगभग आज के साधारण जन का हो। वही सुबह उठना, खेती-बाड़ी का काम करना, दिन भर काम में संलग्न रहना, समय पर सरकार का क़र्ज चुका देना, विवाह शादी करना देवताओं, जादू-टोने तथा पुरोहितों से डरते रहना और इस प्रकार एक मानसिक परतन्त्रता, अन्ध विश्वास

और अविकसित चेतना को लिये हुए अपना जीवन बिता देना।

७. भाषा, साहित्य एवं लिपि

इन प्राचीन सभ्यताओं में मिश्र, मेसोपोटेमिया, सिन्धु-प्रान्त में अपनी अपनी प्रकार की प्राचीन भाषाओं का एवं लिपियों का विकास हो चुका था। वे प्राचीन भाषायें तथा लिपियां, आधुनिक भाषा परिवारों की किसी भी शाखा में नहीं आती। उन भाषाओं का कोई बहुत उच्च कोटि का साहित्य उपलब्ध नहीं हुआ, यद्यपि मिश्र और बेबीलोन की कई गाथायें यहूदी और ईसाई लोगों द्वारा अपनाई गई, एवं मिश्र के सन्त फेरो इखनातन के कई भजन कुरान और बाइबल में आये। उनमें किसी प्रकार का भी उच्च विज्ञान, दर्शन, विचार, काव्य आदि उपलब्ध नहीं। ऐसा अनुमान अवश्य लगता है कि उच्च वर्ग के लोग पढ़ा करते थे और उनके लिये नगरों में पाठशालायें थीं। एक ऐसी पाठशाला के खण्डहर प्राचीन मेसोपोटेमिया के निपुर नामक नगर में मिले हैं।

८. उत्थान और पतन

इन प्राचीन सभ्यताओं के काल में शासकों के बड़े बड़े महल होते थे। साथ ही में देवताओं के बड़े बड़े मन्दिर भी होते थे। इन्हीं मन्दिरों तथा महलों के इर्द-गिर्द उच्च कर्मचारी लोगों के मकान बन जाते थे और इन लोगों की आवश्यकता पूरी करने के लिये उन्हीं महल और मन्दिरों के चारों ओर

बाजार बस जाते थे एवं धनिक व्यापारियों और जमींदारों के घर बन जाते थे; इस प्रकार नगरों की बसावट हो जाती थी। धनिकों के मकान पक्के पत्थरों या ईंटों के (पत्थरों के मिश्र में तथा ईंटों के मेसोपोटेमिया और सिन्ध में) बने होते थे, और गरीब लोगों के मकान कच्चे होते थे या घास फूस के बने होते थे। खेतीहर लोग गांवों ही में कच्चे मकान बनाकर बसते थे। खेतीहर लोगों को धीरे धीरे यह भान होने लगा था कि जमीन जिसे वे जोतते हैं, वह उनकी नहीं है, वह या तो भूमीदार या जमींदार की है, या शासक-सम्राट् की। उस जमाने में मिश्र, मेसोपोटेमिया इत्यादि शासकों के बड़े बड़े साम्राज्य भी बन गये थे किन्तु अपने काल के अन्तिम दिनों में शासक या उच्च वर्ग के लोग बहुत ही शौकीन, आरामतलब, तथा ऐयाशी और शराबी हो गये थे। वे लोग उत्तर-पूर्व से आने वाली सेमेटिक और आर्यन जाति के लोगों के हमलों का मुकाबला नहीं कर सके, उन नोमेडिक लोगों के सामने ये लोग नहीं ठहर सके और वे स्वयं और उनकी सभ्यतायें धीरे धीरे नष्ट होकर लुप्त हो गईं।

९. इन सभ्यताओं के विषय में हमारी जानकारी के साधन

इन सभ्यताओं के विषय में अभी तो हमारा ज्ञान अधूरा ही है, और कई अंशों तक अनुमान पर आधारित । किन्तु ज्यों

ज्यों इन प्राचीन सभ्यताओं की भूमि में पुरातत्व संबंधी अधिक खुदाई होगी और एतिहासिक अन्वेषण होंगे त्यों त्यों इन सभ्यताओं के विषय में विशेष बातें हमें ज्ञात होंगी और इस तरह सम्भव है कि इन सभ्यताओं की हमें धीरे धीरे पूर्ण जानकारी हो जाय।

इन प्राचीन सभ्यताओं का कुछ कुछ विवरणात्मक परिचय हमें ग्रीस के प्रथम इतिहासकार हिरोडोटस द्वारा लिखित इतिहास से मिलता है। हिरोडोटस का जन्म एशिया माइनर में स्थित हेलीकार्नेसस नामक एक ग्रीक शासित नगर में ४८४ ई. पूर्व में हुआ था। उस समय मिश्र, मेसोपोटेमिया तथा एशिया माइनर में ईरानी आर्य जाति के लोगों का साम्राज्य था। हिरोडोटस संसार का सर्वप्रथम इतिहासकार माना जाता है, जिसने किसी देश या जाति की कहानी को क्रमवार इतिहास बद्ध करने का प्रयत्न किया हो। हिरोडोटस एक स्वतन्त्र बुद्धि और विचारों का व्यक्ति था। उसने उस समय में उपलब्ध समस्त ग्रीक साहित्य का अध्ययन किया और तदुपरांत समस्त फारस, ग्रीस, मिश्र, मेसोपोटेमिया, एशिया माइनर, जूडिया, फीलीस्तीन आदि सब देशों का भ्रमण किया, उन देशों में स्थित मन्दिरों, महलों, पिरेमिड–समाधियों, चित्रकला एवं स्थापत्य कला के अवशेषों का खूब अध्ययन किया। इन सब बातों के फलस्वरुप उसके

मन में एक इतिहास लिखने की उत्कण्ठा हुई। वास्तव में तो वह इस कहानी को लिखना चाहता था कि किस प्रकार ईरान के लोगों ने ग्रीक लोगों को हराया और उनको दबाये रखने का प्रयत्न किया, किन्तु इस बात की पृष्ठ भूमि स्वरूप उसने मिश्र, बेबीलोन, असीरीया, फारस और ग्रीस का समस्त प्राचीन इतिहास लिख डाला। यह निश्चित नहीं कि उसके इतिहास में सभी वर्णित बातें सही तथ्य हैं किन्तु उन सब वर्णित बातों का आधार अवश्य किन्हीं एतिहासिक घटनाओं में निहित है। सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण बात यही है कि स्वतन्त्र विकसित बुद्धि का एक मानव उस काल में आर्विभूत हुआ जिसने मनुष्य और उसकी सभ्यताओं की क्रमवद्ध कहानी लिखने का विचार किया और इस प्रकार की कहानी लिखी भी। जो कुछ मालूम हुआ है उसके आधार पर यही कहा जा सकता है कि उपर्युक्त हिरोडोटस द्वारा लिखित इतिहास संसार में सर्व प्रथम लिखित इतिहास है। वैसे हिरोडोटस से भी पूर्व हिन्दुओं की धार्मिक पुस्तक वेद-पुराणों में और यहूदियों की धार्मिक पुस्तक बाइबल (Old Testament) में अनेक ऐतिहासिक और भौगोलिक वृत्तान्त मिलते हैं जो केवल काल्पनिक नहीं हैं,—उनमें भी कुछ तथ्य अवश्य हैं और उनके आधार से प्राचीन ऐतिहासिक बातों पर कुछ कुछ प्रकाश पड़ने लगा है।

सिंहावलोकन

हमारी आज की दुनिया की परम्परा—प्राचीन मिश्र, सुमेर, बेबीलोन, सिन्धु, क्रीट, माया सभ्यताओं से प्रायः विलग है। इन प्राचीन सभ्यताओं की दुनिया ही मानो अलग थी, भिन्न थी, वह आज लुप्त हो चुकी। मानो हमारी आज की दुनिया का प्रारम्भ प्राचीन भारतीय एवं चीनी संस्कृति, ग्रीक और रोमन संस्कृति, यहूदी, ईसाई और इस्लामिक सेमेटिक संस्कृति की परम्पराओं से होता है।

—:❀:—

चौथा खंड

मानव इतिहास का प्राचीन युग

(२००० ई. पू से ५०० ई. तक)

२०-२१

भारत के आर्य-उत्पत्ति और काल निर्णय

पृथ्वी के मानव प्राणियों में कौन वे आर्य लोग थे जिनके विषय में यह कहा जाता है कि उन्होंने भारत में रहते हुए सत्य-ज्ञान वेद के दर्शन किए, (वह वेद जिसको आज संसार अपना एक अति प्राचीन ग्रन्थ मानता है), और सृष्टि के आदि सत्य आत्मा और परमात्मा के निगूढ़ रहस्य को खोज निकाला ?

कैसे ये आर्य थे, कब भारत में बसते थे, कब इन्होंने वेदों की रचना की ? इत्यादि प्रश्न हमारे सामने उठते हैं और

इनका उत्तर हमें वैज्ञानिक आधार पर ढूंढ़ना है—अन्धविश्वास या मतारूढ़ के आधार पर नहीं—जिससे हमको मानव इतिहास का सच्चा ज्ञान हो।

आर्यों की उत्पत्ति

आर्यों की उत्पत्ति के विषय में कई मत हैं; अर्थात् इस विषय में कि आर्यों का आदि निवास-स्थान कहाँ था, कब वे सबसे पहले अपने उस आदिम निवास स्थान में रहने लगे थे, उनकी स्वतन्त्र ही एक पृथक उपजाति थी या किसी पूर्व स्थित अन्य उपजाति की एक शाखा के लोग थे,–इन विषयों में कई मत हैं। ये सब मत अपने अपने ढङ्ग से बनाए तो अवश्य गए हैं अध्ययन एवं अन्वेषण द्वारा उद्घाटित तथ्यों के आधार पर, किन्तु अभी तक पूर्णतया सिद्ध नहीं हुए हैं। इतनी बात तो सर्व मान्य है कि आर्यों की अपनी ही एक स्वतंत्र उपजाति थी, दूसरी उपजातियों से जैसे सेमेटिक, निग्रोइड, मंगोलियन से भिन्न। ये सभी उपजातियां मनुष्य नाम के एक ही पूर्वज की सन्तान थीं या भिन्न भिन्न कालों में भिन्न भिन्न देशों में परिस्थितियों के अनुकूल स्वतन्त्र पृथक पृथक उत्पन्न हुई, इस बात पर पूर्व अध्याय में विचार हो चुका है।

आर्य लोगों के निवास स्थान एवं काल के विषय में पहला मत यह है कि ये लोग सबसे पहिले मध्य यूरोप में,

यूराल पहाड़ से लेकर पच्छिम अटलांटिक महासागर तक जो लम्बा मैदान है उसी में रहते थे और वह भाषा बोलते थे जिसका नाम आधुनिक विशेषज्ञों ने "इण्डो-यूरोपीयन भाषा" रक्खा है। वहां से ये लोग दक्षिण पच्छिम की ओर फैले जिनकी सन्तान आज जर्मन, फ्रेन्च, अंग्रेज, इटालियन, स्केन्डिनेवियन, डच इत्यादि हैं। उन्हीं में से कुछ लोग पूर्व की ओर फैले जो ईरान में बसे। वहां से कुछ लोग और आगे दक्षिण पूर्व की ओर बढ़े और ईसा के लगभग डेढ़-दो हजार वर्ष पहिले भारत में जाकर बसे। ये ही लोग भारतीय आर्य थे जिन्होंने आदिम इंडो यूरोपीयन भाषा के एक रूप संस्कृत का विकास किया। ये आर्य लोग जो मध्य यूरोप से इधर उधर फैले उन्हीं गोरे और लम्बे नोर्डिक लोगों की प्रशाखा थी जिनके विषय में हम पूर्व अध्याय में यह जिक्र कर आये हैं कि वे ईसा के लगभग १०-१२ हजार वर्ष पूर्व मध्य तथा उत्तरी यूरोप में रहते थे और जिनके पूर्वज सम्भवतः क्रोमइगमर्ड टाइप के वे आदिम मनुष्य थे जो लगभग ४० हजार वर्ष पहिले पच्छिमी यूरोप में बसे हुए मिलते थे। इस मत के प्रवर्त्तक एवं समर्थक विशेषतया कई यूरोपीय विद्वान ही हैं।

दूसरा मत यह है कि आर्यों का आदिम निवास-स्थान मध्य एशिया था, विशेषतया वह भाग जो बैकट्रिया कहलाता

था। इस भूभाग में ईसा के कई हजार वर्ष पहिले ये गोरे और लम्बे लोग रहते थे और इण्डो-यूरोपीयन (आर्यन) भाषा बोलते थे। वहीं से ये लोग पच्छिम की ओर यूरोप में गए जिनकी सन्तान प्रायः सभी यूरोपीयन जातियां हैं और जो उनकी आदिम भाषा इण्डो-यूरोपीयन (आर्यन) में से ही निकली हुई अनेक भाषायें जैसे अंग्रेजी, जर्मन, फ्रेन्च, इटालियन, रूसी इत्यादि बोलते हैं। इन्हीं मध्य एशिया में रहने वाले आर्यों की एक शाखा दक्षिण की ओर ईसा के लगभग दो हजार वर्ष पहिले भारत में गई। उसी शाखा के लोग भारतीय आर्य कहलाये जिन्होंने भारतीय आर्य संस्कृति और अपनी आदिम भाषा "इण्डो-यूरोपीयन" से संस्कृत भाषा का विकास किया। इस मत के भी प्रवर्तक एवं समर्थक कई प्रसिद्ध यूरोपीयन विद्वान हैं जैसे क्यूनो, रहोड महाशय, मैक्सम्यूलर प्रभृति। यही मत आज बहु मान्य है—जिसे भारतीय इतिहासज्ञों ने भी प्रायः मान ही सा लिया है।

इस सम्बन्ध में आजकल कुछ भारतीय विद्वानों ने भी अनेक अनेवेषण एवं अध्ययन के बाद अपने स्वतन्त्र मत बनाए हैं जिनका उल्लेख आगे किया जायेगा। इसके पूर्व उपरोक्त दो मतों के अर्थ (Implications) को हमें अच्छी तरह से समझ लेना चाहिए।

आज से लगभग १५० वर्ष पहिले पाश्चात् विद्वानों द्वारा संस्कृत का अध्ययन होने लगा, और अध्ययन करते करते उन्हें यह लगा कि संस्कृत में एवं ईरान, अफगानिस्तान, और यूरोप की भाषाओं में, जैसे फारसी, पस्तो, बलूची, ग्रीक, लेटिन, अंग्रेजी, जर्मन, फ्रेंच, इटालीयन, डच, रूसी इत्यादि में, एक अद्भुत साम्य है, इतना अधिक साम्य कि यह बात निःसंदेह रुप से सिद्ध होचुकी है कि इन सब भाषाओं की जन्मदात्री प्राचीन काल में कोई एक ही भाषा होनी चाहिये, जिसमें से ये सब भाषायें निकलीं। और चूंकि भारत, ईरान और यूरोप निवासियों की पूर्वज भाषा एक ही है,–इसी तथ्य से यह बात भी अनुमानित करली गई कि भारत, ईरान, अफगानिस्तान, यूरोप के निवासी भी सब एक ही पूर्वजों की सन्तान होनीं चाहिये। जर्मनी के प्रकाण्ड भाषा शास्त्री एवं संस्कृत भाषा और साहित्य के प्रकाण्ड पंडित प्रोफेसर मैक्सम्यूलर ने तो यहां तक अनुमान किया कि, "एक समय ऐसा था जब कि भारतियों, ईरानियों, यूनानियों, रोमनों, रूसियों, केल्टों और जर्मनों के पूर्वज एक ही बाडे में नहीं वरन् एक ही छत के नीचे रहते थे। इसके पूर्व कि भारतियों और ईरानियों के पूर्वज दक्षिण की ओर रवाना हुए एवं ग्रीक, रोमन, केल्टिक, जर्मन और रूसी लोगों के पूर्वज यूरोप की ओर रवाना हुए, आर्यों की एक छोटी सी जाति थी जो मध्य एशिया के सबसे ऊँचे पठार बैक्ट्रिया पर बसी हुई थी और एक

ऐसी भाषा बोलती थी जो अभी न तो संस्कृत थी, न ग्रीक और न जर्मन किन्तु जिसमें इन सब भाषाओं के धातु-स्वरुप (Roots) विद्यमान थे"। भाषा विशेषज्ञों ने इस अनेक भाषाओं की जन्मदात्री एक पुरानी भाषा का नाम "इण्डों-यूरोपीयन" रक्खा,-और भाषा ही के नाम पर इन अनेक देशों के निवासियों के पूर्वजों की एक उपजाति का नाम भी "इण्डों यूरोपीयन" पड़ा-किन्तु बाद में जाकर सब विद्वानों में उस पुरानी भाषा एवं उपजाति का नाम "आर्यन" प्रचलित हुआ। इस धारणा के अनुसार आज यूरोप (अमेरिका, आस्ट्रेलिया, दक्षिण अफ्रीका के सभी गोरे निवासी), भारत, अफगानिस्तान, ईरान के निवासी आर्य (Aryans) हैं इनकी धमनियों में एक ही पूर्वजों का रक्त बहता है, और इन सबकी भाषायें एक आर्यन कुटुम्ब की भाषायें हैं। हां कालान्तर में जब ये आदि आर्य अपने आदिम निवास स्थान से दूसरे देशों में फैले तो काल के प्रभाव से, जलवायु के प्रभाव से तथा दूसरे लोगों के सम्पर्क में आने के कारण इनकी एक आदि भाषा भिन्न भिन्न रुप लेने लगी, और उनकी सभ्यता और संस्कृति भी भिन्न भिन्न रास्तों और आदर्शों पर विकसित हुई,-यद्यपि इन आर्यों की आदिम भाषा एक थी, आदिम निवासी स्थान एक था, आदिम सभ्यता एक थी।

रहन-सहन

भाषा एवं निवास स्थान की बात तो यहां तक हो चुकी, अब देखना है कि इनकी आदिम सभ्यता कैसी थी । इस विषय में भी यह बात ध्यान में रखने की है कि इन आदिम आर्यों की तत्कालीन सभ्यता की जो तस्वीर खड़ी की गई है वह भी केवल अनुमान के आधार पर है, और यह अनुमान मुख्यतया भाषा की सहायता से लगाया गया है । जिन शब्दों का अस्तित्व मिलते जुलते रूपों में एक ही अर्थ लिये हुए सभी भाषाओं में मिलता है, उन शब्दों के आधार पर आर्यों की रहन सहन सम्बन्धी बातें घड़ली गईं । उदाहरण स्वरुप गऊ के लिये इन सब भाषाओं में एक मिलता जुलता रुप पाया जाता है यथा:--संस्कृत में "गौ", ईरानी में "गाव" और अंग्रेजी में "काऊ" । इस पर यह बात मान ली गई कि आर्य लोग गऊ पाला करते थे । ऐसे अनेकों शब्द हैं । हम यहां महान् दो यूरोपीय विद्वानों के लेखों में से उद्धरण देकर इस बात को स्पष्ट करते हैं । मैक्सम्यूलर महाशय के लेखों में एक स्थान पर आता है:-"यदि हम भाषा के सभी अवशेषों (Relics) की परीक्षा करने बैठें तो पूरी एक किताब बन जाये, गो कि इसमें कोई सन्देह नहीं कि प्रत्येक शब्द से हमारा मत पुष्ट होगा और प्रत्येक शब्द मानो एक कड़ी होगी जिससे हम इस प्राचीन एवं आदरणीय आर्य जाति के मानस की

तस्वीर बना सकें।" डा. सेसी (Doctor Sayce) लिखते हैं-"इस (Primitive) आर्यन बस्ती का हमें कोई लिखित रिकार्ड नहीं मिला है। किन्तु इस जाति के रहन सहन एवं विचारों का विवरण किसी भी लिखित रिकार्ड में जितना मिल सकता था उससे कहीं अधिक पूरा और सच्चा विवरण तो हमें इनकी भाषा के (Archives) में मिल जाता है"। विद्वानों द्वारा ऐसे आधारों पर बनाई गई तत्कालीन आर्यों के रहन सहन की रूप रेखा कुछ इस प्रकार है:-ये प्रारम्भिक आर्य विकसित सभ्य लोग थे। साफ किये हुए खुले बनों एवं उपवनों (Park Lands) में रहते थे। इनके घर मिट्टी एवं लकड़ी के बने साफ सुथरे होते थे, जिनमें द्वार होते थे। घरों के बीच में पत्थर का भी एक पक्का दालान सा बना हुआ होता था। कालान्तर में गांव भी बस गये थे। गांव में कई पैतृक कुटुम्ब बसे हुए होते थे, और उन पैतृक कुटुम्बों के स्वामी ही गांव के बड़ेरे एवं नेता होते थे। कुटुम्ब का संगठन शिस्त-युक्त एवं मर्यादा युक्त होता था। ये लोग गेहूँ की खेती करते थे, गऊ पालते थे, दूध पीते थे। पशुओं के चराने के लिए बड़े बड़े चरागाह होते थे। कुटुम्ब की दुहित्री गाय का दूध दूहा करती थी। एक प्रकार का नशीला रस भी पीया जाया करता था जो मधु एवं जौ से बनाया जाता था। ऊन और सूत के बुने हुए कपड़े पहिनते थे, जिनको स्यात् स्त्रियां घर पर

बनाती थीं। हलों में बैल जोते जाते थे और अनाज एवं घरेलू सामान गाड़ियों में जिनमें बैल जुते होते थे इधर उधर ले जाया करते थे। ये लोग कांसी, लोहा आदि धातुओं का प्रयोग भी जान गये थे। कुछ विशेष कौटुम्बिक सम्पत्ति को छोड़कर सब खेत एंव चरागाह सारे गांव की या सब लोगों की मिली जुली (Common) सम्पत्ति मानी जाती थी-एक प्रकार का प्रारंभिक साम्यवाद (Primitive Communism) था। कुटुम्ब का स्वामी धनिक या गरीब इसी आधार पर माना जाता था कि उसके पास कितने पशु हैं।

इन लोगों के सामूहिक जीवन का केन्द्र गांव के वयोवृद्ध जन होते थे और वे ही धार्मिक, सामाजिक मामलों में लोगों का नेतृत्व किया करते थे। इनके धर्म में उपासना का भाव होता था किन्तु मूर्ति-पूजा नहीं। जिस प्रकार इस जाति से पहिले की तथा कुछ तत्कालीन जातियों में मन्दिरों की प्रतिष्ठा होती थी, उन मन्दिरों में देवताओं की अनोखी अनोखी मूर्तियों की पूजा होती थी, उनमें नरमेद होता था और मन्दिर का पुजारी ही देवता के प्रतिनीधि रुप में सम्पूर्ण जाति का संचालक एवं मालिक होता था,-इस प्रकार की कोई भी बातें इस आर्य जाति में प्रचलित नहीं थीं। ये लोग अपने मृत्तकों को जलाते थे, दूसरी कई जातियों की तरह गाड़ते नहीं थे।

इस जाति की एक मुख्य विशेषता यह पाई जाती है कि इसके लोग वाणी-प्रवर बहुत होते थे। इनमें बड़े बड़े गायक कवि (Bards) होते थे जो उच्च, मधुर, संगीतमय वाणी में गाथाएं गाया करते थे जिनमें पूर्वजों की पुरानी स्मृति होती थी, देवों की उपासना होती थी। ये गायक कवि मानों जीवित ग्रन्थ थे, मानो मनुष्य का प्रारम्भिक उच्चारण, मनुष्य की प्रारम्भिक बोली इन लोगों में सुघड़, सुन्दर एवं सुसंस्कृत बन गई हो। वाणी और श्रवण के ये सर्व प्रथम कलाकार थे। इन लोगों को अभी स्यात् लिखने की कला का ज्ञान नहीं था, अतएव गाथाएं वंश परम्परा से कंठस्थ की जाती थीं, और गाई जाती थीं, उनमें परिवर्तन, परिवर्धन भी होता रहता था और इस प्रकार यह परम्परा चलती रहती थी। इस जाति की ग्रीक उपशाखा के दो महाकाव्य "इलियड" और "ओडेसी" अब भी मिलते हैं। ईरानी उपशाखा का "जिन्देवस्ता" ग्रन्थ मिलता है और भारतीय उपशाखा के "वेद" मिलते हैं ये लोग मानव बुद्धि के एक विशेष विकसित स्तर तक पहुँच चुके थे और सोचते रहते थे कि दृश्य सृष्टि और मानव मन के भी परे "कुछ" है।

यूरोपीय विद्वानों ने आर्यों के काल एवं निवास स्थान के विषय में जो उपरोक्त निर्णय बनाये हैं उसके अनुसार प्राचीन सभ्यताओं का पूर्वापर कालक्रम इस प्रकार बन सकता है:—

सभ्यता	लगभग प्रारंभकाल	लगभग किस काल तक परम्परा चली	विशेष
मेसोपोटेमिया (सुमेर, बेबीलोन, असीरिया)	५००० से ४००० वर्ष ई. पू.	५०० ई. पू.	
मिश्र	५००० से ४००० ,, ,,	५०० ई. पू.	
सिन्धु (मोहेंजोदारो हड़प्पा)	४५०० से ३५०० ,, ,,	१५०० ,,	
भारत–द्राविड़	३००० से २००० ,, ,,	१००० ,,	
क्रीट द्वीप	३००० से २००० ,, ,,	१००० ,,	
अमरीका (माया सभ्यता)	२००० से १५०० ,, ,,	७००–८०० ई. सन्	
ग्रीक	१००० ई. पू.	ई. सन् के प्रारंभ तक	
रोमन	१००० से ८०० ई. पू.	४०० ई. सन् तक	
चीन	४००० से ,, ,, ,,	अब तक चल रही है	
भारत की आर्य	२००० से १५०० ,, ,,	अब तक चल रही है	

प्राचीन सुमेर, मिश्र, बेबीलोन, क्रीट, द्राविड़ सभ्यताओं के खण्डहरों पर या इनको जीतती हुई ऊपर वर्णित आर्य सभ्यता ईसा के लगभग २००० वर्ष पूर्व से फैलने लगी। मेसोपोटेमिया (सुमेर एवं बेबीलोन) में आर्य लोगों की ईरानी शाखा आई; मिश्र में भी वह कुछ काल के लिये फैली; क्रीट में आर्य लोगों की ग्रीक प्रशाखा फैली; मोहेंजोदारो, हरप्पा एवं द्राविड़ सभ्यता वाले प्रदेशों में आर्यों की भारतीय शाखा फैली। हां चीन में चीन की सभ्यता का स्वतन्त्र विकास होता रहा। आर्य उपजाति (Race) से उनका विशेष सम्पर्क नहीं हो पाया।

किन्तु यह सब बात पढ़ते हुए हमें यह नहीं भूलजाना चाहिये कि आर्यों का अपने से पूर्व प्राचीन सभ्यताओं पर विजय पाना, या उनका उन प्राचीन सभ्यता वाले देशों में फैल जाना—इसका यह अर्थ कभी नहीं कि आर्यों की जाति या उनकी सभ्यता शुद्धरूप में बनी रही; पारस्परिक जाति सम्मिश्रण एवं सभ्यता सम्मिश्रण बराबर हुआ।

भारतीय आर्यों के विषय में भारतीय मत- परम्परा से भारतीय हिन्दू तो यही मानते आये हैं और अब भी मानते हैं कि उनके पूर्वज आर्य तो अनादि काल से यहीं भारत में ही बसते थे और यहीं उनको मानवसृष्टि के आदि में वेद ज्ञान के दर्शन हुए। भारत ही में आर्य संस्कृति का उदय हुआ

और यही देश उस संस्कृति के विकास का क्षेत्र है। उनका यह केवल विश्वास मात्र था और विश्वास मात्र है और इसका आधार है श्रद्धा। भारतीय हिन्दुओं को कभी यह कल्पना भी नहीं हुई कि आर्य कहीं बाहर से आकर इस देश में बसे। जब यूरोपीय विद्वानों ने अनेक अध्ययन, परिशीलन एवं अनुसन्धान कर के यह मत प्रकट किया कि आर्य भारत के आदि निवासी नहीं थे और उनका प्राचीनतम धर्म ग्रन्थ ऋग्वेद ईसा के लगभग केवल २००० वर्ष पहले ही बना, तब भी पुराने परिपाटी के भारतीय विद्वानों पर उस बात का कोई प्रभाव नहीं पड़ा और वे अपने पुराने ही विचार से रहते चले। किन्तु जो नवशिक्षित भारतीय विद्वान थे उनको यह आवश्यकता प्रतीत हुई कि किसी भी बात के प्रतिपादन और अनुसन्धान में तथाकथित पाश्चात्य वैज्ञानिक ढंग अपनाना चाहिये। इसी बात से प्रेरित होकर, अनुसन्धान का तथाकथित पाश्चात्य वैज्ञानिक ढंग अपनाते हुए एक भारतीय विद्वान श्री बालगंगाधर तिलक थे जिन्होंने आर्यों के आदि निवास स्थान और ऋग्वेद के रचना-काल के सम्बन्ध में अपना स्वतन्त्र मत प्रकट किया। उन्होंने परम्परागत भारतीय मत का समर्थन नहीं किया, परन्तु प्रचलित पाश्चात्य मत का खण्डन किया। ऋग्वेद में से ज्योतिष सम्बन्धी एवं ऋतुकाल सम्बन्धी अनेक मन्त्रों का उपयोग करके अन्तरसाक्षी प्रणाली द्वारा उन्होंने अपना जो मत प्रतिपादित

किया वह संक्षेप में इस प्रकार है:—किसी समय पृथ्वी का वह भाग जो उत्तरीय ध्रुव के पास है प्राणियों के बसने योग्य था। यह उत्तरीय ध्रुव प्रदेश ही आर्यों का आदि देश था। यहां पर ये लोग ईसा के लगभग ८००० वर्ष पहले बसे हुए थे। कालांतर में किन्हीं प्राकृतिक कारणों से जब वहां अधिक सर्दी पड़ने लगी तो आर्यों को यह देश छोड़ना पड़ा। कुछ लोग यूरोप में जाकर बसे कुछ ईरान में और कुछ भारत में आये। यहीं भारत में ही वेदों की रचना हुई। इस रचना काल को तिलक महाशय चार काल-खण्डों में विभक्त करते हैं।

१. ६००० से ४००० ई० पू० जब कि केवल कुछ खंडमंत्रों का देवता की उपासना में प्रयोग होता था। पूर्णसूक्त (Finished Hymns) अभी तक स्यात् नहीं बने थे।
२. ४००० से २५०० ई० पू० ऋगवेद के अनेक सूक्त इसी काल में रचे गये। वैदिक सभ्यता का यह सबसे अधिक महत्वपूर्ण काल है।
३. २५०० से १४०० ई० पू० तैत्तिरीय संहिता एवं कई ब्राह्मण ग्रन्थों का रचनाकाल। इसी काल में वेदसंहिता का स्यात् उचित ढंग से संकलन हुआ।
४. १४०० से ५०० ई. पू. सूत्र एवं दर्शन शास्त्रों का रचनाकाल।

एक दूसरे विद्वान् हैं श्री धीरेन्द्रनाथपाल जिन्होंने अपनी

पुस्तक "हिन्दू धर्म का अध्ययन" (A Comprehensive History of the religion of the Hindus) में आर्यों की उत्पत्ति एवं उनके आदि देश, इन दो प्रश्नों पर विवेचन किया है। इन दो प्रश्नों पर अधिकतर यूरोपियन विद्वानों का जो मत रहा है, जिसका विवरण हम ऊपर कर आये हैं, वह पाश्चात्य विद्वानों में आजकल साधारणतया केवल मान्य ही नहीं किन्तु वह उनके विश्वास का एक सर्वसिद्ध अंग सा बन गया है। वह मत, संक्षेप में जिसे हम यहां दुहराते हैं यह है कि आजकल के यूरोपनिवासी, ईरान एवं भारत निवासी, प्रायः सभी एक ही उपजाति "आर्य" की सन्तान हैं। इस उपजाति के आर्य लोगों का आदि निवास-स्थान मध्य एशिया था। इन दोनों बातों का पाल महाशय ने खंडन किया। मैक्समूलर की उक्ति का जिसका उद्धरण हम ऊपर दे चुके हैं और जिसका आशय यह था कि एक वह समय था जब कि भारतियों, ईरानियों एवं यूरोपियनों के पूर्वज एक ही वाड़े में नहीं किन्तु एक छत के नीचे रहते थे, पाल महाशय ने एक दूसरे महान् यूरोपियन विद्वान् मिस्टर टेलर का एक उद्धरण देकर विरोध किया है। टेलर महाशय अपनी पुस्तक (The Origin of the Aryans) "आर्यों का उद्गम" में मैक्समूलर की उपरोक्त उक्ति का जिक्र करते हुए लिखते हैं—
"ऐसी तस्वीर चित्रित करने वाले शब्दों से अधिक अशुद्ध शब्द

स्यात् ही कभी किसी महान् विद्वान् ने कहें हों।" इस प्रकार यूरोपीय विद्वानों के मत का यूरोपीय विद्वानों द्वारा विरोध बतलाते हुए, एवं ऋग्वेद और जेन्दावस्ता में, जो कि दुनिया का दूसरा सबसे प्राचीन ग्रंथ है, जो साक्षी मिलती है उसका आधार लेते हुए पाल महाशय ने जो अपना स्वतन्त्र मत प्रतिपादित किया है वह संक्षेप में इस प्रकार है:-

१. भारतीय आर्य एवं यूरोपियन लोगों के पूर्वज एक ही नहीं है। यूरोपियन लोगों की अपनी स्वतन्त्र ही एक उपजाति बनी। आर्य लोगों के आविर्भूत होने से पहले लाल रंग के लोगों की एक असभ्य जाति (जिसका विद्वानों ने 'ट्यूरेनियन' नाम रक्खा) उत्तरीय यूरोप और उत्तरीय एशिया में बसती थी। आर्य जाति का पृथक भारत में आविर्भाव हुआ; भारतीय आर्यों में से उनका जो कुछ उत्तर की ओर बढ गये होंगे, एवं उपरोक्त ट्यूरेनियन जाति के लोगों का सम्मिश्रण होने से भूरे बालों वाली, नीली आंखों वाली, एक नई 'लाल गोरी' जाति का उदय हुआ। इस नई जाति का उदय यूराल पर्वत के समीप घास के मैदानों में हुआ जहां से वे सारे यूरोप में फैले। आज के यूरोपवासी प्राय: उन्हीं की संतान है। इन लोगों की भाषाओं का संस्कृत से साम्य इसीलिए है कि उन्होंने प्राचीन काल में ही आर्यों के साथ सम्मिश्रण होने के फलस्वरूप संस्कृत भाषा के रूपों को अपना लिया।

(२) आर्य लोगों का उदय भारत में ही हुआ—भारत के उस भाग में जो यहां का स्वर्ग कहलाता है यथा रमणीक काश्मीर। यही काश्मीर ऋग्वेद में वर्णित सप्तसिंधव है, जहां पर वेद (ज्ञान) का सर्वप्रथम दर्शन हुआ और आर्य सभ्यता का विकास हुआ। वैदिक सभ्यता ही सबसे प्राचीन सभ्यता है। अन्य जिन प्राचीन सभ्यताओं का उल्लेख आता है जैसे मिश्र, सीरिया, बेबीलोन, क्रीट की सभ्यतायें—इनका विकास तद्देशीय लोगों का आर्य लोगों के साथ सम्पर्क में आने के बाद हुआ।

पाल महाशय अपनी इस मान्यता के पक्ष में कि काश्मीर ही आर्यों का आदि देश था अनेक यूरोपीय विद्वानों के मतों का भी उद्धरण देते हैं, जैसे:—तुलनात्मक भाषा-विज्ञान के के प्रवर्तक विद्वान Adelung (अेदलंग); महान प्राणीशास्त्रवेत्ता महाशय ब्रोका (Broca)।

कई भारतीय विद्वान् हैं जिन्होंने इस सम्बन्ध में अथक परिश्रम, अनुशीलन एवं अनुसंधान के बाद अपने मत प्रकट किये हैं, जैसे:—डा० प्रधान, डा० दास–इत्यादि। इस सम्बन्ध में एक अर्वाचीन मत श्री सम्पूर्णानन्द का है। इन्होंने अपने विचार काफी अन्वेषणात्मक अध्ययन के बाद अपनी पुस्तक "आर्यों का आदि देश" में प्रकट किये हैं। उनका मत संक्षेप में यह है:—

१. "आर्य लोग भारत में कहीं बाहर से नहीं आये, यही देश उनका आदि निवास-स्थान है। भारत ही आर्य संस्कृति के विकास का क्षेत्र है, यहीं उस संस्कृति का उदय हुआ।"

२. संस्कृति का यह उदय और विकास भारत के उस भू-भाग में हुआ जिसका वर्णन ऋग्वेद में सप्त सिंधव नाम से आता है। सप्त सिंधव प्रायः वही प्रदेश है जो आज कल पंजाब काश्मीर से सूचित होता है। सप्त सिंधव का वर्णन जो ऋग्वेद में आता है, उसकी भौगोलिक रूपरेखा का अनुमान इस प्रकार बनता है। आर्यों के निवास-स्थान इस सप्त सिंधव भूमि के तीन ओर समुद्र था। तब भारत के प्रायः उस भाग का पता नहीं था जहां आज गंगा बहती है क्योंकि वहां समुद्र था। दक्षिण भारत सप्त सिंधव से बिल्कुल पृथक था। इन दोनों के बीच में जहां आज कल राजस्थान, संयुक्त प्रान्त और बंगाल हैं समुद्र लहलहा रहा था। सप्त-सिंधव प्रदेश में सात नदियां बहती थीं, यथा:—सिन्धु, विपाशा (व्यास), शतद्रू (सतलज), वितस्ता (झेलम), असिक्री (चनाब), परुष्णी (रावी) और सरस्वती। इन्हीं सात नदियों के कारण इस प्रदेश का नाम सप्त-सिंधव पड़ा था। ऋगवेद में गंगा यमुना का नाम भी आया है पर ये सप्त-सिंधव प्रदेश के बाहर थीं और थोड़ी सी दूर बहकर ही पूर्वी समुद्र में गिर जाती थीं। वैदिक काल में सिन्धु और सरस्वती का ही यशोगान होता था।

उन्हीं के तट पर आर्यों की बस्तियां थीं और ऋषियों के तपोवन थे। सिन्धु और सरस्वती ही ऐहिक तथा आमुश्मिक उन्नति की सोपान थीं।

यह प्रदेश सुन्दर और सौरभमय था, सम शीतोष्ण था, ६ ऋतुओं का इस भूमि पर आवागमन होता था। इसी प्रदेश में आर्यों का अभ्युदय हुआ और यहीं उनको निःश्रेयश की शिक्षा मिली।

इस वर्णन से तत्कालीन भारत का जो मानचित्र श्री सम्पूर्णानंद ने अनुमानित किया है वह इस प्रकार है—यह मानचित्र उन्हीं की पुस्तक के आधार पर है। सप्त सिंधव का जो मानचित्र दिया गया है वह न्यूनाधिक उस परिस्थिति का है जो आज से २५–३० हजार वर्ष पूर्व रही होगी। २५–३० हजार वर्ष पूर्व भारत की भौगौलिक स्थिति यही थी इसके पुष्ट प्रमाण भूगर्भशास्त्र से मिलते हैं।

३. आज से २५ हजार वर्ष से भी पूर्व आर्य लोग इसी सप्त-सिन्धव में बसे हुए थे, तथा ऋग्वेद में उस समय की

स्मृति और झलक है। ऋग्वेद काल तभी से आरम्भ हुआ और आर्य-संस्कृति का विकास सप्तसिन्धव में तब से ही शुरु हुआ।

४. भारतीय आर्य और यूरोप के निवासी एक ही उपजाति के नहीं हैं। यदि भारतीय आर्य्यों और यूरोप-निवासियों की एक ही उपजाति नहीं है तो यूरोपीय भाषाओं एवं वैदिक भाषा में जो साम्य मिलता है और जिसके आधार पर विद्वानों ने यह राय बनाई कि भारतीय आर्य एवं यूरोपीयन लोग एक ही पूर्वजों की सन्तान हैं—यह राय कैसे असिद्ध हुई ?

श्री सम्पूर्णानन्द के मत के अनुसार भारतीय आर्यों का घर तो सप्त सिन्धव ही था और यहीं से उनकी संस्कृति दूर देशों तक गई। इस संस्कृति के वाहक सामुद्रिक व्यापार करने वाली प्राचीन फीनिशियन जाति के लोग थे जिनका दक्षिण भारत में द्रविड़ों से, एवं सप्त सिन्धव में पच्छिमी समुद्र द्वारा आर्यों से सम्पर्क था। इसके अतिरिक्त भारतीय आर्यों में जो दस्यु लोग थे (दस्यु या दास जो अर्धसभ्य आर्य थे) एवं जो व्रात्य लोग थे (जो आर्यों में गरहित गिने जाते थे)

इन लोगों के झुण्ड भारत से बाहर गये और ये लोग आर्य संस्कृति और भाषा को अपने साथ लेगये जिसका प्रभाव उन देशों की जातियों पर हुआ जहां ये जाकर बसते रहे। मेसोपोटेमिया (सुमेर-बेबीलोन), मोहेंजोदारो-हरप्पा, मिश्र इत्यादि सभ्यतायें सप्तसिन्धव में स्वतन्त्ररुप से विकसित आर्य सभ्यता

से बहुत पीछे की हैं—और इन सभ्यताओं पर आर्य सभ्यता का बहुत प्रभाव है।

एक और पुरातत्ववेत्ता श्री अमृत पंड्या का मत हम यहां उद्धृत करते हैं। (विशाल भारत जून ५० से)—"कहते हैं कि आर्य लोग भारत में ई. पू. १५वीं सदी के करीब आये, परन्तु इस प्रश्न का पूरा हाल होना अभी बाकी है। सम्भव है कि ये लोग यहां इससे भी पहिले आचुके हों और शायद हड़प्पा (मोहेंजोदारो-सिन्धु) सभ्यता इन भारतीय आर्यों की एक सभ्यता रही हो, तो आश्चर्य नहीं।" ...."भारत का प्राचीन आर्य साहित्य इन सिद्धान्तों के विपरीत (कि आर्य लोग भारत में १५वीं सदी के क़रीब आये; हड़प्पा सभ्यता भारत में आर्यों के आगमन के पूर्व की आर्येतर सभ्यता है) उत्तर भारत में आर्य सभ्यता का अस्तित्व बहुत प्राचीन काल से होने का बताता है। पुरातत्व की कुछ अद्यन्त खोजें इस अभिप्राय की ओर ही ढ़लती सी प्रतीत होती हैं। मोहेंजोदाड़ो और हरप्पा में जिस चित्र-लिपि की मुद्रायें मिली हैं, उस लिपि के परीक्षक डा. लेंग्डन, सिडनी स्मिथ, प्रभृति ने सर जॉन मार्शल के हड़प्पा सभ्यता के ग्रन्थ से ही अपना स्वतन्त्र मत व्यक्त करते हुए कहा है कि आर्य-सभ्यता भारत में, हम समझते हैं, उससे अधिक प्राचीन प्रतीत होती है।"

इस प्रकार हम देखते हैं कि अधिकतर भारतीय विद्वान

अनुसन्धान का पाश्चात ढंग अपनाते हुए भी अपने प्राचीन ग्रन्थों एवं अन्य उपलब्ध ऐतिहासिक सामग्री की गवेषणा करके प्रायः इसी परिणाम और मत की ओर पहुँचते दिखते हैं जो मत भारत में परम्परा से चला आरहा है,—जिसका उल्लेख हम ऊपर कर आये हैं; यथा—आर्य मानव मृष्टि के आदि में ही भारत में उद्‌भव हुए, तभी ऋषियों को वेदों के (ज्ञान के) दर्शन हुए। अब प्रश्न केवल यही है कि 'मानव सृष्टि' का आदि-काल आखिर वह कौनसा है। वह कौनसा काल है जब इस पृथ्वी पर सर्वप्रथम मनुष्य का आविर्भाव हुआ? हिन्दुओं के हिसाब से अब सृष्टि सम्वत् १, ९७, २९, ४९, ०५० (अर्थात् लगभग एक अरब ९७ करोड़ वर्ष) है। इसीको आर्य सम्वत् या वैदिक सम्वत कहते हैं। आधुनिक विज्ञान का भी यही अनुमान है कि पृथ्वी को उत्पन्न हुए लगभग २ अरब वर्ष हुए। यह तो पृथ्वी की उत्पत्ति की बात हुई; इसके बाद हिन्दुओं की परम्परा के अनुसार मानव-सृष्टि का आदिकाल अनुमानित लाखों वर्ष पुराना है। एक हिन्दू परम्परा के अनुसार अभी कलियुग चलरहा है—इसके पूर्व द्वापर था, फिर इसके पूर्व त्रेता, और फिर आदि युग सतयुग। एक युग लगभग ४, ३२, ००० वर्ष का माना जाता है। इसमें भी द्वापर का काल परिमाण कलियुग से दूना (अर्थात् २ ×४३२०००); त्रेता का तिगुना और सतयुग का चौगुना। ऐसा माना जाता है कि कलियुग का आरम्भ हुए प्रायः ५००० वर्ष

हुए, अतः मानव सृष्टि का आदिकाल उपरोक्त हिसाब से इस प्रकार हुआ:—

सतयुग	४३२००० × ४=	१७२८०००	वर्ष
त्रेता	४३२००० × ३=	१२९६०००	,,
द्वापर	४३२००० × २=	८६४०००	,,
कलियुग प्रारम्भ हुए········		५०००	,,

मानव सृष्टि को आरम्भ हुए कुल = ३८९३००० वर्ष

अर्थात् मानव सृष्टि को आरम्भ हुए ३८ लाख ९३ हजार वर्ष हुए। जो कुछ भी हो, आधुनिक वैज्ञानिक इतना तो मानते हैं कि इस पृथ्वी पर आदि द्विपद (दो पैरों वाला अर्ध-मानव, अभी तक पूर्ण विकसित नहीं) का आविर्भाव हुए लगभग २ लाख वर्ष हुए। विकासवाद के सिद्धान्त की पृष्ठ भूमि में भूगर्भशास्त्र (Geology) एवं अस्थिशास्त्र की गवेषणाओं के आधार पर पाश्चात विद्वानों ने यह अनुमान लगाया है कि 'पूर्ण मानव शरीर' का,—'आदि मनुष्य का अर्थात् मानव सृष्टि का उदय आज से स्यात् ५० हजार वर्ष पहिले होचुका होगा। यह 'आदि मनुष्य' जिसका आविर्भाव सप्तसिंधव में भी हुआ होगा, सभ्यता की अनेक स्थितियों को पार करता हुआ (श्री सम्पूर्णानन्द की राय में) २५ हजार वर्ष पहिले इस स्थिति में पहुंचा कि वह ऋग्वेद जैसे 'अपूर्व ज्ञान' ग्रंथ की सृष्टि कर सका।

२२

भारतीय आर्यों की सभ्यता
(वैदिक-हिन्दू-धर्म)

वैदिक साहित्य

भारतीय आर्य कौन थे, कब भारत में रहते थे, कब उनके आदि ग्रन्थ ऋग्वेद की रचना हुई, इसकी चर्चा अन्यत्र हो चुकी है। इन आर्यों के जीवन, मन, आत्मा की कहानी, इनकी अन्तर्दृष्टि, इनकी अन्तसतम अनुभूतियां सन्निहित हैं उस साहित्य में जिसे वैदिक साहित्य कहते हैं, जो विशाल है और जिसका मूल है ऋग्वेद तथा अन्य तीन वेद। इस विशाल साहित्य की भाषा वैदिक (संस्कृत का पूर्व रूप) है। कालांतर में इस विशाल साहित्य से आविर्भूत हुआ वेदाङ्ग, दर्शन एवं पुराण साहित्य जो वैदिक भाषा के ही संस्कारित रूप "संस्कृत भाषा" में है। पहिले बहुत संक्षेप में इस साहित्य के शरीर की चर्चा करेंगे। वैदिक साहित्य को पंडितों ने ३ भागों में विभक्त किया है।

१—वेद संहिता

(अर्थात् मंत्र, ऋचाओं का संग्रह)। संहितायें (अर्थात्

संग्रहित मंत्र, ऋचायें) चार वेदों की मिलती हैं—ऋग्वेद, यजुर्वेद सामवेद अथर्ववेद। सब ऋचाओं की भाषा एक सी नहीं है। कहीं कहीं उसमें अत्यन्त प्राचीनता के चिन्ह हैं और कहीं कहीं अपेक्षाकृत कम प्राचीनता के। ये वेद हैं क्या ? वेद का सामान्य अर्थ है "सत्य ज्ञान"। इस अर्थ को मानकर चलें तो आर्यों के इस विश्वास में कि 'वेद' तो अनादिकाल से चले आते हुए ईश्वरीय ज्ञान हैं, किसी को कोई आपत्ति नहीं हो सकती। वास्तव में ज्ञान, अर्थात् वस्तु एवं सृष्टि का सत्य क्या है, यह तो तभी से स्थित अर्थात् विद्यमान है जब से सृष्टि है। पर वेद शब्द का विशेष अर्थ चार प्रसिद्ध वेदों (मंत्र-संहिताओं) से है। इन वेदों में जो ऋचायें या मन्त्र हैं, और उन मंत्रों में जो तथ्य, जो ज्ञान जो सत्य समाहित है, उस ज्ञान अथवा सत्य के दर्शन अर्थात् उसकी स्वानुभूति समय समय पर कुछ विशिष्ट शुद्ध मन वाले पुरुषों (ऋषियों) को हुई, और उसकी अंतरानुभूति होते ही, उस ज्ञान का दर्शन होते ही, वह प्रवाहित हो निकला ऋषि की वाणी से संगीतमय भाषा में। ऋषि द्वारा दृष्ट शब्द बद्ध वह "ज्ञान" या "सत्य" या "तथ्य" कहलाया ऋचा या मंत्र-ऐसे मंत्रों का संग्रह कहलाया वेद। मूलवेद ऋग्वेद में इस तरह १०५८० ऋचाये हैं, अन्य वेदों में अपेक्षा कृत बहुत कम। वास्तव में ऋग्वेद में छन्द बद्ध प्रार्थनायें तथा मंत्र हैं; सामवेद में ऋग्वेद के ही अनेक मंत्रों को गीतबद्ध किया

हुआ है; यजुर्वेद में ऋग्वेद के ही अनेक मंत्रों को यज्ञ कर्म दृष्टि से गद्य सूत्रों में लिखा है, अथर्ववेद भिन्न कोटि का एक मंत्र-टोणों (Incantations) का वेद है। इस प्रकार हम देखेंगे कि वेदों को हम किसी एक प्राणी, कवि या ऋषि की रचना नहीं मान सकते। समय समय पर भिन्न भिन्न ऋषियों ने तथ्यों का अनुभव किया, और मंत्रों की रचना की। (किन्हीं विद्वानों की राय में ऋग्वेद के अनेक मंत्रों की रचना आज से लगभग २५००० वर्ष पूर्व हुई, किन्हीं दूसरे विद्वानों की राय में इनकी रचना आज से लगभग १५००-२००० वर्ष पहिले हुई)। इन मंत्रों की रचना के पश्चात मंत्रों के पठन पाठन की शैली का प्रचार हुआ। उस समय काग़ज तो थे नहीं जो कहीं मंत्रों को लिखा जाता; भोज एवं ताड़ पत्रों का प्रचार भी स्यात् अनेक वर्षों पीछे ही हुआ होगा; अतएव वेद मंत्र वेदाचार्यों द्वारा शिष्यों को कंठस्थ कराये जाया करते थे। उनके कंठ कराने की विधि और प्रणाली इतनी विचक्षण थी कि भिन्न भिन्न वेदों के आचार्यों के शिष्यों तथा प्रशिष्यों की परम्परा में वेदों के मंत्र यथावत् प्रचलित रहे। मैक्सम्यूलर ने अपने लेख "India what it can teach us" भारत हमें क्या सिखा सकहता है" में दिखलाया है कि इतने बड़े साहित्य को स्मृति के आधार पर चलाना कठिन नहीं था। कालांतर में भोज या ताम्रपत्र का प्रचलन होने पर वेद लिखे गये एवं संग्रहित किये गये होंगे।

सबसे प्राचीन ताड़ की पुस्तक ई. सन् की दूसरी शताब्दी की उपलब्ध है। भूर्जपत्र का सब से प्राचीन ग्रन्थ जो अब तक मिला है वह ईस्वी सन् की तीसरी शताब्दी का है; यह ग्रन्थ पाली भाषा का "धम्मपद" है। कागज पर लिखी गई सबसे प्राचीन पुस्तक ई. सन् की १३वीं शताब्दी की बतलाई जाती है, पर पण्डितों का खयाल है कि मध्य एशिया में गड़ी हुई संस्कृत की अनेक पुस्तकें जो कागज पर लिखी प्राप्त हुई हैं उनका काल ई. सन् की चौथी शताब्दी होना चाहिये।

इसी प्रकार कण्ठस्थ याद एवं पठन पाठन की परम्परा से चलते चलते किसी काल में वेद भी लिखे गये—पहिले सम्भव है ताड़ या भोज पत्रों पर लिखेगये हों, फिर कागज पर। आज जो वेदों के भाष्य मिलते हैं वे तो अपेक्षाकृत आधुनिक हैं। वेदों पर सायण और मध्व (मध्ययुग के दो महान पंडित) के भाष्य १४वीं सदी में लिखे गये थे। बंगाल में प्राप्त नगुद भाष्य १०वीं सदी की रचना है। प्रायः इन्हीं भाष्यों के आधार पर छपे हुए वेद आज प्रचलित हैं। सायण के ही भाष्य के आधार पर मैक्सम्यूलर ने सर्वप्रथम ऋग्वेद के पाठ सन् १८५०–७२ ई. में छपवाये; फिर अन्य पाश्चात्य विद्वानों ने अन्य वेदों के पाठ छपवाये। उन्हीं के आधार पर, एवं कुछ और विशेष अन्वेषणों के साथ २०वीं शताब्दी में वेदों के पाठ छपे।

२. ब्राह्मण

वैदिक साहित्य का दूसरा भाग है–ब्राह्मण ग्रन्थ। ब्राह्मण ग्रंथ गद्य में लिखे गये हैं और इनमें कर्मकाण्ड की प्रधानता है। वेदों (संहिताओं) में चर्चित यज्ञों के लिये, कब और कैसे अग्नि प्रज्वलित करनी चाहिये, कुष किधर और क्यों रखना चाहिये आदि यज्ञ सम्बन्धी अनेक छोटी मोटी बातों का विवेचन किया गया है। तथा जगह जगह ऐतिहासिक और परम्परा प्राप्त कहानियां हैं जो बाद में चलकर पुराण और इतिहास का रूप धारण करती हैं। असल में ब्राह्मणों में से बहुत लुप्त होगये हैं और यह जानने का कोई उपाय नहीं रह गया है कि उनमें क्या था। ब्राह्मणों ने जिस दृष्टि से संहिता को देखा है, वह यद्यपि कर्मकांड प्रधान है, फिर भी उसमें व्याकरण, आयुर्वेद, दर्शन आदि का असपष्ट रूप विद्यमान है।

३. आरण्यक और उपनिषद्:—ब्राह्मणों के अन्त में आरण्यक और उपनिषद् हैं। इनमें आध्यात्मिक बातों का बड़ा गम्भीर विवेचन किया गया है। ये "वेदान्त" भी कहलाते हैं, क्योंकि यह वेदों के ही अन्तिम भाग हैं। भारतवर्ष के सभी दार्शनिक सम्प्रदाय इन उपनिषदों में ही अपना आदि अस्तित्व स्वीकार करते हैं।

उपर्युक्त वैदिक साहित्य की रचना के बाद (जिसे हम आर्यों का आधारभूत साहित्य कह सकते हैं) और अनेक प्रकार

के साहित्य की रचना हुई, जिसका उल्लेख आर्य जाति की संस्कृति और सभ्यता की आज तक अबाध गति से चली आती हुई धारा को समझने के लिये आवश्यक है। यह साहित्य निम्न प्रकार है—इसकी रचना काल के विषय में कुछ निश्चितपूर्वक नहीं कहा जा सकता। सम्भव है ईसा के अनेक शताब्दियों पूर्व से ईसा के पश्चात कुछ शताब्दियों तक इसकी रचना हुई हो।

१. वेदाङ्ग साहित्य

वैदिक साहित्य (वेद, ब्राह्मण, उपनिषद्) काफी बड़ा हो चुका था। उसकी वैज्ञानिक छानबीन भी आरम्भ होगई थी। वेदाङ्ग साहित्य में इन्हीं प्रयत्नों का संग्रह है, यथा:—ऐसे ग्रन्थ जो शिक्षा में उच्चारण की विधियों का निर्देश करते थे; सूत्र ग्रन्थ जो वैदिक यज्ञों का विधान, नित्य नैमेतिक कर्म, इत्यादि बातों का निर्देश करते थे, व्याकरण, निरूक्त,-कोष ग्रंथ जिनमें वैदिक शब्दों की निरूक्ति बताई गई है, संसार की किसी जाति ने इतने पुराने ज़माने में कोष नहीं लिखे, छन्दशास्त्र, वेदाङ्ग ज्योतिष !

२. पुराण इतिहास

पुराणग्रंथों से मतलब उन ग्रंथों से है जिनमें प्राचीन आख्यायिकायें संग्रहित हों विद्वानों का अनुमान है कि इन पुराणों में वैदिक काल के पूर्ववर्ती काल का इतिहास भी कहीं २ पाया जाता है। पुराणों की वंशावलियाँ और उनकी कथायें निश्चय ही बहुत पुरानी हैं। पुराणों के कर्त्ता व्यासजी ही माने जाते हैं;

महाभारत बनने के पहिले पुराणजाति के ग्रंथ विद्यमान थे वेद तथा उपनिषदों के अनेक गूढ़ रहस्य एवं विचार और भावनाओं का उदघाटन पुराण ग्रंथों द्वारा होता है

३. महाभारत

महाभारत अपने आपमें एक संपूर्ण समग्र साहित्य है। यह लोक प्रवाद बहुत अशं तक सही है कि जो विषय महाभारत में नहीं है वह भारत में कही भी नहीं है। पंडितों ने महाभारत का अर्थ किया है—भारतवंश वालों की युद्ध कथा। ऋग्वेद में इन भारतवंश वालों का उल्लेख है। ब्राह्मण ग्रंथों में भरत को दुष्यन्त और शकुन्तला का पुत्र बतलाया गया है। इन्हीं भरत के वंश में कुरु हुए जिनकी सन्तानों में आपसी झगड़े के कारण कभी घोर युद्ध हुआ था। महाभारत में इसी युद्ध का वर्णन है। किन्तु महाभारत केवल इस युद्ध की ही कहानी नहीं है। असल में महाभारत उस युग की ऐतिहासिक, नैतिक, पौराणिक, उपदेशमूलक और तत्ववाद सम्बन्धी कथाओं का विशाल विश्व-कोष है। भारतीय दृष्टि से महाभारत पाँचवा वेद है, इतिहास है, समृति है, शास्त्र है, और साथ ही काव्य है। अनेक काल तक यह ग्रंथ बनता और संग्रहित होता रहा। समूचे महाभारत की रचना का एक काल नहीं है। आज का महाभारत एक लाख श्लोकों का संग्रह ग्रंथ है। इसी महाभारत के अन्तर्गत है—विश्व प्रसिद्ध "गीता" जिसमें समाहित है हिन्दू दर्शन का

निचोड़—कि मानव ज्ञानोत्पन्न अनासक्त भाव से स्वधर्मानुकूल (अर्थात् अन्तःस्थित स्वभाव के अनुकूल) कर्म करते हुए, सब कुछ अपने भगवान को समर्पित करदे। ज्ञान, कर्म, भक्ति (Knowing Willing Feeling) का यह अपूर्व सामंजस्य है—जिस सामंजस्य के बिना जीवन एकाङ्गी रह जाता है।

४. रामायण

विश्वास किया जाता है कि वैदिक साहित्य के बाद मानव कवि का लिखा हुआ यह पहिला काव्य है। इसलिए इसके रचयिता वाल्मीकि को आदि कवि, और रामायण को आदि काव्य मानते हैं। विद्वानों की परीक्षा से भी यह सिद्ध हुआ है कि रामायण सचमुच काव्य जाति के ग्रन्थों में सबसे पहिला है। यह काव्य अखिल संसार के महाकाव्यों की तुलना में अद्वितीय है। ग्रीक महाकवि होमर के 'इलियड" और "ओडेसी", इटली के महाकवि दान्ते का "दिवाना कोमेडिया" श्रेष्ठ महाकाव्य है, किंतु उनमें रामायण के भावों जैसी सूक्ष्मता (Subtelty) एवं माधुर्य नहीं है। विद्वानों द्वारा ऐसा भी मालूम किया गया है कि ६०० ई. पू. के आसपास कम्बोडिया (हिंदचीन का एक प्रांत) में रामायण का धार्मिक ग्रन्थ के रूप में प्रचार था।

५. दर्शन

दर्शन शास्त्र ६ हैं। यथा— १. कपिल का सांख्य २. गोतम का न्याय ३. पातंजली का योग दर्शन ४. कणाद का

वैशेषिक ५. महर्षि जैमिनि का पूर्व मीमांसा ६. महर्षि व्यास का उत्तर मीमांसा (वेदान्त)। इन सब दर्शन शास्त्रों के मूल में वेद, और उपनिषद् हैं। ये दर्शन सूत्र रूप में लिखे गये थे, अतएव इनको समझने के लिये भाष्यों की बड़ी जरुरत थी। जैसे उत्तर मीमांसा (मीमांसा का अर्थ है वेद वाक्यों के वास्तविक भावों को समझना) पर शंकराचार्य, रामानुज, माध्व विष्णु स्वामी के भाष्य मिलते हैं,—जो अपने अपने मत के अनुसार अद्वैतवाद, विशिष्टा द्वैतवाद, शुद्धाद्वैतवाद का प्रतिपादन करते हैं।

"हिन्दू-धर्म"

उपर्युक्त वैदिक साहित्य (वेद, ब्राह्मण, उपनिषद) तथा उत्तर वैदिक साहित्य (वेदाङ्ग, पुराण, इतिहास दर्शन इत्यादि) ही हिन्दू धर्म, हिन्दू मान्यता, हिन्दू दर्शन, हिन्दू ज्ञान विज्ञान का आधार स्तंभ हैं। आधुनिक हिन्दू धर्म प्राचीन वैदिक धर्म का ही नामान्तर है। इस धर्म के प्रवर्तक, ईसाई या मुसलमान या बुद्ध धर्मों के समान कोई एक नबी या प्रोफेट (Prophet) या गुरु नहीं हुए;-न इसका प्रवर्तन किसी एक विशेष काल में हुआ। यह धर्म तो प्राचीन ऋग्वेदिक काल से-(वह ऋग्वेद जो मानव जाति का आदि ग्रन्थ है) आधुनिक काल तक एक अजस्र धारा की तरह बहता हुआ चला आया है-और चला जारहा है; आज के भारतियों में उसी प्राचीन ऋग्वेदिक संस्कृति

एवं सभ्यता के, उसी प्राचीन धार्मिक एवं दार्शनिक मान्यताओं के संस्कार हैं। इतिहास के इस दीर्घकालीन समय में, इस हजारों वर्षों के समय में, वे संस्कार कभी अवरुद्ध नहीं हुए, भारतीय संस्कारों से मूलत: कभी भी दूर जाकर नहीं पड़े। हजारों वर्षों के इस काल में अनेक अन्य सभ्यताओं, जातियों एवं धर्मों से इस भारतीय (वैदिक, हिन्दू) धर्म और सभ्यता सम्पर्क हुआ–परस्पर लेन देन, मेलजोल हुआ; बहुतसी नई चीजें मूल रुप में या रुपांतरित होकर इसमें समा गई, किंतु उस आदि मूल धारा का प्रवाह रुका नहीं, मूल धारा के प्रवाह की दिशा भी आधार भूत रुप से बदली नहीं। इसीलिये कहते हैं–प्राचीन काल में संसार में अनेक महान सभ्यताओं का जैसे मिश्र और वेबीलोन की सभ्यता, ग्रीस एवं रोम की सभ्यता का उदय हुआ, उत्थान हुआ, किंतु काल के गहन गर्त में उनका रुप विलीन होगया; इसके विपरीत भारतीय सभ्यता एवं संस्कृति की धारा टूट कर कभी विलीन नहीं हुई, यद्यपि उसमें नये रुप रंग आये। आज भी इस भूमि की संस्कृति और सभ्यता के वातावरण में उद्‌भवित हुए हैं मानव मात्र की कल्याण भावना अन्तर में लिये हुए शीलवान पुरुष–गांधी, रवीन्द्र और अरविंद।

आखिर क्या इस संस्कृति में है ?

२३

भारतीय आर्य संस्कृति की आत्मा

हम भारतीय आर्य संस्कृति के बह्यांगों को छोड़कर इसकी आत्मा को समझने का प्रयत्न करेंगे। डा० राधाकृष्णनन् ने अपने "इंडियन फिलोसफी" नामक ग्रन्थ में कहा है कि हिन्दूधर्म सिद्धान्तों का स्थिर संग्रह नहीं है, वह सतत विकासशील प्रक्रिया है। अपने "हिन्दू व्यू ऑफ लाइफ" में इसी भावना को व्यक्त करते हुए उन्होंने कहा है—"विश्वास अथवा व्यवहार में एक रस, स्थिर, अपरिवर्तनीय, हिन्दूधर्म जैसी कोई वस्तु नहीं रही है। हिन्दूधर्म प्रगति है, स्थिति नहीं, प्रक्रिया है, परिणाम नहीं, प्रवर्धमान परमात्मा है, निश्चित (सीमित) ईश्वरीय ज्ञान नहीं।"

वास्तव में इस धर्म अथवा संस्कृति के तत्व एकदेशीय, एकजातिय अथवा एककालिक नहीं हैं। ये तत्व सार्वभौम हैं। यदि मानव मानव है तो ये तत्व बने रहेंगे। 'आर्य' नाम विलीन हो सकता है, "भारतीय" नाम विलीन हो सकता है,--किन्तु

मानव जब तक एक प्राण और चेतनाधारी जीव है, तब तक ये तत्व विलीन नहीं हो सकते–बने रहेंगे। ये तत्व 'सत्य' पर आधारित हैं; यदि 'सत्य' 'विज्ञान' का पर्याय है तो हम कह सकते हैं कि ये तत्व विज्ञान पर आधारित हैं भौतिक विज्ञान एवं मनो विज्ञान। ये तत्व किन्हीं अर्ध-विकसित असभ्य स्थिति की कल्पनाओं या किन्हीं पुरातन अंधविश्वासों में निहित नहीं हैं। यह धारणा कि आर्य लोग तो अनेक स्थूल देवताओं की पूजा करते थे, गलत है। आर्य ऋषि, प्रकृति के रुप में ईश्वरीय शक्ति का जो आभास मिलता था उसीके साथ आत्मासात् होते थे। "वरुण" देवता की प्रार्थना करते हुए उन्होंने गाया था "वे तारे जो रात में दिखलाई देते हैं, दिन में कहां छिप जाते है? वरुण की रीति अविनाशी है; चन्द्र रात भर चमकता रहता है।" वे समस्त "प्रकृितक नियम" (Natural Laws) जिनसे सृष्टि में व्यवस्था (Order) स्थित है, जिन नियमों का देवता भी उल्लंघन नहीं कर सकते,–ये ही वरुण देवता की "रीति" (ऋत–Cosmic Order) है, जिसकी वरुण रक्षा करता है। उन लोगों की जीवन धारणा–इन प्राकृतिक नियमों के विरुद्ध, इन वैज्ञानिक सत्यों के विरुद्ध नहीं हो सकती थी। उनके जीवन में उनके चिंतन में कोई भी धारणा, कोई भी विश्वास नहीं ठहर सकता था जो सत्य न हो, जो वैज्ञानिक न हो। उन लोगों की ज्ञान एवं विज्ञान की व्याख्या से ही

यह बात हमको मालूम हो जाती है। गीता में जिसे वेदों उपनिषदों का सार मानते हैं, यह व्याख्या इस प्रकार की गई है--"विश्व सृष्टि के व्यक्त पदार्थों में जो अ-द्वितीय अव्यक्त मूलद्रव्य है. वह जिससे जाना जा सकता है वह है ज्ञान; तथा उस अ-द्वितीय मूलभूत अव्यक्त द्रव्य से भिन्न भिन्न एवं अनेक पदार्थों की उत्पत्ति कैसे हुई यह जिसके द्वारा जाना जा सकता है वह है विज्ञान।" विज्ञान (Science) की इससे अधिक उपयुक्त परिभाषा मिलना कठिन है आज के सब विज्ञान (भौतिक शास्त्र, रसायन शास्त्र, प्राणिशास्त्र, वनस्पतिशास्त्र, ज्योतिष इत्यादि) केवल इसी बात के जानने के प्रयासमात्र ही तो हैं कि एक अव्यक्त द्रव्य से किस प्रकार यह सृष्टि और इस सृष्टि के भिन्न भिन्न पदार्थों की उत्त्पत्ति हुई। ऐसा प्रतीत होता है कि प्रकृति के निगूढ़ रहस्यों एवं नियमों का जिनका उद्घाटन विज्ञान आज शनैः शनैः कर रहा है–वे अनेक रहस्य अर्न्तदृष्टि (Intuition) द्वारा, शुद्ध निर्मल बुद्धि द्वारा एवं प्रकृति के साथ मधुर आत्मसात् के फल स्वरुप–वैदिक ऋषियों के मानस पटल पर कभी कभी सहसा अपने आप आकर अंकित हो जाते थे,–जो मंत्रों द्वारा अभिव्यक्त होते थे। माना, इस नानाविध प्रकृति की सभी छोटी मोटी बातों के अध्ययन की ओर वे प्रवृत्त नहीं हुए--किन्तु जिन जिन भी आधारभूत तथ्यों को उन्होंने आत्मसात् किया–थे वे प्रकृति के सत्य। इसका यह अर्थ भी

नहीं समझलेना चाहिये कि उन्होंने प्रकृति के सब ही आधारभूत तथ्यों को आत्मसात् कर लिया था। इस प्रकृति की, इस विराट की विशाल अनेकरुपता–इसके रहस्यों की अनंतता को देखकर तो वे आश्चर्यविभोर थे–इस विराट् के रहस्यों का उद्‌घाटन करते करते, इसकी व्याख्या करते करते अंत में वे यही कहते थे "यह भी नहीं, यह भी नहीं"–नेति नेति। आज के वैज्ञानिक भी प्रकृति पर प्रबल विजय प्राप्त करते हुए उस के गूढ़ से गूढ़तर रहस्यों में प्रवेश करते हैं। यथा–वस्तु की स्थिति वे इसके सूक्ष्मतम भाग परमाणु से भी सूक्ष्मतर भाग इल्कट्रोन (विधुदणु) के रुप में पाते हैं, और पाते हैं उन विधुदणुओं को अप्रतिहत गति से अपने नाभिकण (Neoclens) के चारों ओर घूर्णित होते। फिर महान वैज्ञानिक आइनस्टाइन की आंखों से वे इस सृष्टि को देखते हैं और एक विरोधाभास (Paradox) कह उठते हैं–यह सृष्टि "सांत है किंतु असीम" (A Finite but Unbounded universe) । जब वे ऐसा विरोधाभास कहते हैं, जब वे इल्कट्रोन प्रोटोन (विधुदणु प्राणु) की, अलौकिक दुनियां में प्रवेश करते हैं, तब वे भी मानो प्राचीन आर्य दृष्टाओं की तरह अवश्य अनुभव करने लगते हैं–"यह भी नहीं, यह भी नहीं।" मालूम होता है आज के कई वैज्ञानिक तथ्य कई वेद मंत्रो की व्याख्या मात्र हैं। फिर आज के वैज्ञानिक पहिचान ने लगे हैं कि प्रकृति में ज्यों ज्यों वे विशाल से

सूक्ष्म, और सूक्ष्म से सूक्ष्मतर तत्त्व की ओर बढ़ते हैं त्यों त्यों वे उसे अधिक शक्तिशाली पाते हैं। कोयले में शक्ति है किन्तु उससे कई लाख गुणा शक्ति है उस कोयले के परमाणु में। "परमाणु शक्ति" आज एक कितनी विचक्षण वस्तु उद्घटित हुई है। एक परमाणु में एक सौर मंडल समाया हुआ है, मानो एक पिंड में ब्रह्मांड का अस्तित्व हो। परमाणु शक्ति में विशाल तेज में (अग्नि) है, विशाल प्रकाश है, विशाल गति है,-किन्तु परमाणु में भी सूक्ष्मतर एक वस्तु है-इसका दर्शन ऋषियों ने किया था। वह वस्तु है आत्मा; आत्मा से सूक्ष्मतर वस्तु कौन है ? अतएव आत्मा से अधिक शक्तिशाली, अधिक विशाल, अधिक प्रकाशमान और गतिमान् और कौनसी दूसरी वस्तु संभव है ? ऋषि ने सिद्ध किया था कि 'भूया' बहार के आयतन में नहीं है, परिमाण में भी नहीं है, कहीं है तो वह अंतर की परिपूर्णता में है।" (रविन्द्र) इसका दर्शन ऋषियों ने प्रकृति को पैरों के नीचे रौंदते हुए नहीं किया-इसका दर्शन किया था प्रकृति के साथ विनीत तादात्म्य स्थापित करके। प्रकृति के बाह्य रूप से वे प्रकृति की "आत्मा" तक पहुँचे, और फिर उस आत्मा की आत्मा तक-उस "एक ज्ञानातीत महान् सत्ता" तक।

प्रातः काल ऋषि ने जब 'उषा' की सौन्दर्य मयी आभा के दर्शन किये, उसने उस आभा को रंजित देखा अपने अन्तस

(आत्मा) में; फिर जब उसने जाज्वल्यमान 'सूर्य' के दर्शन किये उसके भी अनन्त तेज को देदीप्यमान पाया अपनी आत्मा में; फिर जब उसनें देखा आकाश को आच्छादित करते हुए और भयङ्कर रुप से गर्जना करते हुए 'इन्द्र' को, उसकी शक्ति को भी समाया हुआ पाया उसने अपनी आत्मा में; फिर जब उसने देखा "अदिति" (अनन्त अन्तरिक्ष) को, उसकी अनन्तता को भी परिव्याप्त पाया उसने अपनी आत्मा में। उषा में दर्शन किए उसने आत्मा की सुषमा के, सूर्य में आत्मा के प्रकाश और तेज के, इन्द्र में आत्मा की शक्ति के, अदिति में आत्मा की अनन्तता के; उस 'आत्मा' की एकात्मता की उसने अनुभूति की "उससे" जो एक सर्वस्व है,—एक महान है,—जो सब में व्याप्त है, जिसमें सब व्याप्त हैं। इस अनुभूति के क्षण में अनन्त अदितियां उसमें परिव्याप्त थीं, अनन्त सूर्य प्रकाशमान थे, अनन्त इन्द्र उसके पैर चूम रहे थे—और अनन्त दिशाओं में प्रस्तुत थीं अनन्त उषायें सौम्य सुषमा का थाल सिजोये हुए। वह मुक्त था,—निर्भीक मुक्त कण्ठ से चिल्ला उठा:—

उज्वल सोम पीया है हमने,
और हम होगये हैं अमर।
प्रकाश में प्रवेश पाचुके हम हैं,
और सब देवों को जानलिया है।

कौन कर सकता है हानि हमारी–
कौन करे वैरी आन्तकित ?
अब हम हे अमरदेव हैं तुम से,
अनुप्राणित हो उत्थित होते–
निर्भय हो, हे देव अमर हो।"
(अथर्व वेद ८–४८–३)

उसने चाहा मानव की इस अन्तश्चेतना को–जो डरी हुई रहती है, जो प्रताड़ित रहती है और दुःखित रहती है, इस निर्भीकता की, मुक्ति की अनुभूति हो। इस निर्भीक मुक्ति की अनुभूति वैदिक ऋषि ने की थी, और तब मानों सृष्टि आनन्द विभोर हो उठी थी। "मानव तू अपनी चेतना को बन्धन मुक्त कर सकता है, तेरे अन्तस में अबाध आनन्द का स्रोत प्रवाहित है।" ऋषिके ज्ञानानुभूति के प्रकाश से उद्‌भूत यही एक स्वर्णिम रेखा है जो मानव मानस के भारी, धुंधले अन्तरिक्ष में झलकती रहती है। यह परलोक की बात नहीं है–यह किसी कल्पित भविष्य जीवन की बात नहीं है; यह इसी जीवन इसी लोक की बात है। यह मनोवैज्ञानिक सत्य है। जिस प्रकार यह एक वैज्ञानिक सत्य है कि सूक्ष्मतम परमाणु में विशाल शक्ति छिपी हुई है उसी प्रकार यह एक मनोवैज्ञानिक सत्य है कि इस 'मानव चेतना' में अनन्त मधुरिमामय आनन्द है। चारों ओर निर्बलता

की छाया होते हुए भी, यह शरीर रुपी मन्दिर ढ़हती हुई स्थिति में होते हुए भी, चारों ओर विनाश और चीत्कार होते हुए भी, अन्तर में वह आनन्द का दीपक मधुर मधुर प्रकाशित होता रहता है। "वह प्रकाश, वह मधुरिमा, वह संगीत" प्राप्य है—उससे साक्षात्कार हो सकता है;—केवल 'चेतना' को अधिक विस्तृत और गहन चेतनता (Awareness: Consciousness) की ओर जागृत और उन्मुख होने की आवश्यकता है। निर्जीव वस्तु में चेतना लुप्त है—या सर्वथा सुषुप्त है,— जानवर में यह 'चेतना' केवल इन्द्रियगोचर ज्ञान के स्तर तक जागृत है, मानव में (यदि मानव जानवर के स्तर पर ही जीवन व्यतीत नहीं कर रहा है तो) यह चेतना अधिक गहन एवं विस्तृत स्तर पर जागृत है;—उस चेतना को उस "परम चेतन सत्-आनन्द" तक पहुँचने के लिये गहनतर एवं उच्चतर स्तरों में आरोहण अवरोहण करना पड़ता है। वैदिक ऋषि की चेतना सरल, शुद्ध निर्मल थी; उस चेतना के उत्थान और विकास का आलम्बन था यह समस्त उद्भुत अनन्त विश्व—इस विश्व का अन्तरिक्ष (वरुण), इसका प्रकाशमान तेजोमय 'सूर्य', जाज्वल्यमान "अग्नि", एवं ललित उषा। इन सबमें व्याप्त और इन सबके परे उसकी चेतना को ज्ञान हुआ उस परमतत्व का "जो समस्त सृष्टि पर राज्य करता है जिसमें समस्त प्राणी स्थित हैं, जो जीवन है उन सबका जो स्थिर और जङ्गम हैं।" इस ज्ञान की

अनुभूति से उसकी चेतना उदात्त (Sublime) बनी उदात्तता (Sublimity) से उत्पन्न हुई उसके हृदय में उपासना। और उपासना की तन्मयता में उसे अनुभूति हुई उस 'परमचेतन सत् आनन्द' की—ब्रह्मानन्द की। मानो वह स्वयं उसकी चेतना थी, स्वयं वह "सत्चितानन्द" था।

इस अमर आनन्द अनन्त प्रकाश के लोक में पहुँचने के लिये वे सोम देवता से प्रार्थना करते थे।—"जहां अनन्त प्रकाश है, उस लोक में जहां सूर्य स्थित है, उस अमर अमृत लोक में मुझे पहुंचाओ ओ सोम।" (ऋग्वेद ६-११३)। "जहां आनन्द और सुख है, जहां हमारी इच्छाओं की इच्छायें पूर्ण होती हैं वहां मुझे अमर बनाओ,-ओ सोम।" यह 'सोम' देवता कौन था? यह दिव्य ज्ञान का प्रतीक मधुरस का प्याला था जिसे पीकर वे मस्ती में झूमते थे। कौन दिव्य ज्ञान का रस पीकर मस्ती (Ecstasy) में नहीं झूमने लग जाता?

यह तो एक बात हुई। दूसरी एक और बात है, वह यह कि सृष्टि को समग्र दृष्टि से आर्यों ने देखा है। उससे डर कर वे विरत कभी नहीं हुए। उनके लिये केवल आत्म-तत्व, केवल अव्यक्त ब्रह्म सत्य नहीं। उनके लिये मृदुल सर्जन एवं हाहाकार मचाता हुआ संहार, रुंडमुंड माला नवनीत बालक, महाकाल रात्रि

रंगमयी उषा, खड्ग एवं कमल सब बराबर सत्य थे। यह अखिल सृष्टि, दृश्य अदृश्य, व्यक्त अव्यक्त, इसके सत्य असत्य, इसका संहार सर्जन, इसकी शांति अशांति, इसका आनंद विषाद, सबके सब उस परमतत्त्व उस ब्रह्म में स्थित हैं। यह ब्रह्म-यह ईश्वर केवल कृपालु प्रेममय नहीं, केवल शिव नहीं, यह महारुद्र भी है। सृष्टि के इस आदि सत्य की निर्भय एवं निश्चय आर्य ऋषि ने घोषणा की थी-"सृष्टि को सीधा देखना मानो ईश्वर को साक्षात् देखना है-ईश्वर एवं सृष्टि (ब्रह्म एवं सृष्टि, पृथक नहीं।" इस सृष्टि का नियम संहार एवं सर्जन दोनों है, मानो अनादि काल से वेद यह कहता हुआ चला आरहा हो-"संहार के द्वारा सर्जन एवं पालन-सृष्टि का यही प्रथम नियम मैंने बनाया है।" सृष्टि शिव के ताण्डव नृत्य एवंमग्न-समाधि दोनों में स्थित है। मानव शिव के तांडव नृत्य को आत्मसात् करता हुआ मग्न समाधि में भी स्थिर रह सकता है। धूआंधार इस सृष्टि के कर्म में प्रवृत रहता हुआ भी आनंदमय लोक में विचरण कर सकता है। ईषोपनिषद् में कहा है: "जो सर्जन और संहार दोनों को साथ साथ देखता है, वह मृत्यु पर संहार के द्वारा विजय प्राप्त कर लेता है, एवं सर्जन द्वारा अमरत्व का उपभोग करता है।" यही विचार अभिव्यक्त हुआ है रविन्द्र में:-

"ओगो नही ! चंचल अप्सरी
तव नृत्य मंदाकिनी

नित्य झरि झरि
तुलि तेछे शुचि करि
मृत्युस्नाने विश्वेर जीवन।"

अर्थात्
प्रखर प्राणमयी चिर चेतने !
मरण सागर में नित स्नान कर
जगत जी नवजीवन पारहा
झरत झृं तब झृं पदताल में,।"

इसी की कल्पना हिन्दू कलाकारों ने "नटराज की प्रतिमा"–शिव के ताण्डव नृत्य में की है। शिव के ताण्डव नृत्य में मानो वह शक्ति मूर्तिमती हो उठी हो जिस शक्ति का आभास आज का वैज्ञानिक प्रकृति के प्रत्येक व्यापार (Phenomenon) के पीछे देख रहा है। महा अंधकार में अचेतन निष्प्राण प्रकृति सो रही थी, शिव जागे पदताल दी और उनकी पदताल लगते ही सुषुप्त निष्प्राण द्रव्य-पदार्थ प्राणों से सचेतन हो उठा, मौन "द्रव्य-पदार्थ" स्वर से गुन्जरित हो उठा। शिव के नृत्य के साथ ही साथ प्रकृति भी शिव के चारों ओर नाचने लगी। शिव अपने तालमय (Harmonious) नृत्य में अखिल सृष्टि की गति को समाये हुए हैं। देश काल (Time-Space) की ताल और लय में अनेक नाम-रुप पदार्थ लय होते रहते हैं, अनेक नये

नाम-रूप पदार्थ उद्भूत होते रहते हैं। शिव नृत्य की यह कल्पना कविता भी है-विज्ञान भी।

इस जग और जगती में जूझता हुआ मानव कभी यह न भूले कि जीवन सर्वोपरि है। जीवन की पुकार है—आनन्द। मानो जीवन आनन्द का समानार्थक है, प्रेम एवं मुक्ति का पर्याय है। मानो जीवन स्वयं प्रेम है, स्वयं मुक्ति है, स्वयं आनन्द है। किसी भी दशा में जीवन की इस पुकार को नहीं दबने देना,—यही वास्तविक जीवन है। मानो स्वयं परमात्मा मानव देह में स्थित होकर, मानव देह के भोग भोगता हुआ अपनी आदि मुक्ति एवं आनन्द की अनुभूति की खोज में आगे बढ रहा है। वह परमात्मा प्रकृति के आधार के बिना-मनुष्य देह के बिना आनन्द की अनुभूति भी आखिर कैसे कर सकता था। परमात्मा प्राण (Life) में अपना प्रसार करता है, आनन्द की अनुभूति करता है,—या यों कहें मानो प्राण (Life) स्वयं अपना प्रसार करता है-आनन्द की अनुभूति करता है। इस प्रसार में, इस विकाश की गति में, इस आनन्द में जब बाधा आती है, चेतनता जब जड़ता बनने लगती है, अंधियारा छाने लगता है, जीवन चलता चलता रुकने लगता है, तब सहसा एक प्रकम्पन सा उठता है,-जीवन की महाकाली जागृत होती है-खड्ग और खप्पर का आह्वान होता है, दुष्टता का संहार होता है। महाकाली के बाद फिर से कल्याणमयी दुर्गा के दर्शन होते

हैं–आनन्द, विश्व-प्रेम, मानव-कल्याण की आभा उद्दीप्त हो उठती है। यही 'आभा' आर्यत्व है। इसी आभा से जग एवं जीवन आलोकित रहे, दुष्टता इसको दबा न ले। मानस में आनन्द हिलोरित होता रहे, मंगलदीप झलकता रहे।

२४

चीन का प्राचीन इतिहास

(प्रारम्भ काल से लेकर ६६० ई. तक)

भूमिका

मिश्र, मेसोपोटेमिया (सुमेर, बेबीलोन असीरीया), भारत और चीन की सभ्यतायें संसार की चार सबसे प्राचीन सभ्यतायें मानी जाती हैं। मिश्र और मेसोपोटेमिया की सभ्यतायें आज लुप्त हैं—वे केवल ऐतिहासिक स्मृतियां मात्र रह गई हैं। भारत और चीन की सभ्यतायें अभी तक जीवित हैं और इन में पुरातन हजारों वर्षों की परम्परायें एवं ज्ञान विज्ञान की धारा अब भी प्रवाहमान है। चीनी सभ्यता के विषय में, चीन भारती शान्तिनिकेतन के प्रसिद्ध प्रो. तानयुनशान का मत है कि "पाश्चात्य विद्वान मिश्र और बेबीलोन की सभ्यता को काल के

हिसाब से सबसे पुरानी मान लेने में ग़लती करते हैं। उनकी यह ग़लती इसीलिये होती है कि उन लोगों का चीन के इतिहास का ज्ञान प्रायः नहीं के बराबर है एवं चीनी संस्कृति को वे हृदयंगम नहीं कर पाये हैं।" प्रो. तानयुनशान की राय में चीनी सभ्यता मिश्र और बेबीलोन की सभ्यताओं से भी पुरानी है। चीन के प्राचीन महात्माओं की शिक्षाओं एवं कथित वाणी के आधार पर चीनी लोगों का ऐसा विश्वास है कि चीनी सभ्यता का उद्भव करने वाला "पान-कू" देवता था। उसीने सृष्टि को रचा था और वही इस संसार का शासन कर्ता था। उसके सात हाथ और आठ पैर थे। 'पान-कू' के बाद तीन पौराणिक सम्राटों का उद्भव हुआ। १. टीन हुआंग-स्वर्ग का सम्राट २. टी हुआंग-पृथ्वी का सम्राट ३. जेन हुआंग-मनुष्य का सम्राट। इन तीनों पौराणिक सम्राटों के बाद "शीह-ची" अर्थात् दस युगों का काल आता है। प्रत्येक युग का पृथक पृथक वर्णन करती हुई पृथक पृथक पुस्तकें हैं, जिनमें प्रत्येक युग का विशद वर्णन है; किन्तु ये सब पौराणिक, सम्भवतः कल्पित गाथायें हैं।

चीनी विद्वान प्रो. तानयुनशान ने चीनी सभ्यता के ऐतिहासिक काल को—आदि प्रारम्भ से लेकर आधुनिक काल तक के विकासक्रम को—७ श्रेणियों (Stages) में अथवा काल विभागों में विभक्त किया है:—

युग	काल		राजवंश	समय
प्राचीन युग–	१. प्रारंभिक एवं अन्वेषण काल		अनिश्चित पुरातन काल	से २६९७ ई. पू. तक।
	२. स्थापना	,, –	ह्वांगटी-"पीत सम्राट" से तांगयाओ और यू शुन तक	२६९७–२२०६ ई. पू.
	३. विकास एवं विस्तार	,, –	सुई, शांग और चाऊ तीन काल खंड	२२०६--२५५ ,,
	४. भारत से सम्पर्क	,, –	चिन वंश, हान वंश, तांग वंश	ई. पू. २५६ से ९६० ई. सन्
मध्य युग–	५. उत्थान	,, –	सुंग वंश, युआंग वंश मिंग वंश	९६०--१६४३ ई.
आधुनिकयुग-	६. यूरोप से सम्पर्क	,, –	चिन (मंचू) वंश	१६४४--१९११ ई.
	७. नव–उत्थान	,, –	प्रजातंत्र की स्थापना से आजतक	१९११–१९५० ई.

१. प्रारम्भिक एवं अन्वेषण काल–

चीन में अतिप्राचीन अनिश्चित पुरातन काल से सभ्यता का विकास हुआ। पुरातन चीनी ऐतिहासिक रिकोर्डस के अनुसार चीनी विद्वान यूसाओने गृह–निर्माण कला का आविष्कार किया। स्वीजेन ने अग्नि का आविष्कार किया; फूसी ने मछली के शिकार एवं जाल बनाने की कला का आविष्कार किया, एवं उसी ने मनुष्यों को सितार पर गायन विद्या सिखाई। फूसी ने ही विवाह के नियम बनाये, एवं आठ चित्रों का आविष्कार किया जिनसे बाद में लेखन कला का विकास हुआ; उसी ने काल–गणना का हिसाब लोगों को सिखाया। फिर शेननंुग आये जिन्होंने लोगों को कृषि विद्या सिखाई, एवं व्यापार विनियम और औषधि विज्ञान का प्रारम्भ किया। उन्हीं ने काल–गणना विज्ञान में भी सुधार किया। ये सब अन्वेषण अथवा आविष्कार आज से प्रायः १० हजार वर्ष पूर्व हो चुके थे, और इस प्रकार सभ्यता की नींव डल चुकी थी।

चीन की कहानी की यहां तक तो बात हुई चीनी पुरातन साहित्य एवं चीन परंपरागत विश्वासों के आधार पर। अब हम आलोचनात्मक ऐतिहासिक दृष्टि से चीन की सभ्यता का इतिहास जानने का प्रयत्न करेंगे। कुछ वर्ष पूर्वतक तो पाश्चात्य विद्वानों की दृष्टि चीन का इतिहास जानने की ओर

गई ही नहीं थी। किन्तु शनैः शनैः यह बात महसूस की गई कि मानव जाति एवं मानव सभ्यता के विकास में चीनी लोगों का भी एक बहुत ही महत्त्वपूर्ण स्थान है, चीनी सभ्यता में मानव अनुभव का एक विशिष्ट अंश समाहित है, एवं इस संस्कृति में मानवीय दृष्टि से अनेक आकर्षक एवं स्थायी तत्त्व विद्यमान हैं। शनैः शनैः चीन के संबंध में ऐतिहासिक खोज होने लगी, एवं पुरातत्त्ववेत्ताओं एवं आधुनिक इतिहासकारों ने प्राचीन चीन के इतिहास का एक ढांचा बनाया। चीन में इस संबंध में बहुत सामग्री उपलब्ध है--वहां का प्राचीन साहित्य, लोक कथायें, गीत, चित्र इत्यादि।

चीनी लोगों की उत्पत्ति-चीनी लोगों की परम्परागत मान्यता तो यह है कि उनका उद्भव चीन में ही हुआ और उनकी सभ्यता अनादिकाल से चली आती है; उसकी प्राचीनता के विषय में अनेक लोक गाथायें जिनका कुछ उल्लेख ऊपर किया जा चुका है, बनीहुई हैं। किन्तु इन विश्वासों और गाथाओं को वैज्ञानिक इतिहास का आधार नहीं माना जासकता। आधुनिक अनुसंधानात्मक ढंग से प्राचीन चीन का इतिहास जानने एवं लिखने के प्रयास किये गये हैं--गोकि अभी वे सब के सब पूर्ण एवं सिद्ध नहीं माने जा सकते। उनके अनुसार चीनी लोगों की उत्पत्ति (Origin) के विषय में अभी तक कुछ भी

निश्चय पूर्वक नहीं कहा जा सकता। एक मत तो इस प्रकार है:- नव-पाषाण युग के आरंभ काल में ही, अर्थात् आज से १०-१२ हजार वर्ष पूर्व हम मानव जाति को कई उपजातियों (Races) में, खासकर ४ उपजातियों में विभक्त हुआ पाते हैं और साथ ही साथ उनको दुनिया के अलग अलग चार विशेष भागों में बसा हुआ पाते हैं। उन प्रमुख चार उपजातियों यथा आर्य, सेमेटिक, नीग्रो, मंगोल में से, ये चीनी लोग मंगोल उपजाति के हैं, जिसका वर्ण पीला, उभरी हुई गाल की हड्डियां एवं चपटी नाक होती है, और जो उस काल में उन प्रदेशों में बसी हुई थी जो आधुनिक चीन, मंगोलिया इत्यादि हैं। दूसरा मत यह है कि ये लोग मंगोल उपजाति के नहीं हैं, इन की स्वतंत्र ही अपनी उपजाति है। या तो आदि में ही इनका उद्‌भव चीन में हुआ या संभव है प्राचीन पाषाण युग के उत्तरार्ध में (आज से लगभग १५-२० हजार वर्ष पूर्व) मध्य एशिया से जाकर कुछ लोग चीन के उत्तरी भाग ह्वांगहो नदी की तरेटी में, तथा दक्षिणी भाग यांगटीसिक्यांग नदी की तरेटी में बसे, और वहां की प्राकृतिक परिस्थियों एवं जलवायु के अनुरुप उन लोगों का, उनकी भाषा और सभ्यता का विकास हुआ। इस बात का अनुमान कि ये लोग मंगोल उपजाति के नहीं हों इससे भी लगाया जाता है कि उनकी चीनी भाषा यूराल आल्टिक परिवार से (जिसकी एक प्रमुख भाषा मंगोल है) सर्वथा भिन्न है।

जो कुछ हो, इतना निश्चित माना जाने लगा है कि ये चीनी लोग उस काल में जब से इनके संगठित जीवन का पता लगा है, गांवों में रहते थे, एवं खेती करते थे। पच्छिम से बर्बर लोगों के आक्रमण होते थे और ये सताये जाते रहते थे, किन्तु फिर भी एक केन्द्रीय व्यवस्था की ओर इनके सामाजिक संगठन का विकास होरहा था। धीरे धीरे छोटी छोटी ग्राम कम्यूनीटीज से छोटे छोटे सरदारों के राज्य (Chiefdoms) बने, इन राज्यों से सामन्तशाही प्रान्त स्थापित हुए, ये सामन्तशाही प्रान्त धीरे धीरे एक केन्द्रीय शासन के अधीनस्थ होकर एक साम्राज्य बने। इन चीनी लोगों को परस्पर मिला देने में कोई आर्थिक अथवा राजनैतिक शक्ति या भावना काम नहीं कर रही थी; वह केवल एक ही तत्त्व था जिस से परिचालित होकर जाने या अनजाने ये समस्त चीनवासी एक सूत्र में बंध रहे थे। वह तत्त्व था—"सांस्कृतिक एकता की भावना" (Sentiment of community of Civilization)—उनको यह भान होने लगा था कि प्राचीन वे लोग हैं और प्राचीन एवं गौरवमय उनकी सभ्यता; एक उनकी भाषा है, एक संस्कृति और एक आदर्श। समस्त चीन को एवं वहाँ के रहने वालों को एक केन्द्रीय साम्राज्य में मिला देने का अभूतपूर्व काम किया चीन के सर्वप्रथम सम्राट ह्वांगटी (Huang Ti) ने, जो कि विश्व इतिहास में "पीत सम्राट" के नाम से प्रसिद्ध है। यह साम्राज्य २६६७ ई० पू० में स्थापित

हुआ, अर्थात् आज से लगभग साढ़े चार हजार वर्ष पूर्व। उसी समय से चीन का तरीखवार इतिहास प्रारम्भ होता है। उस काल में मिश्र में बड़े बड़े फेरो (Pharohs = सम्राट) और सुमेर में बड़े बड़े राजा राज्य करते थे। इन दोनों देशों में वड़े बड़े नगर बसे हुए थे, मन्दिर और पुजारी थे, व्यापार होता था और सभ्यता का विकास हो रहा था। भारत में सिन्धु सभ्यता (मोहेंजोदारो और हरप्पा) विकासमान थी और एशिया माइनर में, क्रीटद्वीप, सीरीया आदि प्रदेशों में मिश्र और मेसोपोटेमिया की सभ्यता का प्रसार होने लगा था। भारतीय पुरातत्त्ववेत्ताओं के अनुसार "सप्त सिंधव" में वैदिक सभ्यता का विकास हो चुका था और स्यात् उसका सम्पर्क ईरान, दक्षिण भारत में द्रविड़ सभ्यता, तथा सिन्धु सभ्यता, तथा अन्य उपरोक्त सभ्यताओं से होने लगा था। यहूदी, ग्रीक, और रोमन लोगों का तो इतिहास में अभी तक नाम भी नहीं था। उपरोक्त चीन, भारत, मिश्र, मेसोपोटेमिया, एवं भूमध्यसागर तटवर्ती प्रदेशों को छोड़कर, वाक़ी की दुनिया यथा—यूरोप, उत्तरी एशिया, दक्षिण अफ्रीका, आस्ट्रेलिया, अमेरिका, इत्यादि—अज्ञातावस्था में या तो सर्वथा असभ्य या अर्धसभ्य अवस्था में पड़ी थी। उपरोक्त "पीत सम्राट्" द्वारा २६९७ ई० पू० में चीनी साम्राज्य स्थापित होने के काल से, प्रो-तानयुनशान के अनुसार चीनी सभ्यता के इतिहास का

दूसरा खंड (*Stage*) प्रारम्भ होता है।

२. स्थापना काल (२६९७—२२०६ ई० पू०)

जैसा ऊपर कह आये हैं चीन के सर्व प्रथम सम्राट ह्वांगटी-"पीत सम्राट ने २६९७ ई० पू० से चीन में राज्य करना आरम्भ किया और वहां एक साम्राज्य की स्थापना की। इस सम्राट ने लगभग पूरे १०० वर्षों तक चीन में राज्य किया। इसी सम्राट को चीन राष्ट्र का निर्माता माना जाता है और चीनी लोग सभी अपने आप को इस पीत सम्राट का वंशज मानते हैं। यह सम्राट महा पँडित, विद्वान् एवं आविष्कर्त्ता था। इसी ने निम्न चीजों का आविष्कार किया। (१) टोपी और पहनावा (२) गाड़ी और नाव (३) चूना और रंग (४) तीर कमान (५) कुतुबनुमा (६) मुद्रायें (७) कफन। इसके अतिरिक्त प्राचीन काल से चली आती हुई अनेक अन्य वस्तुओं में इसने सुधार किये। अपनी अपार अभिधा शक्ति से इसने ऋतु-निर्देशक-विद्या, सौर मंडल के ज्ञान आदि में अभूतपूर्व सुधार किये। लेखन-कला भी अपनी पूर्ण विकसित स्थिति में इसी सम्राट के प्रयत्नों से इसी के काल में पहुँची। सम्राट के दो मन्त्री थे, जिनका काम केवल इतिहास लिखना था। इसी काल से चीन का लिखित इतिहास मिलता है, एवं साहित्य तथा अन्य कलाओं की अनेक पुस्तकें भी। किन्तु दुर्भाग्यवश ये रिकार्डस बहुत से अब उपलब्ध नहीं हैं क्योंकि चीन-सी-ह्वांग

(*Chin-Shi-haung*) के जमाने में (२४६–२०७ ई० पू० में) बहुत से पुरातन ग्रन्थ सम्राट के आदेश से जला दिये गये थे। फिर भी अनेक ग्रन्थ छिपाकर रख लिये गये थे और जलने से बचा लिये गये थे । चीन के प्राचीन ग्रन्थों में दो प्रमुख हैं—"यी-चिन" (*Yi-chin*) अर्थात् "परिवर्तन के नियम" (*Canons of Changes*) दूसरा–"शू-चिन" (*Shu-Chin*) अर्थात् "पुस्तकों के नियम" (*Book of Songs*)। ये पुस्तकें २३५७ से २२०६ ई० पू० काल में लिखीं गईं थीं । स्यात् हिन्दुओं के वेदों को छोड़कर अन्य कोई पुस्तकें विश्व में इतनी पुरानी नहीं हैं ।

१. यी–चिन (Book of changes):–चीन के प्राचीन महात्माओं ने परिवर्तनशील अखिल विश्व की रचना और परिचालन में एक सुन्दर साम्य (Symmetry) की अनुभूति की। इस ग्रन्थ में विश्व के रहस्य को समझने समझानें के लिये प्राचीन दार्शनिक विचार और अनुभूतियां संग्रहीत की गई। विचारों की अभिव्यक्ति रहस्यात्मक है, अतएव कालान्तर में अनेक जादू-टोना करने वालों ने साधारण जन पर प्रभाव डालने के लिये, इस ग्रन्थ का प्रयोग "जादू की पुस्तक" के समान किया ।

२. शू-चिन (Book of songs)–यह प्राचीन काल के छोटे छोटे गीतों एवं कविताओं का संग्रह है । उन गीतों में

वहुत से प्रेम गीत भी हैं। इन गीतों से उस प्राचीन युग में चीनी लोगों के रहन-सहन, प्राकृतिक दृश्य जो चीनी मानस को भाते थे, एवं अनेक वस्तुयें जो चीनी लोगों के जीवन में उस समय काम में आती थीं जैसे चावल, बाजरा, रेशम, रंग, ककड़ी, बेर, आडू, प्याज एवं अन्य अनेक फल,-इन सबका यथेष्ट ज्ञान प्राप्त होता है। उपरोक्त काल में दो और प्रसिद्ध सम्राट हुए, तांगयाओं (Tang-Yao) और यू-शुन (Yu-Shun)। इन दोनों सम्राटों ने अपनी अपूर्व आध्यात्मिक शक्ति के प्रभाव से बहुत सुन्दर ढंग से चीन में राज्य किया। चीनी धर्म-गूरु एवं विद्वान कनफ्यूसियस इन सम्राटों को आदर्श सम्राट मानता था। और उनकी राज्य-व्यवस्था को आदर्श राज्य-व्यवस्था।

३. विकास एवं विस्तार २२०६ से २५५ ई. पू. इस काल को तीन उपखंडो में विभक्त किया गया है। (i) सुई (Hsia) (ii) शाँग (Shang) (iii) चाऊ (Chou)। इस युग में चीन सभ्यता अपनी चरम उत्कर्ष स्थिति पर थी।

सुई काल के प्रथम सम्राट यू-महान ने देश को नदियों की बहाड़ों की आफत से बचाया। चीन की नदियों में बारबार भयंकर बहाड़ आया करती थीं, घर खेत सब बह जाया करते थे, लाखों आदमी बे-घरबार हो जाते थे, यह एक राष्ट्र-व्यापी आफत हुआ करती थी। यू-महान् ने बहुत ही बुद्धिमानी और

इंजिनियरिंग कुशलता से चीन की ६ बड़ी बड़ी नदियों का रास्ता खोलकर उनका प्रवाह समुद्र की ओर मोड़ा, जिससे वे नदियां समुद्र में गिरनें लगीं। इसी सम्राट के विषय में एक चीनी कहावत है "यदि यू-न होता तो हम सब मछली हो जाते।" इसी काल में ठेठ दूसरी दुनियां में, मिश्र में और उधर मेसोपोटेमिया में लोग नील नदी और यू-फ्रीटीस और टाईग्रीस नदियों के प्रवाह से खेतों की सींचाई की कला का विकास कर रहे थे, समस्त देश को इस सम्राट ने ६ भागों में विभक्त किया, समस्त देश से धातुयें एकत्रित कीं, एवं प्रत्येक भाग में इन धातुओं के बने बड़े बड़े ६ महान कढ़ाव (Cauldrauns) रक्खे।

शांग कालः- शांग काल के धातुओं के बने बर्तन तथा अन्य कला-कौशल के काम अब भी आश्चर्य की वस्तु बने हुए हैं। इसी काल के सम्राटों का बनाया हुआ जेड़-महल (Jade-Palace) प्रसिद्ध है।

चाऊ-कालः-चाऊ काल चीन के इतिहास का स्वर्ण युग माना जाता है। इस काल में सभ्यता एवं संस्कृति के प्रत्येक क्षेत्र में उत्थान एवं प्रगति हुई। चीन के प्रसिद्ध धर्म-गुरु विद्वान और महात्मा कनफ्यूसियस, लाओत्से, तथा अन्य जैसे मैनसियस, मोटजू, चुवांग-जू, यांग-जू एवं शुन-जू इसी काल में हुए। इन महात्माओं की शिक्षा का प्रभाव अब भी समस्त

चीनी राष्ट्र के मानस पर अंकित है। इस काल में भिन्न भिन्न दस दार्शनिक विचार धाराएं चीन में प्रचलित थीं। इन लोगों के दर्शन एवं विचारों का अध्ययन आगे करेंगे।

इसके अतिरिक्त दो महान सामाजिक आंदोलनों ने इस युग में प्रगति की। पहिला राज्य सम्बन्धी प्रबन्ध का विकास। समस्त देश भिन्न भिन्न प्रान्तों में विभक्त किया गया, भिन्न भिन्न प्रान्त छोटी छोटी शासन-इकाइयों में। इन इकाइयों के शासकों को प्रतिवर्ष सम्राट के पास अपनी इकाइयों के शासन प्रबन्ध की रिपोर्ट भेजनी पड़ती थी। सम्राट की केन्द्रीय सरकार भिन्न भिन्न इकाइयों का निरीक्षण भी करती थी। दूसरा आन्दोलन "चिंग-टीन" (Ching-Tien) प्रणाली कहलाता है। यह भूमि विषयक प्रबन्ध की एक विशेष प्रणाली थी। इसके अनुसार यह मान्यता थी कि समस्त भूमि का स्वामीत्व राष्ट्र के हाथों में है। सब भूमि सब देश के लोगों में बराबर विभक्त थी, और प्रत्येक को अपनी भूमि के नवें हिस्से की उपज राज्य को देनी पड़ती थी जिससे शासन प्रबन्ध का खर्चा चल सके।

इसी चाऊ-काल में कुतुबनुमा, कगज़, छपाई, एवं बारुद का आविष्कार हुआ। स्थापत्य, धातु-विद्या, बढ़ई की विद्या, युद्ध-कला, शासन-कला लेखन, संगीत, गणित आदि विद्याओं का खूब अध्ययन और विकास हुआ।

४. भारत से सम्पर्क–(२५६ ई. पू. से ६६० ई. सन्) इस काल में ३ राज्य–वंशों का राज्य रहा यथा–चिन, ग्रान, एवं ताँग-वंश। उपर्युक्त चाऊ--वंश के राज्य--काल के अन्तिम दिनों में केन्द्रीय शासन ढ़ीला पड़ गया था। समस्त देश के छोटी छोटी शासन इकाइयों के शासक स्वतन्त्र बन गये थे। एक संघीय शासन की भावना लुप्त हो चुकी थी। राज्यों में परस्पर युद्ध होते रहते थे, साधारण मानव अपने पुरातन के प्रेम और अन्ध-विश्वास में डूबा हुआ था। विद्वान और दार्शनिक पुरातनवाद की दुहाई देकर अकर्मण्य बने हुये थे। ऐसी परि-स्थितियों में चिन प्रान्त का एक प्रबल शासक उठा, चाऊ राज्य-वंश को उसने उखाड़ फेंका, और स्वयं चीन का सम्राट बना, चिन राज्य वंश की नींव डाली। यह वही काल था जब प्रिय--दर्शी सम्राट अशोक भारत में राज्य कर रहा था। चिन राज्य--वंश के सबसे प्रसिद्ध सम्राट का नाम वांग--चेंग था। उसने अपना यह नाम छोड़कर "शी-हुवांग-टी" (शी=प्रथम; हुवांग-टी=सम्राट; =प्रथम सम्राट्) नाम धारण किया। इसी नाम से वह इतिहास में प्रसिद्ध हुआ। इसने २४६ से २०७ ई. पू. तक राज्य किया। अनेक छोटे छोटे राजा (कहते हैं उस समय छोटे बड़े राज्यों की संख्या लगभग ६ हजार थी) शासक और सामन्त लोग जिनका जाल देश में फैला हुआ था, उन सबको दबाकर और परास्त करके इस सम्राट शीहुवांग-टी ने सबको

अपने आधीन कर लिया और एक सुदृढ़ केन्द्रीय राज्य के सूत्र में बांध दिया। इतने बड़े साम्राज्य को अपने आधीन रखने के लिये, सेना के आवागमन के लिये देश में सड़कों और नहरों का एक जाल सा बिछवा दिया। चीन का यह एक प्रबल सम्राट था। एक अद्भुत अहंभाव इसमें था, वह चाहता था कि उसी के नाम से चीन के सम्राटों की वंशावली चले और उसी के काल से चीन के इतिहास की गणना हो। कुछ ऐसी किंवदन्ती भी है कि इस चिन राज्य-वंश के नाम से इस देश का नाम चीन पड़ा। इस उद्देश्य से कि वही चीन का प्रथम सम्राट माना जाए उसने आदेश दिया कि चीन की सभी प्राचीन ऐतिहासिक पुस्तकें, वह इतिहास जो प्राय: २००० वर्ष पुराना हो चुका था, जला दी जाएं, समस्त दार्शनिक ग्रन्थ जला दिये जाएं एवं उन सभी विद्वानों को मौत के घाट उतार दिया जाए जो प्राचीन दर्शन और इतिहास की बातें करते थे। २१३ ई. पू. में इस प्रकार हजारों प्राचीन पुस्तकें जला दी गई और लगभग ४०० विद्वान दार्शनिक और विचारक कत्ल कर दिये गये। केवल वे ही पुस्तकें रखी गईं जो वैद्यक और विज्ञान से सम्बन्धित थीं। यह भयानक बर्बरता है किन्तु वास्तव में एक बात और भी थी। चाऊ वंश के राज्य काल में चीन के उपदेशकों की संख्या बढ़ चली थी, इनमें से अधिकतर तो अकर्मण्य, केवल शब्द-मुखाचाल थे, जिनका अतीत की दुहाई के बिना काम नहीं

चलता था। उनकी निगाह में प्राचीन वर्तमान से सब प्रकार से सुन्दर और महान था, सर्वदा प्रत्येक अवसर पर ये केवल अतीत का उदाहरण देते थे और वर्तमान जीवन और समाज को तुच्छ मानते थे। एक दृष्टि से देश को इनसे हानि ही हो रही थी।

ज्यों ही हुवांग-टी का साम्राज्य अच्छी तरह से चलने लगा उसने बरबर हूण लोगों का सवाल हाथ में लिया जो उत्तर-पच्छिम से देश में लगातार हमले करते रहते थे, लूटमार मचाते रहते थे और चीनी प्रजा को त्रस्त करते रहते थे। पूर्ववर्ती छोटे छोटे शासकों नें एवं प्रजाजन ने इन बरबर लोगों के हमले से बचने के लिये जगह जगह कई छोटे मोटे किले और कई स्थलों पर दीवारें बना रक्खीं थीं। चिन-वंश के इस सम्राट ने बरबर घुड़सवार, घुमक्कड़ लोगों के हमलों से स्थायी रूप से बचनें के लिये उस तमाम लम्बी दूरी में जिधर से हमले होते थे एक मजबूत दीवार बनाने का दृढ़ संकल्प किया। अतुल धन राशि, जन और शक्ति लगाकर उन दीवारों के टुकड़ों को और किलों को जो पहिले ही से बने हुए थे जोड़ते हुए उसने एक विशाल लम्बी दीवार बनवाई। यह दीवार देश के उत्तर में एक अलंघ्य परकोटा के समान खड़ी हो गई। यह दीवार लगभग २२५० मील लम्बी है तथा १५ से २० फीट तक ऊंची, १० से १५ फीट तक चौड़ी। इस दीवार में जुड़े हुए लगभग २० हजार

गुम्बज हैं जिनमें प्रत्येक में लगभग १०० सिपाही रह सकते हैं। इतने मील लम्बी, इतनी ऊंची और चौड़ी, जिसमें लगभग २० हजार गुम्बज हों, और इसके अतिरिक्त १० हजार अन्य छोटे छोटे निगरानी के लिये स्तम्ब हों, सचमुच एक चमत्कारिक वस्तु है। दुनियां के प्राचीन युग की ७ आश्चर्य जनक वस्तुओं में से यह एक वस्तु है। २२८ से २१० ई० पू० में यह दीवार बनी। इस प्रकार लगभग सवा दो हजार वर्ष इसको बनें पूरे हुए। यद्यपि बीच बीच में कई स्थानों पर आज यह दीवार ध्वस्त होगई है किन्तु फिर भी लगभग सवा दो हजार मील लम्बी यह दीवार आज भी खड़ी है। मिश्र के अद्भुत पिरामिड भी इस बिशालता के सामने चींटियों के घर के समान दिखते हैं। मनुष्य के हाथों से बनाई हुई इस संसार में और कोई दूसरी चीज इतनी बड़ी नहीं है।

शी–हवांगटी की मृत्यु के बाद चिन–वंश में कोई शक्तिशाली सम्राट नहीं हुआ। उसकी मृत्यु के बाद हान वंश की स्थापना हुई।

हान-वंश (२०७ ई. पू. से २२० ई. सन् तक), लगभग ४०० वर्ष के हान वंश के राज्य काल में चीनी साम्राज्य का विस्तार दक्षिण में ठेठ आधुनिक अन्नाम प्राँत से लेकर पश्चिम में हिन्दू कुश पर्वत के उत्तर में मध्य एशिया तक था। इस विस्तृत साम्राज्य में केन्द्रीय शासनाधिकार इसी एक तरकीब से कायम

रक्खा जासका कि दूर दूर प्रांतो में केन्द्रीय राजधानी से ही शासन चलाने के लिये कर्मचारी नियुक्त होते थे। इसी काल में सम्राट ने चाँग-ची नामक एक व्यक्ति को पच्छिमी देशों में भ्रमण करने के लिये भेजा। चाँग-ची की यात्रा के वर्णन के फलस्वरुप चीन को अपने इतिहास में प्रथम बार इस बात का भान हुआ कि इस दुनियाँ में दूसरे लोग और दूसरी सभ्यतायें भी थीं। ईरान, मिश्र, मेसोपोटेमियां और रोमन साम्राज्य का इनको पता लगा। तभी से चीन की मुख्य दस्तकारी की चीजों के व्यापार की शुरुआत और वृद्धि उपरोक्त पच्छिमी देशों से हुई। रेशम की गांठें लेकर ऊंटों, खच्चरों और गधों के लम्बे लम्बे काफिले पच्छिमी चीन और मध्य एशिया के पठारी और रेगीस्तानी भागों को पार करते हुए ईरान तक पहुंचते थे और वहाँ से मिश्र और सीरिया के व्यापारी रेशम खरीदकर रोम तक पहुँचाते थे। चीन में रेशम का उद्योग प्राचीन काल से ही घर घर में प्रचलित था। आज भी यह गृह उद्योग चीनी जनता का एक मुख्य उद्योग है।

इसी काल में प्राचीन सामाजिक सँगठन में परिवर्तन हो रहे थे। देश में एक शक्तिशाली केन्द्रीय शासन था, अन्य देशों के साथ रेशम का व्यापार खुल जाने से लोगों के आर्थिक जीवन में परिवर्तन आरहा था, चीन का पंडित, दार्शनिक और विद्वान-वर्ग जो चिन राज्य-वंश काल में दबा दिया गया था फिर से

उत्थित होरहा था, और यह विद्वतवर्ग फिर से प्राचीन साहित्य और दर्शन की पुस्तकों को ढूंढ़ ढूंढ कर निकाल रहा था और उन पुस्तकों का उचित अन्वेषण करके उनका संपादन कर रहा था। इसी काल में चीन के प्रसिद्ध इतिहासकार शूमा-चीन का उदय हुआ जिसने भिन्न भिन्न शासकों के राज्य घरानों में से प्राचीन पुस्तकें ढूंढ़ कर, उनका अध्ययन करके, चीन का अति प्राचीन काल से लेकर ई. पू. पहली शताब्दी तक का एक विशद् इतिहास तैयार किया। ग्रीस के प्रथम इतिहासकार हीरोडोटस (४८४-४२५ ई. पू.) की तरह शूमा-चीन चीन का प्रथम इतिहासकार माना जाता है। हान राज्य वंश के ही काल में राज्यकर्मचारी चुनने के लिये परीक्षा-प्रणाली का प्रचलन हुआ। जिस प्रकार वर्तमान काल के कई देशों ने राज्य के ऊंचे ऊंचे प्रबन्धक और कर्मचारी चुनने के लिये सरकार की ओर से प्रतियोगिता (Competitive) परीक्षायें होती हैं, आज से दो हजार वर्ष पूर्व चीन में कुछ कुछ ऐसी ही प्रणाली स्थापित हुई। परीक्षार्थियों को विशेषतयः चीन के महात्मा कनफ्यूसियस प्रणीत पुस्तकों के ज्ञान में उत्तीर्ण होना पड़ता था। परीक्षा की यह प्रणाली आधुनिक काल तक चलती रही; कुछ ही वर्ष पूर्व यह खत्म हुई।

चाय का आविष्कारः—ई. पू. २-३ शताब्दियों में प्राचीन काल के जादू-टोना करने वालों में लोगों का कुछ अधिक विश्वास

बढ़ा। हान वंश के अशिक्षित शासकों में कुछ जादूगर लोगों ने यह विश्वास जमाया कि उनके पास चिरायु होने के लिये एक अद्भुत दवाई रहती है जिसको पहाड़ और जंगलों की जड़ी-बूंटियों से बनाया जाता है। इतिहासकारों ने ऐसा अनुमान लगाया है कि हान राज-वंश के ही काल में जीवन-दायिनी बूंटी की खोज करते करते लोगों को चाय का पता लगा। इसकी सुगन्ध और स्वाद से चीनी लोगों का यह एक प्रिय पेय बन गया। धीरे धीरे चाय उनके सामाजिक जीवन का एक मुख्य अंग बन गई। यूरोपीयन लोगों को तो चाय का पता कहीं १८ वीं शती में जाकर लगा।

हान राज्य-वंश काल में ही चीन भारत के सम्पर्क में आया, और चीनी सभ्यता और संस्कृति पर भारतीय सभ्यता और संस्कृति का अमिट प्रभाव पड़ा। यों तो ऐसा माना जाता है कि चीन राज्य-वंश के पहिले ही भारत का चीन से सम्बन्ध होगया था किन्तु निश्चित ऐतिहासिक काल जब स्वयं चीनी सम्राट ने बुद्ध धर्म का स्वागत किया वह है ई० सन् ६७। इसके बाद तो अनेक चीनी विद्वान् भारत गये एवं भारतीय विद्वान् चीन में आये और इस प्रकार दोनों देशों का सम्पर्क बढ़ा। यह सम्पर्क राजनैतिक अथवा आर्थिक अथवा ऐहिक नहीं था, यह सम्पर्क धार्मिक एवं आध्यात्मिक था। प्रसिद्ध विद्वान् एवं चीनी और भारतीय भाषाओं के प्रकाण्ड पंडित

जिन्होंने भारत का भ्रमण किया एवं जो भारत से बौद्ध साहित्य के हजारों ग्रन्थ एवं प्रतिलिपियां (Fascicles) चीन में लाये एवं उनमें से अनेकों का चीनी भाषा में अनुवाद किया, मुख्यतया तीन हैं—फाइयान, ह्वांसांग, एवं आइसिंग (Fa-Shien, Hsuan-Tsang, I-Tsiug) वे भारतीय विद्वान भी जिन्होंने चीन में जाकर वहाँ बौद्ध धर्म का प्रचलन किया एवं अनेक बौद्ध धर्म-ग्रन्थों का चीनी भाषा में अनुवाद किया मुख्यतया: ३ हैं:,—कश्यप-मतूंग, कुमार-जीव, गुण-रत्न। ये वे विद्वान थे जिन्होंने दो महान् संस्कृतियों का परस्पर मेल बढ़ाया। भारत में उत्पन्न बौद्ध धर्म का प्रभाव चीन पर इतना पड़ा कि मानों वह वहां का राष्ट्रीय धर्म ही बन गया। जन साधारण में अपने प्राचीन दार्शनिक विद्वानों एवं महात्माओं कनफ्यूसियस और लाओत्से का नाम इतना प्रचलित नहीं रहा जितना स्वयं बुद्ध भगवान का। स्थान स्थान पर बुद्ध भगवान की सुन्दर सुन्दर मूर्तियों का, विशाल बौद्ध मन्दिरों, स्तूपों एवं पेगोडाओं का (Pagodas) निर्माण हुआ। कनफ्यूसियस और लाओत्से के मन्दिर तो केवल बड़े बड़े शहरों तक ही सीमित रह गये; बुद्ध भगवान के मन्दिर छोटे छोटे गांवों तक में बन गये। इसके अतिरिक्त चीन के दर्शन, कला, साहित्य, नृत्य एवं संगीत पर भी भारतीय संस्कृति का पर्याप्त प्रभाव पड़ा। फ्रेस्को-पेन्टिग (दीवार पर चित्रकारी) का प्रचलन भी भारत से ही

चीन में आया। इसी युग में चीन का साहित्य, चित्रकला एवं स्थापत्य कला अपनी चरम उत्कर्ष सीमा तक पहुंचे। चिन राज्य-वंश के "ओफैंग-महल" (O-Fang Palace) एवं हान राज्य वंश के "वांई-यांग महल" (Wei-Yang Palace) कल्पनातीत सौन्दर्य के हैं।

तांग राज्य वंश (६१८-९०६ ई०):—सन् २२० ई० में हान वंश के समाप्त होने के बाद कई सौ वर्षों तक देश फिर कई टुकड़ों में विभक्त हो गया। देश में अराजकता का प्रसार हो गया, साधारण जन नियम शान्ति और स्थायित्व के राज्य को भूल गया। उत्तर पच्छिम के तांग प्रान्त से एक शक्तिशाली बुद्धिमान नवयुवक शासक का उदय हुआ। चीन राजाओं की तरह उसने सम्पूर्ण देश को फिर एक सशक्त केन्द्रीय शासन के आधीन किया और तांग राज्य-वंश की नींव डाली। इतिहास में यह वीर योद्धा और कुशल शासक तांग-ताई-शुंग (*Tang T'ai Tsung*) के नाम से प्रसिद्ध हुआ। शासन की नींव इसने इतनी दृढ़ जमाई कि तांग वंश का राज्य तीन सौ वर्ष तक बहुत आराम से चलता रहा। इस वंश का राज्य काल केवल शासन व्यवस्था की कुशलता से ही प्रसिद्ध नहीं, किन्तु इसके राज्य काल में काव्य और चित्रकला के क्षेत्र में भी अभूतपूर्व उन्नति हुई। इसका राज्य काल कविता का स्वर्ण युग कहलाता है।

जिस काल में अर्थात् ८वीं ९वीं और १०वीं शताब्दियों में चीन में तांग वंश का राज्य था, प्रायः समस्त यूरोप पर एक अंधकारमय युग छाया हुआ था, निकट पूर्वीय देशों पर (अरब, ईराक, एशिया-माइनर, ईरान पर) इस्लामी आतंक छाया हुआ था, और भारत को छोड़ संसार में कोई भी ऐसा देश नहीं था जहां की सभ्यता और संस्कृति चीन की सभ्यता और संस्कृति के समान समृद्ध हो। उस काल में सम्राट की राजधानी में विदेशी लोगों का स्वागत होता था और अनेक धर्मों के लोग वहां पर बसे हुए थे, कुछ ईसाई, कुछ मुसलमान, कुछ पारसी। उस काल की, केण्टन नगर में एक मसज़िद आज भी मिलती है। इस्लाम धर्म के उदय होने के पूर्व भी अरब लोगों का चीन से सम्बन्ध रहा था और यह अनुमान लगाया जाता है कि अरब लोगों ने कई कलाओं का ज्ञान, विशेषकर काग़ज बनाने की कला का ज्ञान चीनियों से सीखा और फिर अरब लोगों से यूरोप ने इस कला को सीखा। इसी काल में अरब की और चीन की जहाजों में सामुद्रिक व्यापार भी होता था। ऐसा भी कहा जाता है कि सन् १५६ ई. में चीन के सम्राट ने मनुष्य गणना भी करवाई थी और उस गणना के अनुसार उस समय चीन की जन संख्या लगभग ५ करोड़ थी, आज सन् १९५० में ५० करोड़ है। मनुष्य गणना का विचार इतिहास में सर्व प्रथम

स्यात् चीन में ही पढ़ने को मिलता है। वास्तव में धर्म के प्रति कट्टरता का भाव चीनी लोगों में कभी भी नहीं रहा। भारत से बौद्ध भिक्षु आते रहते थे और उन बौद्ध भिक्षुओं के साथ साथ नई कला, नए विचार और नया साहित्य। ऐसा अनुमान है कि उस समय ३ हजार भारतीय बौद्ध भिक्षुक और १० हजार भारतीय कुटुम्ब चीन के अकेले एक लाओ-यांग (Lao-Yang) प्रांत में रह रहे थे। दूसरे प्रान्तों में भी अनेक भारतीय बसे हुए होंगे। यह बात नहीं कि नई कला और नया साहित्य और नये विचार यों के यों चीन में अपना लिये जाते थे। वास्तव में चीन की स्वंय अपनी प्राचीन विचार-धारा, स्वयं अपनी कला और साहित्य था। भारत से आई हुई वस्तु नए वायु-मंडल के अनुरुप परिवर्तित होकर ही चीन की कला साहित्य और विचारों में घुल मिल पाती थी। यहां तक की जिस बौद्ध धर्म का चीन अथवा जापान या कोरिया में विकास हुआ वह कई बातों में उस बौद्ध धर्म से भिन्न था जो भारत में आया।

ताँग राज्य-वंश काल के काव्य और चित्रकला संसार के इतिहास में अद्वितीय हैं। इस राज्य वंश का संत कलाकर वू-ताओ-जू (Wu-Tao-Tzu) एवं कवि-कलाकार वोन-मो-ची (Won-Mo-Chi) प्रसिद्ध हैं। उनकी कृतियां

विश्व साहित्य एवं कला में अपना ही एक स्थान रखती हैं। प्रसिद्ध कवि लीपो (Poet Lipo) एवं प्रसिद्ध संत कवि तूफू (Tufu) एवं अन्य लेखक हान-यू (Han-Yu) और लिन-शुंग-युआंग (Lin--Tsung-Yuan) इसी काल में हुए। इसी काल में ७२० ई. में एक तांग सम्राट ने अपने ही महल के उद्यान में एक विशाल संगीत विद्यालय की स्थापना की। जहां संगीत के कई सौ विद्यार्थी पढ़ते थे। इसका प्रभाव चीन के नाटक-स्टेज पर भी पड़ा। चीन का स्टेज अधिक संगीत--प्रधान बना। चीनी लोगों का मुख्य वाद्य--यन्त्र बांस की बनी बांसुरी रहा है। मंगोल लोगों से उन्होंनें भारतीय सारंगी की तरह के एक वाद्य यन्त्र का भी प्रयोग सीखा।

चीन साम्राज्य ताग राज्य वंश (६०० - ९०० ई)
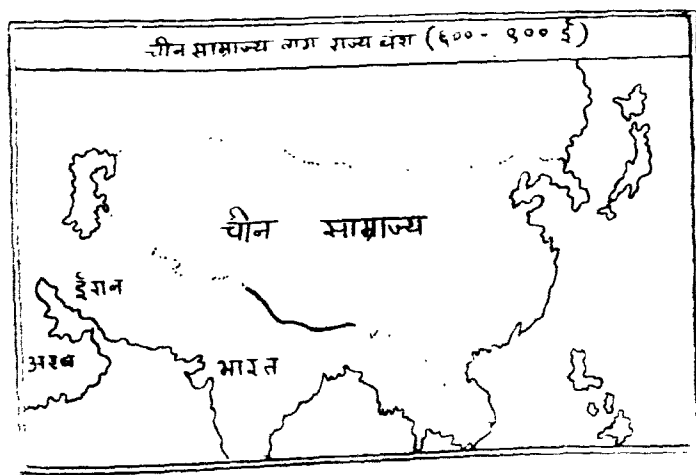
आधुनिक काल में सन् १७०७ ई. में चीन के एक सम्राट ने प्राचीन तांग राज्य-वंश के समस्त काव्यों का संग्रह करवाया था और उन्हें छपवाया था- इन समस्त काव्यों की कुल ६०० जिल्दें (Volumes) बनी थीं।

—:※:—

२५

चीन की प्राचीन सभ्यता और संस्कृति

चीन की सभ्यता प्राचीन काल से (अनुमानत: ४–५ हजार वर्ष ईसा पूर्व से) आधुनिक काल तक एक अजस्र धारा के समान प्रवाहित रही है। उस सभ्यता की प्राय: एक ही प्रकार की धीमी गति रही है, और वहां का साधारणजन मानो आज भी वैसा ही है, वैसी ही उसकी गति विधि है, वैसा ही उसका परिवार जैसा प्राचीन काल में था।

परिवार—चीन की सभ्यता, चीन के समस्त समाज, राष्ट्र और स्वयं व्यक्ति के संगठन का आधार "परिवार" रहा है।

सभ्यता और समाज का दूसरा आधार रहा है "पूर्वजों की पूजा की भावना"। चीन के महात्मा कनफ्यूशियस की शिक्षा है कि जीवन एक सतत बहने वाली धारा है और यह धारा तभी तक बहती रह सकती है जब तक समाज और राष्ट्र में परिवार की प्रतिष्ठा है, क्योंकि परिवार में ही नया जीवन उद्भूत होता है, वहीं उसका उचित पालन पोषण और विकास संभव है। परिवार में ही मनुष्य की जन्मजात स्वाभाविक भावनाओं और वृत्तियों की अभिव्यक्ति और पूर्ति संभव है। इन वृत्तियों की पूर्ति होना जीवन के लिये आवश्यक है। इस परिवार में पति पत्नी का संबंध प्रमुख है, और इसी एक संबंध पर अन्य पारिवारिक संबंध आधारित हैं। कनफ्यूशियस के इन्हीं विचारों के अनुसार, परिवार में किसी भी लड़के के विवाह के समय यह बात मुख्यतया देखी जाती है कि लड़की जो पत्नी बनकर आरही है क्षमतावान और गुणवती है या नहीं, क्योंकि उसी के गुण और क्षमता पर पुत्रों में क्षमता और उचित गुणों का होना आधारित है—वे पुत्र जिनसे परिवार की वंश परम्परा भविष्य में आगे बढ़ती रहेगी। चीन में जीवन की इकाई परिवार से मानी जाती है न कि व्यक्ति से। व्यक्ति राजा और समाज से बड़ा और अधिक महत्त्वपूर्ण समझा जाता है, किंतु परिवार से अधिक बड़ा और महत्त्वपूर्ण नहीं; क्योंकि परिवार से परे उसकी कोई पृथक स्थिति नहीं मानी जाती। पूर्वजों की

पूजा चीन के सामाजिक और धार्मिक जीवन का एक अंग है। वर्ष में एक दिन निश्चित होता है जिस दिन बड़े समारोह और उत्साह के साथ राष्ट्र भर के परिवारों में कुछ सुन्दर बनी हुई पट्टियों (Tablets) की पूजा होती है, जिन पर पूर्वजों के नाम सुन्दर ढंग से अंकित होते हैं और जो पूर्वजों के नाम की स्मारक मानी जाती हैं, चाहे कोई बौद्ध धर्म का पालन करने वाला हो, चाहे ताओ, कनफ्यूसियस, ईसाई या मुसलमान धर्म का, पूर्वजों की पूजा का यह धार्मिक समारोह तो राष्ट्र भर में चलता ही रहता है।

सामाजिक संगठन--चीन में चीनी लोगों के, हजारों वर्ष पूर्व, अभ्युदय काल से ही, अन्य प्राचीन सभ्यताओं की भांति प्रकृति और प्रकृति की प्रत्येक वस्तु में वास करने वाले अनेक देवी-देवताओं में मान्यता और विश्वास रहा है, और चीनी लोग अपनी सुख समृद्धि के लिये इन देवताओं के सामने बलि चढ़ाते रहे हैं। इनके सर्वप्रमुख देवता "स्वर्ग पिता" (Heaven) हैं। चीन का सम्राट "स्वर्ग पिता" का पुत्र माना जाता है और मुख्य पुरोहित भी। चीन के प्रसिद्ध नगर पेकिंग में "स्वर्ग की देवी" नामक एक विशाल मन्दिर है जहां प्रतिवर्ष चीन के सम्राट शीतकाल में पूजा और प्रार्थना करते रहे हैं और बलि चढ़ाते रहे हैं, इस उद्देश्य से कि आगन्तुक वर्ष धन धान्य से पूर्ण हो।

यही चीन का सम्राट और धर्म पुरोहित चीन के समाज का सर्व प्रथम व्यक्ति मान्य रहा है। सम्राट के नीचे चार वर्ग के लोग प्रायः मान्य थे:—

सामाजिक वर्ग

१. मण्डारिन–यह चीनी समाज का एक विशेष वर्ग था। ये उच्च शिक्षा प्राप्त लोग होते थे जो प्राचीन साहित्य, दर्शन, संगीत, इतिहास, गणित इत्यादि का अध्ययन करते रहते थे। चीन के समस्त ज्ञान विज्ञान की स्थिति और परम्परा इन्हीं मण्डारिन लोगों में निहित थी। इसी वर्ग में से सरकार के सब उच्चपदाधिकारी एवं कर्मचारी चुने जाते थे, और इसी वर्ग के लोग पूजा और अन्य धार्मिक कार्य भी करवाते थे। एक प्रकार से ये लोग भारत के ब्राह्मणों की तरह और पच्छिम के राज–पदाधिकारी एवं पादरी लोगों की तरह थे। मण्डारिन भारत के चार निश्चित वर्णों की तरह कोई एक निश्चित वर्ण या जाति नहीं। भारत में तो जातियां जन्म से मानी जाती हैं किन्तु चीन में किसी भी वर्ग या कक्षा या परिवार का व्यक्ति शिक्षा प्राप्त करके मण्डारिन वर्ग में गिना जा सकता था।—चीन में जन्म से या धन के आधार पर कोई वर्ग भेद नहीं है।

२. भूमि जोतने वाले किसान

३. दस्तकारी करने वाले लोग
४. व्यापारिक वर्ग

उपर्युक्त चार वर्गों में यह बात ध्यान में आई होगी कि इनमें कोई भी वर्ग सैनिक नहीं है। वास्तव में बहुत अंशों तक चीनी सभ्यता एक शांतिप्रिय सभ्यता रही है और वहां के राष्ट्रीय जीवन और मानस की रचना कुछ इस प्रकार की हुई है कि उस जीवन और मानस में युद्ध की बर्बरता या शोर के प्रति कुछ भी आकर्षण नहीं रहा है। हां, जङ्गली तातार या हूण लोगों से, जिनके हमले लूटमार के लिये बराबर चीन पर होते रहते थे, अपने धनजन और संस्कृति की रक्षा के लिये चीन के सम्राटों को सैनिक संगठन करने ही पड़े और उन सम्राटों में से कुछ एक दो ऐसे भी निकले जिन्होंने स्वदेश की सीमा पार करके पड़ोसी देशों पर भी (जैसे मध्यएशिया, हिन्दचीन, तिब्बत, इत्यादि पर) अपना आधिपत्य जमाने का प्रयास किया; अन्यथा तो वहां का जन और जीवन शांति प्रिय ही रहा है—केवल शांतिप्रिय ही नहीं, किन्तु कला-प्रिय भी।

समाज का बहुसंख्यक वर्ग किसानों का रहा है। चीन भारत की तरह एक खेती प्रधान देश ही रहा है। वहां के किसान मुख्यतः चाय, गेहूँ, चावल, बाजरा, प्याज, सरसों और कपास की खेती हजारों वर्षों से करते आ रहे हैं। घरों में रेशम

पैदा करना वहां का मुख्य गृह-उद्योग रहा है। पुरुष खेतों में काम करते हैं और स्त्रियां घरों में कपड़े की बुनाई का एवं अन्य सब घरेलू काम। कृषि-भूमि पर प्राचीन काल से ही किसानों का स्वामित्व रहा है और वे उचित भूमि-कर सरकार को देते रहे हैं। परिवार के स्वामी, पिता की मृत्यु पर भूमि का बंटवारा बराबर बराबर भाइयों में होता है, इस प्रकार वहां अनेक छोटे छोटे खेत हैं। राज्य और किसानों के बीच प्राय: कोई बड़ा जमींदारी वर्ग नहीं है, कुछ थोड़े से ऐसे जमींदार अवश्य हैं जिनके पास कुछ विशेष भूमि हो और उसको जोतने के लिये वे किसानों को किराये पर देते हों।

हर काल में हजारों लोग ऐसे रहे हैं जो भाइयों में बंटवारा होते होते खेतों के छोटा होजाने पर अपने खेतों को बेच देते थे; ऐसे ही लोगों की सम्राटों की सेना बनती थी और ऐसे ही लोग चीन की "महान दीवार" बनाने में लगे थे और सामूहिक मजदूरी का काम करते थे। प्राचीन मिश्र और बेबीलोन, ग्रीस और रोम की तरह चीन में कोई गुलाम वर्ग नहीं रहा है।

प्राचीन चीन में ज्ञान और विज्ञान की उत्तरोत्तर उन्नति—

ई. पू. २५६ में चिन वंश के सम्राट शी हवांगटी "प्रथम सम्राट" के काल से लेकर सन् १६४४ में मिंगवंश के राज्य काल तक,

लगभग दो हजार वर्षों में, चीन में साहित्य, कला, विज्ञान की खूब उन्नति हुई। इन दो हजार वर्षों के लम्बे काल में चाहे राजवंशों ने पलटा खाया हो, देश कई बार, छोटे छोटे टुकड़ों और राज्यों में विभक्त हुआ हो, किंतु ज्ञान और विज्ञान, साहित्य और दर्शन की उन्नति बराबर होती रही। इस काल में समस्त यूरोप, ग्रीक और रोमन सभ्यता काल के कुछ वर्षों को छोड़ कर १५ वीं शती में रिनेसां आने के पहिले तक प्रायः असभ्य और अंधकारमय ही रहा। चीन में बहुत प्राचीन काल में ही लेखन कला का आविष्कार हो चुका था। लेखन के लिये सुन्दर ब्रश का ई० पू० तीसरी शताब्दी में एवं ई० पू० दूसरी शताब्दी में कागज का आविष्कार हो चुका था। छपाई का भी आविष्कार हो चुका था; अतएव पुस्तकें छपती भी थीं। बारुद का आविष्कार भी प्राचीन काल में ही हुआ। चीनी कारीगर बड़े बड़े विलक्षण पुल बनाते थे; वे चीज गरम करने के लिये एवं खाना पकाने के लिये कोयले और गेस (Gas) का प्रयोग भी करने लग गये थे। जल शक्ति से अनेक भारी काम जैसे आटे की चक्की चलाना इत्यादि काम करने लग गये थे। प्राचीन काल से ही उनकी बड़ी बड़ी सामुद्रिक जहाजें भी प्रचलित थीं एवं प्राचीन बेबीलोन, मिश्र और भारत से व्यापार होता था। इनेमल, लाख और हाथी दांत की खुदाई का

बहुत सुन्दर सुन्दर काम करते थे। चमकदार रंगों के रेशमी कपड़े बुने जाते थे। चित्रकला और स्थापत्यकला बहुत विकसित थी;--यह सब उस काल में जब कि यूरोप निवासियों को इन चीजों का जरा भी ज्ञान नहीं था। फिर स्वभावतः यह प्रश्न उठ सकता है कि यदि चीन ने इतनी उन्नति और विकास कर लिया था (और यही बात भारत के साथ भी लागू हो सकती है) तो क्यों १८ वीं १९ वीं शताब्दियों में आकर वह यूरोप से पिछड़ गया। क्यों कर यह बात हुई कि यूरोप जो इतना पिछड़ा हुआ था अचानक १८ वीं एवं १९ वीं शताब्दी में एक दम ऊँचा उठ गया; नये नये देश उन्होंने ढूंढ़ निकाले, और स्टीम ऐंजिन, रेल, तार, बिजली, वायुयान आदि चमत्कारिक चीजों का उन्होंने आविष्कार कर लिया। क्यों नहीं वे लोग जो पहिले से ही बहुत विकसित और सभ्य थे, ये सब काम करपाये ? विद्वानों और इतिहासकारों ने इन प्रश्नों के उत्तर में अनेक अनुमान लगाये हैं। ऐसा कहा जाता है कि चीनी जन--साधारण स्वभावतः ही (स्यात् उनके महात्मा कनफ्यूसियस के प्रभाव से) पुरातनवादी होता है और अपने पारिवारिक जीवन के आचार--विचार में इतना बंधा रहता है कि अपने जीवन की साधारण चाल से ही वह संतुष्ट रहता है। चीन के दूसरे प्राचीन महात्मा लाओत्से की शिक्षाओं का भी उस पर इतना सांस्कारिक प्रभाव है कि वह

अपने आपको भाग्य के ही भरोसे छोड़े रहता है । ये बातें ठीक हों, न हों । इस संबंध में इंगलैंड के प्रसिद्ध विद्वान ऐच. जी. वेल्स (H. G. Wells) का यह मत है कि जहां तक पुरातन--वादिता (Conservatism) का प्रश्न है, वह तो यूरोप के साधारणजन में भी खूब पाई जाती है । विशेष परिस्थितियों में और विशेष युगों में ही, जब समाज में कोई ऐसा एक स्वतंत्र वर्ग विद्यमान होता है जिसको अपने खाने पीने और रहन—सहन के लिए दूसरों पर आधारित नहीं रहना पड़ता और न वह इतना धनी ही होता है कि ऐशो आराम और शान में अपनी जिंदगी बिताने लगे, कुछ लोग नये आविष्कार (Innovation) करते हैं, नये विचार पैदा करते हैं और नये काम करते हैं। ग्रीस और रोम के उन्नत दिनों में ऐसा ही एक स्वतन्त्र वर्ग विद्यमान था । अतएव यदि चीन और यूरोप के मानस में यह आधार भूत भेद नहीं है कि एक तो पुरातनवादी हो और दूसरा प्रगतिवादी तो क्यों चीन पीछे रह गया। उपरोक्त विद्वान का इस संबंध में यह मत है कि इस पिछड़ जाने का कारण चीन की भाषा की जटिलता और कठिनता में निहित है। चीन की भाषा (लिपि) एक चित्र--लिपि है । शब्दों को बनाने के लिये उसमें वर्णमाला लिपि नहीं होती, बल्कि प्रत्येक शब्द का, प्रत्येक भाव का प्रथक प्रथक एक चित्र या चिन्ह होता है और इस तरह हजारों वस्तुओं या विचारों को

प्रकट करने के लिये उनकी लेखन--प्रणाली में हजारों चित्र हैं। इन सबको सीख लेना कोई सरल काम नहीं । वर्षों इसको सीखने में लगजाते हैं। यह जटिल लिखना पढ़ना साधारण--जन की पहुंच के बाहर है । विशेष मंडारिन लोग ही जो वर्षों इस भाषा को सीखने में लगाते हैं प्राचीन साहित्य को पढ़ पाते थे। इसी कारण से कोई भी अन्वेषण, कोई भी विज्ञान की बात सिल सिलेवार लिखी जाकर, संग्रहित होकर साधारणजन तक नहीं पहुंच पाती थी। इस कठिनाई को देखकर यहां की भाषा प्रणाली में परिवर्तन करने के लिये और उसको सरल बनाने के लिये कभी कभी प्रयत्न भी हुए, किन्तु चूंकि मंडारिन लोगों का पुरानी प्रणाली बनाये रखने में ही स्वार्थ निहित था परिवर्तन के ये प्रयत्न कभी सफल नहीं हो पाये; और राष्ट्र में ज्ञान विज्ञान की परम्परा होते हुए भी उसमें प्रगति नहीं हो पाई । एक और कारण था जिससे प्रगति नहीं हो पाई, वह यह कि चीनी लोगों का, जब तक वे १६ वीं २० वीं शताब्दियों में पश्चिमी सभ्यता के निकट सम्पर्क में नहीं आये, यही दृढ़ विश्वास बना रहा कि उन्हीं कि सभ्यता, भाषा और साहित्य सर्वोत्तम है, पूर्ण है, उसमें किसी भी परिवर्तन की कोई आवश्यकता नहीं ।

आज तो ऐसे प्रयत्न किये जा रहे हैं कि चीन की भाषा और लेखन-प्रणाली ऐसी सरल बने कि साधारण जन-समुदाय

उसमें आसानी से शिक्षित हो सके । आधुनिक चीन ने इस बात में कुछ सफलता भी प्राप्त की है । सन् १६१७ में एक साहित्यिक क्रान्ति हुई जिसके नेता डा. हूशी एवं चेन तू शीन थे। इनके प्रयत्नों से भाषा का एक सरल संस्करण प्रचलित हुआ; इससे चीनी भाषा के अध्ययन में समय, शक्ति की बहुत बचत हुई। इसी सरल बनाई हुई भाषा में आजकल चीन के समाचार पत्र और बालकों की पढ़ाई के लिये पुस्तकें छपती हैं।

चीनी धर्म, दर्शन, विचारधारा और जीवन-दृष्टिः

चीन के प्राचीन ग्रन्थों से ज्ञात होता है कि अन्य प्राचीन जातियों की तरह इनका भी विश्वास अदृश्य शक्तियों में था। इन अदृश्य शक्तियों की अभिव्यक्ति वे लोग प्रकृति, के प्रत्येक व्यापार, प्रकृति की प्रत्येक घटना में देखते थे। धरती जो हमको अन्न देती है उसमें वह अदृश्य शक्ति मातृ रूप में विद्यमान हैं; और इस प्रकार प्रत्येक पर्वत में, वृक्ष में, नदी में यहां तक कि गृह के द्वार में—प्रत्येक वस्तु में देवता (Spirit) वास करता है। उस देवता को प्रसन्न रखना चाहिये; और वह प्रसन्न रक्खा जा सकता था बलि चढ़ाकर। अति प्राचीन काल में तो मनुष्य ही बलि रूप में चढ़ाया जाता रहा होगा। किन्तु बाद में यह प्रथा नहीं

रही। इन सब देवताओं और शक्तियों के ऊपर "स्वर्ग का पिता" या "स्वर्ग का सम्राट"—ईश्वर था। इस पृथ्वी का सम्राट, अर्थात् चीन का सम्राट उस "स्वर्ग के सम्राट" का बेटा तथा पुरोहित था, और पृथ्वी के समस्त लोग सुख शान्ति से रहें इसलिये पृथ्वी के लोगों के 'पुरोहित', पृथ्वी के सम्राट को अर्थात् चीन के सम्राट को स्वर्गदेव (ईश्वर) के सामने भेंट चढ़ानी पड़ती थी। 'स्वर्ग के सम्राट' के मन्दिर में इस प्रकार बलि चढ़ाने की प्रथा चीन में आधुनिक युग तक प्रचलित रही। बलि में प्रायः अन्न, मदिरा, और बैल चढ़ाये जाते थे, और आदर सत्कार से देव की पूजा की जाती थी। स्वर्ग का यह देवता चीनी राष्ट्र का आदि पूर्वज भी माना जाता है। यह तो चीन के प्राचीन धर्म का एक स्थूल रूप हुआ। किन्तु अति प्राचीन काल से ही हमें चीनी लोगों में उच्च दार्शनिक विचारों की क्षमता के दर्शन होते हैं। जैसा एक जगह ऊपर उल्लेख किया जाचुका है, हिन्दुओं के प्राचीन ग्रन्थ वेद के समान चीनी लोगों का भी एक प्राचीन ग्रन्थ है–"यी चिन" (Yi-Ching) अर्थात् "परिवर्तन के नियम"। इस ग्रंथ में विश्व के रहस्य को समझने समझाने के लिये चिन्तनशील और अनुभूत्यात्मक प्रयास हैं। चीन के प्राचीन महात्माओं ने विश्व और प्रकृति में एक अपूर्व सामञ्जस्य और समरसता (Harmony) की अनुभूति की और उन्हें यह

भान हुआ कि जीवन की कलामकता इसी में है कि विश्व और प्रकृति की इस समरस (Harmonious) गति ने मनुष्य भी अपनी लय मिलादे; अर्थात् मनुष्य को आनन्द की अनुभूति तभी होसकती है जब वह प्रकृति की गति के साथ अपने जीवन का सामञ्जस्य स्थापित करले। विश्व में, प्रकृति में परिवर्तन होते रहेंगे, मनुष्य को चाहिये कि वह अवश्यंभावी परिवर्तनों के साथ प्रवाहित होता रहे। वह विश्व और प्रकृति की गति को रोकने का व्यर्थ ही प्रयास न करे। समाज के जीवन में, राष्ट्र के जीवन में, व्यक्ति के जीवन में उत्थान होगा, पतन होगा, परिवर्तन होते रहेंगे और अंत में मृत्यु भी होगी। इन सब बातों को प्रकृति की एक स्वाभाविक गति मान लेनी चाहिये और इन सब दशाओं की भवितव्यता को स्वीकार करते हुए जीवन को सहज गति से इन में प्रवाहित होने देना चाहिये। यह भाव चीनी राष्ट्र के मानस में, व्यक्ति के मानस में संस्कार रूप से व्याप्त रहा है।

चीन के राजनैतिक जीवन में, सामाजिक जीवन में अनेक परिवर्तन होते रहे, युग युग में अनेक विचारक और महात्मा भी प्रकट हुए, जिनकी बाद में देवताओं के समान पूजा भी होने लगी और उनके मंदिर भी बने, किंतु प्रकृति की गति में शरणागति का भाव हर युग और हर काल में बना रहा। वे दो

महात्मा जो चीन के सर्वप्रसिद्ध प्रतिनिधि दार्शनिक विचारक माने जाते हैं ईसा पूर्व ६ठी शताब्दी में चीन में प्रकट हुए। यह वही काल था जिस समय बुद्ध भगवान भारत में प्रकट हुए थे, एवं ग्रीक दार्शनिक ग्रीस में सृष्टि की समस्याओं पर विचार कर रहे थे। ये दो महात्मा थे कनफ्यूसियस और लाओत्से। इन दोनों में भी कनफ़्यूसियस को ही अधिक महत्वशाली माना जाता है, वैसे इन दोनों के ही विचारों का प्रभाव चीनी जीवन और चरित्र पर पड़ा। कनफ्यूसियस का जन्म ५५१ ई. पू. में एक उच्च राजकर्मचारी घराने में हुआ। उद्भुत उसका मानसिक विकास हुआ। चीन के प्राचीन ग्रंथों का उसने अध्ययन किया, विशेषतयः सबसे प्राचीन ग्रंथ "यी चिन" और "शूचिन" (अर्थात् "परिवर्तन के नियम," "इतिहास के नियम") का। उसने एक विद्यालय की स्थापना की जिसमें लगभग तीन हजार विद्यार्थी विद्याध्ययन करते थे। उपरोक्त प्राचीन ग्रंथों के उसने भाष्य लिखे और यही प्राचीन ग्रन्थ मुख्यतयः उसकी विद्यालय में शिक्षण के आधार रहे। कनफ़्यूसियस ने जीवन में एक सामञ्जस्यात्मक और समरस (Harmonious) गति लाने के लिये जीवन का व्यवहार कैसा होना चाहिये इस बात की शिक्षा दी। ऐसा जीवन कनफ़्यूसियस के पहिले प्राचीन काल में था, अतएव उसने अपनी शिक्षाओं का आधार चीन के उपरोक्त प्राचीन ग्रन्थ बनाये। व्यक्तिगत जीवन, पारिवारिक जीवन,

सामाजिक जीवन और राजनैतिक जीवन में किस प्रकार का व्यवहार होना चाहिये, इसके उसने नियम निर्देश किये। उसने शिक्षा दी कि जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में, "अति" का परित्याग करते हुए, साधारण "मध्यम" रास्ते से चलना चाहिये; न तो ज्यादा अच्छाई अच्छी और न ज्यादा बुराई अच्छी। इस प्रकार 'मध्यम' रास्ते पर चलते हुए जीवन के कर्तव्यों का पालन करना चाहिये और प्राचीन शास्त्रों में विश्वास रखना चाहिये। उसने पारिवारिक जीवन को नियमित करने का विशेष प्रयत्न किया; माता पिता की सेवा पर विशेष जोर दिया और राजा और प्रजा के बीच पिता पुत्र के भाव को प्रष्ट किया। समाज का नियमन करने के लिये उसने शील और सौजन्य को चरित्र का प्रमुख अंग माना। गौतम बुद्ध अहंभाव को भूल कर शांति प्राप्त करने पर, तथा यूनानी दार्शनिक वाह्य ज्ञान पर, और यहूदी एकेश्वर वादिता पर जोर देते थे, कनफ्यूसियस ने व्यक्तिगत आचरण पर विशेष जोर दिया। कनफ्यूसियस महान बुद्धिवादी एवं व्यवहारिक था। यह तो उसका विश्वास था कि अखिल सृष्टि में एक केन्द्रीय शक्ति है जिसे वह "स्वर्ग—("ईश्वर") कहता था, किन्तु किसी व्यक्तिगत साकार ईश्वर में उसका विश्वास नहीं था और न वह मृत्यु के उपरान्त आत्मा जैसे किसी अमर "तत्व" या पुनर्जन्म में विश्वास करता था।

सामाजिक जीवन में किसी प्रकार का विप्लव न हो उसके लिये उसने परम्परा की रक्षा करने का उपदेश दिया, और यह बतलाया कि परम्परा के भाव की रक्षा परिवार भावना में होती है। उसके उपदेशों का चिर स्थायी प्रभाव चीन और जापान की सभ्यता पर पड़ा। कनफ्यूसियस की शिक्षायें सरकारी रूप से मान्य हुईं, उसकी तमाम पुस्तकें विद्यालयों में और परीक्षाओं में पाठ्य पुस्तकें मानी गईं। कनफ्यूसियस की शिक्षाओं में इस बात पर विशेष आग्रह है कि अति का विसर्जन हो, व्यवहार और आचार में सौजन्यता हो; इसका यह प्रभाव पड़ा कि जीवन में एक विशेष माधुर्य बना रहा, उसमें कोई कटुता और भद्दापन न आपाया, और निकृष्ट भौतिकता से वह ऊपर उठा रहा। कनफ्यूशियस का ही समकालीन चीन का दूसरा महात्मा लाओत्से था। लाओत्से ने भी चीन के प्राचीन ग्रन्थों को अपनी शिक्षा का आधार बनाया। किन्तु जब कि कनफ्यूसियस तो लोगों को यह कहता हुआ प्रतीत होता था कि उठो अपने आचरण, आचार और व्यवहार को प्राचीन आदर्शों के अनुसार बनाओ, तब लओत्से लोगों को यह कहता हुआ प्रतीत होता था कि छोड़ो, जीवन में खटपट की क्या आवश्यकता है, परेशानी की क्या आवश्यकता है; सृष्टि "पथ" की तरह चलती रहती है, हजारों प्राणी इस पथ पर चलते हैं, किन्तु पथ उनको पकड़कर नहीं रखता। पथ के इस नियम को, सृष्टि के इस गुण

को जो समझ गया वही ठीक है। इन सबका आशय यही है कि मनुष्य अपनी शक्ति पर विश्वास करके, प्रयत्न करके ही असफल होता है। सफलता तो सृष्टि के प्रवाह के साथ अपने आपको छोड़ देने से प्राप्त होती है; अपनी सफलता के लिये यदि तुमने दूसरों को परेशान किया, उन पर हिंसा का प्रयोग किया, इसका कोई स्थायी परिणाम नहीं निकलने वाला है। हिंसा (Aggressiveness) पथ की प्रकृति के विरुद्ध है, सृष्टि के नियम के विरुद्ध है। हिंसा की स्थापना कभी नहीं हो सकती। इन शिक्षाओं से चीन के मानस पर कुछ कुछ वैराग्यमूलक और अकर्मण्यतापरक प्रभाव पड़ा।

इन दो महात्माओं के बाद भी अनेक दूसरे महात्मा, विचारक, कवि और कलाकार चीन में पैदा हुए, और चीन की संस्कृति को बनाने में उन्होंने योग दिया। प्राचीन ग्रन्थ "यीचिन" और "शूचिन" (जिनका उल्लेख ऊपर किया जा चुका है), ग्रन्थों के व्याख्याकार महात्मा कनफ्यूसियस और लाओत्से की शिक्षाओं के राष्ट्रव्यापी प्रभाव के फलस्वरूप जीवन के प्रति चीनी-दृष्टिकोण और चीनी "मानस" जैसा बना, उसका अपना ही एक व्यक्तित्व है। चीन में बुद्ध धर्म भी आया, चीन वासियों ने उसे अपनाया भी, किन्तु उसको अपने रंग में रंग कर। बुद्ध धर्म का एक रूप है जो इच्छाओं के दमन की शिक्षा

देता है, और इस जीवन और संसार को महा-दुःखमूलक बतलाता है। किन्तु बुद्ध—धर्म का यह अंग चीनी जीवन और मानस में नहीं घुल पाया। बुद्ध-धर्म की एक दूसरी आधार भूत मान्यता यह है कि सृष्टि में जो कुछ है वह क्षण क्षण परिवर्तनशील है। बुद्धधर्म की यह बात तो चीनी मानस में घुल गई—चीनी मानस पहिले से ही अपने प्राचीन ग्रन्थ "यी चिन" (Book of changes) की भावना के अनुसार जिसकी मान्यता यह थी कि परिवर्तन ही सृष्टि का नियम है, ऐसा बना हुआ था। फिर चीनी महात्मा कनफ्यूसियस के मतानुसार मनुष्य स्वभावतः ही अच्छा है, और उसमें अच्छे गुण हैं, शिक्षा और अनुशासन के द्वारा इन गुणों को उभारने की आवश्यकता है। लगभग यही बात बुद्धधर्म में एक अन्य प्रकार से मान्य है, वह यह है कि प्रत्येक मानव में "बुद्ध" बनने के तत्त्व विद्यमान हैं, उन तत्त्वों का विकास होना चाहिए और 'बुद्ध' स्थिति को प्राप्त होना चाहिए; अर्थात् साधारणतयः बुद्ध धर्म के इस विचार का कनफ्यूसियस की शिक्षाओं की तरह यही प्रभाव पड़ा कि मनुष्यों में उचित नैतिक गुणों का विकास हो; अतः यह बात भी चीनी मानस द्वारा ग्रहीत हो गई।

इसके अतिरिक्त बौद्ध-धर्म का चीन के साधारण—जन पर दो और विशेष रूपों में प्रभाव पड़ा। जन साधारण में

एक तो यह विश्वास फैला कि ऊपर आकाश में एक दिव्यलोक होता है जहां पर "अमिताभ" (बुद्ध) रहते हैं; दूसरा यह कि उस "अमिताभ" की पूजा होनी चाहिये जिससे मनुष्य भी उस दिव्यलोक की प्राप्ति कर सके। बौद्ध-धर्म के इस रुप का प्रचलन चीन में होना वहां की परम्परा के अनुसार स्वाभाविक था, क्योंकि चीनी मानस आदिकाल से ही "स्वर्ग पिता" की कल्पना करता आया था। इस प्रभाव से चीन में बौद्ध मन्दिरों का, व्यक्तिगत पूजा का, एवं बौद्ध मठों का जिनमें बौद्ध भिक्षु और भिक्षुणियां रहती थीं, बहुत प्रचलन हुआ। कलफ्यूसीयस, लाओत्से और बुद्ध—इनकी शिक्षायें चीनी निवासियों के लिये "उपदेश त्रय" हैं। इन सबके समन्वय से एक जीवन-दृष्टिकोण बना है। यह दृष्टिकोण सृष्टि अथवा प्रकृति जैसी यह है, उसको वैसी ही स्वीकार करता है। मानव प्रकृति के अनुकूल शेष सृष्टि के साथ विरोध न करते हुए अर्थात् शेष सृष्टि के साथ सामञ्जस्य स्थापित करते हुए चलते रहना, यही जीवन है। मानव प्रकृति में इच्छायें हैं, आकांक्षायें हैं, प्रेम और भय है, सुख दुख और मृत्यु है। ये सब स्वाभाविक हैं, स्वाभाविक प्रकृति के विरुद्ध मनुष्य को चलने की आवश्यकता नहीं। यदि उसने ऐसा किया तो वह जीवन के प्रवाह को और सृष्टि के प्रवाह को रोकेगा जो सम्भव ही नहीं, अतएव मनुष्य खाये भी, पीये भी, प्रेम भी करे, इच्छायें भी रक्खे और इस प्रकार मानव

प्रकृति के साथ एकरस होकर रहे। यह सृष्टि है, इसमें न तो बहुत ऊंचे की आशा हो सकती है न बहुत नीचे की एक तरफ स्वाभाविक मृत्यु है और दूसरी तरफ कोई अमरता नहीं। न पूर्ण शान्ति और न पूर्ण आनन्द। इसलिये पथ के बीच में से होकर चलते रहो, जो कुछ सामने आये उसके साथ ठीक ठीक व्यवहार करते हुए। मनुष्य मानों आदर्श और यथार्थ के बीच मेल रखता हुआ चले, मानवता का सार (Essence) इसी में है। जीवन के इस दृष्टिकोण में एक मन्थर गति है, न तो ऱ कर्मण्यता की स्थिरता और न भीषण कर्म की परेशानी, न तो साधारण मानवीय भूलों और बुराइयों के प्रति रोष और न किन्हीं अति उच्च नैतिक आचारों और गुणों के प्रति कोई विशेष प्रशंसात्मक भाव। ऐसा होने से कटुता नहीं आ पाती, मानव मानव में सरल माधुर्य पुष्ट होता है, जीवन में सरल स्वाभाविकता बनी रहती है। चीनी मानव का जीवन ऐसा बना हुआ है जिसमें कोई विशेष झंझट नहीं। इस बात की चिन्ता हुए बिना की पूर्ण आनन्द या पूर्ण आदर्श नैतिकता प्राप्त हो, सुख-दुख, गुण-अवगुण, इनके बीच में से होकर उनके जीवन का प्रवाह मन्थर गति से चलता रहता है। अकाल, भूख, महामारी की पीड़नायें आती रहती हैं किन्तु इन सब पीड़नाओं को वे प्रसन्न चित्त झेलते जाते हैं—जीवन से प्रेम करते जाते हैं और सन्तान वृद्धि बदस्तूर करते रहते हैं।

यह है सन् १९४९ के अन्त तक का चीनी मानव ।

किन्तु,

आज सन् १९५० में चीन में एक नया मानव बुद्ध, स्वर्ग-देवता और अमिताभ के मन्दिरों को ध्वस्त करता हुआ, कनफ्यूसियस और लाओत्से के शास्त्रों को जलाता हुआ, आदिकाल से चली आती हुई आज तक की परम्पराओं को साफ करता हुआ सर्वथा एक नई किन्तु स्पष्ट दृष्टि अपनाते हुए उत्थित हुआ है, और मजबूत कदमों से आगे बढने लगा है।

—o—

२६

प्राचीन ग्रीक लोग और उनकी सभ्यता

भूमिका

प्राचीन युग (ईसा पूर्व काल से ईसा पश्चात् मध्य युग तक) की दुनिया को हम दो भागों में बांट सकते हैं।

१. पूर्वीय दुनिया—जिसमें भारत और चीन का समावेश कर सकते हैं। भारत में वैदिक एंव चीन में चीनी सभ्यता का विकास हुआ। इन सभ्यताओं की अपनी ही विशेषतायें

थीं। इनके अपने ही आदर्श थे। कई पुरातत्ववादी इन सभ्यताओं को पश्चिमी दुनिया की समस्त प्राचीन सभ्यताओं से पुरानी मानते हैं।

२. पश्चिमी दुनिया:—जिसमें सब भूमध्य सागरीय प्रदेश, अरब, एशिया माइनर, ईरान, मिश्र, अफ्रीका, यूरोप इत्यादि का समावेश कर सकते हैं। पश्चिमी दुनिया में मिश्र, मेसोपोटेमिया की प्राचीन सौर-पाषाणी सभ्यताओं का उदय और विकास हुआ। सौर-पाषाणी विशेषताओं वाली सभ्यता (कृषि, पशुपालन, विविध देव देवी पूजा, मन्दिर, वेदी, भेंट, बलिदान, पुरोहित, पुजारी, मन्त्र, जादू, टोना पुरोहित--राजा या देव राजा का ही प्रचलन समस्त भूमध्यसागरीय प्रदेशों में यथा एशिया-माइनर, सीरीया इजराइल, उत्तरी अफ्रीका ग्रीस, एवं क्रीट, के कार्ष्णीय लोगों (Bronet People) में हुआ।

पश्चिमी दुनिया में सभ्य मानव की यह प्रथम चहल पहल थी। ईसा पूर्व प्राय: ५-६ हजार वर्ष से प्रारम्भ होकर प्राय: एक हजार वर्ष पूर्व तक यह चहल पहल होती रही। वहां का मानव देवी देवताओं के भय से पुरोहितों के जादू टोणे एंव पूजा की नानाविध विधियों से, कभी भी मुक्त नहीं हुआ।–उसका मानस हजारों वर्षों के अज्ञान पूर्ण संस्कारों में जकड़ा रहा। अपने चारों ओर की प्रकृति का यह निर्भय मुक्त

चेतना से अवलोकन नहीं कर सका। वह यही समझता रहा, राजा--पुरोहित, देवता--राजा ही इस दुनिया के सब कुछ थे। उसे यह कल्पना ही नहीं हो सकती थी कि समाज में मानव की एक स्वतन्त्र हस्ती है, और वह स्वयं, मन चाहे समाज का निर्माण कर सकता है।

इस प्रकार की पश्चिमी दुनिया में अनुमानतः ई. पू. १००० में एक नितांत नई मानव-शक्ति का आगमन हुआ। इस मानव--शक्ति ने मानव को मानस--मुक्ति, निर्भयता और सौन्दर्योपासना की अभूतपूर्व भावनायें दीं, और उस प्रसिद्ध ग्रीक सभ्यता का निर्माण किया जो कई अंशो में आधुनिक यूरोपीय सभ्यता की आधार--शिला है। प्राचीन ग्रीस सभ्यता के दार्शनिक, वैज्ञानिक गणितज्ञ, कवि, कलाकार, नाट्यकार, आज भी संसार के पुरुषों को अनुप्राणित करते हैं। प्राचीन ग्रीस के मनुष्य के सुडौल, भव्य और सौन्दर्यमय शरीर को देखकर (जिनका आभास हमें चित्रों और मूर्तियों से मिलता है) हमारा हृदय आनन्द से भर जाता है,--और हम चाहने लग जाते हैं, काश ! कि सब मनुष्यों का ऐसा ही सुडौल और सुन्दर शरीर होता; उन प्राचीन ग्रीक लोगों में सौन्दर्य और आनन्द की जो भावना थी वह हममें भी होती।

वे कौन लोग थे, जिनने विज्ञान और सौन्दर्य की भावना से परिपूर्ण इस सभ्यता का विकास किया ? मध्य एशिया (प्रायः

वह भू-भाग जो पश्चिम में यूराल पर्वत से पूर्व में अलटाई पर्वत तक फैला हुआ है पृथ्वी का वह भू-भाग रहा है, जहाँ से प्रागैतिहासिक काल से लेकर इतिहास के मध्य युग तक मनुष्यों की टोलियों के प्रवाह के प्रवाह भिन्न भिन्न काल में पश्चिम में यूरोप की ओर, और दक्षिण में ईरान और भारत की ओर, एक शक्तिशाली बाढ़ की तरह बढ़ते रहे हैं, और जिन जिन देशों में वे गये वहाँ बसते गये हैं। इतिहास के प्रारंभिक काल में इन भू-भागों से जो लोग पश्चिम की ओर गये वे उस गौर-वर्ण, भूरे बाल, नीली आँखो और लम्बे कद वाले मनुष्य थे, जिनको हमने नोर्डिक आर्य उपजाति के लोग कहकर निर्देशित किया है। ये लोग वर्ण, स्वभाव में अन्य प्रमुख तीन उपजातियों से यथा सेमेटिक मंगोलियन एवं नीग्रो से बिल्कुल भिन्न थे। इन्हीं नोर्डिक आर्य उपजाति के लोगों ने लगातार एक के बाद दूसरे कई प्रवाहो में काला सागर के उत्तर से होते हुए ग्रीस में प्रवेश किया। इन लोगों के कई समूहगत जातियों के जैसे आयोनियन, डोरिक, इओलिक, मैसेडोनियन, थ्रेसियन, जातियों के, झुण्ड के झुण्ड एक के बाद दूसरे, ग्रीस की तरफ आये और ग्रीस और उसके आस पास के द्वीपों में और देशों में बस गये! ग्रीस, मुख्य में एथेन्स, स्पार्टा, थीबीज, ओलिंपिया, कोरीन्थ, डेल्फी, इत्यादि नगर बसाये, क्रीट एवं अन्य सैकड़ों द्वीपों में अपने उपनिवेश बसाये। पश्चिम में, वे सिसली द्वीप एवं इटली

के दक्षिणी भाग में फैल गये, यहाँ तक कि फ्रांस के दक्षिणी तट पर आज जो मारसेल्ज नगर है, उसकी भी स्थापना, प्राचीन काल में इन ग्रीक लोगों ने की। दक्षिण इटली और सिसली के ये भाग "वृहद् ग्रीस" कहलाये। ऐशिया-माइनर में भी उन्होंने कई नगर और उपनिवेश बसाये, जैसे,–मिलेट्स ऐफीसस इत्यादि।

इन देशों में आने और बसने के पूर्व ये जातियां घुम्मकड़ चरवाहा जातियां थीं, जो नये चरवाह और नई भूमि की तलाश में ग्रीस और समीपस्थ देशों की ओर बढ़ आईं। बैलगाड़ियों में ये यात्रा करते थे, और रास्ते में कहीं भी कोई कृषि योग्य भूमि देखते थे, वहाँ कुछ दिन ठहर, खेती से अन्न संग्रह कर, आगे बढ़ते जाते थे। आर्यन परिवार की "ग्रीक" भाषा ये बोलते थे, जो बहुत सम्मुनत और मधुर थी, और जिसमें इन जातियों के गायककवि (Bards) प्राचीन गाथायें गाया करते थे। जिस प्रकार हिन्दुओं के दो प्राचीन महाकाव्य "वाल्मीक रामायण" एवं "महा भारत" हैं, इसी प्रकार ग्रीक लोगों के दो प्राचीन महाकाव्य थे, "इलियड" एवं "ओडेसियस"–जिनके रचयिता ग्रीस के, एवं पश्चिमि दुनिया के सर्व-प्रथम अंध महाकवि होमर माने जाते हैं। ऐसा अनुमान है, कि इन ग्रीक लोगों के ग्रीस, क्रीट, इटली, एशिया माईनर में बसने और उपनीवेश बनाने के पूर्व ही इन महाकाव्यों की गाथाएं प्रचलित थीं।

ग्रीस और समीपस्थ देशों में जब ये लोग आये, तब वहां के आदि निवासी माओनियन (एक प्रकार की सौर पाषाणी) सभ्यता वाले लोगों से उन्हें टक्कर लेनी पड़ी–उनके नगर मन्दिर, महल नष्ट भ्रष्ट कर दिये गये; लगभग ई. पू. १००० में क्रीट में नोसस का विशाल भव्य महल और मन्दिर भी नष्ट कर दिया गया। विजित लोगों को गुलाम बना लिया गया। और इन प्राचीन सभ्यताओं के अवशेषों पर, एवं उनसे प्रभावित होकर इन नव–आगन्तुकों ने अपनी नई सभ्यता का निर्माण किया। ईसा के पूर्व प्रायः ७वीं शताब्दी तक यूरोप में (ग्रीस, इटली, क्रीट इत्यादि में) पूर्वस्थित सौरपाषाणी सभ्यता के चिन्ह सब समाप्त हो चुके थे, और नव आगन्तुक ग्रीक आर्यनों द्वारा एक नई दुनिया बसाई जा चुकी थी।

पहले ये ग्रीक लोग गांव बसाकर रहने लगे। धीरे धीरे इन्होंने कई नगर बसाये, और अपने विचारों के अनुकूल नगरों में मन्दिर, सभा भवन, थियेटर, खेल मैदान, इत्यादि बनाये। ग्रीस में बसने की इन प्रारम्भिक काल की गाथायें ग्रीक जातियों के गायक कवि (Bards) कविता रुप में गाया करते थे; ये ही संग्रहित होकर उपरोक्त दो महाकाव्य बने, जिनमें ऐसा अनुमान है "इलियड" का प्रारम्भिक रुप ई. पू. १००० में गाया जाता था।

नगर राज्य (City States) काल

(स्थापन काल अनुमानतः ८०० ई. पू. से ३३८ ई. पू. तक)

मिश्र और बेबीलोन के विषय में हम पढ़ आये हैं— वहां पहले तो छोटे छोटे नगर राज्य स्थापित हुए, किन्तु कालान्तर में वे नगर राज्य किसी एक अपेक्षा कृत अधिक शक्ति शाली नगर राज्य के आधीन होते गये—एवं इस प्रकार वहां साम्राज्यों का स्थापना हुई। मिश्र और बेबीलोन उन प्रारम्भिक युगों की दृष्टि से तो बड़े बड़े साम्राज्य ही थे। इसी प्रकार बाद में ईरान में आर्यों का साम्राज्य स्थापित हुआ था। किन्तु ग्रीस में अनेक शताब्दियों तक ऐसा नहीं हो सका। उनकी बहुत विकसित स्थिति होते हुए भी वहां साम्राज्य स्थापित नहीं हो सके। इसके कई कारण हो सकते हैं;—पहला तो भौगोलिक कारण ही था—ग्रीस छोटे छोटे टापुओं का बना देश है, मुख्य भूमि भी सामुद्रिक खाड़ियों से बहुत कटी फटी है, और स्थान स्थान पर पहाड़ हैं, जो मुख्य भूमि को स्वाभाविक कई छोटे छोटे भागों में विभक्त किए हुए हैं। अतः जिस जिस भाग में जो "नगर-राज्य" स्थापित होगया उसके लिये दूसरे नगर राज्यों से पृथक रहना सरल था। दूसरा इन लोगों में अपनी ही समूहगत जाति के प्रति और अपने ही नगर राज्य के प्रति आसक्ति का भाव इतना जबरदस्त था कि, साधारणतया वे

अपने नगर राज्य की स्वतन्त्र स्थिति बनाये रखने में ही गौरव की अनुभूति करते थे, उनकी स्वतन्त्रता के लिए लड़ने को हर समय उद्यत रहते थे। अपने नगर-राज्य के प्रति देश-भक्ति का भाव बहुत प्रबल था।

इस प्रकार कई नगर राज्यों का विकास हुआ। एथेन्स, स्पार्टा, कोरिंथ, ओलिम्पिया, डेल्फी इत्यादि, एवं अनेक छोटे छोटे टापुओं पर बसे अनेक दूसरे नगर-राज्य। इनमें सबसे बड़े नगर-राज्य एथेन्स और स्पार्टा थे। ओलिम्पिया नगर राज्य वही था, जहां ई० पू० ७७६ में प्रथम ओलिम्पियन खेल प्रारम्भ हुए, जिनकी प्रथा अब भी प्रचलित है। अनुमान लगाया जाता है, कि एथेन्स की जन संख्या प्रायः २॥-३ लाख होगी। अन्य नगर राज्यों की जन संख्या ५० हजार या इससे कम ही रहती थी। सर्व प्रथम जब ये नगर राज्य बने, उस समय तो वहां का राज्य राजा के ही आधीन रहा। यह राजा, मिश्र और बेबीलोन के प्राचीन पुरोहित या 'देवता—राजाओं' की तरह नहीं था। राजा की पदवी में किसी भी प्रकार की धार्मिक भावना नहीं होती थी। इन राजाओं की स्थिति, तत्कालीन राजनैतिक एवं सामाजिक विचारों पर आधारित थी। नोर्डिक आर्य्यों के विशिष्ट परिवार हुआ करते थे।, इन विशिष्ट परिवारों का या किसी

एक प्रमुख परिवार का नेता ही राजा होता था। राजा को सलाह देने वाली विशिष्ट परिवारों के प्रमुख आदमियों की एक सलाहकार समिति होती थी। धीरे धीरे राजा-शासन-प्रणाली (Monarchy) के बाद ग्रीक नगर राज्यों में कुलीनतन्त्र शासन-प्रणाली का विकास हुआ। इस प्रणाली के अनुसार उच्च वर्ग के विशिष्ट परिवारों के कुछ बड़े लोग ही शासन करते थे। इसके बाद वहां के नगर-राज्यों में प्रायः एक-तन्त्रीय राज्य प्रणाली (Tyranny) का प्रयत्न हुआ। किसी एक विशिष्ट परिवार का शक्तिशाली पुरुष उच्च वर्ग के लोगों के विरुद्ध साधारण वर्ग के लोगों की सहायता से सब शक्ति अपने हाथों में केन्द्रित कर लेता था। किन्तु यह आवश्यक नहीं था, कि वह क्रूरता और निरंकुशता से राज्य करे। निरंकुश एकतन्त्र के बाद जनतन्त्र-शासन-प्रणाली (Democracy) का विकास हुआ। प्रायः ई० पू० पांचवी छठी शताब्दियों में ग्रीस के नगर राज्यों में जनतन्त्रात्मक प्रणाली का प्रसार था।

ये जनतन्त्रात्मक राज्य छोटे छोटे होते थे। आज की तरह बड़े बड़े जनतन्त्रात्मक राज्य नहीं, जिनका शासन सब लोग नहीं, किन्तु कुछ प्रतिनिधि लोग चलाते हैं। उन दिनों गुलाम और नौकर वर्ग को छोड़कर राज्य के सभी

लोग राज कार्य में एवं कानून इत्यादि बनाने में सीधा भाग लेते थे। यहां तक कि राज्य के बड़े बड़े कर्मचारियों की नियुक्ति भी चुनाव द्वारा होती थी।

इन छोटे छोटे राज्यों में अपने अपने राज्य के प्रति इतनी संकीर्ण आसक्ति की भावना होती थी, कि इन राज्यों में प्रायः हर समय वैमनस्य बना रहता था, और विध्वंसकारी गृह-युद्ध चलते रहते थे। कभी कभी छोटे छोटे नगर-राज्य अपनी व्यक्तिगत स्वतन्त्रता कायम रखते हुए, किसी बड़े राज्य के साथ मित्रता का गठ बन्धन कर लेते थे, और सामूहिक रक्षा के लिए उस बड़े राज्य को या तो सैनिक और हथियार देते रहते थे, या कुछ धन। ईसा पूर्व पांचवीं शताब्दी में एथेन्स के नगर राज्य के साथ कई अन्य छोटे छोटे नगर राज्य जुड़ गये थे, और इस प्रकार एक दृष्टि से एथेन्स एक साम्राज्यसा बन गया था।

ईरान के साथ युद्ध

(ई. पू. ४६०-४८०)

इसी काल में अर्थात ई. पू. पांचवीं शताब्दी में ईरान में एक महा साम्राज्य स्थापित था--और इस साम्राज्य का सम्राट था प्रसिद्ध दारा (Darius)। सम्राट दारा का साम्राज्य पश्चिम में एशिया माइनर से पूर्व में, भारत की सीमा सिन्ध

नदी तक प्रसारित था। इस साम्राज्य में, एशिया-माइनर मेसोपोटेमिया, सीरिया, ईरान आधुनिक अफगानिस्तान, एवं प्राचीन मिश्र समाहित थे। दारा ने एशिया-माइनर में स्थित ग्रीक नगरों और उपनिवेशों को तो जीत लिया था, अब उसकी महत्वाकांक्षा ग्रीस को जीतने की थी। फल-स्वरूप कई इतिहास प्रसिद्ध युद्ध हुए। ग्रीस में तो छोटे छोटे नगर राज्य थे, किन्तु वे सब अपनी स्वतन्त्रता के लिये लड़ते थे, और लड़ाई में बिना किसी भेद भाव के बूढ़ों और स्त्रियों को छोड़कर सभी नागरिक भाग लेते थे। सैनिक शिक्षा सब नव-युवकों के लिए अनिवार्य थी। दूसरी तरफ ईरान एक बहुविशाल साम्राज्य था। ग्रीक राज्यों की अपेक्षा अनेक गुणा उसकी सैनिक शक्ति थी। किन्तु इस साम्राज्य की सेना के सभी सैनिक भिन्न भिन्न देशों से एकत्रित किये हुए गुलाम थे, जो पैसे के बदले में लड़ते थे। लड़ाई से कोई और भावात्मक सम्बन्ध नहीं था।

पहिला प्रसिद्ध युद्ध ई. पू. ४९० में एथेन्स के निकट मेराथन नामक स्थान पर हुआ। एथेन्स-वासी ईरानी साम्राज्य की विशालता से डरे हुए थे। उन्होंने ग्रीक शक्तिशाली राज्य स्पार्टा से सहायता मांगी। किन्तु उनकी सहायता आने के पूर्व ही ईरान की सेना परास्त हुई। उसके कुछ ही वर्ष बाद

सम्राट दारा की मृत्यु हो गई। दारा के बाद उसका पुत्र जीरी सम्राट बना। उसने ग्रीस विजय करने की ठानी। एक विशाल स्थल और जल सेना लेकर ग्रीस पर चढ़ आया। उसका सामना करने के लिए सब ग्रीक राज्य एक हो गये। ईरानी सेना जल थल दोनों रास्तों से आगे बढ़ रही थी। थल पर ग्रीक लोगों को पीछे हटाना पड़ रहा था। आखिर थर्मोपली नामक स्थान पर उन्होंने मोर्चा डाला। थर्मोपली एक बहुत ही सकड़ी जगह है,यहां पर एक तरफ तो समुद्र है, और दूसरी ओर ऊँचे पहाड़। इस सकड़े रास्ते पर से होकर दुश्मन को आगे बढ़ना पड़ता था।–इस मोर्चे की रक्षा ग्रीक वीर लीओनीडास कर रहा था। उसके साथ केवल ३०० स्पार्टन सैनिक और ११०० अन्य ग्रीक सैनिक तैनात कर दिये गये--बढ़ती हुई ईरानी फौजों को जहां तक हो सके रोकने के लिए। एक ग्रीक सैनिक लड़ता लड़ता मरता था–उसके मरते ही दूसरा ग्रीक सैनिक उसका स्थान ग्रहण कर लेता था।–इस प्रकार एक एक करके लीओनीडास सहित सभी १४०० ग्रीक सैनिक काम आये--वे अपने देश की स्वतन्त्रता के लिए लड़ते लड़ते मर गये, किन्तु थर्मोपली और अपना नाम इतिहास में प्रसिद्ध कर गये। ई. पू ४८० की यह घटना है: ईरानी थर्मोपली से आगे एथेन्स की ओर बढ़े, ग्रीक लोग एथेन्स खाली करके जहाजी बेड़ों से ग्रीक द्वीपों में चले गये। ईरानी सेनाएँ बढ़ती रहीं। उन्होंने एथेन्स को जला

दिया। और ग्रीक नगरों को परास्त करते हुए आगे बढ़े। थल पर तो इस प्रकार ग्रीक लोगों की पराजय हो रही थी। किन्तु जल में उधर ग्रीक बेड़ा अभी डटा हुआ था। जब ईरानी जहाज़ ग्रीक की ओर बढ़कर आने लगे थे, तो दुर्भाग्य से भयंकर तूफान के कारण बहुत से जहाज़ तो प्रारम्भ में ही विनिष्ट हो गये थे। इधर ग्रीक बेड़े का भी वे मुकाबला नहीं कर सके। सलामिस नामक स्थान पर उनकी भयंकर पराजय हुई। क्षीरीज़ इस पराजय से बहुत निराश हुआ। अपनी सेना को ग्रीस की मुख्य भूमि पर छोड़कर वह तो अपने देश ईरान को लौट गया। ई. पू. ४७६ में मुख्य भूमि पर भी प्लातीया के युद्ध में ईरानी सेनाओं की पराजय हुई, और उन्हें लौट जाना पड़ा। ग्रीक के सब नगर राज्य स्वतन्त्र हुए, और प्रत्येक क्षेत्र में ग्रीस की अद्भुत उन्नति का काल प्रारम्भ हुआ।

स्वतन्त्र अभ्युदय का काल

(ई. पू. ४७६ से ३३८ तक; प्राय: १५० वर्ष)

थर्मोपली के युद्ध के बाद अथेन्स नगर ईरानी सैनिकों द्वारा जलादिया गया था। सलमिस और प्लातिया के युद्धों में ईरान के सम्राट की पराजय के बाद फिर से यह नगर बसाया गया। लोगों की भावना के अनुसार यहाँ का शासन जनतन्त्रवादी था। जनतन्त्रीय राष्ट्र-सभा का सबसे प्रमुख नेता पेरीक्लीज़ था।

परीक्लीज़ महान संगठन कर्ता और कुशल शासक था। उसका मस्तिष्क और हृदय उदार था। कला और जीवन में सौन्दर्य देखने वाली उसकी दृष्टि थी। एशिया माइनर में ग्रीक उपनीवेश मिलेरस में एक रमणी थी, जिसका नाम ऐसपेसिया था। यही स्त्री पेरीक्लीज़ के जीवन की प्रेरक बनी। उसकी प्रेरणा से परीक्लीज़ के लगभग ३० वर्ष के नेतृत्व काल में एथेन्स की अभूतपूर्व उन्नति हुई;—प्रत्येक दिशा में और प्रत्येक क्षेत्र में क्या कला, क्या साहित्य, क्या दर्शन, क्या विज्ञान और क्या व्यापार। अनेक साहित्यिक, इतिहासकार, दार्शनिक, मूर्तिकार और कलाकार एथेन्स में एकत्रित हुए। एथेन्स को सचमुच उन्होंने सुन्दर नगर बना दिया! और उस कला, साहित्य और दर्शन की रचना की जो युग युग तक मानव को प्रेरणा देता रहा। नगर राज्यों का पुराना वैमनस्य जो ईरान के आक्रमणों के सामने भुला दिया गया था, फिर से उभरने लगा। विशेषतः स्पार्टा और एथेन्स के बीच गृह युद्ध होने लगे। एथेन्स और स्पार्टा के बीच अनेक युद्ध हुए—जिन्हें पेलीपोशियन युद्ध कहते हैं, और जिनने समस्त ग्रीस को छिन्न भिन्न क्षीण और उत्पीड़ित कर दिया। अनेक वर्षों तक ये युद्ध होते रहे। किन्तु आश्चर्य यह है, कि इन युद्धों के होते हुए भी ग्रीस की आत्मा की अभिव्यक्ति कला, साहित्य और दर्शन की सुन्दर रचनाओं में होती रही! कल्पना की जाती है—यदि ग्रीस के उन सुन्दर स्वतन्त्र लोगों में

परस्पर ये गृह युद्ध नहीं होते तो और भी कितना अधिक साहित्य, दर्शन और कला का उत्तराधिकारी मानव समाज होता।

खैर! इन युद्धों से ग्रीस के समस्त राज्य क्षीण हो ही रहे थे, कि इसी अरसे में उत्तर में मेसीडोनिया प्रान्त में किसी एक अन्य ग्रीक जाति के लोगों की शक्ति का विकास होरहा था। ई. पू. ३५६ में फिलिप नाम का व्यक्ति ग्रीस में मेसिडोनिया प्रदेश का राजा बना। फिलिप वस्तुतः एक महान राजा था। बहुत कुशल, बुद्धिशाली, योजनाओं का रचियता, और उनको पूरा करने वाला एक वीर योद्धा, और युद्ध क्षेत्र में एक कुशल नेता। ग्रीक इतिहासकार हिरोडोटस और आईसोक्रेट्स से, जिन्होंने देश भक्ति के प्रेम में समृद्धिशाली ईरान, साम्राज्य पर औरउस समय की परिचित समस्त दुनिया पर ग्रीक आधिपत्य के स्वप्न देखे थे, फिलिप परिचित था। इनसे इसने प्रेरणा ली। उस काल के प्रसिद्ध दार्शनिक Aristotle (अरस्तू) को उसने अपना मित्र, और अपने पुत्र अलक्षेन्द्र (सिकंदर महान) का गुरु नियुक्त किया। युद्ध-कला में सुशिक्षित एक विशाल सेना का निर्माण किया गया, इतिहास में सर्व प्रथम "घुड़सवार फौज" की रचना की गई; इसके पूर्व या तो पैदल फौजें थीं, या घोड़ों से परिचालित रथों में युद्ध होता था, या कुछ हाथियों पर सवार होकर। अलक्षेन्द्र को इन सब युद्ध-विद्याओं में निपुण किया।

गया, और इस योग्य बनाया गया कि वह किसी भी साम्राज्य का भार कुशलतापूर्वक संभाल सके।

यह तैयारी करके फिलिप अपनी योजनाओं के अनुसार अपने विश्व-विजय के स्वप्न को पूरा करने के लिए आगे बढ़ा। सबसे पहला तो यही काम था कि समस्त ग्रीस एक शासन के आधीन हो। इतिहासकार आइसोक्रेटस एवं अन्य कुछ ग्रीक लोग यह चाहते भी थे, कि समस्त ग्रीस के नगर राज्य मिलकर एक विशाल और शक्तिशाली राज्य बनें। एथेन्स और एथेन्स के मित्र नगर राज्य इसके विरोध में थे। कई वर्षों तक झगड़ा चलता रहा, किन्तु फिलिप की सैन्य शक्ति के सामने सबको झुकना पड़ा, और अन्त में केरोनिया के युद्ध में एथेन्स की पराजय के बाद ई. पू. ३३८ में सब राज्यों ने फिलिप की आधीनता स्वीकार की; और समस्त ग्रीस एक राज्य बना। उसने विश्व-विजय यात्रा प्रारम्भ ही की थी, कि ई. पू. ३३६ में उसकी प्रथम स्त्री ओलीमपीयास के षडयन्त्र से उसका कत्ल हुआ। एक आकांक्षा भरे जीवन का अन्त हुआ। मानव इतिहास की रचना में मानव हृदय की इर्ष्या, द्वेष क्रोध एवं अन्य भावनाओं का कम महत्व नहीं। फिलिप की मृत्यु के बाद उसका पुत्र अलक्षेन्द्र मेसीडोनिया का राजा बना। उस समय उसकी आयु केवल २० वर्ष की थी।

ग्रीक साम्राज्य काल

(ई. पू. ३३८ से लगभग १५० ई. पू.)

पिता का अधूरा काम पुत्र अलचेन्द्र (Alexander: सिकन्दर) ने करने की ठानी। इसके लिए उसको शिक्षा द्वारा तैयार भी किया गया था। विश्व विजय करने को वह निकला। एक शिक्षित शस्त्र पूर्ण सेना उसके साथ थी, और एक तीव्र विजय लिप्सा। सामने पड़ा था विशाल फारस का साम्राज्य जो मिश्र, एशिया माइनर, सीरीया, फारस और अफ़गानीस्तान तक फैला हुआ था। मानव इतिहास में इतने विशाल क्षेत्र में, युद्ध, विजय और पराजय की यह पहली घटना थी।

अलचेन्द्र एक साहस पूर्ण हृदय और विजय-आकांक्षा की दूर तक लगी एक दृष्टि लेकर निकला। विशाल साम्राज्य फारस का शक्तिशाली मुकाबला हुआ। किन्तु उसकी "घुड़ सवार फौज" के सामने, जो इतिहास में एक नई वस्तु थी सब कुछ पदाक्रान्त होता गया-एशिया माइनर, सीरीया, मिश्र, ईरान पार्थीया, बेक्ट्रिया और भारत में सिन्धु तट प्रदेश जहां वीर पौरुष से उसका मुकाबला हुआ। ई. पू. ३३४ में यह विजय यात्रा प्रारम्भ हुई और ई. पू. ३२४ तक ग्रीस से लेकर पूर्व में अफ़गानीस्तान तक और दक्षिण में मिश्र तक एक विशाल साम्राज्य अलचेन्द्र के आधीन था। इस विजय यात्रा में अनेक

नगर उसने अपने नाम से बसाये;—मिश्र में अलत्तन्द्रिया नगर, वन्दरगाह अलत्तन्द्रिता और मध्य-एशिया में कंधार। इतना विशाल साम्राज्य अलत्तेन्द्र के आधीन हुआ, किन्तु वह इस साम्राज्य को एक बनाये रखने के लिये, एक सूत्र में बांधे रखने के लिये, कोई योजना नहीं घड़ रहा था, कुछ संगठन नहीं बना रहा था। मानो वह अपने व्यक्तिगत गौरव में फूला ही नहीं समाता हो। इतिहासकारों का मत है, कि वास्तव में उसमें घमण्ड की भावना (Vanity) आ गई थी। वह तो सिन्धु के भी पार समस्त भारत को पदाक्रान्त करने की सोचता होगा। किन्तु उसके सिपाहियों ने आगे बढ़ने से इन्कार कर दिया था, और बेवस उसे वापिस लौटना पड़ा था। अपनी वापिसी यात्रा में वह मेसोपोटेमिया के प्राचीन नगर बेबीलोन में ठहरा हुआ था, जहां ई. पू. ३२३ में जब उसकी आयु केवल ३३ वर्ष की थी, उसकी मृत्यु होगई। उस प्राचीन दुनिया में इन अभूतपूर्व विजयों के कारण ही इतिहासकारों ने अलत्तेन्द्र को 'महान' कहा है। मानव इतिहास में यह पहला अवसर था जब किसी पाश्चात्य (यूरोपीय) शक्ति ने पूर्वीय देशों को जीतकर वहां अपना साम्राज्य स्थापित किया। इसमें संदेह नहीं कि पूर्वीय एवं पच्छिमी देशों में यथा, भू-मध्यसागर तटवर्ती प्रदेश, सीरीया, ईरान, अरव, भारत, मिश्र और मेसोपोटेमिया में सांस्कृतिक एवं व्यापारिक संवन्ध पहिले से ही स्थापित थे; किन्तु

उपर्युक्त ग्रीक विजय से यह सम्बन्ध और भी घनिष्ठ होगया था, यहांतक कि कई इतिहासकारों ने इसे "पूर्व और पच्छिम का विवाह बन्धन" कहा है।

अलक्षेन्द्र की मृत्यु के तुरंत बाद ही, वह विशाल साम्राज्य जिसका उसने अपनी विजयों से निर्माण किया था, एक खिलौने की तरह गिर कर टूट गया। साम्राज्य के तीन प्रमुख खंड हुए:-

१. ईरान, अफग़ानिस्तान का भाग, जिसमें अलक्षेन्द्र के एक प्रसिद्ध जनरल सेल्यूकस ने आधिपत्य जमाया; (२) मिश्र, जिसमें एक दूसरे जनरल टोलमी ने; और (३) ग्रीस और मेसीडोनिया, जिसमें एक तीसरे जनरल ऐंटीगोरस ने आधिपत्य स्थापित किया। इन भागों में ग्रीक राज्य की परम्परा कुछ शताब्दियों तक चलकर समाप्त होगई।

अफग़ानिस्तान और ईरान प्रदेशों में ई. पू. प्रथम शताब्दी तक ग्रीक लोगों का शासन रहा। इस काल में ग्रीक लोगों का भारत से बहुत निकट सांस्कृतिक सम्पर्क रहा। कला, साहित्य, जीवन विचार धाराओं का परस्पर खूब आदान प्रदान हुआ। ई. पू. प्रथम शताब्दी के बाद मध्यएशिया से पार्थियन लोग आये; फिर आदि ईरानी

जिन्होंने सन् ६३७ ई. तक राज्य किया; फिर अरबी मुसलमान आये; फिर ११ वीं शती में तुर्क, फिर मंगोल फिर शिया मुसलमान शाह जिनके आधीन आज ईरान है। अफग़ानिस्तान प्रथक अफग़ानी राज्य बना।

२. मिश्र में ईसा काल प्रारंभ होने के पूर्व तक टोलमी राजाओं का राज्य रहा। इन ग्रीक टोलमी राजाओं के राज्य काल में अलक्षेन्द्रिया नगर में जो मिश्र की राजधानी रहा, ज्ञान विज्ञान दर्शन और व्यापार की खूब उन्नति हुई। वैज्ञानिक अध्ययन, अन्वेषण की जो परम्परा ऐथेन्स में अरस्तू ने प्रारंभ की थी, वह अलक्षेन्द्रिया में खूब बढ़ी। सब सभ्य समाज की, राज दरबार की, शासन की भाषा पुरानी मिश्री की जगह ग्रीक बनी, यहाँ तक कि इन ई. पू. दूसरी तीसरी शताब्दियों में जो यहूदी लोग मिश्र में बसे हुए थे उन्हें भी अपनी बाइबल का अनुवाद ग्रीक भाषा में करना पड़ा। ग्रीक राजा टोलमी ने अलक्षेन्द्रियां में एक महान म्यूजियम (अजायबघर) की स्थापना की, यह म्यूजियम एक तरह से विद्वान लोगों का विद्यालय था जहाँ अनेक वैज्ञानिक, डाक्टर, इतिहासकार आकर ठहरते थे, अध्ययन करते थे और मानव ज्ञान में वृद्धि करते थे। गणितज्ञ यूक्लीड (Enclid, जिसकी ज्योमेट्री हम पाठशालाओं में पढ़ते हैं)

हिप्पारकस जिसने आकाश के नक्षत्रों का नकशा बनाया था; वैज्ञानिक आर्शमीडीस जिसका आर्शमीडीस सिद्धान्त प्रचलित है; डा. हिरोफिलस जिसने अनेक आदमियों के शरीरों को चीराफाड़ी की, इत्यादि इत्यादि विद्वान इसी अलक्षेन्द्रिया में पनपे थे। म्यूजियम के साथ साथ एक महान पुस्तकालय की भी स्थापना की गई थी। यहाँ अनेक पुस्तकों का (हस्तलिखित) विशाल संग्रह था, और साथ ही साथ हस्तलिखित पुस्तकों की नकल करने के लिये जिससे उनका प्रचार हो अनेक नकल करने वाले काम पर लगे हुए थे। ई. पू. २६० में टोलमी द्वितीय ने अलक्षेन्द्रिया में एक प्रकाश स्तंभ (Light house) बनवाया था जो जहाजों का पथ प्रदर्शन करता था। यह इतना भव्य और विशाल था कि "प्राचीन युगों" के "सप्त आश्चर्यों" में इसकी भी गणना की जाती थी।

इस प्रकार ग्रीक लोगों के राज्यकाल में मिश्र देश के अलक्षेन्द्रिया में ज्ञान और विद्या की उन्नति कई शताब्दियों तक होती रही, किंतु प्राचीन मिश्र के देवी, देवताओं, पूजा, पुजारी और रहस्यमय जादूटोनों का प्रभाव ग्रीक लोगों के मुक्त मानस और बुद्धि पर होरहा था, यहां तक कि ग्रीक और मिश्र के देवी देवताओं को मिलाकर कुछ नये देवताओं की कल्पना भी करली

गई थी। धीरे धीरे ग्रीक परम्परा समाप्त हो चुकी थी। ईसा की पहली शताब्दी में विजयी रोमन आये, जो ६५६ ई. तक वहाँ राज्य करते रहे; फिर अरबी मुसलमान आये जो आज तक वहाँ रहते हुए और शासन करते हुए चले आरहे हैं।

३. ग्रीस में प्रायः दूसरी शताब्दी के मध्य तक ग्रीक लोग परस्पर लड़ते झगड़ते रहे-फिर १४६ ई. पू. में रोमन लोग आये। ग्रीस सन् १४५३ तक पूर्वीय रोमन साम्राज्य का एक अंग बना रहा। किन्तु जब से रोमन आये तभी से उस सभ्यता का,जो एक स्वतन्त्र, निर्भय सौन्दर्य की भावना लेकर उदय होने लगी थी, अन्त होगया। ग्रीक भाषा चलती रही। ग्रीक कला साहित्य और दर्शन जिसका विकास ई. पू. ५–६ शताब्दी से प्रायः ई. पू. २री शताब्दी तक हो पाया था, समय समय पर यूरोप के मानस को प्रभावित करती रही और आज भी प्रभावित करती है, किन्तु वह प्राचीन ग्रीक मानव और उसकी परम्परा विनिष्ट होगई। मध्ययुग में ग्रीकवासी ईसाई हो चुके थे। १४५३ ई. में तुर्क लोगों ने ग्रीस पर विजय प्राप्त की और तब से १६वीं शताब्दी के प्रारम्भ तक वहां तुर्क लोगों का ही राज्य रहा। फिर सन् १८२१ में ग्रीस में स्वतन्त्रता के लिए क्रान्ति हुई। इस स्वतन्त्रता युद्ध में ग्रेट-ब्रिटेन के प्रसिद्ध कवि बायरन

(Byron) लड़े थे। अनेक वर्षों तक युद्ध होते रहे। सन् १८३२ ई. में ग्रीस एक स्वतन्त्र राज्य घोषित किया गया, और उसके पश्चात् उसकी आधुनिक स्थिति बनी। आज वहां की भाषा प्राचीन ग्रीक भाषा से मिलती जुलतीसी आधुनिक (Doric=डोरिक) ग्रीक भाषा है।

ग्रीक सामाजिक जीवन

ये नोर्डिक आर्य लोग जब उन प्रदेशों में रहते थे, (यथा, मध्य एशिया, यूराल पर्वत के दक्षिणी-प्रदेश) जहां से धीरे धीरे बढ़ते हुए अनेक वर्षों में बाल्कन प्रायद्वीप में होते हुए ग्रीस में आये, तभी इनके समूहों में प्राय: दो वर्गों के लोग थे। एक उच्च वर्ग और दूसरा साधारण वर्ग। दोनों वर्गों में कोई विशेष भेद नहीं था। यह वर्ग भेद भारत की तरह जाति भेद नहीं था, किन्तु परम्परा से ही कुछ परिवारों के लोग इन लोगों के समूहगत जीवन में कुछ विशेष प्रतिष्ठित होंगे। किसी विशेष प्रतिष्ठित परिवार का नेता ही इन लोगों के सम्पूर्ण समूह का नेतृत्व करता था। दूसरी जातियों से युद्ध के समय युद्ध करने में, और शान्ति के समय शान्ति स्थापन किये रखने में इस प्रकार का नेता ही राजा कहा जाने लगा था। बैल गाड़ियों में यात्रा करते हुए राह में जहां उपजाऊ भूमि मिली, वहां ठहर कर, एक फसल तक

खेती करके, और फिर आगे बढ़ते हुए, राह में अपने जातीय गायक-कवियों (Bards) के गीतों को सुनते हुए, ये ग्रीस में बढ़े चले आये। ग्रीस में वहां के आदि निवासियों से (कार्ष्णेय लोगों से) अनेक युद्ध हुए, उनको परास्त किया और अपना गुलाम बनाया। इन गुलामों को खेती करने एवं अन्य मजदूरी के कामों में जैसे भवन बनाना, घरेलू काम काज करना इत्यादि में लगाया। इस प्रकार ग्रीस में बसने के बाद ग्रीस के मानव समाज में तीन वर्ग होगये थे। धीरे धीरे गुलाम वर्ग में स्वयं ग्रीक जाति के वे लोग भी सम्मिलित किये जाने लगे जो ग्रीक जातियों या ग्रीक नगर राज्यों के बीच युद्धों में बन्दी बना लिये जाते थे।

राजनैतिक-सगठन

पश्चिमी दुनिया के इतिहास में, ई. पू. अनुमानतः ७–८ वीं शताब्दी में सर्व प्रथम हम मानव को धर्म और पौराणिक भावनाओं से मुक्त यह सोचता हुआ पाते हैं, कि समाज में आखिर किस प्रकार का राजनैतिक संगठन होना चाहिये। ग्रीक सभ्यता के पूर्व तीन प्राचीन सभ्यताओं में यथा मिश्र, मेसोपोटेमिया और क्रीट में–अपने 'पुरोहित–राजाओं' अथवा 'देव--राजाओं' से भिन्न किसी भी प्रकार के राजनैतिक संगठन की कल्पना तक होना संभव नहीं था। सर्व प्रथम ग्रीक लोगों

की मुक्त बुद्धि के लिए ही यह सम्भव हो सका। ईसा के लगभग एक सहस्राब्दि पूर्व जब ग्रीक जातियों ने ग्रीस में पदार्पण किया, उस समय तो वे समूहगत जातियां ऊपर वर्णित अपने नेता के ही नेतृत्व में संगठित होकर रहती होंगी। वही नेता फिर 'राजा' बना। ग्रीस में ग्रीक लोगों के आने के पूर्व जो नगर बसे हुए थे, वे ग्रीक लोगों ने प्रायः विध्वंस कर दिये थे। उन विध्वस्त नगरों के अवशेषों पर या उनके आस-पास, पहले गांव बसे, और फिर धीरे धीरे नगरों का विकास हुआ। जातियों का नेता ही इन नगरों का राजा बना। फिर धीरे धीरे अनुभव एवं ग्रीक बुद्धि के फल स्वरूप राजनैतिक-संगठन में विकास होने लगा। पहले राजतंत्र (Monarch) की जगह कुलीनतंत्र (Aristocracy) आई, फिर कुलीनतंत्र की जगह (Tyranory) अर्थात् विशिष्ट वर्ग में से या साधारण वर्ग से ही कोई एक विशेष शक्तिशाली पुरुष सब अधिकार अपने हाथों में केन्द्रित कर लेता था, और दूसरे लोगों की राय के बिना स्वेच्छा से राज्य करता था, चाहे वह राज्य लोगों की भलाई के लिये ही हो। फिर धीरे धीरे जनतंत्रात्मक (Democratic) प्रणाली का विकास हुआ। समस्त ग्रीस में भिन्न भिन्न नगर-राज्य (City States) थे। यह आवश्यक नहीं कि इन सभी राज्यों में उपरोक्त क्रम से राजनैतिक संगठन का विकास हुआ, किंतु साधारणतया विकास का क्रम इसी प्रकार रहा। ऐसी भी

स्थिति थी कि कई प्रणालियों के राज्य एक ही काल में उपस्थित हों–किसी राज्य में राजतंत्र (Monarchy) हो, किसी में कुलीनतंत्र (Aristocracy), और किसी में जनतंत्र (Democracy) हो। ग्रीस के दो प्रसिद्ध एवं विशाल नगर राज्यों में यथा एथेन्स (Athens) और स्पार्टा (Sparta) में तो लगातार झगड़ा ही इस बात का चलता रहता था कि एथेन्स तो जनतंत्र का प्रबल समर्थक था और स्पार्टा राजतन्त्र का। किन्तु अधिकतर राज्यों में जनतन्त्र का ही प्रचलन था। राजनीतिक और नागरिक शास्त्रों की रचना होने लगी थी–जिन में प्लेटो का "रिपब्लिक" (Repbulic) और अरस्तू (Aristotle) का "पोलिटिक्स" (Politics) ग्रंथ प्रसिद्ध हैं; इनका अध्ययन आज भी होता है।

गुलामों को छोड़कर अन्य सब लोग 'राज्य' के नागरिक माने जाते थे, सभी नागरिक शासन कार्य में भाग लेते थे। प्रत्येक राज्य में एक "सभाभवन" (आर्गो = Market Place) होता था, जहां सभी नागरिक सार्वजनिक मामलों पर विचार करने के लिये, राज्य की विधियों (कानून) बनाने के लिये एकत्रित होते थे, उच्च कोटि के उच्चस्तर पर वाद विवाद होते थे, कई महान, प्रतिभाशाली वक्ताओं (Orators) का उदय हुआ था जिनमें डेमोस्थनीज (Demosthenes) का नाम

इतिहास प्रसिद्ध है। बड़े बड़े प्रश्नों और समस्याओं का सब लोगों की अनुमति से निर्णय होता था। प्रायः सभी नागरिक महान नागरिकता की भावना से ओत प्रोत होते थे और अपने 'नगर राज्य' (City-State) के लिये प्राण न्यौछावर करने को उद्यत रहते थे। नागरिकता के अधिकारों से आभूषित होने के पूर्व सबको निम्न "नागरिकता की प्रतिज्ञा" लेनी पड़ती थी:—

"हम किसी भी कायरता पूर्ण या दोषपूर्ण कार्य से अपने इस नगर पर लांछन नहीं आने देंगे, न कभी अपने सैनिक साथियों को युद्धक्षेत्र में अकेला छोड़ेंगे। हम व्यक्तिगत और सामूहिक रुप से आदर्शों के लिये और नगर की पवित्र वस्तुओं के लिये लड़ेंगे; नगर के नियम हमारे लिये आदरणीय होंगे और हम उनका पालन करेंगे; और इन नियमों के प्रति आदर का भाव प्रेरित करेंगे उन लोगों में, जिनमें जरा भी झुकाव होगा इन नियमों की अवहेलना करने की ओर या उनको भंग करने की ओर। लोगों में नागरिकता की भावना तीव्र करने के लिये हम निरन्तर प्रयत्न करते रहेंगे। इस प्रकार हम अपने नगर को जैसा यह हमें मिला था उसके समान ही नहीं, वरन् उससे महानतर, उच्चतर और सुन्दरतर स्थिति में छोड़ जायेंगे।"

समाज में स्त्रियों की स्थिति

स्त्रियों का कार्य–क्षेत्र गृह था, जहां वे गृहकार्य, ऊन की कताई, एवं कपड़े बुनने में व्यस्त रहती थीं। सार्वजनिक

समारोहों में वे भाग नहीं लेती थीं, किन्तु सब धार्मिक समारोहों में उपस्थित रहती थीं। उस युग में परदे का प्रचलन नहीं था। पुरुषों में बहु–विवाह का निषेध नहीं था; यद्यपि पुरुष प्रायः एक ही विवाह करते थे। विशेष प्रतिभाशाली स्त्रियों के लिए विकास की सुविधायें स्यात् अवश्य थीं। यह इससे मालूम होता है, कि उन लोगों में सेफो (Sappho) नामक एक महान् कवियित्री थी, जिसका समाज में बहुत आदर था।

काम धन्धाः–लोगों का मुख्य धन्धा कृषि और पशुपालन ही था। विशेष जन–समुदाय इसी काम में व्यस्त रहता था। कुछ लोग दस्तकारी के कामों में जैसे भवन निर्माण, मूर्ति निर्माण, शस्त्र बनाना, जहाज बनाना एवं जहाजरानी करना, इनमें व्यस्त रहते थे और कुछ व्यापार तथा दुकानदारी में। समाज के वयोवृद्ध विशिष्ट जन शिक्षा एवं देव--पूजा, के काम में व्यस्त रहते थे। समाज में भारतीय आश्रम व्यवस्था से मिलती–जुलती भी एक व्यवस्था प्रचलित थी। सब नवयुवकों को सैनिक शिक्षा प्राप्त कर, युद्ध के अवसरों पर अनिवार्यतः युद्ध में लड़ना पड़ता था। प्रौढ़ हो जाने पर ये ही लोग शासन का काम करते थे, जैसे राष्ट्र सभा में वाद-विवाद करना, नियम बनाना, न्यायालय चलाना इत्यादि। वृद्ध हो जाने पर शिक्षक या पुजारी का काम करते थे।

शिक्षा:-आजकल जिस प्रकार जन साधारण के लिये जगह जगह विद्यालयों का प्रसार हो रहा है, ऐसा उस युग में ग्रीस में भी जहां जनतन्त्रात्मक शासन था प्रचलन नहीं था; बड़े बड़े दार्शनिक और विशिष्ट जन जिन्हें गुरु कह सकते हैं, अपने विद्यालय (Academies) खोल कर बैठ जाते थे, जहां प्रायः उच्च वर्ग के लोगों के बच्चे और युवक शिक्षा पाने के लिए आते थे। प्रारंभिक शिक्षा के लिए राज्य की ओर से अवश्य कुछ विद्यालय थे। शिक्षा का आदर्श अवश्य उच्च था, और शिक्षा में यह बात सर्वमान्य थी कि, मानव का सर्वतोमुखी विकास होना चाहिए, मानसिक एवं शारीरिक भी। सुन्दर मन सुन्दर शरीर में ही रह सकता है। इसीलिए शरीर के सुन्दर और सामञ्जस्य पूर्ण विकास पर खूब जोर दिया जाता था। शारीरिक विकास के लिए अनेक खेल और व्यायाम प्रचलित थे। जैसे डिस्कस फेंकना, भाला फेंकना, जैवलिन फेंकना, घुड़सवारी करना, तीर चलाना इत्यादि। हर एक चौथे वर्ष के बाद प्रसिद्ध ओलम्पिया केप हाड़ पर खेल और व्यायाम की प्रतियोगिता होती थी, जिसमें सब नगर-राज्यों के युवक हिस्सा लेते थे, और जिसके लिए युवक लोग बड़ी बड़ी तैयारी करके आते थे। यह याद होगा कि ओलम्पिया के खेलों का प्रचलन ई० पू० ७७६ में आज से २॥ हजार वर्ष से भी अधिक पहिले हुआ था। यह एक विशाल राष्ट्रीय समारोह

माना जाता था। यद्यपि आधुनिक काल की तरह विद्यालयों और लिखित पुस्तकों के जरिये से शिक्षा का प्रसार नहीं था, किन्तु कुछ ऐसे साधन अवश्य उपस्थित थे, जिनसे सर्व साधारण का सब नागरिकों का, मानसिक विकास होता रहता था, और समाज की उच्च से उच्च सांस्कृतिक हलचल में उनका सक्रिय और सुहृदयतापूर्ण भाग रहता था। ये साधन थेः—राष्ट्रीय थियेटरों में, एवं मन्दिरों में धार्मिक समारोहों के अवसर पर नाटकों का अभिनय होता था; नगर की 'ऐक्लेजिया' "राष्ट्र सभा" में बड़े बड़े विद्वानों, वक्ताओं के साथ सीधी बात चीत, बहस और विचार विनिमय चलता रहता था। दार्शनिकों की ऐकेडेमीज (विद्यालयों) में सुकरात, प्लेटो, अरस्तु, एपीक्यूरस इत्यादि जैसे महान् विचारकों के साथ सृष्टि एवं जीवन सम्बन्धी प्रश्नों पर, दैनिक राजनैतिक एवं सांस्कृतिक समस्याओं पर मुक्त बुद्धि और हृदय से प्रश्नोत्तर एवं वाद विवाद होते थे। वे ही किसान, व्यापारी शिल्पी जो दिन भर अपना काम करते थे संध्या समय उपरोक्त महान् दार्शनिकों से बातचीत करते थे। ग्रीक जन के लिए केवल राजनैतिक डेमोक्रेसी नहीं थी किन्तु सांस्कृतिक डेमोक्रेसी भी। सारे समाज का मानस स्तर ऊंचा था।

कला-कौशल

ग्रीककला (स्थापत्यकला, मूर्तिकला, चित्र एवं संगीतकला)

प्रागैतिहासिक काल में प्रारम्भ होकर, होमर काल (ई. पू. ८००) में एवं तदन्तर कई शताब्दियों में विकसित और परिपुष्ट होती हुई, ईसा पूर्व पांचवीं शती में पेरीक्लीज के समय में अपने चरमोत्कर्ष पर पहुंच गई और फिर कई शताब्दियों तक उसकी परम्परा चलती रही। ग्रीक कला में सौंदर्य के अनन्त वैभव के दर्शन होते हैं, सौन्दर्य के रहस्य की झलक मिलती है। ग्रीक कला में हमें ग्रीक कलाकार एवं ग्रीक जाति की आत्मा की झलक मिलती है, और यह अनुभव होता है कि सचमुच वह आत्मा मुक्त, संस्कारित और सौंदर्यमयी थी।

स्थापत्य कलाः—प्रसिद्ध नगर ऐथेन्स के अभ्युदय काल में जब (Pericles) वहां का शासक था—एक्रोपोलिस (एथेन्स की पहाड़ी) का अद्भुत शृङ्गार किया गया। (Dionysos) देव का मन्दिर, अन्य अनेक देवों के मन्दिर, एवं अनेक भवन अक्रोपो-लिस (पहाड़ी) पर निर्मित किये गये। इस सुखद सौन्दर्य का निर्माता था महान कलाकार फिडियास (Phidias-जन्म ५०० ई. पू) तब तक संगमरमर का पता लग चुका था। मिट्टी, चूना, पत्थर के अतिरिक्त संगमरमर के महान सुन्दर मन्दिर किले, द्वार और ऊंचे भवन बनाये गये। इनकी निर्माण कला बहुत विकसित थी इसकी मुख्य विशेषता थी, स्तम्भों (Pillars) की एक निश्चित ढंग से सज्जित पंक्तियों (कतार) पर भवन का निर्माण करना। इस पद्धति से अनेक देशों की स्थापत्य कला

प्रभावित हुई थी। ईसा पूर्व काल के एवं उत्तर काल के भारत में गंधार प्रदेश में बौद्ध मन्दिरों के निर्माण यह प्रभाव दृष्टिगोचर होता है। मध्य युग में जर्मनी और फ्रांस में, एवं इङ्गलैंड में तो आधुनिक युग तक उक्त पद्धति का स्पष्ट प्रभाव है। इस कला में चित्रांकन और नक्काशी का इतना महत्व नहीं, जितना एक विशिष्ट समरसता (Harmony) एवं सुखद दृष्टव्यता (View) का है। प्राचीन ग्रीस का कोई भी भवन या मन्दिर आज पूर्ण रूप में नहीं मिलता है। प्राप्य अवशेषों से, पुस्तकों के अन्वेषण से एवं रोमन प्रतिकृतियों (Copies) से उनकी कल्पना की जाती है। ये मन्दिर और भवन केवल ऐथेन्स में ही नहीं किन्तु ग्रीस के अन्य नगरों में स्थान स्थान पर बिखरे हुए हैं। एशिया माइनर के ग्रीक नगर और बन्दरगाह एफीसीयस (Ephesus) में अद्भुत एक भव्य मन्दिर बनाया गया था, (Diana) चन्द्र देवी का ई. पू. ३०० में; प्राचीन कालीन दुनिया के "सप्त-आश्चर्यों" में इसकी गणना थी। दुर्भाग्यवश ३६२ ई. में गोथ लोगों ने इसको विध्वंस कर दिया। इसके अतिरिक्त कई मन्दिर थे जैसे:—सिसली में देव (Neptune) नेपचून का प्राचीन मन्दिर, कोरिन्थ का विशाल मन्दिर इत्यादि। ऐपिडारस में यूनानी विशाल थियेटर के अवशेष, जिसमें हजारों दर्शकों के बैठने के लिए प्रशस्त गैलरी बनी हुई है, अब भी अच्छी हालत में मौजूद हैं। प्राचीन ग्रीस के प्रत्येक भवन या

देवालय में वहां के मानव की सुरुचिपूर्णता और सौन्दर्य प्रियता बरबस अपने आप बोल देती है।

मूर्तिकलाः–सौन्दर्य एवं सजीवता–ये गुण वहां की मूर्तिकला को अमरत्व प्रदान करते हैं। ग्रीक मूर्तियां ग्रीक देव या देवियों की एवं दार्शनिक, कवि या योद्धाओं की हैं। ये एक प्रकार के नरम प्रस्तर (Soft Stone) या संगमरमर या धातु की बनी हैं। धातु की मूर्तियां कम मिलती हैं। ग्रीक देवताओं के राजा ज्यूस (रोमन जूपीटर) की मूर्ति प्राचीन दुनिया की एक अद्भुत वस्तु मानी जाती थी। यह मूर्ति अब नहीं है। प्राचीन साहित्य से ही इसका पता लगा है। स्वर्ण और हाथीदांत की बनी ६० फीट ऊंची अति विशाल और प्रभावशाली यह मूर्ति थी, मानो अपने आदेशों से सृष्टि का संचालन कर रही हो। इसके अतिरिक्त अद्भुत सौन्दर्यमयी ग्रीक देवी 'एफ्रोडाइटी' (Aphrodite) (रोमन वीनस) "सौन्दर्य की देवी" की मूर्ति; एवं अन्य देवी देवताओं की मूर्तियों का वर्णन मिलता है। ग्रीक देवी देवताओं की रोहड्स द्वीप में ई. पू. २८० में कांस्य धातु की एक विशाल "सूर्य देव" की मूर्ति का निर्माण किया गया था। यह मूर्ति १०० फीट ऊंची थी। यह प्राचीन युग का एक "आश्चर्य" मानी जाती थी। कल्पना विशेषतयः यही थी कि वे देवी देवता वस्तुतः मानव देवधारी ही होते थे। प्राचीन मिश्र, मेसोपोटेमिया या भारत के अनेक देवी देवताओं

की तरह उनकी सूरत अजीब ढंग की अमानवीय नहीं होती थी। जैसा सुडौल और सौन्दर्य पूर्ण ग्रीक मानव था, वैसा ही उसका देवता या देवी भी। और इन मानव देह-धारी देवी देवताओं की मानवीय सूरत और शरीर वाली मूर्तियों में इतने पूर्ण (Perfect) और अद्‌भुत सौन्दर्य के दर्शन होते हैं, जिसकी तुलना का सौन्दर्य संसार में अन्यत्र नहीं मिलता, न चित्रों में न मूर्तियों में। ऐसा भी उल्लेख आता है, कि इन सफेद मूर्तियों में रंग की झांकी भी दी जाती थी। यदि रंग की झांई वाली कोई मूर्ति मिल पाती तो सचमुच यह और भी एक सुखद आश्चर्य की वस्तु होती।

देवी देवताओं की मूर्तियों के अतिरिक्त कालांतर में वास्तविक जीवन की झांकियां भी मूर्तियों के रूप में अंकित होने लगी थीं। जैसे एक रथवान रथ हांक रहा है, एक खिलाड़ी डिसकस फैंक रहा है। उस मूर्ति में जिसमें कि खिलाड़ी को डिसकस फैंकता हुआ दिखलाया गया है,—स्वस्थ शरीर की पेशी पेशी स्पष्ट दिखलाई देती है। वह स्वस्थ सौन्दर्य का एक अद्भुत प्रतीक है।

इन प्राचीन ग्रीक मूर्तियों के (Originals) तो विरले ही मिलते हैं-उनकी रोमन प्रतिकृतियां मिलती हैं। अतएव प्राचीन ग्रीक और रोमन मूर्तिकला मिल-जुल सी गई हैं।

चित्र एवं संगीतकला:—उस समय के मिट्टी एवं संगमरमर के पत्थर के बर्तनों पर एवं भवनों की मूर्तियों पर चित्रकला के कुछ नमूने मिलते हैं। चित्रकला के और भी आलेख उस युग के साहित्य में मिलते हैं-किन्तु उस युग का कोई वास्तविक चित्र उपलब्ध नहीं होता। धारणा है, कि ग्रीस में संगीत कला का भी उत्कर्ष हुआ था। उनकी पौराणिक कथाओं में महान् संगीतज्ञ (Orphens) का जिक्र आता है जो अपने (Lyre) के माधुर्य से केवल मानव को ही नहीं, वरन् प्रकृति को भी आनन्द विभोर कर देता था।

यह निःसंदेह कहा जा सकता है, कि ग्रीक जीवन कलामय था और ग्रीक कला जीवनमय। एक अद्भुत् उदात्तता एवं उल्लास, जीवन में एक मुक्तभाव और सौन्दर्य के प्रति अभिरुचि—ये ग्रीक जीवन के तत्व थे,—ग्रीक कला के तत्व भी।

धर्म-जिस काल की हम बात कर रहे हैं, मानो ईसा पूर्व ६ ठी सातवीं शताब्दी, उसमें यह याद रखना चाहिये कि अभी तक ईसाई और इस्लाम धर्म का तो जन्म भी नहीं हुआ था, यहूदियों की हलचल इजाराइल प्रदेश में होने लगी थी, किंतु

एकेश्वरवाद का रुप अभी स्थिर नहीं हो पाया था। पूर्व में भारत में ई. पू. ६ ठी शताब्दी में बुद्ध का आगमन काल था और वहां धीरे धीरे बौद्ध धर्म का प्रसार होने लगा था; चीन में स्वर्गवासी पूर्वजों और आदिकालीन देवी देवताओं की पूजा के साथ साथ कनफ्यूसियस के नैतिकतापरक विचारों का प्रभाव फैलने लगा था।

प्राचीन ग्रीक लोगों के धम का रुप बहुदेववादी और मूर्ति-पूजक (Paganism) था, जैसा मानव की आदिकालीन जातियों में पाया जाता है। इन लोगों का सबसे बडा देवता ज्यूस (Zeus) था, जिसका रोमन नाम जूपीटर (Jupiter) हुआ। ज्यूस सब देवताओं का राजा माना जाता था। अन्य कुछ देवता ये थे:—ईरीस (युद्ध का देवता; रोमन नाम मार्स); ईरोस (प्रेम का देवता; रोमन नाम क्यूपिड); एपोलो (सूर्य देवता)। प्रमुख, देवियां थीं:–पेलास एथीनी (ज्ञान की देवी; रोमन नाम माइनरवा); एफ्रोडाइटी (सौन्दर्य की देवी; रोमन नाम वीनस); डीमीटर (अन्न की देवी; रोमन नाम सीरीज) इत्यादि। इन सब देवी देवताओं का स्थान ग्रीस में स्थित ओलिम्पस (Olympus) पर्वत समझा जाता था। ग्रीकलोगों के नगरों में इन देवी देवताओं के भव्य देवालय होते थे, देवालय में मूर्ति के सामने एक वेदी बनी हुई होती थी, जिस पर भेंट

चढाई जाती थी। वर्ष में ऋतुओं के अनुसार विशेष पूजा और धार्मिक समारोह होते थे जिनमें सब स्त्री, पुरुष आनंद से सम्मिलित होते थे।

किंतु यह धर्म आदि कालीन (Primitive) प्रकार का बहुदेववादी और मूर्तिपूजक होते हुए भी, इसमें और मिश्र और मेसोपोटेमिया के इसी प्रकार के आदिकालीन धर्मों में कुछ मौलिक अंतर थे। मिश्र और मेसोपोटेमिया के मानव में अपने देवी देवताओं के प्रति भय और शंका का भाव था, वह उनसे डरता था कि कहीं देवता उसका अनिष्ट नहीं करदे; और पुजारी, पुरोहित लोगों का इतना महत्व था, मानो देवता द्वारा अनिष्ट करवाना न करवाना उन्हीं लोगों के हाथ में है। मिश्र में तो फेरो (राजा) ही देवता समझा जाता था, और मेसोपोटेमिया में पुरोहित ही राजा होता था। किंतु ये ग्रीक लोग एक भिन्न जलवायु, एक भिन्न युग, एक भिन्न मानस के लोग थे, मानो इस संसार में मानव का प्रथम दौर तो प्राचीन मिश्र, सुमेर, इत्यादि प्रदेशों में हो चुका था और अब मानव का यह द्वितीय दौर प्रारंभ हुआ था; प्राचीन सौर-पाषाणी सभ्यता के अवशेषों पर एक भिन्न सभ्यता का उद्भव होरहा था। इनके धर्म के आधार कुछ नये तत्व थे; भय और शंका नहीं किंतु निर्भयता और प्रेम और मैत्री; भय के मारे मानस कुंद और कुन्ठित होजाना नहीं किंतु दैनिक जीवन में मैत्री और सहयोग से

मानस का खिलजाना और प्रसन्न होना। ग्रीक लोगों के देवता स्वयं ग्रीक मानवों से भिन्न नहीं थे; देवता भी वैसे ही खाते पीते रहते थे, प्रेम और द्वेष करते थे, विवाह और युद्ध करते थे जैसे स्वयं ग्रीक लोग; देवता भी वैसे ही सुडौल और सुन्दर थे जैसे ग्रीक मानव स्वयं।

ग्रीक धर्म हमेशा राज्य (State) के आधीन था, अर्थात सर्वोपरि धर्म नहीं किंतु राज्य (State) था; ग्रीक समाज धर्मरुढ़ (Theocratic) नहीं किंतु लौकिक (Secular) था। ग्रीस में धार्मिक परम्परा ऐहिक उन्नति, नैतिक विकास, एवं विज्ञान की प्रगति में बाधक नहीं थी; बल्कि स्वतंत्र दार्शनिक विचार एवं कलात्मक रचना दैवी गुण ही समझे जाते थे। इसीलिये उन्होंने कला और संगीत के देवता एपोलो (Appolo), एवं सौंदर्य की देवी एफ्रोटाइटी (Aphrodite) की कल्पना की थी, और इस कल्पना को वे अपने जीवन और अपनी रचनाओं में साकार रुप भी दे पाये थे।

भाषा और साहित्यः—जब ईसा से लगभग एक हजार वर्ष से भी पूर्व नोर्डिक आर्य्य लोग उत्तर पूर्व से ग्रीस में आये थे तब उन में एक केवल बोलीजानेवाली (जिसका कोई लिखित रुप नहीं बना था) भाषा का प्रचलन था। यह भाषा आर्य्यन

परिवार की ग्रीक भाषा थी। भाषा वास्तव में सम्मुनत और मधुर थी। इसमें ग्रीक गायक कवि (बार्डस्) मधुर मधुर एवं वीरतापूर्ण गीत गाया करते थे। जब ये लोग इधर आये और ग्रीस, ऐशिया माइनर, दक्षिण इटली, क्रीट एवं अन्य द्वीपों में फैले तब वे फीनीसीयन लोगों में प्रचलित एक लिखित भाषा के सम्पर्क में आये। फीनीसीयन लोगों ने अपनी भाषा की लिपि प्राचीन मिश्र से सीखी थी। ग्रीक लोगों ने इसी फीनीसीयन लिपि का और भी अधिक विकास किया; उसमें व्यंजन अक्षर तो पहिले से ही थे किंतु स्वर अक्षर नहीं थे। ग्रीक लोगों ने स्वर अक्षरों का स्वयं आविष्कार किया, और इस प्रकार अपनी ही ग्रीक भाषा का एक लिखित रूप तैय्यार किया। अनुमानतः एक हजार वर्ष ईसा पूर्व तक ग्रीक लिपि तैय्यार हो चुकी होगी।

ग्रीस देश, ग्रीक भाषा का सर्व प्रथम महाकवि,—केवल ग्रीस का ही नहीं किन्तु समस्त पश्चिमी दुनिया का आदि कवि—होमर (Homer) माना जाता है। ग्रीक भाषा के दो प्राचीन महाकाव्य मिलते हैं; एक "इलियड" (Iliad) और दूसरा "ओडेसियस" (Odysseus)। इन दोनों महाकाव्यों में मानव भावनाओं, इच्छाओं, महत्वाकाक्षाओं, आन्तरिक प्रेरणाओं और अन्तर्द्वन्दों की; एवं तत्कालीन सामाजिक जीवन और सामाजिक भावनाओं की सुन्दर अभिव्यक्ति है। "इलियड" की

वस्तु कथा का सारांश इस प्रकार है:-ग्रीक नगर स्पार्टा का राजा मीनीलास था। उसकी रानी थी हैलन (Helen) जो उस युग की दुनिया में सर्वोपरि सौन्दर्यमयी रमणी समझी जाती थी। एशिया माइनर में स्थित तत्कालीन ट्रोय नगरी का राजा पेरिस (Paris) किसी कार्यवश स्पार्टा आया। वहां उसने हेलेन को देखा, और उसे अपने राज्य में भगालाया। ग्रीक वीरों और ट्रोय के ट्रोजन वीरों में युद्ध हुआ। हेलेन को वापिस ग्रीस ले आया गया। कुछ कुछ अंशों में यह गाथा हिन्दूओं के आदि कवि वाल्मिकि के आदि महाकाव्य "रामायण" की गाथा से मिलती है। दूसरे महाकाव्य "ओडेसियस" में, ओडेसियस (यूलीसीस) नामक वीर योद्धा और महा प्राण मानव के आश्चर्य जनक और साहस पूर्ण कार्य्यों का वर्णन है। इन महाकाव्यों के रचना काल के समय में कुछ विद्वानों की एक राय तो यह है कि महाकवि होमर द्वारा इनकी रचना ई. पू. ६५० के पहिले हो चुकी थी और उसी समय इनका लिखित रूप भी प्रचलित हो गया था। कुछ अन्य विद्वानों का मत है कि ये दो महाकाव्य किसी एक विशेष कवि की रचाना नहीं हैं, वरन् कई कवियों की। भिन्न भिन्न समयों पर पदों की रचना होती रही, उनका पाठ कंठस्थ हो होकर कई पीढ़ियों तक चलता रहा; आखिर जब लिखने के साधन प्रस्तुत हुए तब ये कवितायें लिपिवद्ध की जाकर संग्रहित करली गईं, उसी रूप में जिसमें आज ये प्रचलित

हैं। होमर के पश्चात ई. पू. नवीं शताब्दी में एक दूसरा महाकवि हुआ जिसका नाम हिसिओड (Hesiod) था, और जिसने नैतिक शिक्षा से परिपूर्ण प्रथम कवितायें लिखीं। इसके बाद तो ऐथेन्स के अभ्युदय काल में ईसा पूर्व चौथी पांचवी शताब्दियों में ग्रीस में अनेक कवियों, नाट्यकारों, आलोचकों एवं गद्य साहित्यकारों का अभूतपूर्व आविर्भाव हुआ। अनेक दुखांत (Tragedies), सुखांत (Comedies) नाटकों की, भावपूर्ण गीतिकाव्यों की रचनायें हुई। दुखांत नाटककारों में सोफोक्लीज, ऐश्चीलीज, यूरोपीडीज के नाम और सुखांत नाटककारों में एरीस्टोफ़ेन्स का नाम उल्लेखनीय है। गीतिकाव्यों के लिये कवियित्री सेफो का नाम प्रसिद्ध है। इतिहासकारों में हिरोडोटस और थ्यूसीडाईडीज प्रसिद्ध हैं। राजनीति और दर्शन शास्त्र में प्लेटो और अरस्तु (Plato & Aristotle) के ग्रंथ महान और प्रसिद्ध हैं जो आज भी राजनीति, साहित्यालोचन और दर्शनशास्त्र विषयों के आधारभूत ग्रंथ माने जाते हैं। इस प्रकार प्राचीन ग्रीस में शब्द और वाणी का अपूर्व अभ्युदय हुआ। मानव के इतिहास में सर्व प्रथम, अद्भुत यह वाणी-सौन्दर्य का आगमन था। उन आदि मनीषियों की वाणी का सौन्दर्य और माधुर्य हजारों वर्षों के बाद आज भी मानव हृदय को आलोड़ित कर देता है। ऐसी पूर्ण, प्राणोत्तेजक और आनन्ददायिनी वाणी और

साहित्य का कम से कम पश्चिमी दुनिया में पहिले कभी भी संचार नहीं हुआ था। इसमें ग्रीक आत्मा की महानता प्रच्छन्न है।

ग्रीक दर्शन और विज्ञान—धार्मिक परम्परायें और विश्वास तो पहिले से ही सुनिश्चित से होते हैं। इन सुनिश्चित बद्ध परम्पराओं और विश्वासों से मानस विमुक्त हो जब जीवन और सृष्टि के विषय में स्वतंत्र चिंतन करने लगता है तभी दर्शन का उदय होता है। प्राचीन मिश्र और मेसोपोटेमिया के काष्र्णीय मानव अपनी चेतना को विमुक्त कर सृष्टि, प्रकृति और जीवन के विषय में निर्भय, स्वतंत्र प्रायः कुछ अधिक नहीं सोच पाये थे, स्यात् उनमें अभी तक यह गहन चेतना जाग्रत ही नहीं होपाई थी कि वे इन सब विषयों पर स्वतंत्र चिंतन और विवेचना करने लगते; स्यात् इन बातों ने अभी तक उनकी चेतना को परेशान भी नहीं किया था; किंतु ये बातें ग्रीक लोगों को शुरु से ही परेशान करने लगी थीं। महानतम ग्रीक दार्शनिक अरस्तू का आगमन तो ई. पू. चौथी शताब्दी के प्रारंभ में हुआ था किंतु ग्रीक दर्शन की परम्परा इससे कई शताब्दियों पूर्व ही प्रारंभ हो चुकी थी, और तत्वज्ञान संबंधी कई विचार धारायें प्रवाहित हो चुकी थीं। सृष्टि की अनंत विभिन्नता में एकता ढूंढने की ओर चिंतन होने लगा था, सृष्टि का आदि कारण जानने के प्रयत्न

होने लगे थे। सब से पहिले आये भूतवैज्ञानिक (Physiologists) जो जल, जल के बाद वायु तत्व में ही सृष्टि का कारण ढूंढते थे; फिर आये गणितज्ञ-दार्शनिक जिनमें पाइथागोरस (Pythagorus) का नाम उल्लेखनीय है, जिन्हें सब वस्तुओं में यदि कोई एक साधारण (Common) तत्व मिला तो वह "संख्या" (Number) थी; संख्या का आदि था "एक" (1), अतएव "एक" ही सृष्टि का आदिकारण और आदितत्व है। फिर इलियाटिक्स (Eleatics) आये जो उस "एक" को ही ईश्वर की संज्ञा देते थे और कहते थे यह "एक" "चेतन बुद्धि तत्व" (Conscious Intelligent Being) है, जो स्वयं स्थित है; द्वन्दात्मक न्याय से वे इस "एक" की सत्ता सिद्ध करते थे। फिर अन्य दार्शनिक आये जो "सृष्टि की रचना" और "हमारे ज्ञान का आधार क्या है"-इन बातों की विवेचना करते थे। "सृष्टि रचना" के विषय में दार्शनिक अनाक्षागोरस कहता था, "एक अनंत बुद्धि (चेतना) बहुरूप अनंत भूतद्रव्य (Matter) को सुव्यवस्थित किये हुए है।" दार्शनिक एम्पीडोक्लीज कहता था, "प्रेम ही एक सृजनकारी शक्ति है,-सृष्टि की रचना प्रेम के आधार पर हुई है।" ज्ञान के आधार के विषय में हीराक्लीटस का मत भौतिकवादी था; वह इन्द्रियजन्य ज्ञान को ही वास्तविक ज्ञान का आधार मानता था। इन्द्रयों के प्रवेशद्वार द्वारा ही सृष्टि का सही

ज्ञान प्राप्त होता है। दार्शनिक परमीनाइडीज अध्यात्मवादी था, उसका मत यही था कि सही ज्ञान प्राप्त करने के लिये मनुष्य को चाहिये कि वह इन्द्रियद्वार रुद्ध करके केवल सूक्ष्म भावनाओं (Ideas), अर्थात् आत्मचिंतन में अपना ध्यान केन्द्रित करे। कुछ दार्शनिक इन्द्रिय (Senses) और अन्तरदृष्टि (Intuition) दोनों को ज्ञान का साधन मानते थे। फिर कुछ दार्शनिक आये जो अपने आपको सोफिस्ट (Sophists) कहते थे। उनकी यह धारणा थी कि अंतिम तथ्य या तत्व की कोई पहिचान नहीं कर सकता, सत्य तो केवल सापेक्षिक है, एक बात भी ठीक हो सकती है दूसरी भी; अतएव वक्तृत्व शक्ति से, वाद विवाद और तर्क से वह राय या बात मनवालेनी चाहिये जो समाज में व्यावहारिक दृष्टि से उपयोगी हो। दृश्य प्रकृति और सृष्टि को समझने के लिये मानव के ये प्रथम प्रयास थे।

फिर ग्रीस के मानसिक क्षेत्र में पदार्पण होता है सुक्रात (Socrates) का जो एक पत्थर के कारीगर का पुत्र था, किन्तु जो बना महात्मा सुक्रात। उसने परस्पर विनिमय द्वारा और बातचीत द्वारा असत्य और अशुद्ध बात को खोल देने और सत्य और शुद्ध बात को ढूंढ निकालने का अपना ही एक ढंग निकाला। अथक परिश्रम से बाह्य संसार, दृश्य प्रकृति को ढूंढते ढूंढते उसे यह अनुभव होने लगा कि इस दृश्य संसार के

वास्तविक तथ्य और अंतिम सत्य को पालेना असंभव है, अतएव उसका ध्यान अन्तर-सृष्टि, मन की दुनिया की ओर गया, और वहां उसे नैतिक सत्यों (moral truths) की अनुभूति हुई और उसने घोषणा की कि बाहर की ओर देखने से नहीं किन्तु अंतर की ओर झांकने से सत्य मिल सकता है। "अपने आपको पहिचानो" (Know Thyself) उसकी शिक्षा का मूल मन्त्र बना; और ज्ञान और नैतिकता को उसने एक ही वस्तु माना। जो अच्छा है वही ज्ञानी है; जो ज्ञानी है वही अच्छा है। जो ज्ञानी है वह बुरा काम करही नहीं सकता; बुराई अज्ञान का द्योतक है। जैसे कोई आदमी डरपोक है तो इसका यह अर्थ हुआ कि उसे मृत्यु और जीवन का सच्चा ज्ञान नहीं है। नैतिकता ही वास्तविक जीवन का आधार है। उसका दर्शन इस दुनिया में विशाल नैतिक शक्ति की रचना कर सकता है। उसके सत्य के शोध और असत्य के निषेध के ढ़ंग से कुछ लोग ऐसे चिड़गये थे कि उस पर युवकों के दिमाग़ बिगाड़ने का इल्जाम लगाया गया और फल स्वरूप उसे विष का प्याला पीना पड़ा (३६६ ई. पू.)। किन्तु अपनी मृत्यु के पीछे अपने अनुयायियों में वह छोड़ गया एक महान प्रतिभाशाली व्यक्ति, जिसका नाम प्लेटो (अफलातून ४२७-३४७ ई. पू.) था। प्लेटो का मस्तिष्क सचमुच एक विभूति थी जो युग युग में मानव को चकित करती रही है, और करती

रहेगी। ज्ञान का ऐसा कोई क्षेत्र नहीं जो उसने अधूरा छोड़ा हो, क्या दर्शन, क्या राजनीति, क्या समालोचना, क्या शिक्षा। सब में उसका एक ही उद्देश्य था—"सत्य की खोज"। दार्शनिक क्षेत्र में उसे इस सृष्टि का सत्य (रहस्य) मिला भाव (Idea) में; वस्तु (Thing) में नहीं। वस्तु है किन्तु अवास्तविक। वस्तु तो 'भाव' (Idea) का प्रतिबिम्ब मात्र है। भाव स्थायी और वास्तविक है। विज्ञान का सम्बन्ध भावों (मानस रूपों) से है जो स्थायी हैं, वस्तुओं से नहीं जो कि भावों की केवल अपूर्ण नकल मात्र या प्रतिबिम्ब हैं। (मानो यह दृश्य संसार तो भ्रम मात्र है, और भाव सत्य, वास्तव। मानो दृश्य वस्तु की, दृश्य सृष्टि की स्थिति केवल भाव में है)। इसके आगे बढ़कर प्लेटो जिसका झुकाव अव्यक्त (Abstract) की ओर है, सब भावों (Ideas) का साधारणीकरण करके, एक साधारण भाव (General Idea) तक पहुँचता है, जिसे वह 'ईश्वर' की संज्ञा देता है। जिस प्रकार दृश्य वस्तुओं (सृष्टि) के परे भाव हैं, उसी प्रकार भावों के परे "ईश्वर" है। ईश्वर परम भाव, परम बुद्धि, परम आनन्द, परम सौन्दर्य है; वही सब सृष्टि का "आदि कारण" है। उद्देश्य है 'सत्य' तक पहुंचना; किन्तु यदि ये दृश्य वस्तुयें भावों की सच्ची और पूर्ण नकल नहीं हैं तो हम सत्य तक पहुंचें कैसे? वह इस प्रकार:—मानव देह (दृश्य वस्तु) से परिवेष्ठित एक तत्व है, "आत्मा" (Soul)। यह

'तत्व' ईश्वरीयलोक, "सौन्दर्य और आनन्दमय" लोक से अवतरित होकर दृश्य संसार (मानव देह) में आता है, अतः उसे भव्यलोक की स्मृति होती है, जहां से वह अवतरित होता है। ज्ञानेन्द्रियों द्वारा हमें इस दृश्य सृष्टि की, वस्तुओं की अनुभूतियां (Sensations) होती हैं; ये अनुभूतियां आत्मा की स्मृति को जाग्रत करदेती हैं, यह स्मृति 'भाव" या "परमभाव" ईश्वर की होती है। वह लगाव जो शरीर में स्थित आत्मा, अर्थात् मानवात्मा को ईश्वर (परम भाव) से जोड़े रखता है, प्रेम है। दृश्य सृष्टि के परे भाव, और भाव के परे 'परमभाव' ईश्वर लोक है। इस 'परमभाव' या ईश्वर लोक की आभा सौन्दर्य है। आत्मा इस सौन्दर्य के लिये तड़फड़ाती रहे, यही प्रेम है; अर्थात् मानवात्मा में सौन्दर्य की उत्कट इच्छा ही प्रेम है। इस सौन्दर्य की (परम भाव लोक की आभा की) एक झलक भी मिलजाने से आत्मा को आनन्द की अनुभूति होती है,-उसे सत्य की प्राप्ति होती है। ये प्लेटो के दार्शनिक विचार हैं जिनसे उसने अपनी आत्मा को सन्तोष दिया एवं मन की शंकाओं और द्वन्द्वों को हटाकर अपने अन्तर में सामञ्जस्य स्थापित किया।

प्लेटो के बाद आया अरस्तू (Aristotle)। अरस्तू प्लेटो का महान् चेला था, और सिकन्दर महान का गुरु। अरस्तू

बहुत तेज था, गुरु से कम प्रतिभाशाली नहीं। ग्रीस में जो कुछ ज्ञान भण्डार है, ग्रीस में जो कुछ भी जानने को है उसकी परिणति प्लेटो और अरस्तू में आकर होजाती है। अरस्तू था तो प्लेटो का चेला, किन्तु उसने अपने गुरु की तमाम विचार पद्धति को ही बदल दिया। प्लेटो जहां आदर्श और भाव की बात करता था वहां अरस्तू इसी सृष्टि की वास्तविकता और इसी सृष्टि (प्रकृति) के नियमों की। प्लेटो ने ज्ञान का आधार ढूंढा "आत्मा की स्मृति", भाव (आध्यात्म) , अरस्तू ने ज्ञान का आधार ढूंढा ज्ञानेन्द्रियों के प्रत्यक्ष अनुभवों (Sensations) में। बस यही मौलिक भेद हुआ, और जहां प्लेटो ने तो एक आध्यात्म संसार (Spiritual World) की रचना की थी, वहाँ अरस्तू ने विज्ञान संसार (Positive Science) की नींव डाली। अतः अरस्तू 'भौतिक विज्ञान' का पिता कहलाया। वह दुनिया जो जादूटोना, देव पुजारी, निराधार परम्परा, भय एवं अज्ञानांधकार से भरी थी, उसमें अरस्तू ने दृढ़ता से विज्ञान के प्रकाश की किरणें फैंकी, और वह रास्ता आलोकित किया जिससे मनुष्य स्वयं इस प्रकृति और समाज में अन्वेषण करके, प्रकृति और सृष्टि के रहस्यों को खोलता चला जाये।

प्लेटो के उपरोक्त दार्शनिक विचार पढ़कर यह नहीं मान लेना चाहिये कि वह तो केवल "आध्यात्म लोक" का

मानव था। सामाजिक और राजनीतिक क्षेत्र में परम्परा से ऊपर उठा हुआ वह निडर, एक स्वतन्त्र विचारक था। उसने अपने ग्रन्थ 'रिपब्लिक' (Republic) में एक आदर्श समाज संगठन की कल्पना की है; अपनी दूसरी पुस्तक "लॉज" (Laws: विधि-नियम) में उसने बतलाया है कि एक नागरिक को किस प्रकार व्यवहार करना चाहिये। उसने स्पष्ट बतलाया है कि समाज और सामाजिक संगठन का निर्माता कोई अदृश्य शक्ति नहीं; प्लेटो के "भावलोक" का ईश्वर भी इसमें दखल करने नहीं आता। हाँ, चूंकि यह संसार "भावों" (Ideas) की अपूर्ण नकल है, इसलिये इसमें बुराई स्वाभाविक है, किन्तु मानव के पास बुद्धि और स्वतन्त्र "इच्छा शक्ति" (Intelligence and Free Will) है, अतएव बुद्धि से अच्छाई और बुराई को वह पहचान सकता है और अपनी 'इच्छा' से वह इन में से किसी एक को भी चुन सकता है। प्लेटो ने कहा है;—"शासन का स्वरूप मानव चरित्र के अनुरूप होता है। राज्यों का निर्माण शिलाओं और पेड़ों से नहीं हुआ करता, वह होता है नागरिक के चरित्रों से, जिससे प्रत्येक वस्तु को स्वरूप मिलता है। मानव समाज को सम्बोधित कर प्लेटो ने स्पष्ट शब्दों में कहा है—"जिन सामाजिक एवं राजनैतिक बुराइयों के कारण आप इस समय कष्ट उठा रहे हैं उनमें से अधिकांश का निराकरण आपही के

हाथों में है। प्रबल इच्छा-शक्ति और साहस के द्वारा आप उन्हें दूर कर सकते हैं। यदि आप बिचार करें और अपने विचारों के अनुसार कार्य करें तो आप अब से कहीं अधिक अच्छी और बुद्धिमतापूर्ण रीति से जीवनयापन कर सकते हैं। आपको अपनी शक्ति का ज्ञान नहीं है।" अरस्तू इस बात को मानता था किन्तु वह यह भी जानता था कि प्लेटो के उपदेशानुसार अपने भाग्य को वश में करने के पहिले मानव समाज को अधिक ज्ञान और अधिक निश्चित ज्ञान की आवश्यकता है। अतएव अरस्तू ने क्रमपूर्वक उस ज्ञान को एकत्रित करना आरम्भ किया जिसे आजकल हम विज्ञान कहते हैं। सैंकड़ों उसके विद्यार्थी ग्रीस और एशिया में फैले हुये थे, उसकी 'प्राकृतिक विज्ञान के इतिहास' के लिये मसाला एवं तथ्य एकत्रित करने को। उसके निर्देशन में उसके चेलों ने भिन्न भिन्न देशों के १५८ संविधानों (शासन विधियों) का विश्लेषण और अध्ययन किया था। इस प्रकार भौतिक विज्ञान और सामाजिक विज्ञान की नींव पड़ी।

प्रकृति के अध्ययन अन्वेषण, समाज के अध्ययन अन्वेषण की जो नींव, आज से लगभग ढाई हजार वर्ष पहिले अरस्तू ने डाली थी, उसकी कितनी अद्भुत परम्परा चल निकली और आज उसका क्या फल हमारे सामने है, हम स्पष्ट देख

रहे हैं:—प्रकृति और समाज विषयक अनेक रहस्य जो मानव को विदित नहीं थे आज स्पष्ट विदित हैं। दिन प्रतिदिन प्राकृतिक विज्ञान हमारे सामने संसार का भेद खोलता चला जा रहा है। आज प्रकृति मानव की सहचरी है, समाज की विकास-विधि को मानव समझने लगा है, इतिहास की गति को पहचानने लगा है।

ग्रीकमानव ने निर्भय निशंक हो एक वैज्ञानिक अन्वेषक की दृष्टि से प्रकृति को देखना प्रारम्भ किया था, उसने सौन्दर्य की भावना को भी आत्मसात किया था। अपनी इन्हीं विशेषताओं से वह अखिल मानव-जाति की प्रगति में सहायक बना।

—::—

२७

प्राचीन रोम और रोमन सभ्यता

भूमिका:—प्राचीन काल में, ई. पू. की शताब्दियों में, संसार में मानव इतिहास मुख्यतः निम्नांकित भूभागों में गतिमान था;—

(1) पूर्व में चीन और भारत में, जहां स्वतन्त्र, चीन में अपने ही प्रकार की और भारत में भी दूसरे अपने ही प्रकार की सभ्यताओं का उदय हुआ था और लगातार, अजस्र गति से

उनका विकास हो रहा था, जिन देशों में मूलतः आज भी वे ही लोग बस रहे हैं जो प्राचीन काल में बसे हुए थे, और जहां एक दृष्टि से आज भी सभ्यता और संस्कृति की मूलतः वही धारा प्रवाहित है जो प्राचीन काल में प्रवाहित थी।

(II) पच्छिम में मेसोपोटेमिया, मिश्र एवं भूमध्यसागरीय प्रदेशों में। मेसोपोटेमिया में सुमेर, बेबीलोन, असीरिया इत्यादि प्राचीन सभ्यताओं का विकास हुआ;–मिश्र में "प्राचीन मिश्र" सभ्यता का; क्रीट, ईजीयन द्वीप इत्यादि में मायोनीसियन सभ्यता का। बड़े बड़े राज्यों और साम्राज्यों का उदय और विकास हुआ; बड़े बड़े नगर, महल और मंदिर बनें,-एवं 'पुरोहित-सम्राट' और 'देव-सम्राट' आये गये। ये प्राचीन सभ्यतायें निःसंदेह अपना एक इतिहास रखती हैं और अपना एक व्यक्तित्व।

प्राचीन काल में पृथ्वी के इन भूभागों पर तो संगठित-सभ्यताओं की, संगठित राज्य और साम्राज्यों की, एवं व्यापार और कला-कौशल की बात हुई—शेष भूभागों में क्या होरहा था ? मध्य एशिया को छोड कर जिसका जिक्र हम नीचे कर रहे हैं; शेष भूभाग या तो पहाडी प्रदेश और रेगिस्तान थे, या घने जंगलों से परिपूर्ण। इन रेगिस्तानों और जंगली प्रदेशों में मानव चहल-पहल प्रायः नगण्य थी।

ज्यों ज्यों इतिहास ईसा काल के निकट आरहा था, एक और भूभाग में मानव की चहल-पहल दिखलाई पडती थी। वह भू-भाग था-पच्छिम में काला सागर के उत्तर से लेकर पूर्व में भारत के उत्तर तक:-मोटे तोर से इस भूभाग को हम मध्य-एशिया कह सकते हैं। मध्य एशिया उस समय अच्छे चरागाहों का प्रदेश था, और वहां घुमक्कड़ चरवाहे लोग बसते थे।-इतिहास का यह एक रहस्य सा है कि इस भूभाग से मनुष्यों के दल के दल निकलते रहे और एक बाढ़ की तरह पच्छिम (यूरोप) एवं दच्छिण-पच्छिम (ईरान,-एशिया माइनर) में फैलते रहे। ये काकेशियन या नार्डिक जाति के लोग थे। पिछले अध्याय में हमने देखा कि ईसा के प्रायः डेढ हजार वर्ष पूर्व इन्हीं लोगों की एक बाढ़ पच्छिम की ओर गई (पच्छिम की ओर प्रवाहित होने वाली स्यात् यह पहली बाढ़ थी।, वे ग्रीस, वृहद् ग्रीस (दच्छिण इटली, सिसली) और एशिया माइनर के तट-प्रदेशों में बसे, और प्राचीन सभ्यता (सौर पाषाणी सभ्यता) के भग्नावशेषों पर सर्वथा एक भिन्न आत्मावाली ग्रीक सभ्यता और संस्कृति का विकास किया। उस युग की पच्छिमी दुनिया में मानव की यह दूसरी चहल-पहल थी, या यों कहें मानव इतिहास का यह दूसरा स्तर था, जो सौर-पाषाणीं सभ्यता के स्तर पर आकर जमा। ग्रीस में ग्रीक आर्यनों की जब चहल-पहल शुरू हुई उसके कुछ शताब्दियों बाद यूरोप के एक अन्य

भाग में (इटली-रोम में) एक तीसरी चहल पहल प्रारम्भ हुई; यह रोमन आर्यों की चहल पहल थी जो ग्रीक साम्राज्य और ग्रीक सभ्यता के पतन के बाद कई शताब्दियों तक चलती रही, और जिसने रोम और रोमन सभ्यता की छाप मानव इतिहास पर अन्कित की। वास्तव में आधुनिक यूरोप में जो कुछ है, उसमें बहुत कुछ तो ग्रीक और रोमन सभ्यताओं की देन है। प्राचीन रोमन इतिहास को हम तीन कालों में विभक्त कर सकते हैं।

१. प्रारंम्भिक स्थापना काल (अनुमानतः १००० ई. पू. से ५१० ई. पूर्व तक)
२. जनतंत्र काल (५१० ई. पू. से २७ ई. पू. तक)
३. सीजर (सम्राट) काल (ई. पू. २७ से ई. सन् ४७० तक)

प्रारम्भिक स्थापना काल (१००० ई. पू. से ५१० ई. पू. तक) आर्य लोगों का ऐसा ही एक प्रवाह जो ग्रीस में आकर मिल गया था, ई. पू. १००० में इटली की तरफ भी आया। इटली में इन आर्यन लोगों के आने के पहिले भूमध्यसागरीय उपजाति के कार्ष्णोंय (काले गोरे) लोग बसे हुए थे जिनका वर्णन कई बार आ चुका है। ये आर्य्य लोग आये, इन्होंने आदि निवासी कार्ष्णोंय लोगों को हराया, परस्पर अनेक विवाह भी हुए, और प्रारम्भ में मुख्यतया इटली के उत्तर और मध्य भाग में बस

गये। ये लोग जो उत्तर पूर्व से इटली में आकर बसे अन्य आर्यों की तरह गौर वर्ण और लम्बे आदमी थे, साहसी और मुक्त स्वभाव वाले। ये परम्परागत अपने जातिगत देवताओं की पूजा किया करते थे, इनका मुख्य देवता जूपीटर था और मुख्य पेशा पशुपालन और कृषि। आर्य भाषा परिवार की लेटिन भाषा का इनमें विकास हुआ। इस भाषा के लिखित रुप का विकास अर्थात् लेटिन लिपि का विकास धीरे धीरे इन्होंने ग्रीक लिपि से ही शायद किया होगा। जिस लेटिन लिपि का इन्होंने विकास किया, वह लिपि आज यूरोप की प्रमुख प्रचलित भाषाओं में यथा फ्रेन्च, इन्गलिश, जर्मन, इटालियन, रसियन इत्यादि में प्रचलित है; बल्कि फ्रेन्च, इटालियन, और स्पेनिश भाषायें तो लेटिन का ही विकसित स्वरुप हैं। ग्रीक लोगों की तरह ही इनके समाज में दो वर्ग के लोग थे, पहला उच्च वर्ग जिसमें वहुत धनी और परम्परागत उच्च परिवार के लोग होते थे। इटली में बसने के वाद इस वर्ग के लोग पेटरिसियन कहलाये। दूसरा साधारण वर्ग के लोग होते थे जो सेवियन कहलाते थे। किसी उच्च परिवार का नेता ही युद्ध में और दूसरे वड़े वड़े सामूहिक कार्यों में नेतृत्व करता था और वही राजा कहलाता था।

इटली में आने के बाद इनकी कई बस्तियां बसीं।—कई कई नगर और गांवों का विकास हुआ।

रोम- इटली में इन लोगों के कार्य-क्षेत्र का केन्द्र प्रसिद्ध रोम नगर था। रोम कब और कैसे बसा ? एक पौराणिक कथा है:-प्रसिद्ध ग्रीक कवि होमर के महाकाव्य में वर्णित ट्रोय के युद्ध में ट्रोय के लोगों को अर्थात् ट्रोय जन लोगों की तरफ से प्रसिद्ध ट्रोजन वीर ईनीज लड़ रहा था--ट्रोजन लोगों की हार के बाद ईनीज़ ट्रोय से निकल पड़ा, कहीं एक नया साम्राज्य बसाने की खोज में। अंत में वह इतालिया (इटली) प्रदेश में उतरा जहां की राजकुमारी से उसने विवाह किया-इस विवाह से उत्पन्न पुत्र ईनीज सिलवियस ने रोम नगर की स्थापना की। एक दूसरी दंत कथा है जिसके अनुसार देव पुत्र दो भाई रोमूलो और रीमस ने ई. पू. ७५३ में रोमनगर की स्थापना की। जो कुछ हो, ऐतिहासिक तथ्य तो इतना है कि टाइबर नदी में जो इटली के पश्चिमी किनारे में गिरती है एक जगह फोर्ड (छिछलासा भाग) आता है। इस फोर्ड पर व्यापारी लोग वस्तु विनिमय के लिये एकत्रित हुआ करते थे-इन नवागंतुक आर्य्यन लोगों के अतिरिक्त एक दूसरी सभ्य एट्रयूसकन (Etruscan) जाति के व्यापारी भी एकत्रित होते थे। इस फोर्ड के पास छोटी छोटी पहाड़ियां थीं, जिन पर धीरे धीरे बस्तियां बस गईं, वे बस्तियां धीरे धीरे विकसित होती गईं-और कालांतर में विकसित रोम नगर का आविर्भाव हुआ। अनुमान है ७५३ ई. पू. से भी पहिले रोम नगर बस चुका था। रोम नगर टाइबर नदी के दक्षिण किनारे

पर था–इधर लेटिन लोगों की बस्तियां बस गई थीं। टाईबर नदी के दूसरे किनारे पर,-एवं उसके उत्तर भूभागों में एट्रयूस्कन जाति के लोग बसे हुए थे—उनका व्यापार भी पर्याप्त विकसित था-और उनकी कई जहाजें चलती थीं-उनके पास कई जहाजी बेड़ भी थे।

ऐसा अनुमान होता है कि पहिले तो रोम पर आर्य्यन (लेटिन) राजाओं का राज्य हुआ किन्तु टाइबर नदी के उत्तरी किनारे पर एट्र-यूस्कन राजाओं की शक्ति बढ़ी चढ़ी थी। एट्र-यूस्कन लोग स्यात् काले गोरे जाति के वे ही लोग थे जो पहिले ग्रीस में बसे हुए थे, किन्तु ग्रीक लोगों के उधर आ जाने से ये लोग इटली में आकर बस गये थे। इन लोगों की स्थिति लेटिन आर्य्यन लोगों से कहीं अधिक सभ्य थी; लेटिन आर्य्यन लोग तो अभी अभी (Pasture Lands) चराई की भूमि में से निकलकर घूमते हुए आकर बसे ही थे–संगठित सभ्यता का उन्हें विशेष ज्ञान नहीं था। ऐट्र-यूसकन लोगों से ही उन्होंने स्थापत्य, चित्रकारी, और व्यापार की कला सीखी। ऐट्र-यूसकन और लेटिन लोगों में अनेक वर्षों तक लड़ाइयां, झगड़े होते रहे, अन्त में ईसा पूर्व छठी शताब्दी में एट्र-यूसकन राजाओं को वहां से हटना पड़ा और रोम पर लेटिन आर्य लोगों का (जिन्हें अब हम रोमन लोग कहेंगे) आधिपत्य हुआ, और रोमन राजा वहां शासन करने लगा।

रोमन राजा प्राचीन मिश्र और बेबीलोन के राजाओं की तरह एकाधिपत्य शासनाधिकारी नहीं होते थे और न उनको मिश्र के राजाओं की तरह देवता और सुमेर और बेबीलोन के राजाओं की तरह पुरोहित माना जाता था। वास्तव में राज्य का उत्तरदायित्व और राज्य के बहुत से अधिकार एक संगठन के हाथ में रहते थे जिसको 'सिनेट' कहते थे। राजा स्वयं पेट्रिसियन वर्ग (उच्च वर्ग) के लोगों में से सिनेट के सदस्य चुना करता था, और उस सिनेट की राय के अनुसार राजा को चलना पड़ता था। राज्य के बड़े बड़े मामलों में सिनेट के सदस्य आपस में बहस और विचार विनिमय करके ही किसी निर्णय पर पहुंचते थे। ऐसा संगठन कि राजा ही सिनेट के सदस्यों की नियुक्ति करे बहुत दिनों तक नहीं चल सका, अन्त में राजाओं के शासन का खातमा किया गया और ५१० ई. पू. में रोमन लोगों ने अपने शासन के लिये गण राज्य (Republic) की स्थापना की।

गण राज्य काल–(५१० ई. पू. से २७ ई. पू.)

लगभग ५१० ई. पू. में जब रोमन गण राज्य की स्थापना हुई उस समय टाईबर नदी के दक्षिण में, रोमनगर और मध्य इटली में ही रोमन लोग फैले हुए थे और वहीं उनका राज्य था। टाइबर नदी के उत्तर से लेकर ठेठ इटली के उत्तर में पो नदी तक ऐ-ट्रयूसकन लोग बसे हुए थे और उनका राज्य था। इटली के

दक्षिण में जिसे इटली की ऐडी कहते हैं और सिसली द्वीप के पूर्वी भागों में ग्रीक लोग बसे हुए थे। भूमध्यसागर को पार कर अफ्रीका में भूमध्यसागर के किनारे महान् कारथेज्ञ नगर बसा हुआ था। यह वही नगर था जो ई. पू. ८०० में सेमेटिक उपजाति के फिनीसियन लोगों ने बसाया था। कारथेज्ञ नगर पच्छिमी दुनियां का एक बहुत विशाल व्यापारिक केन्द्र था और अनुमान है कि जब रोम में रोम गण-राज्य की स्थापना हुई उस समय इसकी आबादी लगभग तीन लाख थी। इस कारथेज्ञ के रहने वाले कारथेजियन लोगों का कारथेज्ञ के आसपास उत्तरी अफ्रीका में और सिसली द्वीप के पच्छिमी भागों में एवं भूमध्यसागर के अन्य कई द्वीपों में अधिकार था। यह तो रोम गण राज्य के पडोसियों की राजनैतिक स्थिति थी। ५१० ई. पू. में रोमन गण राज्य की स्थापना हुई, यह वही काल था जब पूर्वी दुनिया अर्थात् चीन में महात्मा कनफ्यूसियस अपना सन्देश चीनियों को सुना रहा था, भारत में महात्मा बुद्ध की शिक्षाओं का प्रचार हो रहा था, मिश्र और बेबीलोन अपने पतन के अन्तिम दिनों में थे और पच्छिमी एशिया माइनर से लेकर पूर्व में सिंध नदी तक ईरानी सम्राट दारा का महान् विशाल साम्राज्य स्थापित था। ग्रीस में ग्रीक आर्य्यन लोग स्थापित हो चुके थे और स्वतन्त्र अपनी सभ्यता का विकास कर रहे थे। यह थी शेष दुनिया की हालत जब रोम में गण राज्य का विकास हो रहा

था। शेष दुनिया की, और रोम के पडोसियों की चर्चा यहां इसलिये की गई है कि हम इस बात को अच्छी तरह से समझले कि उस समय रोम में मानव समाज के संगठन की सर्वथा एक नई प्रणाली का "गण राज्य प्रणाली" का विकास किया जारहा था। माना भारत में उस युग में कहीं कहीं गण राज्य स्थापित थे किन्तु वे बहुत सीमित और छोटे छोटे थे, और अपने आसपास के राज्यों में उनका सामाजिक संगठन की प्रणाली की दृष्टि से कोई विशेष प्रभाव नहीं था। माना ग्रीस में भी गण राज्य प्रणाली का प्रचलन था किन्तु उनके गण राज्य भी छोटे छोटे नगर-राज्यों (City States) में ही सीमित थे। इन दो उदाहरणों को छोड कर प्रायः शेष दुनियां में जहां कहीं भी राज्य था, वहां राजा या सम्राट का 'एक-तंत्रीय' शासन ही चलता था कहीं भी किसी एक ऐसे विशाल गण राज्य (Rupublic) की स्थापना नहीं हुई थी, जिसमें विशाल भूभाग, कई देश एवं कई भिन्न भिन्न जातियां सम्मिलित हों ऐसे गण राज्य का विकास, गण राज्य का इतने विशाल क्षेत्र में प्रयोग, दुनियां में सबसे पहले रोम में रोमन लोगों द्वारा ही प्रारम्भ हुआ।

रोमन गण राज्य (रोमन रिपब्लिक) की व्यवस्था जानने के पहिले, यह जान लेना उचित होगा कि इस गण राज्य का विस्तार कहां कहां तक होगया था।

इस समय रोम के इर्दगिर्द तीन शक्तियां थीं, जिनसे रोम को निपटना था।

१. उत्तर में जैसा हम उल्लेख कर आये हैं ऐट्रूयूसकन लोग थे। किन्तु इनकी शक्ति का ह्रास किया गॉल लोगों ने। ये गॉल नोर्डिक आर्यन जाति के लोग थे जो फ्रांस इत्यादि देशों में बस गये थे और जनसंख्या बढने पर उत्तर-पच्छिम और उत्तर से इन दक्षिणी प्रदेशों में आरहे थे। आल्प-पर्वत को पारकर समस्त उत्तर इटली को इनने ध्वस्त कर दिया और राज्यों और नगरों को रौंदते हुए ये एक बार रोम तक बढ आये थे।

रोम नगर पर इन्होंने अधिकार भी कर लिया था, किन्तु रोम की पहाड़ियों पर स्थित ये रोमन किले को नहीं ले पाये थे। इसी बीच में कहते हैं इनके खेमों में बीमारी फैल गई और रोमन लोगों ने इनको धन आदि देकर वापिस लौटा दिया—और वे उत्तर की ओर चले गये। उत्तर में बहुत दूर तक रोमन गण राज्य का विस्तार होगया। तदुपरान्त कोई छुटपुट हमले ये करते रहे होंगे, किन्तु रोमन गण राज्य पर उनका कोई विशेष प्रभाव नहीं रहा।

२. दक्षिण में 'मेगना ग्रीसीया' (बृहत्तर ग्रीस) था। जबसे रोम नगर और आसपास की भूमि में रोमन गण राज्य

स्थापित हुआ था, तबसे अब तक कई शताब्दियाँ बीत चुकी थीं– पूर्व में अलक्षेन्द्र (सिकन्दर) महान् का साम्राज्य भी स्थापित होचुका था–उसकी मृत्यु भी होचुकी थी, और उसका साम्राज्य कई भागों में विभक्त भी होगया था। इस समय ग्रीस के उत्तरी षच्छिमी प्रदेश ऐपीरस (Epirus) में पीरहस नामक ग्रीक राजा का राज्य था–समस्त इटली और सिसली को जीतकर अपने राज्य में मिला लेने की इसकी महत्वाकांक्षा थी। अतएव अपनी सुसंगठित सेना और जहाजी वेड़े को लेकर वह इटली की ओर बढ आया। रोमन लोगों को इस बात का वहुत भय था कि कहीं अलक्षेन्द्र की तरह ग्रीक लोग पच्छिम में भी उनको परास्त कर अपना साम्राज्य स्थापित न कर लें। इस समय कार्थेज (जिसका वर्णन ऊपर आ चुका है) के पास बहुत जबरदस्त जहाजी बेड़ा था–रोमन लोगों को कार्थेज से इतना भय नहीं था जितना ग्रीक साम्राज्य के विस्तार से, अतएव वे कार्थेजियन लोगों से मिल गये। यद्यपि कई युद्धों में राजा पीरहस की विजय हुई किन्तु अन्त में २७५ ई. पू. में, इटली में साम्राज्य स्थापित करने का सब विचार छोड़कर उसे लौट जाना पड़ा। इटली के दक्षिण भाग–इटली की ऐडी–में जो ग्रीक राज्य थे, वे भी समाप्त हुए–और ठेठ दक्षिण तक रोमन गण राज्य का विस्तार हो गया। सिसली कार्थेजियन लोगों के हाथ लगा।

३. अब अफ्रीका और सिसली में कार्थेजियन लोग रहे। ग्रीक लोगों के आक्रमणों के सामने तो रोमन और कार्थेजियन एक हो गये थे, किन्तु अब ग्रीक लोगों के लौट जाने के बाद दोनों में विरोध उत्पन्न हो गया। दोनों जातियाँ महत्वाकांक्षी थीं। रोमन लोग अभी नये नये आये थे—उनमें नया साहस एवं नया जीवन था—उधर कार्थेज को अपनी जलसेना और जहाजी बेड़े पर विश्वास था—कई शताब्दियों से अखिल भूमध्यसागर पर उनकी जहाजों का दबदबा था। याद रखना चाहिये कि कार्थेज भी ग्रीक गण राज्यों की तरह एक गण राज्य था।

दोनों शक्तियों में टक्कर हुई—१०० वर्षों से भी अधिक तक, बीच बीच में सन्धि और शान्ति के कुछ वर्षों को छोड़कर, इन लोगों में युद्ध होते रहे। इतिहास में ये युद्ध "प्यूनिक युद्ध" के नाम से प्रसिद्ध हैं मुख्यतयः तीन प्यूनिक युद्ध हुए:—

पहिला प्यूनिक युद्ध (२६४–२४१ ई. पू.)=लगभग २५ वर्ष तक ये युद्ध होते रहे। बहुत विनाशकारी और भयँकर ये युद्ध थे। अग्रीगंटम नामक स्थान पर लम्बे काल तक युद्ध होता रहा,—युद्ध काल में रोग की बीमारी फैल गई, अतएव युद्ध में जो सैनिक मरे वे तो मरे ही, बीमारी से भी अनेक सैनिक मर गये। अनुमान है रोमन लोगों की क्षति ३० हजार

तक पहुँच गई थी। इस थल युद्ध में तो रोमनों की विजय हुई (२६१ ई. पू.) किन्तु कार्थेज के शक्तिशाली जहाजी बेड़े के सामने उनका ठहरना कठिन था। फिर भी रोमन लोगों ने जहाजी युद्ध में एक नये ढंग का आविष्कार किया—उन्होंने एक झूला या पुलसा बनाया जो एक मस्तूल के सहारे एक घुल्ली द्वारा ऊपर टँका रहता था और ज्यों ही दुश्मन के जहाज नज़दीक आते थे घुल्ली से वह झूला नीचे कर दिया जाता था और उसमें बैठे सैनिक दुश्मन के जहाज़ में उतर जाते थे। इस आविष्कार से रोमन लोगों को सामुद्रिक युद्ध में बहुत मदद मिली। ई. पू. २५६ में इकोनोमस नामक स्थान पर एक बड़ा युद्ध हुआ। इस युद्ध में ७०० से ८०० तक बड़े बड़े जहाज लड़ रहे थे। कुछ इतिहासकारों का मत है कि प्राचीन काल का यह सबसे बड़ा जहाजी युद्ध था। यद्यपि कार्थेजियन लोगों का बेड़ा रोमन लोगों के बेड़े से बहुत अधिक बड़ा था किन्तु उपरोक्त आविष्कार की मदद से अन्त में रोमन लोगों की विजय हुई कार्थेजियन लोगों को सन्धि करनी पड़ी। इस विजय के फलस्वरुप समस्त सिसली पर रोमन लोगों का अधिकार स्थापित हुआ और कुछ इतिहासकार लिखते हैं कि कार्थेजियन लोगों को ३२०० टेलेन्टस (बराबर ७ लाख ८२ हजार पौंड) रोमन लोगों को युद्ध का हरजाना देना पड़ा। इसके बाद २२ वर्ष तक शान्ति रही।

फिर दूसरा प्यूनिक युद्ध शूरु हुआ (२१६-२०२ ई. पू.) १७ वर्ष तक यह युद्ध चलता रहा। इस समय स्पेन में कार्थेजियन लोगों का राज्य था। इतिहास प्रसिद्ध जनरल हेनीबाल इस समय कार्थेजियन सैनाओं का सेनापति था। स्पेन से बढ़ता हुआ वह इटली में घुस आया और अनेक रोमन नगरों को विध्वंस कर उसने मिट्टी में मिला दिया। १५ वर्ष तक उसने इटली में मारकाट मचाई रक्खी, और इस तरह बढ़ता हुआ वह इटली के दक्षिण तक आ पहुंचा। जहां कहीं भी वह जाता था कोई भी रोमन जनरल उसके सामने नहीं ठहर पाता था। किन्तु रोमन सीनेट (वह संगठन जिसके हाथ में सब शासनाधिकार रहते थे, जो युद्ध काल में युद्ध का संचालन करती थी, और शाँति के समय सब राज्य-कार्य संचालन करती ही थी) और रोमन जनरलों ने हिम्मत नहीं हारी--वे ठटे रहे। एक रोमन जनरल था (Seipio) सीपिओ, उसने रोमन सीनेट को यह सुझाया कि सीनेट यह अनुमति देदे कि सीधा दुश्मनों की राजधानी कार्थेज पर जाकर हमला कर दिया जाये--इस प्रस्ताव पर सीनेट के सदस्यों में बहुत बहस हुई--किन्तु आखिर सीनेट ने अपनी अनुमति देदी। आदेश मिलने पर सीपिओ स्वयं कार्थेजियन लोगों की राजधानी कार्थेज पर सीधा हमला करने के लिये बढ़ गया। कार्थेजियन जनरल हानिबाल भी इटली से कार्थेज की रक्षा करने के लिये वहां पहुंच गया। कार्थेज के

निकट ई. पू. २०२ में झामा नामक स्थान पर भयंकर युद्ध हुआ। हेनीबाल की हार हुई और रोमन लोगों की विजय। हेनीबाल इस उद्देश्य से कि वह रोमन लोगों के हाथ नहीं पड़े कुछ काल तक इधर उधर भागता फिरा और अन्त में उसने जहर खाकर आत्महत्या कर ली।

इस युद्ध में स्पेन रोमन लोगों के अधिकार में आया और लड़ाई की क्षति पूर्ति के रूप में कार्थेजियन लोगों को हजार टेलेन्टस बराबर २५ लाख पौंड रोमन लोगों को देने पड़े।

१४६ ई. पू. में तीसरा प्युनिक युद्धः—उपरोक्त झामा के युद्ध के बाद लगभग ५६ वर्ष तक शान्ति रही, किन्तु रोमन लोग शान्ति से नहीं रह सके और ई. पू. १४६ में उन्होंने कार्थेज नगर पर हमला कर दिया। समस्त नगर जलाकर भस्म कर दिया गया और ऐसा अनुमान है कि कार्थेज की लगभग ५ लाख आबादी में से केवल ५० हजार मनुष्य जीवित रहे। इन जीवित बचे कार्थेजियनों को गुलाम बनाकर रोम भेज दिया गया। इसी वर्ष पूर्व में ग्रीस के प्रसिद्ध नगर कोरिंथ को भी ध्वस्त किया गया और ग्रीस के शेष द्वीप और राज्य रोमन राज्य में मिला लिये गये। वास्तव में ग्रीस मुख्य, मिश्र के टोलमी और एशियाई भागों के सेल्यूकिड ग्रीक शासकों में परस्पर वैमनस्य था,—इस स्थिति से लाभ उठाकर ही रोमन लोग

सरलता से ग्रीक राज्यों पर अपना अधिकार जमा सके। रोम राज्य का इतना दबदबा था कि एशिया माइनर के ग्रीक राज्य पर गामम ने अपने आप को खुशी से रोमन साम्राज्य को समर्पित कर दिया। अनेक ग्रीक लोगों को गुलाम बना लिया गया,-किन्तु साथ ही साथ ग्रीक संस्कृति और साहित्य का प्रभाव रोमन जीवन और रहन सहन पर पड़ा। उपरोक्त प्यूनिक युद्धों के बाद रोमन राज्य का विस्तार पच्छिम में स्पेन से लेकर पूर्व में एशिया-माइनर तक था। देखें ये नकशा ई. पू. १५० में रोमन रिपब्लिक राज्य का विस्तार

रोमन रिपब्लिक में शासन प्रणाली और सामाजिक जीवनः-रोम रिपब्लिक के सबसे अधिक संमृद्धि काल में, दुनियां के निम्न भाग सम्मिलित थे। इटली तो था ही, और पच्छिम में थे स्पेन और गाल (फ्रान्स)। पूर्व में थे ग्रीस और एशिया माइनर, और दक्षिण में कार्थेज और भूमध्यसागर तट के कुछ अन्य भूभाग,-और मिश्र भी। यूरोप में इस राज्य की सीमा राइन नदी तक थी। राइन नदी के उत्तर में असभ्य हूण, गोथ, फ्रेंक और ट्यूटन लोग इधर उधर फिर रहे थे किन्तु अभी तक कोई संगठित राज्य स्थापित नहीं कर पाये थे। दक्षिण अफ्रीका सर्वथा अज्ञात देश था, भारत और चीन बहुत दूर पड़ते थे इसलिये रोमन लोगों में और रोम के आधीन

रोमन गण राज्य का विस्तार
(१५० ई.पू.) प्युनिक युद्ध
गाल
स्पेन
आल्प्स
उन्यूब नदी
रोम
कार्थेज
सिसली
पार्थियन
यरुसलम
अफरीका
टोलमी ग्रीक राज्य
अरब
ईरान

रोमन साम्राज्य
२०० ई.
हूण
गोथ
गॉल
स्पेन
डन्यूब
बिज़ंटियम
रोम
एशिया माइनर
मेसोपोटेमिया
सीरिया
अलक्षेन्द्रिया
यरूशलम
उत्तर अफ़रीका
मिस्र
अरब
रोमन साम्राज्य
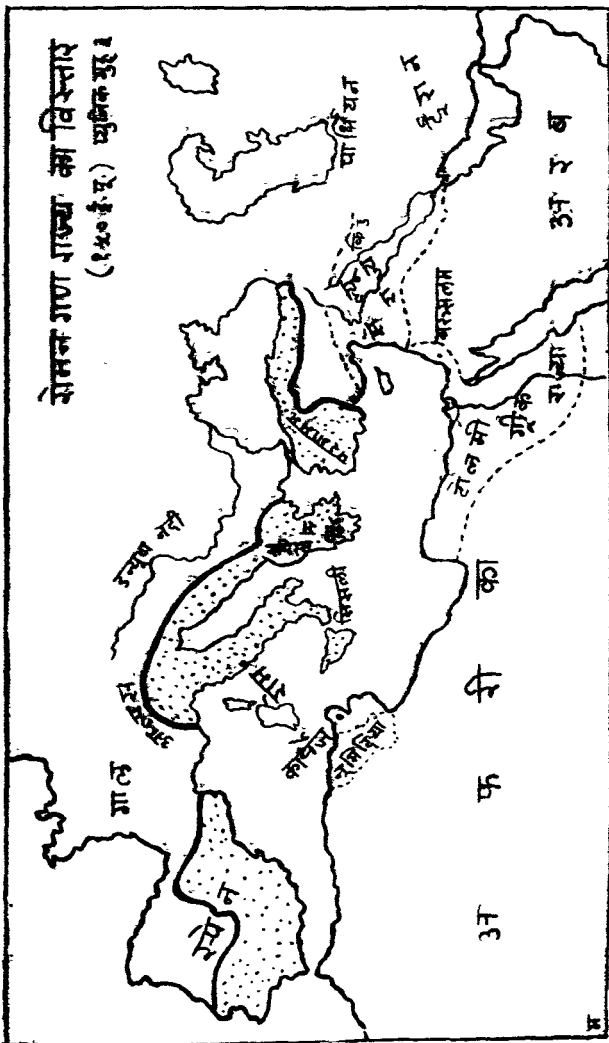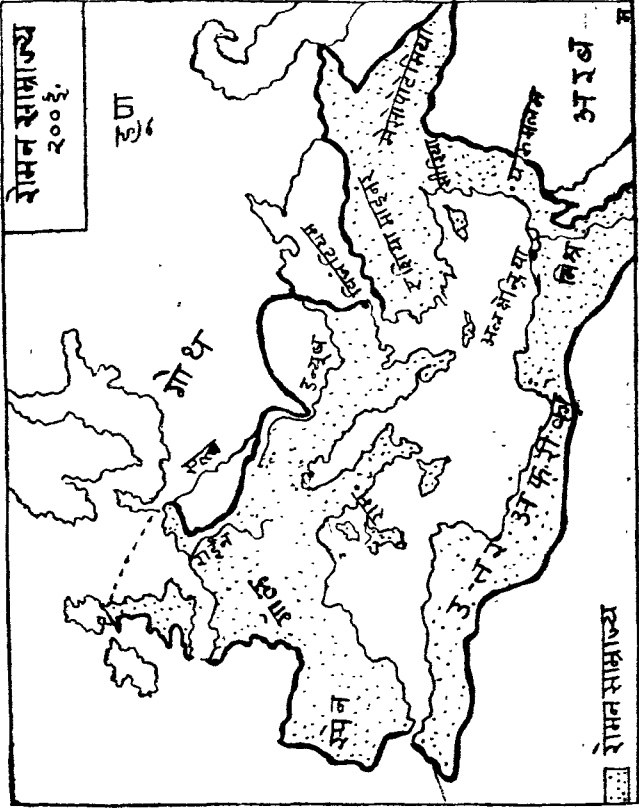
देशों में यह धारणासी बन गई थी कि मानों विश्व में रोमन लोगों ने एक विश्व राज्य स्थापित कर लिया है। वास्तव में बात यह है कि उस काल में साधारण लोगों को यहां तक कि शासकों को भी भूगोल का बहुत कम ज्ञान था। आज पाठशाला के एक साधारण विद्यार्थी का भूगोल का ज्ञान उस युग के पंडितों से कहीं अधिक है।

इस विशाल राज्य का केन्द्र रोम था और इसका संचालन करने के लिये समस्त अधिकार दो निर्वाचित व्यक्तियों में निहित थे जो न्यायाधीश (Supreme Magistrate) या सलाहकार (Councils) कहलाते थे। इन दो कोंसल्स का चुनाव रोम के समस्त लोगों की संसद करती थी जिसे कोमीटीया कहते थे। पहिले तो वोट देने का अधिकार केवल उच्च वर्ग के पेट्रिसियन लोगों को था। किन्तु अनेक वर्षों के द्वन्द्व के बाद साधारण वर्ग के लोगों को अर्थात् प्लेबियन्स को भी वोट का अधिकार मिल गया था। गुलाम लोगों को किसी प्रकार का भी अधिकार नहीं था। ज्यों ज्यों इटली में रोमन राज्य बढा त्यों त्यों इटली के सब लोगों को (केवल गुलामों को छोड़कर) रोमन नागरिक घोषित कर दिया गया, जिसका अर्थ था कि वे भी रोमन संसद के सदस्य हैं और (Councils) कोंसल्स के निर्वाचन में अपना [illegible] दे सकते हैं। सर्व साधारण की इस संसद की

अनुमति से ही पहिले राज्य के सब नियम, कानून बनते थे— और उसकी अनुमति के अनुसार ही महत्वपूर्ण प्रश्नों पर निर्णय होता था; किन्तु धीरे धीरे ये सब अधिकार सीनेट में निहित हो गये थे। इटली के बाहर रोम के आधीन जितने राज्य थे वे सब एक तरह से रोमन रिपब्लिक के प्रान्त समझे जाते थे और उन प्रान्तों का शासन करने के लिये रोमन सीनेट द्वारा शासक नियुक्त किये जाते थे। उन प्रान्तों के शासन का पूर्ण अधिकार इन सीनेट द्वारा नियुक्त शासकों को होता था। इन शासकों को सीनेट के प्रति उत्तरदायी होना पड़ता था।

सीनेट यह रोमन गण-राज्य के विधान की एक मुख्य केन्द्रीय संस्था थी। इसके सदस्यों की नियुक्ति उपरोक्त दो निर्वाचित कौंसलस (Councils) के द्वारा ही होती थी। पहिले तो केवल पेटिसियन लोगों में से सीनेटर्स की नियुक्ति की जाती थी परन्तु बाद में प्लेबियन लोगों में से भी सीनेट के सदस्यों की नियुक्ति होने लगी। राज्य-कार्य के लिये जितने भी मजिस्ट्रेट या अफसर होते थे वे सब लोगों की संसद द्वारा निर्वाचित किये जाते थे और ये अफसर या मजिस्ट्रेट सीनेट के भी सदस्य होते थे। सीनेट के सदस्य प्रायः वे ही लोग होते थे जो समाज में अपनी कुशलता, राजनैतिज्ञता या वक्तृत्व शक्ति से अपना स्थान बना लेते थे। साधारणतयः ३०० से लेकर

५०० तक इसके सदस्य होते थे। सीनेट उस काल के अनुभवी राजनितिज्ञ, कुशल मजिस्ट्रेट लोगों की एक संस्था थी—धनिक जमीदार लोग भी इसके सदस्य नियुक्त होते थे। रोम के फोरम (meeting Place) में सीनेट-गृह बना हुआ था, वहीं सीनेट की बैठकें होती थीं। इस प्रकार हम देखते हैं कि रोम की गण राज्य प्रणाली में सर्वोपरि तो थे दो कोंसल्स (Councils) जो एक वर्ष के लिये निर्वाचित किये जाते थे और जिनमें वैधानिक दृष्टि से राजकीय सब अधिकार निहित थे। सबसे नीचे थी नागरिकों की संसद जो (Councils) कोंसल्स का और मजिस्ट्रेट और शासक अफसरों का निर्वाचन करती थी। इन दोनों के बीच में एक कड़ी की भाँति थी सीनेट जिसका महत्व एक दृष्टि से हम इतना मान सकते हैं जितना कि आज के प्रजातन्त्र राज्यों में एक सर्व-भौम-सत्ता--युक्त पार्लियामेंट का वास्तव में स्थिति भी यही थी कि सब राज्य कार्य, राज्य की नीति का निर्माण युद्ध और शाँति एवं राजकीय अन्य सब महत्व-पूर्ण बातों का संचालन सीनेट ही करती थी जहां राजनैतिज्ञों, वड़े बड़े प्रभावशाली वक्ताओं के बहस के बाद ही प्रश्नों का निर्णय होता था। इस विधान में इतना लचीलापन अवश्य था कि विशेष संकट की स्थिति में सीनेट, (Councils) कोंसल्स इत्यादि को स्थागित करके सब राज्य-भार और कार्यसंचालन किसी योग्य डिक्टेटर की नियुक्ति करके, उसके हाथों में सौंप दिया जाये।

इस प्रकार हम देखते हैं कि मानव इतिहास में यह सर्व प्रथम प्रयास था जब एक विशाल भूभाग में विशाल मानव समाज की व्यवस्था गण-राज्य प्रणाली और सिद्धान्तों पर संगठित हुई हो । जिस युग में, अर्थात् ई० पू० काल में तो इसे एक विश्व-राज्य तक मान लिया गया था। कई शताब्दियों से रिपबलिक की स्थिति बने रहने से गण-राज्य-सिद्धान्तों एवं नियमों की एक सुदृढ़ परम्परासी बन गई थी। किन्तु इससे यह धारणा नहीं बना लेनी चाहिए की रोमन रिपबलिक की हम आधुनिक सुविकसित और सुसंगठित जनतन्त्र प्रणाली से तुलना कर सकते हैं।

वैसे तो (Councils) कोंसलस के निर्वाचन में, एवं अधिकारियों के निर्वाचन में मतदान का अधिकार समस्त रोमन नागरिकों को था—जो समस्त इटली में फैले हुए थे, किन्तु मतदान का कार्य केवल रोम में होता था । मतदान के लिये लोग या तो फोरम (सभा-भवन) में एकत्रित हो जाते थे, या बेड़ों (Enclosures) में, या सैनिकों की ड्रिल के लिए जो लम्बे चौड़े मैदान बने हुए थे वहां। मतदान की निश्चित तारीख के १७ दिन पूर्व संदेश वाहक देश के भिन्न भिन्न कोनों में एलान कर आते थे—किन्तु सबके लिये यह संभव नहीं था कि वे मतदान के लिये या किसी भी राजकीय प्रश्न पर अपनी राय

प्रकट करने के लिए रोम में आ पहुंचे । इस अड़चन को दूर करने के लिये आधुनिक काल में प्रतिनिधित्व (Delgate) प्रणाली का विकास हुआ, किन्तु उस युग में वे इस तरकीब की कल्पना नहीं कर सके । केन्द्रीय रोमन राज्य के आधीन दूरस्थ प्रान्तों के लोगों के मतदान या राजकीय प्रश्नों पर अनुमति का तो कोई प्रश्न ही नहीं उठता ।

जितने भी राजकीय प्रश्न होते थे, उनके विषय में लोगों की जानकारी प्रायः नहीं के बराबर होती थी, क्योंकि उस युग में न तो शिक्षा का प्रसार था, न समाचार प्रसार के लिये कोई साधन । यद्यपि चीन में छपाई का आविष्कार हो चुका था-किन्तु ये लोग अभी इससे अनभिज्ञ थे ।

प्रतिनिधीत्व, प्रणाली, शिक्षा और समाचार प्रसार के अभाव में गण राज्य का वह स्वरुप नहीं बन सकता था-जो आज बन चुका है ।

सामाजिक जीवनः रोमन समाज में दो वर्ग के लोग थे, पहिला उच्च वर्ग । उच्च वर्ग के लोग पेट्रीसियन कहलाते थे । परम्परा से प्रतिष्ठित परिवार, धनिक लोग, बड़े बड़े भूमिपति आदि इस वर्ग में माने जाते थे । दूसरा साधारण वर्ग के लोग जो प्लेबियन कहलाते थे-जो गरीब होते थे, और मुख्यतय, खेती और मजदूरी करते थे । ज्यों ज्यों रोम के राज्य की

सीमायें बढ़ती गई और रोमन लोग अन्य जातियों पर विजय प्राप्त करने लगे, रोमन राज्य में एक तीसरा वर्ग भी उत्पन्न हो गया। यह वर्ग गुलामों का था; गुलाम वही विजित लोग होते थे जिनको दूसरी जातियों के साथ युद्ध के अवसरों पर पकड़ लिया जाता था। वे गुलाम बड़े बड़े जमींदार और धनिकों के हाथ में आते थे जो रोमन सीनेट के सदस्य होते थे। ये धनी और जमींदार लोग गुलाम लोगों से अपने खेतों पर खेती करवाते थे, घर की सब चाकरी करवाते थे और तमाम मजदूरी का काम करवाते थे। इनके साथ मन चाहा निर्दयता का व्यवहार किया जाता था, इनको मारा पीटा जाता था और व्यापारिक वस्तु की तरह वे बेचे भी जा सकते थे। इन्हीं गुलाम लोगों की मजदूरी से बड़े बड़े विशाल भवन और मन्दिर खड़े होते थे।

रोमन समाज में विवाह और स्त्रियों के अधिकार:- समाज में विवाह का निम्न ढङ्ग प्रचलित था। यदि पुरुष और स्त्री में विवाह के खयाल से मौन संबन्ध स्थापित होजाता था तो स्त्री पुरुष के घर चली जाती थी, और वे दोनों पति पत्नी की तरह मान्य होते थे। इस विवाह में किसी भी प्रकार की रस्म अदा करने की आवश्यकता नहीं थी। यदि लड़की का पिता चाहता तो अपनी लड़की को कुछ दहेज दे सकता था, वह दहेज पति का धन समझा जाता था। इसको छोड़कर पति और पत्नी का धन

स्वतन्त्र होता था, यहां तक कि पत्नी अपने पति को अपने धन का दान भी नहीं कर सकती थी। सम्बन्ध विच्छेद (तलाक) स्वतन्त्र था। पति या पत्नी में से कोई भी जब चाहे एक दूसरे का परित्याग कर सकते थे।

रोमन कानून (Roman Law)—रोमन संसद (Comitia Assembly) द्वारा समय समय पर इस उद्देश्य से नियम बनाये गये थे कि खेती के लिये प्लेबियन (साधारण वर्ग) लोगों को सामूहिक भूमि मिले, अमुक वर्ग-भूमि से अधिक भूमि कोई नागरिक न रख सके, भूमिगत कर्ज माफ कर दिये जायें इत्यादि; किन्तु जो कुछ भी नियम बनते थे वे लिखे नहीं जाते थे, अतएव पेट्रिसियन लोग (उच्च वर्ग के लोग) जो अधिकतर सीनेट के सदस्य होते थे मनचांहे ढङ्ग से जिसमें उनका स्वार्थ साधन हो उपयोग कर लेते थे अतएव एक यह आन्दोलन चला कि रोम के जितने भी कानून हैं वे लिख लिये जाएं। अन्त में ४५० ई. पू. में प्राचीन अलिखित कानूनों के आधार पर कुछ कानून बनाये गये जो १२ विभागों में विभक्त थे। ये कानून १२ पट्टियां (Twelve Tabels) कहलाते थे। बहुत अंशो तक ये ही १२ पट्टियां (Twelve Tables) रोमन कानून (Roman Law) के आधार माने जाते हैं। ये बारह पट्टियां (Twelve Tables=कानून) अपने आदि रूप में नहीं मिलते

हैं किन्तु ऐसे उल्लेख अवश्य मिलते हैं जिनसे यह पता लगता है कि प्रसिद्ध सीनेटर सिसरो (ई. पू. प्रथम शताब्दी) के जमाने में प्रत्येक युवक को इन बारह कानूनों इन १२ कानून की पट्टियों को कंठस्थ करना पड़ता था। आज इन कानूनों का जो रूप संग्रहित है वह भिन्न भिन्न पुस्तकों में उल्लेखित संकेतो और उद्धारणों से प्राप्त किया गया है। ये कानून परिवार में पिता पुत्र के सम्बन्ध, परिवार में धन का वितरण, नागरिकता, विवाह और तलाक इत्यादि बातों से सम्बन्धित है। इन १२ पट्टियों के बाद भी रोमन कानून का विकास होता रहा। भिन्न भिन्न काल में मजिस्ट्रेटों के जो आदेश (Edicts) होते थे, सम्राटों के जो आदेश (Edicts) होते थे एवं लोगों की संसद (Comitia) द्वारा जो कानून पास होते थे, वे सब संग्रहित होते जाते थे। अंत में ईसा की छठी शताब्दी में रोमन सम्राट जस्टिनियन नें उस काल से पूर्व के सब रोमन कानूनों का संग्रह कराया, उनका विधिवत् विभाजन (Classification) करवाया और उनका एक सारांश (Digest) तैयार करवाया जो "जस्टिनियन कानून" (Justinian Law) कहलाता है। इङ्गलैंड, अमेरिका को छोड़कर आज यूरोप के देशों में जितने भी कानून प्रचलित हैं उनका आधार उपरोक्त "जस्टिनियन कानून" ही हैं। कई अंशों में तो इङ्गलैंड के कानूनों पर भी रोमन कानूनों का प्रभाव है। प्राचीन रोमन सभ्यता की दुनिया को सबसे बड़ी

देन उपरोक्त विधिवत् विभाजित और संगठित कानून ही हैं दूसरे किसी प्राचीन देश में कानूनों का इतना सुसंगठित और सुविकसित रुप नहीं मिलता-और न न्यायाधीशों और न्यायालयों की इतनी सुन्दर व्यवस्था मिलती।

धन्धे-विशाल जन समुदाय का मुख्य काम तो कृषि ही था। जिस तरह से आज इटली अन्गूर, अन्जीर, नारंगी, जैतून इत्यादि फलों का देश है ऐसा रोमन राज्य काल के प्रारम्भ में नहीं था; किन्तु धीरे धीरे इन चीजों की भी पैदावार होने लगी थी। कृषि के साथ साथ पशुपालन जैसे गाय, बैल, घोडा भेड,-बकरी इत्यादि का काम भी होता था। भेडों की ऊन से कपड़े बुने जाते थे। लोहा, टिन, चांदी-सोना इत्यादि की जहां खानें होती थीं उनकी खुदाई की जाती थी। लोहा विशेषतर स्पेन, दक्षिण फ्रान्स, इङ्गलेंड, बाल्कन प्रायद्वीप का वह भाग जो आज रुमानिया कहलाता है, और उत्तर अफ्रीका में पाया जाता था; सोना मुख्यतया स्पेन में; संगमरमर इटली, एशिया-माइनर और अफ्रीका में। शिल्प और हस्त उद्योग में कुशल लोग संगमरमर के सुन्दर भवन और मूर्तियां बनाते थे, लोहे के हथियार, और चांदी और सोने के आभूषण और मुद्रायें। व्यापार और युद्ध के लिये बड़े बड़े जहाज भी बनाये जाते थे जो पतवार और पाल से चलते थे। व्यापार बहुत उन्नत स्थिति

में था। पूर्वीय देशों से (भारत और चीन) जवाहारात, रेशम, मिर्च और मसाले जहाजों में भरकर अरब देश तक आते थे; वहां से वे ऊँटों के काफिलों पर लद कर मिश्र और सीरीया देश तक पहुंचते थे, और वहां से फिर जहाजों में लद कर वे रोम पहुंचते थे। पच्छिमी दुनियां में व्यापार शूरु शूरु में केवल वस्तुओं की अदला बदली (Barter) से होता था, किन्तु बाद में सिक्कों का प्रचलन हो चुका था, जिससे व्यापार बहुत सरलता से होने लगा था, यद्यपि समाज में कुछ बुराइयां आगई थीं।

व्यापरिक मार्ग—मिश्र में अलकजेन्डरिया, काला सागर पर वीजेंन्टाइन, अफ्रीका में कार्थेज, स्पेन में नोवाकार्थेगो, इटली में जेनोआ और ओसटिंया ये सब बन्दरगाह थे और परस्पर जहाजों द्वारा जुड़े हुए थे। रोमन लोगों ने, ज्यों ज्यों उनका राज्य विस्तार हुआ, बड़ी बड़ी सड़के इस प्रकार बनवाई कि उनके राज्य का कोई भी ऐसा प्रान्त नहीं था जिनका सड़कों द्वारा रोम से सम्बन्ध न हो।

रोमन लोगों का धर्म और जीवन—ग्रीक लोगोंकी तरह रोमन लोग भी देव-वादी और मूर्ति पूजक थे। इटली में बसने के पूर्व प्राचीन काल से अनेक जातिगत देवताओं की पूजा का

इनमें प्रचलन था। इटली में बसने के बाद और ग्रीक लोगों के सम्पर्क में आने के बाद ग्रीक लोगों के अनेक देवता भी इन लोगों के देवताओं से मिल जुल गये थे, और ऐसा प्रतीत होने लगा था कि इनके देवता और देवियों में और ग्रीक लोगों के देवता और देवियों में कोई अन्तर नहीं है। इनके मुख्य देवता जूपीटर (Jupiter) थे जिसका ग्रीक नाम ज्यूस (Zeus) था। इसके अतिरिक्त मार्स (Mars) युद्ध का देवता था, अपोलो (Apollo) संगीत और कला का देवता था, वल्कन (Vulcan) अग्नि का देवता था, वीनस (Venus) सौन्दर्य की देवी थी, माइनरवा (Minerva) ज्ञान की देवी थी, मर्करी (Mercury) देवताओं का संदेश-वाहक एक चालाक नटखट देवता था।

इन देवताओं की सुन्दर सुन्दर मूर्तियों का निर्माण हुआ था, जो मन्दिरों में स्थापित थीं। मन्दिरों के लिये भी कलापूर्ण और विशाल भवन निर्माण किये गये थे। किन्तु इन देवी-देवताओं के प्रति प्राचीन मिश्र और सुमेर की तरह रोमन लोगों के मानस में कोई भय अथवा रहस्य की भावना नहीं थी, और न ये लोग किसी शासक में देवत्व की भावना का आरोप करते थे, जैसा प्राचीन मिश्र में होता था। हां रोमन साम्राज्य काल में-जब रिपबलिक के बाद सम्राटों का शासन प्रारम्भ हो गया

था–तो प्राचीन मिश्र की तरह, रोमन सम्राटों की भी मूर्तियां बनने लग गई थीं; वे मन्दिरों में स्थापित होती थीं, और देवताओं की तरह उनकी पूजा होती थी। प्रत्येक रोमन के लिये यह आवश्यक हो गया था कि मन्दिर में सम्राट की मूर्त्ति के सामने वह सादर नमन करे।

किन्तु इस सब के पीछे कोरी "ठाठ बाठ"-और सम्राटों में आत्मा-पूजा करवाने की भावना थी–न कि सचमुच किसी धार्मिक विश्वास से प्रेरित होकर लोग सम्राटों की मूर्तियों के सामने नमन करते थे। वास्तव में सच बात तो यह है कि रोमन लोगों के जीवन का केन्द्र–उनके व्यक्तिगत या सामाजिक जीवन का केन्द्र धर्म और देवी-देवता नहीं थे–देवी-देवताओं की मान्यता उनके मन्दिर और पूजा तो ठीक है–एक रूढ़िगत तरीके से चलते रहते थे,-जब कि उनके जीवन का असली केन्द्र तो थी राजनीति–उनका जनतन्त्र, जनतन्त्र के प्रति उनकी कर्तव्य भावना,–जनतन्त्र के कानून, और सामाजिक जीवन में अनुशासन और संगठन। इसमें सन्देह नहीं कि शताब्दियों के गुजरते गुजरते ज्यों ज्यों समाज के लोगों में घोर आर्थिक विषमता पैदा होने लगी थी-और ज्यों ज्यों पेट्रिसियन वर्ग के धनिक और अधिकारी लोगों के जीवन में केवल यही उद्देश्य शेष रह गया था कि कैसे उनके धन और पद में वृद्धि होती रहे और

सुरक्षित उनकी स्थिति बनी रहे—त्यों त्यों राज्य में अनुशासन और कर्त्तव्य भावना लुप्त होती गई थी—तब भी यदि रोमन लोगों को उनकी सम्मुनत दशा में देखा जाय तो उनकी विशेषता राज्य के प्रति कर्त्तव्य भावना, राज्य (State) संगठन और अनुशासन में ही मिलेगी।

मनोरंजनः—रोमन लोगों के मनोरञ्जन का मुख्य साधन ग्लेडियेटर खेल (Gladiator Shows) था। ग्लेडियेटर (Gladiator) वे गुलाम लोग होते थे जिनको विशेष कर ऐसे तमाशों के लिये सिखाकर तैयार किया जाता था। इनका शरीर खूब मजबूत बनाया जाता था और कई हथियारों से खेलना इनको सिखाया जाता था। इन तमाशों के लिये और अन्य खेलों के लिये जैसे घुड़दौड़-रथदौड़ इत्यादि, रोमन लोगों ने बड़े बड़े थियेटर और अम्फी-थियेटर बनाये थे जहां पर एक साथ हजारों (४०–५० हजार) दर्शकों के बैठने के लिये पक्की गेलेरी बनी होती थीं। इन अम्फी-थियेटर के बीच में विशाल अखाड़ा बना हुआ होता था जहां ग्लेडियेटर लोग खेल करते थे। दो खिलाड़ियों को हथियार देकर और उनके चेहरों को तरह तरह के अजीब नकाब से सजाकर अखाड़े में लड़ने के लिये छोड़ दिया जाता था। कभी कभी सैंकड़ों खिलाड़ी एक साथ छोड़ दिये जाते थे। उनको

लड़ते रहना पड़ता था जब तक कि दो में से एक मर नहीं जाता। कभी कभी खिलाड़ियों से लड़ने के लिये जंगली जानवरों को लड़ने के लिये छोड़ दिया जाता था जैसे शेर, भेड़िया, रीछ इत्यादि। यदि कोई भी खिलाड़ी अखाड़े में आने के लिये आनाकानी करता था तो उसे हंटरों से पीटकर और गर्म लोहे से दागकर जबरदस्ती अखाड़े में लाया जाता था। ये तमाम खेल बहुत ही असभ्य और क्रूर होते थे, किन्तु रोमन लोग इन्हीं से खुश होते थे। ग्रीक लोगों की तरह, नियमित समय पर ओलम्पिया के खेलों की प्रतियोगता की तरह रोमन लोगों में कोई प्रतियोगता नहीं होती थी।

रोमन कला कौशल साहित्य और दर्शनः—रोमन लोगों की स्थापत्य और मूर्तिकला प्रायः ग्रीक स्थापत्य और मूर्ति कला से भिन्न नहीं हैं। इन लोगों द्वारा निर्मित मन्दिर और देवताओं की मूर्तियाँ सर्वांशतः ग्रीक मन्दिरों और मूर्तियों की नकल है। यहाँ तक कि ग्रीक कला का विशेष ज्ञान हमको इन रोमन मूर्तियों से ही होता है। शारीरिक गठन और सौन्दर्य का भान इन लोगों को उतना ही था जितना ग्रीक लोगों को चाहे यह उनकी नकल से ही हो। ये ही हाल चित्रकला का भी है। इतना अन्तर अवश्य है कि इनकी कला में वास्तविकता का पुट अधिक होता था। रिपब्लिक काल की ज्यूलियस सीजर, अन्टोनी, एवं

अन्य प्रसिद्ध व्यक्तियों की कांसे की मूर्तियां (Bnsts) मिली हैं-जो उन लोगों के वास्तविक स्वरूप प्रतीत होते हैं। रोमन लोगों ने खेल तमाशों के लिये अनेक अम्फी-थियेटर बनवाये थे—ये बहुत विशाल होते थे, हजारों दर्शकों के बैठने के लिये अखाड़े के चारों ओर गैलरी बनी हुई होती थी। रोम में ऐसा ही एक विशाल कोलोसियम था-जिसके अवशेष आज भी मिलते हैं। सम्पूर्ण राज्य के मुख्य मुख्य नगरों में सम्पर्क रहे और सब नगर रोम से जुड़े हुए हों इस उद्देश्य से रिपबलिक काल में बड़ी बड़ी सड़कों का निर्माण किया गया—रोम पच्छिम में स्पेन तक, पूर्व में ग्रीस तक सड़कों से जुड़ा हुआ था। एक विशेष कौशल का काम था, नगरों में ठण्डे जल का प्रबन्ध। विशाल विशाल नालियां इन्होंने बनाई थीं, जिनमें पहाड़ों का ठण्डा जल एकत्रित और प्रवाहित होकर नगरों तक पहुँचता था।

साहित्यिक कृतियां भी रोमन लोगों ने अपनी लेटिन भाषा में जो हमको दी है वे अधिकांशतः ग्रीक साहित्य की नकल मात्र हैं; जैसे लेटिन के महाकवि वर्जिल का महाकाव्य ईनीड (Aenied) ग्रीक महाकवि होमर के इलियड और ओडेसी की शैली की नकल करने का प्रयास है—इसमें ग्रीक प्रतिभा और सौन्दर्य नहीं आ पाया। दूसरे लेटिन कवि होरेस एवं ओविड की कविताएं भी उपलब्ध हैं। गद्य में रोम के प्रसिद्ध

सीनेटर सीसेरो के प्रतिभापूर्ण राजनैतिक लेखों और भाषणों के संग्रह, तथा प्रसिद्ध दार्शनिक सम्राट मारकस ओरेलियस (Marcus-Aurelius) की एक पुस्तक आत्म चिन्तन (Meditations), एवं जूलियस सीज़र (Julius-Caesar) के "गाल विजय" के विवरण उपलब्ध हैं। सिसेरो (Cicero) के लेख और भाषण आज भी हमें रोमन प्रजातन्त्रीय युग का सुन्दर दिग्दर्शन कराते हैं। किन्तु साहित्य में जिस मौलिकता प्रतिभा, और सौन्दर्य के दर्शन हमें प्राचीन ग्रीस में मिलते हैं उसका किंचित् मात्र भी प्राचीन रोमन साहित्य में नहीं मिलता। ये ही हाल दार्शनिक क्षेत्र में भी है। रोम ने सुकरात की तरह कोई महात्मा, प्लेटो की तरह कोई दार्शनिक और अरस्तु की तरह कोई वैज्ञानिक हमें नहीं दिया। शिक्षा के क्षेत्र में भी हम ऐसा पाते हैं कि अनेक शिक्षित ग्रीक लोग जो युद्धों में विजित होने पर गुलाम बना लिये गये थे वे ही उच्च परिवारों में बच्चों की शिक्षा के लिये शिक्षक नियुक्त कर लिये जाते थे। शिक्षित रोमन वर्ग में ग्रीक साहित्य का खूब प्रचलन था। साम्राज्य काल में तो अनेक पब्लिक-पाठशालायें खुल गई थीं जिनमें बराबर शिक्षण कार्य चलता था-उनका शिक्षण-कार्य यही होता था—लेटिन भाषा--लेटिन राज्य के नियमादि, थोड़ा हिसाब-किताब और थोड़ा ग्रीक साहित्य और बस। उच्च शिक्षा तो उच्च परिवारों में केवल व्यक्तिगत तौर से ही होती थी। उस

युग में साधारणतया लोगों को न इतिहास का ज्ञान था, न भूगोल का, न विशेष विज्ञान का। इन क्षेत्रों में ग्रीस और टोलमी राज्यकाल के अलेकजेन्डिरिया नगर में जो महान् उन्नति हुई वही बस थी,–रोमन लोगों ने इसके आगे अधिक उन्नति तो क्या वे यहां तक भी नहीं पहुंचे थे। केवल एक उदाहरण प्रसिद्ध लेटिन लेखक ल्यूकरेसियस (Lucratius १०० से ३४ ई. पू) का मिलता है, जिसने "प्रकृति के विकास" पर एक लम्बी लेटिन कविता लिखी थी–जिसमें प्रकृति के द्रव्य पदार्थ की बनावट एवं मानव जाति के प्रारम्भिक इतिहास का कुछ आभास मिलता है।

वास्तव में रोमन मानस में चेतना का उदात्त विकास रुद्ध था।

पेट्रिसियन (Patrician=उच्च वर्ग) और प्लेबियन (Plebian=निम्न वर्ग) लोगों में विरोधः—इन दो वर्गों में शताब्दियों तक विरोध चलते रहना—यह रोमन सामाजिक जीवन की एक मुख्य घटना है। जितने भी युद्ध होते थे उनमें साधारण सैनिक की तरह प्लेबियन वर्ग के लोग भी अपने खेतों को छोड़ छोड़कर लड़ने जाया करते थे। अपनी रिपब्लिक की रक्षा के लिये, अपने मन्दिरों और देवों की रक्षा के लिये, अपने राज्य की रक्षा के लिये लड़ना वे लोग

अपना नागरिक धर्म समझते थे। वे किराये के (Mercinary) सैनिकों की तरह वेतन पर लड़ने वाले सैनिक नहीं थे नागरिक भावना से प्रेरित होकर अपनी जाति और संस्कृति की रक्षा के लिये लड़ने वाले सैनिक थे। किन्तु जब वे लम्बे समय तक अपने खेतों से दूर रहते थे, तो उनके खेतों की हालत बिगड़ जाती थी और फिर से अपने खेतों पर स्थापित होने के लिये और काम चालू करने के लिये उन्हें कर्जा लेना पड़ता था। कर्जा पेट्रीसियन लोग देते थे, और कर्जा अदा न करने पर उनकी भूमि धनिक पेट्रीसियन लोगों के पास चली जाती थी और वे गरीब से गरीबतर होते जाते थे, जब कि धनी लोग अधिक धनी हो जाते थे। युद्ध में जीता हुआ, एवं लूट का धन और माल, एवं पकड़े हुए गुलाम सब के सब सीनेट के सदस्यों द्वारा अन्त-तो-गत्वा धनिक पेट्रीसियन लोगों के पास पहुँच जाते थे। पेट्रीसियन लोगों की जो कृषि भूमि बढ़ती जाती थी उस पर वे गुलामों से ही खेती करवा लेते थे, इसलिये उस भूमि पर काम करने के लिये उन्हें प्लेबियन लोगों की कोई आवश्यकता नहीं पड़ती थी। इस प्रकार युद्धोत्तर काल में हजारों सैनिक बेकार हो जाते थे। समाज में बेकारी की भी एक समस्या पैदा होने लगी थी। इन सब कारणों से पेट्रीसियन और प्लेबियन लोगों में विरोध बढ़ता जा रहा था।

साधारण लोगों में दो बड़े नेता उत्पन्न हुए—टिबेरियस और ग्रोसग्रासस, जिन्होंने भूमि के प्रश्न पर बहुत विचार किया और यह प्रयत्न किया कि कृषि योग्य बड़े बड़े विशाल भूमि क्षेत्र जो धनिक पेट्रीसियन लोगों ने अपने अधिकार में कर लिये हैं, वे सब भूमि-हीन प्लेबियन वर्ग के किसानों को लौटा दिये जाने चाहिये। उन्होंने यह भी प्रयत्न किया कि बेकारी की वजह से अनेक गरीब लोग जिनके पास खाने को अन्न नहीं बचा था उनमें राज्य की तरफ से निशुल्क अन्न वितरण किया जाये। यद्यपि सीनेट में इन बातों का बहुत विरोध हुआ, तथापि उपरोक्त सुधार लाने में इन नेताओं को काफी सफलता मिली। उपरोक्त दो नेताओं के आन्दोलनों के अतिरिक्त और भी कई आन्दोलन हुए—जिनमें दृष्टि यही रहती थी कि सीनेट की शक्ति जो पेट्रीसियन लोगों के प्रभाव में थी, कम होकर प्लेबियन लोगों को अधिकार मिले और धन और भूमि का उचित वितरण हो। सीनेट के पेट्रीसियन सदस्य अनेक चालाकियां करते रहते थे और उनका अवसर आते ही वे हजारों गरीबों और आन्दोलन-कर्ताओं को जान से मरवा डाला करते थे, यहां तक कि एक वार गुलाम लोग अपने एक ग्रेडियेटर के नेतृत्व में उपद्रव कर बैठे थे-किन्तु क्रूरता से उनको दबा दिया गया था और ऐसा अनुमान है कि ६ हजार गुलामों को एक साथ कतल कर दिया गया था। इस प्रकार हम देखते हैं कि रोम की

दुनियां में ई. पू. की शताब्दियों में कुछ कुछ ऐसी ही समस्यायें और प्रश्न पैदा हो गये थे जैसे आज २०वीं शती में मानव को परेशान कर रहे हैं, जैसे बेकारी धन का कुछ थोड़े से ही हाथों में केन्द्रित होजाना, धनिक भूपति जिनके पास भूमि के विशाल क्षेत्र हों और भूमि हीन किसान इत्यादि।

समाज में एक और नई स्थिति पैदा हो गई थी। वे बड़े बड़े जनरल जो रोम की ओर से दूर दूर देशों में युद्ध करने के लिये जाते थे, उनकी शक्ति का आधार सैनिक ही होते थे। जनरल लोगों ने यह महसूस किया कि यदि युद्ध की समाप्ति के बाद उन सैनिकों को खाने पीने और रहन सहन के लिये कोई स्थायी उचित प्रबन्ध नहीं रहा तो उनकी और राज्य की शक्ति बनी रहना असंभव है। पहिले जैसा ऊपर उल्लेख हो चुका है किसान वर्ग के लोग ही सैनिक होते थे जो युद्ध समाप्त होने के बाद या तो फिर से खेती करने लग जाते थे या बेकार हो जाते थे, किन्तु ज्यों ज्यों रोम राज्य का विस्तार होने लगा था इस प्रकार की सीधी व्यवस्था चलते रहना असंभव था। अतएव स्थायी सेनाओं का निर्माण किया जाना आवश्यक था, जिनको वेतन मिलता रहे, चाहे युद्ध हो चाहे न हो। यह जो नई परिस्थिति पैदा हो गई थी-इसका कुछ उचित समाधान नहीं हो पाया।

रोम के विधान में ऐसी किसी स्थायी सेना की कोई बात

नहीं थी-और न रोम की सीनेट ने इस समस्या का कोई सुगठित, केन्द्रीय सेना का निर्माण कर उचित हल किया। अतएव स्थिति यह बनी कि सैनिक अपने जनरल पर ही आधारित रहें जिनसे केवल उनको यह आशा थी कि उनको इनाम, विजित धन दौलत में हिस्सा, और विजित प्रान्तों में कृषि के लिये भूमि मिलती रहे। रोम की सीनेट ने यह कानून बना रखा था कि इन जनरलों की सेनायें एक निर्धारित सीमा को पार करके इटली में कभी भी दाखिल न हों। ऐसी परिस्थितियों में रोमन राज्य में अनेक महत्वाकांची जनरल उत्पन्न हो रहे थे, जिनमें परस्पर विरोध होता रहता था केवल इसी एक प्रयास के लिये कि रोम में वे सर्व सत्ताधारी बन जायें। ऐसे इतिहास प्रसिद्ध दो व्यक्ति थे-पोम्पेमहान् और जूलियस सीजर। ये दोनों बहुत ही साहसी और वीर जनरल थे। पोम्पे ने इटली के पूर्व के प्रदेशों को यथा एशिया-माइनर को पदाक्रान्त किया था और वहां अपनी धाक जमाई थी। पच्छिम में सीजर ने गाल (फ्रांस) पर विजय प्राप्त की थी, गॉल को रोमन राज्य में मिलाया था, और उसके हमले ग्रेट ब्रिटेन तक हुए थे। इस समय तक पोम्पे पूर्व से इटली में लौट आया था-और रोम की सीनेट को उसका सहारा था। जब सीज़र पच्छिमी प्रदेशों को जीत कर इटली की तरफ आ रहा था, तो सीनेट ने पोम्पे के कहने से सीज़र का विरोध करना चाहा और उसकी शक्ति को समाप्त करना चाहा। पोम्पे और सीज़र

दोनों महत्वाकांक्षी थे और एक दूसरे को सहन नहीं कर सकते थे। सीज़र ने अपनी सेनाओं के सहित इटली में प्रवेश किया (गो कि ऐसा रोम के नियमों के विरुद्ध था)। पोम्पे अपनी शक्ति संगठित करने के लिये ग्रीस की ओर चला गया, सीज़र ने उसका पीछा किया और अंत में थीसली (ग्रीस) में फारसालस नामक स्थान पर ई. पू. ४८ में उसने पोम्पे को एक करारी हार दी,-पोम्पे मिश्र की ओर भागा-सीज़र भी उधर ही गया, पोम्पे मारा गया, और सीज़र अब रोमन दुनियां का एकाधिपत्य नायक बना।

सीज़र पोम्पे का पीछा करता हुआ—मिश्र में अलेक्जेंन्डिरिया तक आ गया था। यहां उसकी भेंट इतिहास प्रसिद्ध सौन्दर्य-मयी रमणी क्लिओपेट्रा (Cleopatra) से हुई और उनका प्रेम हो गया। क्लिओपेट्रा टोलमी राज्य वंश की राजकुमारी थी–याद होगा ये टोलमी वे ही ग्रीक लोग थे जो अलक्षेन्द्र महान् के बाद मिश्र में राज्य कर रहे थे। इसके अतिरिक्त मिश्र में सीज़र देव-राजा (God-King), देवराजा पूजा, इत्यादि रस्मों के सम्पर्क में आया-और वह क्लिओपेट्रा और इन रस्मों का प्रभाव लेकर रोम लौटा। सन् ४६ ई. में रोम के सीनेट ने सीजर (१०२-४४ B. C.) को जीवन भर के लिये डिक्टेटर नियुक्त किया। जूलियस सीजर अद्भुत प्रतिभाशाली व्यक्ति और एक प्रभावशाली वक्ता था। उसका व्यक्तित्व आकर्षक था। महान्

विस्तृत रोमन राज्य में सम्पूर्ण सत्ता-धारी अब वह अकेला व्यक्ति था। यह एक ऐसा अवसर था जिसमें यदि वह चाहता तो बहुत कुछ कर सकता था। वास्तव में उसने कुछ किया भी, स्थानीय राज्य प्रबन्ध में उसने बहुत कुछ सुधार किये, और स्यात् कई और भी योजनायें सुधार के लिये वह बना रहा था; किन्तु मिश्र और (Cleopatra) क्लिओपैट्रा का प्रभाव उसके मष्तिष्क पर अधिक था। रोम की प्रजातन्त्रीय परम्पराओं को छोड कर वह पुराने राजाओं की तरह राज्य-सिंहासनों पर बैठने लग गया था और राज्य शक्ति के चिन्ह् स्वरुप वह राजदन्ड धारण करने लग गया था। उसकी सुन्दर मूर्तियां बनाई गई, उसकी एक मूर्ति की स्थापना एक मन्दिर में भी की गई और उसकी पूजा के लिये पुजारी भी नियुक्त किये गये। उसके मित्रों ने यह भी प्रयत्न किया कि उसको सम्राट बना दिया जाये। ये सब ऐसी बातें थीं जिनको रोम की प्रजातन्त्रवादी भावनाएं सहन नहीं कर सकती थीं। अंत में ई. पू. ४४ में ब्रूटस नाम के एक व्यक्ति ने कुछ और व्यक्तियों को लेकर जूलियस सीजर को फोरस की पैडियों पर वहीं कत्ल कर दिया जहां सीनेट की बैठकें हुआ करती थीं। जूलियस सीजर की मृत्यु के बाद रोमन राज्य के पच्छिम भागों का अधिकारी बना ओक्टेवियन और पूर्वीय भागों का अधिकारी बना एण्टोनी जो जूलियस सीजर का मित्र था। एण्टोनी क्लीयोपेट्रा के प्रेम में पड गया और मिश्र के

राजाओं की तरह देव-राजाओं और व्यक्तिगत पूजा के पचड़ों में। ओक्टेवियन ने अच्छा अवसर देखा सीनेट की अनुमति से उसने एण्टोनी पर चढ़ाई कर दी: ३० ई. पू. में। अक्टीयम की जहाजी लड़ाई में एण्टोनी परास्त हुआ। अंत में अन्टोनियो और क्लिओपैट्रा दोनों ने आत्मघात कर लिया। इस प्रकार अकेला ओक्टेवियन अब एक मुख्य व्यक्ति रोम राज्य में बचा।

ओक्टेवियन बहुत ही व्यवहारिक और कुशल आदमी था जूलियस सीजर और अण्टोनी की तरह देवों की दुनियां में विचरण करने वाला नहीं,–और न "आत्म पूजा" का शौकीन। यद्यपि वस्तुत: इस समय सब अधिकार और शक्तियां उसके हाथों में केन्द्रित थीं तथापि सब कुछ उसनें सीनेट को सौंप दी और सीनेट मजीस्ट्रेट और संसद की परम्परा को, जो अनेक वर्षों से निर्जीव पड़ी थीं, पुनर्जीवित किया। लोगों ने जयघोष किया कि ओक्टेवियन रिपब्लिक का भक्त और स्वतन्त्रता का पुजारी था। किन्तु विशाल रोमन राज्य में उस समय जैसी परिस्थितियां थीं, उनमें शांति और अमन चैन कायम रखनें के लिये यह उचित दिखता था कि ओक्टेवियन कुछ विशेषाधिकार अपने पास रखे। सीनेट ने ये विशेषाधिकार ओक्टेवियन को प्रदान किये-और साथ ही में उसे ओगस्टस (Augustus) की पदवी से विभूषित किया। यह ई. पू. २७ की घटना थी।

ये विशेषाधिकार और पदवी ऐसी थी–जिनसे वास्तव में सत्ता का मूल ओक्टेवियन के हाथ में ही रहा। वास्तव में वह सम्राट बना, और रोम में वास्तविक सम्राट के आधीन रोमन साम्राज्य का युगारंभ हुआ।

इस प्रकार समाप्त हुई संसार में सर्व प्रथम प्रजातन्त्रीय राज्य की परम्परा–जो ५०० वर्ष तक जीवित रही थी,–वह प्रजातन्त्रीय परम्परा जो आधुनिक युग के प्रजातन्त्र राज्यों का प्रारंभिक रूप थी।–इसी में उसका महत्व है।

रोमन साम्राज्य (२७ ई. पू. से ४७० ई० तक)

ई. पू. २७ में रोमन गण–राज्य समाप्त हुआ, और उसकी जगह जन्म हुआ रोमन साम्राज्य का जिसका पहिला सम्राट बना ओक्टेवियन जो इतिहास में ऑगस्टस सीजर (Augustus Caeser) के नाम से प्रसिद्ध हुआ। रिपब्लिक काल में रोमन राज्य काफी विस्तृत था; रोमन सम्राटों नें इसमें और वृद्धि की और कुछ ही वर्षों में उसका विस्तार इतना हो गया था की इसके अन्तर्गत पच्छिमी दुनियां के लगभग सभी ज्ञात देश सम्मिलित थे। पच्छिम में स्पेन, गाल (फ्रॉन्स) से प्रारम्भ होकर पूर्व में समस्त एशिया माइनर और मेसोपोटेमिया तक यह साम्राज्य फैला हुआ था; स्कोटलैंड और आयरलेंड को छोड़कर

समस्त ग्रेट ब्रिटेन भी इसके अन्तर्गत था (८२ ई. सन् में रोमन सम्राट डोमीसन ने इङ्गलैंड पर विजय प्राप्त की) सीरीया, फलस्तीन. मिश्र और समस्त उत्तरी अफ्रीका भी इसमें सम्मिलित थे।

उस युग में इन देशों के लोगों का भौगोलिक ज्ञान इतना ही था कि मानो विश्व में ये ही देश थे। अतएव रोमन साम्राज्य विश्व राज्य माना जाता था और रोम के सम्राट विश्व-सम्राट समझे जाते थे। रोम के प्रथभ सम्राट ओगस्टस सीजर (Augustus-Caesar) के नाम से सीजर शब्द का इतना प्रचलन हुआ कि पच्छिमी दुनिया में प्रत्येक बड़ा सम्राट अपने आप को सीजर ही कहता था। उदाहरण स्वरुप जर्मनी का बड़ा सम्राट केसर=सीजर कहलाता था, रूस का सम्राट जार=सीजर कहलाता था, और ग्रेट ब्रिटेन का सम्राट केसरे हिन्द=हिन्द का सीज़र कहलाता था।

वास्तव में रोमन लोगों के हाथ में यह एक ऐसा अवसर आया था कि यदि उसका उचित रीति से उपयोग किया जाता, ज्ञान विज्ञान की वृद्धि करके शेष दुनियां की जानकारी हासिल की जाती और न्याय व समानता के भावों पर आधारित समाज की व्यवस्था की जाती तो दुनियां में वस्तुतः एक विश्व राज्य बन जाता; कम से कम भविष्य के लिये विश्व राज्य की एक सुन्दर परम्परा तो स्थापित हो जाती। किन्तु लगभग

इन ५०० वर्ष के साम्राज्य काल में जितने भी सम्राट आये-अच्छे बुरे; अधिकतर तो बहुत ही स्वेच्छाचारी और क्रूर, उनमें से किसी ने भी ऐसी विशाल दृष्टि, दूरदर्शिता और बुद्धि का परिचय नहीं दिया। बहुतेरे सम्राटों की दृष्टि तो यहीं तक सीमित थी कि बस वे सम्राट हैं, आनन्द में रहते हैं, मन्दिरों में उनकी मूर्तियां स्थापित हैं और उनकी पूजा होती है, और देश देशों से स्वर्ण, जवाहरात, मोती और धन दौलत आकर उनके राज्य में एकत्रित होती रहती है।

साम्राज्य स्थापित होने के बाद लगभग २०० वर्षों तक तो समस्त साम्राज्य में शान्ति कायम रही; रिपबलिक काल के अन्तिम दिनों में 'जनरल' लोगों में सत्ता के लिये परस्पर जो गृह युद्ध होते रहते थे वे नहीं हुए और व्यापार की वृद्धि हुई। नगरों में अलग अलग एक प्रकार का स्थानीय स्वायत्त, शासन (Municipal Government) था और इसके अधिकारी नागरिकों द्वारा निर्वाचित होते थे। यह सत्य है कि ये अधिकारी धनिक वर्ग में से आते थे किन्तु अपने शहर को सुधारने के लिये और उसे सुन्दर बनाने के लिए उन्हें काफी प्रयत्न करने पड़ते थे। प्रत्येक नगर में एवं प्रत्येक समाज में अपने ही मन्दिर, अपने ही थियेटर और अम्फी-थियेटर, पबलिक स्नान गृह, और फोरम (Markd Place) होता था और हर एक नागरिक अपनी इन संस्थाओं में गौरव की अनुभूति करता था।

कई रोमन सम्राटों ने अनेक बड़ी बड़ी सड़कों का निर्माण किया, पुरानी सड़कों को सुधरवाया, नदियों पर पुल बनवाये, और इससे भी अधिक आश्चर्यकारी काम यह किया कि नगरों में ठण्डे जल के प्रबन्ध के लिये कई ऐसी विशाल पानी की नालियों का प्रबन्ध किया जिनमें पहाड़ों में से जल एकत्रित होकर नगरों तक पहुंचता था।

किन्तु समाज में पीड़ित किसानों और गरीब लोगों की संख्या अत्याधिक थी और धनिक भूपति और व्यापारी ग़रीबों को चूसते रहते थे। विजित गुलाम लोगों का डेलफस (द्वीप) नगर में बराबर एक बाजार लगता था जहां गुलामों की बिक्री और ख़रीददारी होती थी। इस तरह से साम्राज्य चाहे ऊपर से फला फूला मालूम होता था किन्तु अन्दर से वास्तव में खोखला था। साम्राज्य के नागरिकों में यह भावना नहीं रह पाई थी कि वे अपने राज्य (State) के वास्ते लड़ें।

इसी बीच में एक दूसरी आफत साम्राज्य पर आई जिसने रोमन साम्राज्य को समाप्त करके ही चैन लिया। यह आफत थी उत्तर से, उत्तर पूर्व से बढ़ कर आते हुए नोर्डिक उपजाति के गोथ, फ्रेन्क, वेन्डल लोगों के निरन्तर हमले। ये वे ही लोग थे जिनके आदि घर मध्य एशिया में और उत्तर में स्कैंन्डीनेविया में थे। इन लोगों के अतिरिक्त ठेठ पूर्व में मंगोल से बढ़ कर

आते हुए जंगली हूण लोगों के भी हमले बराबर होने लगे। उस समय मारकस ओरेलियस (१६१-१८० ई.) रोमन सम्राट था। यह सम्राट बहुत बुद्धिमान, अध्ययनशील और दार्शनिक था। इसके अपने राज्य काल में सुदूर चीन से राजदूत भी आये थे। इसने तो किसी प्रकार शक्ति संग्रह करके गोथ और हूण लोगों के हमलों को रोके रखा। किंतु उनके हमले बराबर होते रहे। फिर अनेक छोटे मोटे सम्राटों के बाद एक सम्राट डायोक्लेसियन हुआ जिसने सेना का पूर्ण संगठन किया और इस उद्देश्य से कि इतने विशाल साम्राज्य का प्रबन्ध उचित रीति से होता रहे उसने अपने साम्राज्य को दो भागों में विभक्त किया; पूर्वी और पश्चिमी और यह व्यवस्था की कि उनका प्रबन्ध दो साथी सम्राट करें। डायोक्लेशियन के ही राज्यकाल में एक दूसरी महत्वपूर्ण घटना हो रही थी। इजराइल में ईसाई धर्म की स्थापना हो चुकी थी और अनेकों ईसाई धर्म-प्रचारकों द्वारा धीरे धीरे एशिया माइनर ग्रीस, स्पेन, इटली इत्यादि प्रान्तों के साधारण लोगों में ईसाई धर्म का प्रचार हो रहा था। इन देशों के पीड़ित लोगों के लिये यह धर्म एक नया आश्वासन था, और जो कोई भी ईसाई बन जाता था उसको यह अनुभव होता था कि मानों वह भ्रातृत्व के एक महान् संगठन का सदस्य बन गया है। रोम के प्राचीन काल में एक भावना जो सब रोमन नागरिकों को एक सूत्र में बांधती थी, वह थी उनकी राज्य

के प्रति अनुशासन और कर्तव्य की भावना; किन्तु भावना का यह सूत्र टूट चुका था। अब एक दूसरी शक्ति आई जो साधारण जन को राज्य के प्रति नहीं किन्तु एक दूसरे के प्रति भ्रातृत्व के बन्धन में बांधती थी। सम्राट डायोक्लेशियन ने इसको देखा, वह इसको सहन नहीं कर सका और इससे भी अधिक वह सहन नहीं कर सका कि रोमन साम्राज्य में कोई भी व्यक्ति सम्राट की मूर्ति के आगे और प्राचीन देवताओं के आगे नमन न करे। ईसाई किसी भी प्रकार की मूर्ति-पूजा के कट्टर विरोधी हैं अतएव सम्राट ने उन लोगों का जो अब तक ईसाई बन चुके थे बड़ी क्रूरता से दमन प्रारम्भ किया, किन्तु ईसाई धर्म का प्रभाव धीरे धीरे इतने लोगों में फैल चुका था कि उनका मूलतः दमन नहीं हो सका। डायोक्लेसियन के बाद कोन्सटेनटाइन महान रोमन सम्राट बना। उसने देखा कि यदि वह ईसाई धर्म को ही राज्य धर्म बना दे तो एक बना बनाया सुसंगठित समाज उसे मिल जायेगा और उससे साम्राज्य की एकता मजबूत होगी। इसलिये ३१३ ई. में उसने एक आज्ञा पत्र द्वारा ईसाई धर्म को कानून सम्मत घोषित कर दिया और स्वयं भी कुछ वर्षों में जाकर ईसाई बन गया। इस प्रकार ई. पू. चौथी शताब्दी के प्रारम्भ में ईसाई धर्म एक महान् साम्राज्य का राज्य-धर्म बन गया।

डायोक्लेशियन ने रोमन साम्राज्य को पूर्वी और पश्चिमी

दो भागों में विभक्त किया था किन्तु सम्राट कोन्सटेनटाइन को यह विचार नहीं जचा कि एक ही साथ दो सम्राट रहें। अतएव उसने इस विचार को तो छोड़ा लेकिन रोम छोड़कर साम्राज्य के पूर्वी भाग में रहना उसने अधिक उचित समझा। अतएव अपने रहने के लिये उसने कालासागर के तट पर प्राचीन बिजेन्टाइन नगर के समीप प्रसिद्ध कोन्सेटेंटिनोपल नगर का निर्माण किया, और यही नगर उसने अपनी राजधानी बनाई। कोन्सटेनटिनोपल नगर की स्थिति प्रत्येक दृष्टि से बहुत ही महत्वपूर्ण है। एक तो यह एशिया और यूरोप का संगम स्थान है और दूसरा यह भू-मध्यसागर और कालासागर का नियन्त्रण करता है। सम्राट कोन्सटेनटाइन के काल तक तो गोथ और वेन्डल लोगों के अनेक आक्रमण होते हुए भी रोमन साम्राज्य यों का यों बना रहा। किन्तु इस सम्राट के बाद फिर से रोमन साम्राज्य का पश्चिमी और पूर्वी भागों में विभाजन हुआ। गोथ लोगों के आक्रमणों का जोर बढ़ता हुआ जा रहा था और साम्राज्य के जन साधारण की स्थिति बुरी थी (वे बड़े बड़े भूपतियों से दबे हुए थे, विशाल कर्ज का भार उन पर था, खेती के लिये स्वतन्त्र पर्याप्त भूमि उनके पास नहीं थी); अतएव किसी भी प्रकार के परिवर्तन का स्वागत करने के लिये वे तैयार बैठे थे। इन कारणों से एवं गोथ लोगों के निरन्तर आक्रमणों से सामाजिक संगठन छिन्न हो चुका था—अन्त में

सन् ४७० ई. के लगभग पच्छिमी रोमन साम्राज्य का अपनी गलित अवस्था में बिल्कुल पतन हो गया और रोम पर गोथिक जाति के एक सरदार का अधिकार हो गया। इस प्रकार मानव इतिहास में प्राचीन रोम, रोमन सभ्यता और रोमन कहानी का अन्त हुआ।

रोमन लोग (यहां पर "रोमन लोग" का अर्थ हमारा उस वर्ग से है जिसके हाथ में सत्ता और शक्ति थी—साधारण वर्ग की तो हस्ती ही क्या थी) अपने धन, आराम और सत्ता से प्राप्त आत्म-तुष्टि (Self Complacency) में रहते रहे, ज्ञान के विकास और प्रसार के लिये, जन साधारण के जीवन से सम्बन्ध बनाये रखने के लिये, उन्होंने कुछ नहीं किया; और उनका यदि कोई सचेतन प्रयत्न हुआ भी तो वह यही कि साधारण वर्ग के हाथों से उनकी सत्ता, और उनका धन सुरक्षित रहे। उन्होंने यह जानने का प्रयत्न कभी नहीं किया कि उनकी रोमन दुनियां से भी बाहर कोई दुनिया हो सकती है-वह दुनिया कैसी है और उसके लोग कैसे हैं— अर्थात् दुनिया और प्रकृति विषयक अपने ज्ञान में वृद्धि करने का, उस ज्ञान को संगठित करने का, उससे लाभ उठाने का, उन्होंने कभी भी प्रयत्न नहीं किया—और न वे साधारण जन को जिनकी संख्या उनसे कई गुणा अधिक थी यह आभास करवा सके कि वे

साधारण और विशिष्ट जन सब एक हैं, और एक संस्कृति और जीवन के सूत्र में बन्धे हुए हैं। ऐसा आभास करवाने के लिये समानता और सहृदयता का विकास आवश्यक था। गरीबों की ताड़ना करते रहने से एकता की भावना पैदा नहीं की जा सकती थी। रोमन लोगों ने ज्ञान विज्ञान की अवहेलना की, जन का तिरस्कार किया, वर्तमान में धन सत्ता की तुष्टि में लगे रहे—विशाल दूर-दृष्टि को नहीं अपनाया; मानों जाति की आत्मा, जाति की भावतरङ्ग सूख चुकी थी—अतएव विनाश की गति में वे लुप्त होगये।

नि:सन्देह पूर्वी रोमन साम्राज्य की स्थिति किसी तरह से बनी रही। इसका मुख्य श्रेय साम्राज्य की राजधानी कोन्सटेनटिनोपल को है। गोथ लोगों के पूर्वीय साम्राज्य के प्रदेशों में भी हमले हुए और वे ग्रीस तक बढ़े किन्तु राजधानी कोन्सटेंटिनोपल उनसे इतनी दूर पड़ती थी कि वे वहां तक कभी भी नहीं पहुँच पाये। पच्छिम में रोमन साम्राज्य के पतन के बाद यद्यपि उस साम्राज्य का पूर्वीय भाग रोमन साम्राज्य ही कहलाता रहा किन्तु वास्तव में, रोमन भाषा (Latin-Language) और रोमन सभ्यता की जो परम्परा चली थी वह तो रोम के पतन के बाद ही समाप्त हो गई। इस पूर्वीय साम्राज्य में, जिसे बिजेन्टाइन साम्राज्य भी कहते हैं, न तो

रोमन भाषा प्रचलित थी और न रोमन परम्परायें । इस समस्त साम्राज्य की भाषा ग्रीक थी और प्राचीन ग्रीक साहित्य का ही यहां अध्ययन होता रहता था । पूर्व में इस साम्राज्य की परम्परा सन् १४५३ ई. तक चलती रही जब कि तुर्क लोगों के हाथों से इसका पतन हुआ ।

—:※:—

२८

प्राचीन ईरान (फारस) और ईरानी सभ्यता

भूमिका:–जब हम प्राचीन काल की दुनिया का इतिहास पढ़ते हैं, प्राचीन भारत का, प्राचीन मेसोपोटेमिया (सुमेर, बेबीलोन, और असीरिया) का, प्राचीन मिश्र, ग्रीस और प्राचीन रोम का, तब पूर्व में भारत और पच्छिम में मेसोपोटेमिया और ग्रीस के बीच एक देश का बार बार उल्लेख आता है, वह देश है ईरान (फारस) । इस देश का भी जहां आज एक शिया मुसलमान शाह राज्य करता है, जहां आज जमीन के नीचे पेट्रोल तेल निकलता है जिससे हवाई-जहाज और मोटर चलती हैं, एक बहुत प्राचीन इतिहास है ।

ईरान के प्राचीन निवासी:—कौन थे, और क्या उनका धर्म था? ऐसा अनुमान है, और यह अनुमान फ्रेन्च पुरातत्व-वेत्ता डा. जर्शमन (Archaeologist Dr. Gershmann) द्वारा पिछले वर्षों में सूसा (ईरान का प्राचीन नगर) में की गई खुदाइयों से सिद्ध होता हुआ जा रहा है कि ईरान में भी प्राचीन प्रागैतिहासिक काल में वही काष्र्णीय लोग (Brunet People =काले भूरे रङ्ग के) बसे हुए थे जो सुमेर, मिश्र, मोहेनजोदाड़ो, एवं भू-मध्यसागर तटों पर बसे हुए थे और जिन की सभ्यता सौर-पाषाणी सभ्यता थी। किन्तु वे लोग और उनकी सभ्यता (स्यात् कई हजार वर्ष पुरानी सभ्यता) अज्ञात कारणों से लुप्त हो गई—संभव है उपरोक्त अन्वेषणों से जो अभी जारी हैं, इन लोगों के भी इतिहास का काल क्रमानुसार पता लग सके। इन लोगों के पश्चात्, स्यात् इन्हीं लोगों के काल में वे लोग आये जो आर्य थे। ये आर्य कौन थे? कुछ पाश्चात्य विद्वान पुरातत्व-वेत्ताओं और इतिहासकारों का यह मत है कि ईसा के दस, बारह हजार वर्ष पूर्व जब मनुष्य जाति कई उपजातियों (Races) में जैसे आर्य्यन, मंगोलियन, सेमेटिक, नीग्रो इत्यादि में विभक्त हो चुकी थी, विशेषतः उन लोगों का निवास स्थान जिनकी उपजाति नोर्डिक (आर्य) थी, बाल्टिक समुद्र से लेकर डेन्यूब नदी के बीच के प्रदेशों में था। वहीं से इन लोगों का भिन्न-भिन्न समूहगत जातियों में पृथक्करण और

भिन्न २ भूभागों में प्रसार होने लगा। उन लोगों की कुछ शाखाओं ने दक्षिण-पश्चिम की ओर प्रसार किया—ये टयूटोनिक लोग थे, और इनकी भाषा आदि आर्य भाषा का ही रुपान्तर टयूटोनिक (जर्मन डेनिश, इत्यादि) थी; कुछ लोग और पच्छिम की ओर बढ़े—जो केल्टिक लोग थे, कुछ लोग ठेठ दक्षिण ग्रीस और कुछ इटली की ओर गये—ये लोग सभी आदि-आर्यन उपजाति के थे-और एक आदि भाषा से ही उत्पन्न भाषायें बोलते थे। कुछ लोग पूर्व की ओर बढ़ते हुए ईरान पहुंचे और वहीं से धीरे धीरे इन लोगों की एक शाखा भारत में प्रवेश कर गई जो भारतीय आर्य कहलाये। कब ये नोर्डिक आर्य लोग फारस में आये और कब इन लोगों ने भारत में प्रवेश किया, निश्चित पूर्वक नहीं कहा जा सकता। संभव है यह घटना ईसा से तीन हजार से १५०० वर्ष पूर्व तक की हो।

कुछ पाश्चात्य विद्वानों का मत है कि इन नोर्डिक (आर्य) लोगों का आदि निवास-स्थान मध्य एशिया (पामीर का पठार) था, और वहीं से धीरे-धीरे जन संख्या में वृद्धि होने पर भिन्न भिन्न कालों में चारों दिशाओं की ओर इनने प्रस्थान किया। इन लोगों की कुछ जातियां पच्छिम की ओर गई और ग्रीस इटली आदि प्रदेशों में बस गई जहां उन्होंने ग्रीक और रोमन सभ्यता का विकास किया; कुछ लोग दक्षिण स्केन्डीनेविया, डेनमार्क, एवं

पच्छिमी यूरोप में बस गये जिनने अपनी एक आदि आर्य भाषा के ही रूप में से अपनी भिन्न भिन्न जर्मन, अंग्रेजी, इत्यादि भाषाओं का विकास किया। कुछ लोग पूर्वीय यूरोप में बस गये जिन लोगों ने रशियन, पोलिश इत्यादि स्लैव (Slave) भाषाओं का विकास किया। इनकी कुछ शाखायें दक्षिण-पच्छिम की ओर प्रस्थान कर गई और वहां इण्डो-ईरानी भाषा का विकास किया। और कुछ और भी आगे भारत की ओर बढ़ गई और वहाँ उन्होंने संस्कृत भाषा का विकास किया।

कुछ भारतीय विद्वानों का अब ऐसा मत बननें लगा है कि मुख्य आर्यों का आदि-देश भारत ही था। और यहीं से इन आर्यों की कुछ शाखायें उत्तर-पच्छिम की ओर प्रस्थान करके ईरान में जाकर बसीं जहां उन्होंने भिन्न परिस्थितियों में जरथुस्त्र धर्म का विकास किया और जहां उनकी धर्म पुस्तक 'अवेस्ता' का निर्माण हुआ जो जेंद अर्थात् पुरानी ईरानी भाषा में है जो वैदिक संस्कृत से बहुत मिलती है। किस प्रकार ईरानी आर्य अपने आदि देश भारत (सप्त सिन्धव) को छोड़कर ईरान में जाकर बसे इसके पीछे एक रोचक कहानी है, जिसके विषय में कुछ तथ्यों के आधार पर यह अनुमान लगाया जाता है कि वह ऐतिहासिक होगी (सम्पूर्णानन्द)। भारतीय आर्य भाषा में देव और असुर शब्द दोनों देवता के लिये प्रयुक्त होते थे।

देव अर्थात् दीव अर्थात् जो प्रकाशमान हो, जो चमके जैसे सूर्य, अग्नि आदि। असुर वह जो असुवाला है, जिसमें प्राण शक्ति है, परन्तु ऋगवेदिक काल में ही धीरे धीरे देव शब्द तो इन्द्रादि के लिये और असुर शब्द उनके बलवान शत्रुओं, दैत्यों के लिये प्रयुक्त होने लगा था। परन्तु आर्यों की सब शाखाओं में यह परिवर्तन नहीं हुआ। एक शाखा ने असुर शब्द का प्रयोग पुराने अर्थ में अर्थात् देवता के ही अर्थ में जारी रक्खा। परिणाम यह हुआ कि एक एक शाखा असुरोपासक दूसरी देवोपासक हो गई। पहली शाखा के लिये असुर शब्द बुरा, देव शब्द अच्छा; दूसरी के लिये असुर शब्द अच्छा, देव शब्द बुरा हो गया। एक ने दूसरे को असुर-पूजक या देव-पूजक कह कर बुरा ठहराया। धीरे धीरे इन दो शाखाओं में युद्ध ठन गया, यद्यपि ये दोनों शाखायें मूल में एक थीं और शाब्दिक अर्थों के अतिरिक्त दोनों में कोई अन्तर नहीं था। सम्भव है इन दोनों शाखाओं में परस्पर युद्ध ठनने का कारण और बातों में भी मतभेद रहा हो। जो कुछ भी हो इन दोनों में युद्ध हुए, जो कि हिन्दू शास्त्रों और पुराणों में देवासुर संग्राम के नाम से प्रसिद्ध हैं। अन्त में असुरोपासक पराजित हुए। पराजित असुर सेना अर्थात् असुरोपासक आर्यों ने सप्तसिन्धव का परित्याग कर दिया। वे अन्यत्र चले गये। उत्तर पश्चिम की ओर ये लोग गये और धीरे धीरे उस देश में बस गये जो

आज भी ईरान (अर्थात् आर्यों का देश कहलाता है)। अतएव हमने देखा कि इस मतानुसार वे लोग जो प्राचीन काल में ईरान में जाकर बसे, वे भारतीय आर्यों की ही एक शाखा थी। यह मत चाहे काल्पनिकसा प्रतीत होता हो क्योंकि ऐसा भी कुछ अनुमान बताया जाता है कि प्राचीन हिन्दू ग्रन्थों में वर्णित असुर जाति से असीरीयन लोगों का निर्देश होता है जो असीरीया में बसे हुए थे और जिनकी प्राचीन राजधानी असुर थी। किन्तु फिर भी इतना तो प्राचीन आधारों से भासित होता ही है कि ईरानी आर्य भारतीय आर्यों की ही एक शाखा थी, कब इन भारतीय आर्यों ने ईरान की ओर प्रस्थान किया, यह चाहे निश्चित नहीं। अब तक के उपलब्ध ऐतिहासिक तथ्यों से इतना तो स्पष्ट है—ईसा पूर्व १६०० वर्ष काल के मेसोपोटेमिया और सीरीया के पत्र लेखों में आर्यन नामों का उल्लेख आता है, उत्तरी मेसोपोटेमिया के मित्तानी (Mittani) राज्य का राज्य वंश आर्यन था—यह वहां के राजाओं के नाम से सिद्ध होता है—जैसे एक प्राचीन राजा का नाम था—दशरथ्य। प्राचीन मिश्र के अनेक चित्रों में ऐसी सूरत के व्यक्ति चित्रित हैं जो स्पष्टतः आर्य हैं। इससे ऐसा प्रतीत होता है कि ईसा के प्रायः १५०० वर्ष पूर्व ईरान में आकर बसी हुई आर्यजातियों ने पच्छिम की ओर—मेसोपोटेमिया मिश्र की ओर—एक जबरदस्त प्रस्थान किया था। अतः आर्य लोग ईरान में तो ई. पू. १५०० से भी अधिक

पहिले आकर बसे होंगे ।

प्राचीन पारसियों अर्थात् प्राचीन ईरानियों के धर्म-ग्रन्थ का नाम "अवेस्ता" है। इसका ईरानियों में उतना ही महत्व है जितना भारतीय आर्यों में उनके धर्म-ग्रन्थ वेद का। अवेस्ता जेन्द अर्थात् पुरानी (फारसी) भाषा में है जो वैदिक संस्कृत से मिलती जुलती है। ईरानी (जरथुस्त्र) धर्म की मुख्य बातें अवेस्ता में ऐसे उपदेशों के रुप में दिखलाई गई हैं जो समय समय पर असुर-मज्द (महानदेव) ने जरथुस्त्र को दिये अतः जरथुस्त्र को अवेस्ता का ऋषि कहना चाहिये। जरथुस्त्र ने धर्म का प्रवर्तन किया इसलिये कुछ लोग इसे जरथुस्त्री धर्म कहते हैं। इस धर्म के अनुसार जगत का रचयिता और धारयिता असुरमज्द है, जिसका अर्थ असुर महत्व अर्थात् महान् देवता। इसके साथ ही जगत में एक अधर्म भी है जिसका नाम अग्रमैन्यु है। इस प्रकार धर्म-अधर्म, सत्य असत्य, प्रकाश और अन्धकार में निरन्तर युद्ध चलते रहते हैं। अन्त में सत्य के सहारे धर्म की विजय होती है। आर्यों की तरह पारसियों के भी कई देवता होते थे जैसे सूर्य, वरुण और अग्नि। अविकसित बुद्धि वाले मनुष्य इन देवताओं को स्वतन्त्र उपास्य मानकर पूजते हैं। जिनकी बुद्धि संस्कृत है वे इनको एक ईश्वर तत्व के प्रतीक समझते हैं और इन नामों और गुणो में एक ईश्वर की विभूतियों को पहचानते हैं। वेद और अवेस्ता दोनों ने ही इन शब्दों का इसी प्रकार प्रयोग किया है। ईश्वर

(अहुरमज्द) की दिव्य अभिव्यक्ति सूर्य के रूप में होती है। किन्तु सूर्य हर समय उपलब्ध नहीं रहता। अतएव सूर्य के बाद ईश्वर की दूसरी दिव्य अभिव्यक्ति अग्नि के द्वारा ही फारसी लोग ईश्वर की उपासना करते हैं। उनके मन्दिरों में वह अग्नि जिसमें नित्य अग्नि होत्र होता है हजारों वर्षों से चली आ रही है। पारसियों के मन्दिरों में अग्नि के सिवाय और कोई दूसरी प्रतीक या मूर्ति नहीं होती।

जरथुस्त्र जो पारसी धर्म के प्रवर्त्तक माने जाते हैं सचमुच ऐतिहासिक पुरुष हैं या नहीं यह निश्चत रूप से नहीं कहा जा सकता। यदि वे ऐतिहासिक पुरूष थे तो वे कब और कहां पैदा हुए, यह भी ठीक ठीक नहीं कहा जा सकता। उनके जीवन से संबंधित जो कथायें प्रचलित हैं, उनमें एतिहासिक तत्व कितना है यह निश्चय करना कठिन है। अवेस्ता में जो वाक्य उनके कहे हुए बतलाये जाते हैं, वे सचमुच उन्हीं के कहे हुए हैं या नहीं यह भी निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता। परन्तु इतना निश्चित है कि उनकी धर्म पुस्तक अवेस्ता से उनके इतिहास पर उसी प्रकार प्रकाश पड़ता है जिस प्रकार वेद आर्यों के इतिहास पर प्रकाश डालते हैं। वैदिक धर्म में जिन दार्शनिक, मुक्त विचारों का विकास हुआ है और जो अपूर्व आध्यात्मिक अनुभूति वैदिक ऋषि कर पाये थे उसका आभास पारसियों की धर्मपुस्तक में नहीं मिलता; अवेस्ता का जब निर्माण हुआ होगा तब तक स्यात्

इन अनुभूतियों का प्रभाव न रहा हो। अवेस्ता में धर्म का स्थूल रूप ही अधिक मिलता है; परोक्ष रूप से नैतिक शिक्षा, सत्य, इमानदारी इत्यादि पर विशेष जोर है।

ईरानियों का इतिहास:–प्राचीन ईरानी (आर्यन) भारत से आकर ईरान में बसे हों, या मध्य एशिया से, या मध्य यूरोप से–जो कुछ भी हो, किन्तु उनके इतिहास में भारतियों की अपेक्षा, एक विशेष बात है। भारतीय आर्यराजाओं या सम्राटों ने अपने देश से बाहर जाकर दूसरे देशों पर आधिपत्य स्थापित करने का कभी भी प्रयास नहीं किया–ईरान, इराक, यूनान, यूरोप में बढ़कर उनको अपने आधीनस्थ करने की कभी भी नहीं सोची, जिस प्रकार ग्रीक लोगों नें सोचा था जिन्होंने ठेठ यूरोप से भारत तक एक विशाल साम्राज्य का निर्माण किया; जिस प्रकार रोमन लोगो नें सोचा था और एक विशाल साम्राज्य स्थापित किया था। इसके कुछ भी कारण हों, चाहे उनकी कमजोरी, चाहे उनकी सात्विकता। किन्तु जो काम भारतियों ने नहीं किया वह ईरानी आर्यों ने किया; अपने महान् सम्राट दारा के राज्य काल में इनका साम्राज्य भारत में सिंधु नदी के पच्छिम से, समस्त मध्य एशिया, मेसोपोटेमिया, मिश्र, सीरीया एशिया-माइनर एवं ग्रीस के पूर्वीय भागों तक फैला हुआ था।

जब ये ईरान में आकर बसे थे तो ये कई जातियों में बिभक्त थे। उदाहरणस्वरुप मेडी, फारसी, पारथियन, बेक्टीरियन इत्यादि।

इनके इतिहास का, ईरान (फारस) के इतिहास का, हम निम्न काल विभागों में अध्ययन कर सकते हैं।

(i) आर्यों का आगमन और धीरे धीरे साम्राज्य स्थापित करना (ई. पू. ? से ३३० ई. पूर्व तक)

(२) ग्रीक राज्य काल (३३० ई. पू. से ई.पू. प्रथम शताब्दी तक)

(३) पार्थियन और सस्सानिद राज्य वंश-पुनः ईरानी सम्राट (ई. पू. प्रथम शताब्दी से सन् ६३७ ई. तक)

(४) अरबी खलीफाओं का राज्य (सन ६३७ से ११ वीं शती तक)

(५) तुर्क मंगोल प्रभुत्व काल (११ वीं शती से १७३६ ई.)

(६) शिया शाहों का राज्य काल (१७३६ से १९०७)

(७) शिया शाहों का वैधानिक राज्य-आधुनिक काल (१९०७ ·)

ईरानियों का कुछ कुछ सिलसिले वार लिखित इतिहास ई. पू. प्रायः ९ वीं शताब्दी से मिलता है। उस समय मेसोपोटेमिया में असीरीया का सम्राट सार्गन द्वितीय था। उसने पूर्व की ओर अपने साम्राज्य का विस्तार करना प्रारम्भ किया। उस समय पच्छिमी ईरान में मेद जाति के ईरानी बसे हुए थे। असीरिया के प्रसिद्ध सम्राट सारगन (७१५ ई. पू.) ने ईरान में जाकर कई मेदी सरदारों को परास्त किया था और उनसे कर वसूल किया था। सम्राट सारगन के उत्तराधिकारी असुर बनी पाल (६६८ से ६२६ ई. पू.) के काल तक असीरियन सम्राटों का ईरान पर दबदबा रहा किन्तु इसके पश्चात् मेदी,

ईरानी लोग अपने एक राजा साईअत्तर्स (Cyaxares) के अधिनायकत्व में संगठित हुए और उन्होंने असीरीयन साम्राज्य पर आक्रमण किया। ई. पू. ६०८ में निनेवेह नगर को परास्त किया और समस्त ईरान और एशिया माइनर के कुछ भागों में अपना साम्राज्य स्थापित किया। ठीक इसी समय एक अन्य केल्डिया नामक सेमेटिक जाति ने असीरीयन राज्य के को समाप्त कर मेसोपोटेमिया में दूसरा बेबीलोनियन साम्राज्य स्थापित किया। यह वही काल था जब बेबीलोन के सम्राट नेबूस्कंन्दर ने यरुसलम से सब यहूदियों को पकड़वाकर बेबीलोन में बुला लिया था, और वहां उनको बसाया था। साइअत्तर्स (Cyaxares) के बाद साइरस (Cyrus=कुरु) मेदीयन ईरानी साम्राज्य का सम्राट बना। ५३६ ई. पू. में उसने बेबीलोन पर आक्रमण किया, वहां विजय पाकर समस्त बेबीलोन साम्राज्य पर अपना आधिपत्य स्थापित किया। उसने लीडिया के सम्राट क्रूसस (Croesus) पर भी जो उस काल का एक अनुपम धनी और ऐश्वर्यशाली व्यक्ति समझा जाता था, आक्रमण किया और लीडिया को अपने साम्राज्य का एक अंग बनाया। साइरस के पुत्र कम्बिस (Cambyses) ने ५२५ ई. पू. में मिश्र पर विजय प्राप्त की, तदनन्तर प्रसिद्ध सम्राट दारा ५२१ ई. पू. में ईरान के साम्राज्य का अधिपति बना। उसके साम्राज्य के विस्तार की सीमा ई. पू. छठी शताब्दी में इस प्रकार थी:—भारत में सिंधु नदी

के तट तक फिर समस्त मध्य एशिया ईरान, सीरीया, इजराइल, एशिया माइनर, मिश्र और ग्रीस के कुछ पूर्वीय भाग ।
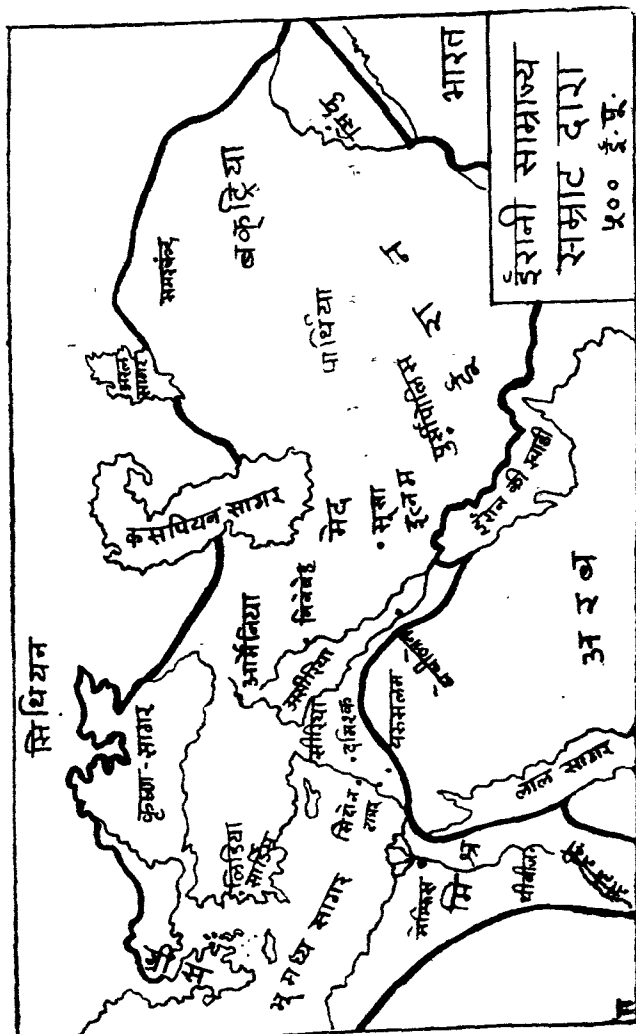
फारस के सम्राटों का राज्य संगठन बहुत ही विकसित और कुशल था। समस्त साम्राज्य कई प्रान्तों में विभक्त था। प्रत्येक प्रान्त का अलग अलग गवर्नर था जो सत्रप कहलाता था। सब प्रान्त और प्रान्तों के नगर एक दूसरे से अनेक सड़कों द्वारा जुड़े हुए थे। इन सड़कों पर सम्राट के घुड़ सवार लगातार दौड़ते रहते थे जिनके बदलने ठहरने और विश्राम करने के लिये नियुक्त स्थानों पर उचित व्यवस्था कायम थी। घुड़ सवार सम्राट के आदेश, या राज्य के दूसरे पत्र और समाचार एक दूसरे स्थान पर जल्दी जल्दी पहुंचाते रहते थे। सम्पूर्ण राज्य में व्यवस्था और शांति स्थापित थी। राज्य का आधार न्याय और उदारता थी। जैसे ऊपर उल्लेख हो चुका है, ईरानियों का आदि धर्म जरथुस्त्र धर्म था। सभी ईरानी सम्राट जरथुस्त्र धर्म के सच्चे पालनकर्ता थे किन्तु साथ ही साथ धार्मिक मामलों में उदार हृदय भी। एशिया माइनर में जो ग्रीक बसे हुए थे उन्हें अपने मन्दिरों में अपने देवों की पूजा करने की स्वतन्त्रता थी; यहूदी लोगों को भी बेबीलोन से मुक्त कर दिया गया था और उनको आदेश मिल चुका था कि वे यरूसलम में जाकर फिर से अपने देव जेहोवा का मन्दिर बना सकते हैं। न्याय के लिये स्थान स्थान पर पंचायतघर स्थापित थे। ईरानियों के मन्दिर ही न्यायालय का काम देते थे। पंच बैठकर न्याय किया करते थे; पंच बनने के लिये शिक्षित, सद्चरित्र

और धार्मिक होना आवश्यक था। चोरी की सजा जुरमाना, कैद, कठिन परिश्रम या जलाकर दाग देना थी। छूत की बीमारी और गन्दगी फैलाने वाला भी सजा पाता था। मनुष्य-हत्या, बलात्कार, राजद्रोह, और रिश्वत लेना या देना, इन सब की सजा मौत थी।

साम्राज्य की सेना का भी अपूर्व संगठन था। सेना का एक प्रधान सेनापति होता था। सम्राट ही साधारणतया इस पद को सुशोभित करता था। प्रधान सेनापति के नीचे फौज कई भागों या डिविजनों में बंटी होती थी। सेना में पैदल और घुड़सवार दोनों होते थे। ईरानियों को रथों से प्रायः नफरत थी। पैदल सिपाही लम्बी चुस्त बाहों का घुटनों तक का लम्बा कुर्ता पहनते थे, चमड़े का चुस्त पजामा, ऊंचे बूट और सिर पर फेल्ट टोपी। उनके हथियार प्रायः ये होते थे:-भाला, खंजर, फरसा, तलवार और तीर कमान। घुड़सवार सिर और बदन पर लोहे का हेमलेट और कवच पहनते थे। ये सम्राट जबरदस्त जहाजी बेड़े भी रखते थे। ऐसा अनुमान है कि सम्राट जेरक्सीज (Xeres) के जहाजी बेड़े में पांच हजार जंगी जहाज थे।

ग्रीस के साथ युद्ध:-समस्त मध्य एवं पश्चिमी एशिया और मिश्र पर साम्राज्य होते हुए भी, दारा की महत्वाकांक्षा और भी आगे बढ़ी। उसने यूरोप और ग्रीस पर विजय प्राप्त करना

चाहा। ग्रीस पर जल और थल दोनों रास्तों से आक्रमण कर दिया। कई युद्ध हुए-जिनका वर्णन ग्रीक इतिहास का अवलोकन करते समय हम कर आये हैं। याद होगा इस समय (ई. पू. पांचवी शताब्दी) ग्रीस में छोटे छोटे नगर राज्य थे-स्वतन्त्र और गणतन्त्रात्मक। ईरानियों के आक्रमण के सामने ये सब एक सूत्र में संगठित हुए। तीन प्रसिद्ध युद्ध हुए—

१. मेराथन--जहां ईरानियों की पराजय हुई। इसी के बाद दारा की मृत्यु हो गई थी, और उस का पुत्र क्षयर्ष सिंहासनारुढ़ हुआ था।
२. ४८० ई. पू में इतिहास प्रसिद्ध थर्मोपली का युद्ध हुआ--वहां ग्रीक लोगों की पराजय हुई।
३. ४७९ ई. पू. में सेलामिस में सामुद्रिक युद्ध हुआ—जहां ईरानियों की पराजय हुई।

ग्रीक भूमि पर जो ईरानी सेनायें बच गई थीं—उनको भी लौट आना पड़ा।

ई. पू. ४६५ में क्षयर्ष की मृत्यु हो गई। उसके उपरान्त ईरान ने ग्रीस पर विजय प्राप्त करने का फिर कभी प्रयत्न नहीं किया।

वास्तव में क्षयर्ष की मृत्यु के बाद--ईरानी साम्राज्य स्वयं योग्य सम्राटों के अभाव में धीरे धीरे शक्ति हीन होता गया।

राज्याधिकार के लिये उत्तराधिकारियों में झगड़े होते रहते थे--राज्य दरबार के चारों ओर सब वातावरण वैमनस्य, धोखेबाजी, व्यक्तिगत स्वार्थ, सत्ता लोलुपता से परिपूर्ण रहता था। फिर भी ई. पू. ३३० तक जब सिकन्दर महान् के आक्रमण हुए—मध्य एशिया में ईरान का साम्राज्य ही सबसे बड़ा था, एवं सर्वाधिक शक्तिशाली माना जाता था।

२. ग्रीक राज्य कालः (३३० ई. पू. से ई. पू. पहली शताब्दी तक) ग्रीस में अलक्षेन्द्र महान् का उदय हो चुका था। विश्व विजय करने को वह निकल चुका था। नव आविष्कृत घुड़सवारी फौज का व्यूह बनाकर युद्ध करने की कला, एक विशेष प्रकार के इंजिनो द्वारा विशालकाय पत्थरों को फेंककर दीवार तोड़ने की कला के साथ, एवं एक बहुत ही सुसंगठित जल, थल सेना लेकर अलक्षेन्द्र निकला। इस समय दारा तृतीय ईरानी साम्राज्य का सम्राट था। एशिया माइनर के बन्दरगाहों को जीतता हुआ, इजराइल के टायर और गाजा बन्दरगाहों को जीतता हुआ ३३१ ई. पू. में वह ईरानी साम्राज्य के अन्तरङ्ग भागों में दाखिल हुआ। सम्राट दारा तृतीय हिम्मत हार चुका था। आगे आगे दारा भागता था और उसका पीछा करता था अलक्षेन्द्र। फारस में अरबला के मैदान में ३३१ ई. पू. में युद्ध हुआ। दारा के सेनापति दार की कायरता से नाराज हो चुके

थे। इतिहासकारों का कहना है कि उन्होंने अपने सम्राट को कत्ल कर दिया था। उसकी मृत्यु के बाद विशाल ईरानी साम्राज्य का पतन हुआ और उसके स्थान पर ग्रीक साम्राज्य की स्थापना।

जब तक अलक्षेन्द्र जीवित रहा (३२३ ई.) तब तक वह इस विशाल साम्राज्य का सम्राट रहा किन्तु उसकी मृत्यु के बाद उसका साम्राज्य कई टुकड़ों में विभक्त हुआ। वह भाग जिसमें ईरान और मेसोपोटेमिया प्रदेश सम्मिलित थे, ग्रीक जनरल सेल्यूकस के अधिकार में आया। प्रायः तीन सौ वर्षों तक ईरान और मेसोपोटेमिया पर ग्रीक राज्य रहा। इन वर्षों में ग्रीक भाषा और ग्रीक सभ्यता का काफी प्रसार हुआ।

पार्थियन और ससादनि राज्यवंश (ई.पू. प्रथम शताब्दी से ६३७ ई. सन तक)। ई. पू. प्रथम शताब्दी में एशिया से मध्यएशियन जातियों के आक्रमण होने लगे। पार्थिया जाति के लोगों ने जो स्वयं आर्यन थे, ईरान के ग्रीक शासकों को परास्त किया और वहां अपना राज्य स्थापित किया। लगभग ढाई सौ वर्षों तक ईरान में पार्थियन लोगों का राज्य रहा। इस काल में पश्चिम में रोमन साम्राज्य स्थापित हो चुका था। इस रोमन साम्राज्य और ईरान के पार्थियन साम्राज्य में एशिया माइनर पर प्रभुत्व कायम करने के लिये युद्ध होते रहते थे। इन्हीं युद्धों में ईरानियों और रोमन लोगों का सम्पर्क बढा।

ईसा की तीसरी शताब्दी के आरम्भ में ईरान के आदि निवासियों ने पार्थियन शासकों के विरोध में विद्रोह किया। विद्रोह सफल हुआ और २२७ ई. में सस्सानिद राज्य वंश की नींव पड़ी। प्राचीन ईरानी आर्यन और जरथुस्त्र धर्म के पालक अर्देशिर (प्रथम) इस राज्य वंश के प्रथम सम्राट हुए। जरथुस्त्र (पारसी धर्म) का इन सम्राटों ने पुनरुत्थान किया और सभी पारसी लोगों में अपने जातीय धर्म के प्रति उत्साह की भावना उत्पन्न की। पार्थियन राज्य काल की तरह अब भी रोमन सम्राटों से युद्ध होते रहते थे। एक बार तो रोमन सम्राट वलेरियन पारसियों द्वारा सन् २६० ई. में कैद भी कर लिया गया था। पारसी राजाओं ने मिश्र पर भी विजय प्राप्त की थी। रोमन साम्राज्यवासियों का उस समय जातीय धर्म ईसाई था। अनेक पारसी धर्मावलम्बी जो रोमन साम्राज्य के प्रदेशों में रह रहे थे उनको ईसाई रोमन सम्राट सताते थे, और जो ईसाई ईरानी साम्राज्य के प्रदेशों में रह रहे थे उनको पारसी लोग सताते थे। अन्त में कस्तुन्तुनिया के रोमन सम्राट और ईरान के राजा में परस्पर यह संधि हो गई थी कि वे दोनों एक दूसरे के धर्म के प्रति सहिष्णुता का भाव रक्खेंगे। सस्सानिद वंश का सबसे प्रसिद्ध पारसी राजा क्रोसस (Chroses) प्रथम था जिसने सन् ५३१ से ५७६ ई. तक राज्य किया। इसके राज्यकाल में रोम के प्रसिद्ध सम्राट

जस्टिनियन के साथ अनेक युद्ध हुए थे किन्तु युद्ध के फलस्वरूप किसी के भी राज्य विस्तार में कोई भी अन्तर नहीं पड़ा था। क्रोसस की सेनायें कई बार बढ़कर रोमन साम्राज्य के एशिया माइनर प्रदेश को पार करती हुई ठेठ बोसफोरस के मुहाने तक पहुँच गई थीं। उसकी सेनाओं ने सीरिया के प्रसिद्ध नगर एंटीओच और दमिश्क पर भी विजय प्राप्त कर ली थी और उसके आगे बढ़ती हुई वे ईसाइयों की पवित्र भूमि यरुसलम तक पहुँच गई थीं, जहां से वे ईसाइयों के धार्मिक प्रतीक उस क्रोस को छीन ले आई थीं जिस पर कहते हैं ईसा को सूली दी गई थी। इसके कुछ ही वर्षों बाद क्रोसस (Chroses) की मृत्यु हो गई (उसी के पुत्र ने उसकी हत्या कर दी थी) और ईरानी और रोमन दोनों साम्राज्यों में जो अनेक युद्धों से थक गये थे संधि हो गई। वह क्रोस जो पारसी लोग ले आये थे रोमन सम्राट हीरेक्लियश (Heraclius) को लौटा दिया गया। ईसाइयों ने बड़ी धूम धाम से यरुसलम में इस क्रोस की स्थापना की। इस समय लगभग छठी शताब्दी के अन्त में पारसियों का राज्य ईरान एवं मेसोपोटेमिया में था और पूर्वीय रोमन साम्राज्य एशिया-माइनर, सीरिया, इजराइल, मिश्र, ग्रीस और डेन्यूब के दक्षिण प्रान्तों में था।

क्रोसस की मृत्यु के बाद ईरान में कोई भी शक्तिशाली पारसी सम्राट नहीं हुआ।

४. अरबी खलीफाओं का राज्यः–(सन् ६३७ से ग्यारवीं शताब्दी के प्रारम्भ तक) जब ईरान में सस्सानिद वंश के प्रसिद्ध सम्राट क्रोसस के बाद पारसी राजाओं की परम्परा चल रही थी, उस समय अरब में एक नई शक्ति का उदय हो रहा था। यह नई शक्ति थी इस्लाम। मोहम्मद के बाद इस्लाम के नये खलीफा आसपास के देशों में इस्लाम की विजय करने के लिये फैले। ईरान की तरफ भी वे आये। सस्सानिद पारसी राजाओं पर सन् ६३५ ई. में "कर्दिया" के युद्ध में विजय प्राप्त की और फिर धीरे धीरे समस्त पारसी साम्राज्य को (मेसोपोटेमिया, ईरान) पदाक्रान्त कर अपने आधीन कर लिया। इन नये मुसलमान शासकों को ईरान के प्राचीन धर्म और संस्कृति से तनिक भी सहानुभूति नहीं थी। तलवार के बल से पारसी संस्कृति और धर्म को उन्होंने मिटाना शुरु किया। उसी काल में लाखों पारसी जो इस बात को सहन नहीं कर पाये ईरान को छोड़ सामुद्रिक रास्ते से भारत चले आये। आज जो पारसी भारत में विशेषतया बम्बई और सूरत प्रदेशों में पाये जाते हैं वे वही प्राचीन ईरानी आर्य हैं—जरथुस्त्र के पुजारी जो इस्लाम द्वारा सताये जाने के कारण सातवीं शताब्दी में भारत में आ गये थे। बम्बई और अन्य स्थानों पर इन लोगों के शान्ति कूप (Towers Of Silence) हैं जहां ये अपने मृतकों को फेंक दिया करते हैं, उन्हें वे जलाते या दफनाते नहीं।

ईरान में अरबी खलीफाओं का कई शताब्दियों तक राज्य रहा, वहां के आदि निवासियों को मुसलमान बनाया, अरबी, विज्ञान, गणित, चिकित्सा शास्त्र का विकास किया किन्तु खलीफा लोग ऐशोआराम में डूब गये और मध्यएशिया की तरफ से बढ़ते हुए तुर्क लोगों ने उनके राज्य को खत्म कर डाला।

५. ११ वीं शताब्दी से १७३६ तक तुर्क मंगोल इत्यादि लोगों का प्रभुत्व काल— ११वीं शताब्दी से १८ वीं शताब्दी तक ईरान में समय समय पर कई मध्य एशियाई जातियों का राज्य रहा। ११वीं शताब्दी में तुर्क सुल्तानों का, फिर एक अन्य मध्य एशियाई मुसलमान वंश खीवान वंश के शासकों का फिर १३वीं शताब्दी में मंगोल, चंगेज खां, एवं उसके वंशजों का, तदुपरान्त चंगेज खां के ही एक दूरस्थ वंशज तैमूरलंग का और उसके बाद उसी के वंशज अन्य सुल्तानों का। इस प्रकार १८वीं शताब्दी तक चलता रहा।

६. शिया मुसलमान शाहों का राज्य— (१७३६–१६०७) १७३६ ई. में मध्य एशिया से नादिरशाह फारस पर चढ़ आया, उसने पूर्ववर्ती मंगोल-तुर्क वंश को खत्म किया और अपनी सल्तनत कायम की। नादिरशाह के वंश के शासक शाह कहलाते थे जिनकी परम्परा अब तक चली आती है। इस वंश के शाहों

के जमाने में फारस देश का यूरोपीय लोगों के साथ सम्पर्क बढ़ा और १९वीं शती में सुधार की कई लहरें प्रवाहित हुई।

७. वैधानिक राजतन्त्र (सन् १९०७ से आज तक) सन १९०७ में सुल्तान अहमदशाह फारस का शाह बना और एक आधुनिक किस्म के प्रजातन्त्रीय विधान के अनुसार उसने अपना राज्य आरम्भ किया। आज सन् १९५० में रजाशाह पहलवी फारस का शाह है और सन् १९०७ में स्थापित विधान के अनुसार वहां का राज्य कर रहा है। प्राचीन ईरानी भाषा जेन्दा की ही पुत्री आधुनिक फारसी वहां के लोगों की भाषा है।

यह है ईरान (फारस) की कहानी अति प्राचीन काल से लेकर आज तक।

प्राचीन ईरानी संस्कृतिः— प्राचीन ईरानियों का गुण उनकी सच्चाई थी, अवस्ता में सच्चाई पर खूब जोर दिया गया है। "अहुरमज्द" स्वयं सत्य रूप है। सम्राट दारा अपने एक शिला लेख में लिखता है, झूठ पाप का ही एक दूसरा नाम है। पुराने ईरानी क़र्ज से बहुत बचते थे क्यों कि इनका विश्वास था कि कर्जदार अक्सर झूठ का सहारा लेता है। खरीद फरोख्त करते समय दाम के घटाने बढ़ाने से उनको सख्त नफरत थी। ईरानी सदा साफ साफ बातें करने वाले, प्रेमी और अतिथि देव की पूजा करने वाले थे।

रहन सहनः- धनी लोग रेशमी कपड़े पहनते थे, गले में सोने और मोतियों की माला डालते थे। प्रारंभिक ईरानी गेहूं और जौ की रोटी और भुना हुआ मांस खाते थे। वे दिन में केवल एक बार भोजन करते थे। किन्तु बाद में वे ऐशपरस्त हो गये थे तब भी भोजन एक बार करते थे किन्तु एक बार के ही भोजन में अनेक व्यंजन खा जाते थे और खूब शराब पीते थे समाज में व्यवहार के कड़े नियम थे, छोटे बड़ों को साष्टांग प्रणाम करते थे।

बच्चों की शिक्षाः- पांच साल तक बच्चे मां के पास रहते थे उसके बाद उनकी शिक्षा प्रारम्भ होती थी। सूर्य निकलने के पहिले हर बच्चे को उठाया जाता था। दौड़ना पत्थर फेंकना, तीर चलाना, खुखरी चलाना उन्हें सिखाया जाता था। सात साल की उम्र में उन्हें घोड़े पर चढ़ना और दौड़ते हुए घोड़े पर उछलकर बैठना सिखाया जाता था। बड़े होने पर उन्हें शिकार खेलना सिखाया जाता था। कड़ी से कड़ी ठण्ड और गर्मी सहन करने की बच्चों को आदत डाली जाती थी। तैरने और सर्दी में रात को खुले में सोने का अभ्यास कराया जाता था। खेती करना, जमीन खोदना आदि परिश्रम के काम उनसे लिये जाते थे फिर उन्हें धार्मिक कवितायें और कहानियां याद कराई जातीं थीं। गुरु की पदवी बड़ी आदर और उत्तरदायीत्व

की चीज समझी जाती थी शिक्षा का यह तरीका बिना गरीब अमीर के भेदभाव से पांच साल की उम्र से लेकर बीस साल की उम्र तक सबके लिये एकसा था। विद्यार्थियों के पढ़ने के लिये कोई पृथक पाठशालाओं के भवन नहीं बने हुए थे। पुजारी के घर का बरान्दा या मन्दिर का कोई भाग ही पाठशाला का काम देता था।

ईरानी समाज में स्त्रियां:– जब ईरानी आर्य लोग भारत से या मध्य एशिया से ईरान में आये थे–उस समय उनकी स्त्रियों में पर्दे का रिवाज नहीं था। किन्तु अनेक वर्षों तक सेमेटिक उपजाति के असिरियन लोगों के सम्पर्क में आने से, जिनमें पर्दे की प्रथा का प्रचलन था, ईरानी स्त्रियों में भी इसका प्रचलन होगया। किन्तु इस एक बात को छोड़कर स्त्रियों की सामाजिक दशा और अधिकारों में पुरुषों से कोई विशेष विभिन्नता नहीं थी। स्त्रियां जायदाद रख सकती थीं,–पंचो के सामने गवाही दे सकती थी, पति की ज्यादती के विरुद्ध न्यायालय में दावा दायर कर सकती थी–इत्यादि। धार्मिक संस्कारो में वे पति के साथ बराबर भाग लेती थी। वे मन्दिरों की पुजारिनें भी बन सकती थीं। घर और खेती का सब काम वे करती थीं। पूजा की आग में समिधा अर्थात् लकड़ी डालना पुरुष का ही धर्म समझा जाता था। पुरुष की तरह पवित्र सदरा और

जनेऊ स्त्रियां भी पहनती थीं। सती स्त्रियों का समाज में आद होता था। व्यभिचार समाज का सबसे बड़ा पाप समझा जाता था। गरीब लड़कियों का विवाह करा देना बड़ा पुन्य काम समझा जाता था।

आचार विचारः- स्वच्छता का विशेष ध्यान रखा जाता था। सड़क पर खाना पीना या जहां चाहे थूकना या छींकना या पेशाब करना उनके यहां असभ्यता थी। जिस बर्तन से कोई एक आदमी पानी या कोई चीज पीता था, बिना मांजे कोई दूसरा उसमें नहीं पीता था। वे प्रतिदिन स्नान करते थे। किसी के मरने पर क्रिया-कर्म करने वाला अलग रहता था और दसवें दिन पवित्र होता था,-पवित्र होने के लिये हिन्दुओं की तरह गौ मूत्र का प्रयोग करते थे। नये बच्चे को सबसे पहिले गौ मूत्र चटाया जाता था।

ईरानी कलाः- ईरान की प्राचीन राजधानी पर्सुपोली थी। सिकन्दर महान के आक्रमण वेला में नगर को जलाकर भस्म कर दिया गया था-अतएव उस प्राचीन काल की कला एवं साहित्यप्रायः नष्ट हैं। अब केवल टूटी फूटी दीवारों से प्राचीन भवननिर्माण कला का कुछ अनुमान लगाया जा सकता है। इन लोगों के भवनो में मुख्यतः राजाओं के महल मिलते हैं-या सम्राटों की समाधियां जैसे दारा की समाधि इत्यादि। प्राचीन

ग्रीक लोगों की तरह भवन एवं मूर्ति निर्माण कला के भव्य नमूने फारस में बिल्कुल नहीं मिलते। एक पुरातत्ववेत्ता हुवाई के अनुसार ईरान में उस समय जमाने की सब सभ्यताओं के मेल से एक नई और महान् सभ्यता की रचना होरही थी। वह लिखता है–पर्सुपोली के खंडहरों में हमें एक ऐसी कला के दर्शन होते हैं जिसके बनाने में साम्राज्य के हर देश, असुरिया, मिश्र, एशिया, यूनान इत्यादि, सबने हिस्सा लिया था। उन खंडहरो में हमें जबरदस्त एकता और महानता दिखाई देती है।

अति प्राचीन काल में ईरान की राजधानी सूसा थी। प्रसिद्ध सम्राट दारा की भी यही राजधानी थी। सूसा में भी पर्सुपोली की तरह अति भव्य महलों के खंडहर मिले हैं, जिनको बनाने के लिये, ऐसा अनुमान है, देश विदेश के कुशल कारीगर आये थे, और देश विदेशों से प्रकार प्रकार के पत्थर और वस्तुयें मंगवाई गईं थीं।

२९

यहूदी जाति, यहूदी धर्म, एवं मानव इतिहास में उनका स्थान

भूमिकाः—जिस काल में मिश्र, बेबीलोनिया, मोहेनजो-दारो एवम् क्रीट की सभ्यतायें अपने उच्चतम शिखर पर थीं

और उनके बड़े बड़े राज्य थे उसी काल में सेमेटिक लोगों की छोटी छोटी जातियां मिश्र, मेसोपोटेमिया के मध्यवर्ती प्रदेशों में यथा, सीरिया, जूडिया, इजराइल, फिनीशिया आदि स्थानों में, अपने छोटे छोटे राज्यों की स्थापना कर रही थीं। इन्हीं छोटी छोटी जातियों में यहूदी नाम की एक छोटी जाति थी जिसने कोई बड़ा साम्राज्य स्थापित नहीं किया और न जिसकी किसी उल्लेखपूर्ण सैनिक विजय का डंका संसार में बजा किन्तु फिर भी जिसका मानव इतिहास में और मानव चिन्तन और चेतना की प्रगति में एक महत्त्व-पूर्ण स्थान है।

प्राचीन प्रारम्भिक सभ्यताओं की विशेषताओं का उल्लेख करते समय यह बताया गया था कि उस काल में इन प्रारम्भिक सभ्यताओं के मानवों में बुद्धि और चेतना अभी विशेष संकुचित या जकड़ी हुई थी। उनका धार्मिक विश्वास अभी अनेक स्थूल देवी देवताओं की ही परिधि तक सीमित था। उस विश्वास में भय का दबाव अधिक, प्रेम और स्नेह की स्वतन्त्रता कम। प्राचीन काल में भारत और चीन को छोड़कर यहूदी लोगों के धार्मिक-द्रष्टा, नबी (Prophets) या गुरु ही पहले मानव थे जो उपरोक्त धार्मिक संकुचितता बुद्धि और मन की सीमित परिधि से ऊपर उठे और जिन्होंने सर्व-प्रथम एक परमात्मा, सत्य (Righteousness) के परमात्मा का आभास

पाया और जिनके विचारों से प्रभावित होकर पहले महात्मा ईसा ने और फिर सातवीं शताब्दी में अरब के मोहम्मद साहब ने एकेश्वरवाद का संदेश लोगों को दिया।

ये यहूदी लोग कौन थे ?—इनका इतिहास जानने के दो मुख्य साधन हैं। पहिला, प्राचीन मिश्र के पेपीरसरीड (पेपीरस पेड़ की छाला) पर लिखे लेख, पत्र, इत्यादि; एवं प्राचीन बेबीलोन के पायेराये मिट्टी की पट्टियों पर लिखे हुए ऐतिहासिक घटनाओं सम्बन्धी लेख। दूसरा साधन है स्वयं यहूदियों की प्राचीन धर्म-पुस्तक "बाईबल" (Old Testament) जो यहूदियों के धार्मिक विचार, मूसा के नियम, धार्मिक कवित्वमय गीत, भजन इत्यादि के अतिरिक्त तत्कालीन इतिहास सम्बन्धी एक अपूर्ण संग्रह ग्रन्थ है। इस धर्म पुस्तक में वर्णित ऐतिहासिक घटनाओं में से अनेकों की पुष्टि दूसरे ऐतिहासिक आधारों से भी होती हैं—अतएव जो कुछ भी ऐतिहासिक बातें इस प्राचीन धर्म पुस्तक में मिलतीं हैं उनको हम बिल्कुल तो निराधार नहीं मान सकते।

"यहूदी बाईबल" के अनुसार यहूदियों का इतिहास इस प्रकार है:—

१. प्रारम्भिक काल:—प्राचीन अरब में (ऐतिहासिक काल अनुमानतः २१०० ई. पू.,—बेबीलोन के सम्राट हमीरबू के

समकालीन) अबराहम सेमेटिक बेबाइन जाति का एक सरदार था जिसका मुख्य व्यवसाय भेड़ चराना था। सुन्दर उपजाऊ भूमि की तलाश में वह अपने साथियों और भेड़ों के झुण्ड लेकर उत्तर पश्चिम प्रदेशों की ओर निकल गया। जिस भू-भाग को आज फलस्तीन कहते हैं उस समय वहां सेमेटिक उपजाति के केनेनाइट लोग बसते थे। फलस्तीन सुन्दर नागरियों वाली यह उपजाऊ भूमि थी। अबराहम इसी देश में गया। अबराहम का मुख्य देवता "जेहोवाह" (Jehovah) था। जेहोवाह ने अबराहम को वायदा किया कि समृद्धिशाली नागरियों वाली इस सुरम्य भूमि पर उसका और उसकी सन्तानों का स्वामित्व होगा। अबराहम को विश्वास नहीं हुआ क्योंकि उसके कोई सन्तान न थी। किन्तु बाद में अबराहम के दो सन्तान हुई—आइजक और जेकब। जेकब का नाम फिर "इजराइल" रख दिया गया। इजराइल के १२ सन्तानें हुई और उनकी जाति की अभिवृद्धि हुई। यह जाति इजरेलाइल (यहूदी) जाति कहलाई। इजरेलाइल (यहूदी) जाति के युद्ध उपरोक्त केनेनाइट लोगों से होते रहते थे। किन्तु फलस्तीन में किसी तरह वे बसे हुये थे। फिर फलस्तीन में एक भंयकर अकाल पड़ा और इजरेलाइल लोगों को फलस्तीन छोड़कर दक्षिण की ओर जाना पड़ा दक्षिण में नील नदी वाले मिश्र की हरी भरी और उपजाऊ भूमि में वे चले गये। ऐसा अनुमान है, उस समय मिश्र में मिश्र के फेरों

(Pharaohs) का राज्य नहीं था। किन्तु एक सेमेटिक जाति ही मिश्र पर शासन कर रही थी, जिसके सम्राट "हिस्कोस" (Hyskos) कहलाते थे। इन सेमेटिक हिसक्रोस-सम्राटों के राज्य काल में यहूदी लोग जो स्वयं सेमेटिक थे कई सौ वर्षों तक शांतिपूर्वक रहे—किन्तु मिश्र के लोगों ने १६०० ई० पू० में एक भयंकर विद्रोह किया; हिस्कोस राज्यवंश को समाप्त किया – और फिर से मिश्र के ही सम्राट (फेरो) का राज्य वहां कायम हुआ। फेरों के राज्य काल में यहूदी लोगों को गुलाम बनाया गया, उनको पदाक्रांत किया गया। अतएव दुखित हो कर बर्वस यहूदी लोगों को मिश्र छोड़ना पड़ा। उस काल में अपने कुशल बुद्धिमान नेता मूसा (Moses) के नेतृत्व में यहूदी लोगों ने मिश्र से पलायन किया और उसी देश की ओर उन्होंने अपना कूच किया जिस देश के लिये उनके देवता जेहोवाह नें उनके पूर्वज अबराहम से प्रतिज्ञा की थी, अर्थात् फलस्तीन। मिश्र से कूच करने के बाद मूसा रेगिस्तानों को पार करता हुआ यहूदी लोगों को अपने साथ लिये सिनाई पर्वत पर पहुंचा। बाइबिल में वर्णन आता है कि यहीं पर जाज्वल्यमान बिजलियों की भमभमाहट में ईश्वर ने मूसा को अपने "दस आदेश" (Ten Commandments) दिये। वे ही दस आदेश जो यहूदी धर्म और आचार के आधार-स्तम्भ बने और जिनने मानव की चेतना को स्थूल देवताओं की पूजा से हटा कर एक

ईश्वर की पूजा की ओर प्रेरित किया। मूसा इन दस आदेशों का व्याख्याकार बना। नैतिक गुणों के आधार पर उसने आचार और व्यवहार के नियम बनाये, और इस प्रकार वह संसार का एक महान स्मृतिकार (Law-Giver) माना जाने लगा।

मूसा और यहूदी लोग फलस्तीन की ओर बढ़े। लगभग ५००–६०० वर्षों बाद फिर से वे इस देश में आये थे; देश की हालत काफी बदल चुकी थी। इस समय वहाँ केनेनाइट लोग नहीं थे, जिनसे यहूदियों के पूर्वज अब्राहम को लड़ना पड़ा था। किन्तु अन्य जातियों के लोग बसे हुए थे, मुख्यतयः फिलिस्तीन लोग जो पश्चिमी द्वीपों से, क्रीट द्वीप में नोसस की सभ्यता के पतन के बाद, अपने जहाजों में बैठ बैठ कर फलस्तीन में आ बसे थे। यहूदी लोग फलस्तीन को जीत नहीं सके, किन्तु जहां कहीं भी उन्हें भूमि मिली वहीं बस गये।

यहूदी जाति के इतिहास का यहां एक चरण समाप्त होता है। ऊपर जितनी बातें बताई गई हैं उन सबकी ऐतिहासिक साक्षी नहीं मिलती; उदाहरणतयः मूसा की कहानी की साक्षी और किसी ऐतिहासिक सामग्री से नहीं मिलती।

२. यहूदी जाति के न्यायाधीश और राजा:- Judges & Kings) (लगभग १८०० ई. पू. से ५८६ ई. पू. तक) यहां से यहूदियों की कहानी पूर्णतया ऐतिहासिक आधार

पर प्रारम्भ होती है। ये यहूदी सेमेटिक लोग जो प्रारम्भ में अरब में बसे हुये थे उपजाऊ भूमि की तालाश में फलस्तीन में बसने के लिये आये। इस समय फलस्तीन के दक्षिण भागों में फिलिस्तीनी लोग बसे हुये थे, और उत्तरी भागों में फीनिशियन और केनेनाइट जाति के लोग। फलस्तीन के अधिपत्य के लिये लगातार इन जातियों में युद्ध होते रहते थे। यहूदी लोग युद्धों में नेतृत्व करने के लिये अपने कुछ संचालक नियुक्त करलेते थे, जिन्हें न्यायाधीश या जज कहा जाता था। इन न्यायाधीशों के नेतृत्व में दूसरी जातियों से अनेक युद्ध हुये कई बार ये परास्त हुये और कई बार विजयी। इन न्यायाधीशों में प्रसिद्ध योद्धा गिदियन और सेमसन, और महिला-न्यायाधीश डेबरा के नाम उल्लेखनीय हैं। इन लोगों ने युद्धों में अद्भुत वीरता और कौशल और सफल नेतृत्व का प्रदर्शन किया था। किन्तु समस्त फलस्तीन जीतने में ये लोग कभी भी सफल न हुये। यहूदी लोगों ने देखा कि दूसरी जातियों का शासन और युद्ध में नेतृत्व तो राजाओं द्वारा होता है। अतएव इस वातावरण से प्रभावित होकर उन्होंने भी अपने शासन के लिये राजा नियुक्त करने का निश्चय किया। सॉल उनका प्रथम राजा हुआ। सॉल राजा के नेतृत्व में यहूदी लोगों को कोई विशेष सफलता नहीं मिली। सॉल के बाद लगभग ९९० ई. पू. में डेविड यहूदी लोगों का राजा हुआ। इसने फलस्तीन के मुख्य नगर यरुसलम

पर विजय प्राप्त की और इसी नगर यरुसलम को अपने राज्य की राजधानी बनाया। उस समय फीनिसिया में हिराम नामक एक फीनिशियन राजा राज्य करता था। इस राजा का मिश्र और अरब इत्यादि देशों से भारी व्यापार चलता था। यहूदी राजा डेविड ने इस राज्य से मित्रता की और अपने राज्य इजराइल (फलस्तीन) में से होकर राजा हिराम के व्यापारिक काफिलों को दक्षिण में लाल सागर तक जाने के लिये रास्ता दिया इस प्रकार हिराम की संरक्षता में डेविड का राज्य किसी तरह चलता रहा।

डेविड के बाद उसका पुत्र सोलोमन (Solomon) इज़राइल का राजा हुआ। इसका राज्य काल लगभग ६०० ई० पू० में माना जाता है। उपरोक्त राजा हिराम की सहायता से इसके राज्य काल में राज्य की समृद्धि और उन्नति हुई। राज-धानी यरुसलम में इसने अपना एक विशाल महल और देवता "जेहोवाह" का विशाल मंदिर बनवाया। बाईबल में सोलोमन के ठाठबाट, धन और ऐश्वर्य का बहुत विशाल वर्णन है। किन्तु हम यह जानते हैं कि मिश्र के फेरों और बेबीलोन के सम्राटों के धन और ऐश्वर्य के सामने इसकी कुछ भी तुलना नहीं हो सकती। फिर भी सोलोमन के राज्यकाल को इजराइल (फलस्तीन) में यहूदी लोगों का एक गौरवमय काल मान सकते हैं।

सोलोमन के बाद उसका पुत्र रेहोबोम इजराइल का

राजा हुआ–किन्तु उसके राजा होने के बाद इजराइल के उत्तरी भाग में उपद्रव हुये, और इजराइल राज्य के दो टुकड़े होगये। उत्तरी भाग इजराइल कहलाया और दक्षिणी भाग जूड़ाह जिस की राजधानी यरुसलम रही।

७२२ ई. पू. में असीरियन सम्राट का इजराइल पर अधिकार हुआ। जुड़ाह राज्य पर भी असीरियन लोगों के हमले हुये, किन्तु वह सौ वर्ष से भी अधिक किसी प्रकार अपनी सत्ता बनाये रक्खा। फिर ६०४ ईस्वी पूर्व में वेबीलोन के सम्राट नेबुस् का यरुसलम पर आक्रमण हुआ। यरुसलम परास्त हुआ। सम्राट ने अपने आश्रित यहूदी शासकों को ही वहां शासन करने के लिये नियुक्त किया। ये शासक असीरियन सम्राट से स्वतन्त्र होने के लिये गड़बड़ करते रहे। अतएव ५८६ ई. पू. में यहूदी लोगों को पकड़वाकर वेबीलोन भेजदिया गया, जिससे कि वे किसी भी प्रकार अपने राज्य के लिये गड़बड़ी न कर सकें। कुछ यहूदी मिश्र इत्यादि अन्य प्रदेशों में फैल गये।

इस प्रकार हम देखते हैं कि यहूदी लोगों के राजा डेविड के काल में (प्राय: ९९० ई.पू.) यरुसलम पर यहूदियों का अधिकार हुआ। प्राय: चार सौ वर्षों तक यरुसलम यहूदियों के आधीन रहा और फिर ई. पू. ६०४ में उन के हाथों से निकल गया।

यहूदी धर्म द्रष्टाः–(Prophets)

बाइबल और यहूदी धर्मः–ऊपर लिख आये हैं कि बेबीलोन सम्राट द्वारा ५८६ ई. पू. में अनेक यहूदी पकड़वा कर बेबीलोन में भेज दिये गये थे। इसके पूर्व सम्राट असुरबनीपाल (६८० ई. पू.) के काल में बेबीलोन में विद्या की खूब उन्नति हुई थी। मिश्र, बेबीलोन, सीरिया, फलस्तीन, अरब इत्यादि देशों के इतिहास में अनेक खोजें हुई थीं और उन देशों के और उन देशों में बसने वाली जातियों के इतिहास संग्रहित किये जाकर असीरियन साम्राज्य के प्रसिद्ध नगर मिनेवेह के पुस्तकालय में रखे गये थे। विद्याप्रेम, अन्वेषण और नई चीजों और घटनाओं को जानने और समझने के प्रति अभिरुचि—यही परम्परा बेबीलोन में उस काल में भी प्रचलित थी, जब यहूदी लोग यहां पकड़ कर लाये गये थे। यहूदी लोगों का इन सब सांस्कृतिक आन्दोलनों से सम्पर्क बढ़ा। उन्हें स्वयं अपने प्राचीन इतिहास का ज्ञान यहीं बेबीलोन में हुआ। याद होगा—बाइबिल की परम्परा के अनुसार तो यहूदियों का आदि पूर्वज अब्राहम फलस्तीन में अनुमानतः २१०० ई. पू. में आया था–और उपलब्ध ऐतिहासिक तथ्यों के अनुसार यहूदी लोग फलस्तीन में प्रायः १४००–१२०० ई. पू. तक दाखिल हो गये थे। बेबीलोन में अपने प्राचीन इतिहास का ज्ञान होने के बाद तो अपने प्राचीन इतिहास को, धर्म-गुरुओं धर्म-द्रष्टाओं के वाक्यों को, अपने

धार्मिक नियमों आदि का संग्रह करना, उनको क्रम-बद्ध करना इत्यादि कामों के लिये उनमें एक जिज्ञासा और तीव्र प्रवृत्ति सी पैदा हो गई थी। जब वे बेबीलोन आये थे तो प्रायः असंगठित, अशिक्षित और असभ्य थे। बेबीलोन के सम्पर्क ने उनको एक तीव्र जातिगत भावना में संगठित कर दिया। वे शिक्षित हुये उनके ज्ञान की अभिवृद्धि हुई और वे सजग हुये। प्राय: ७० वर्ष बेबीलोन में रहे होंगे कि बेबिलन पर उत्तर पूर्व से आयन लोगों के आक्रमण हुए। फारस का सम्राट साइरस (Cyras) बेबीलोन पर चढ़ आया—विशाल बेबीलोन साम्राज्य को पदाक्रान्त कर उसको परास्त किया और ५३८ ई. पू. में बेबिलन पर अपना कब्जा किया। फलस्तीन भी जो बेबीलोन साम्राज्य का एक अंग था अब ईरानी सम्राट साइरस के साम्राज्य का एक अंग बना। किन्तु साइरस ने यहूदियों को यरुसलम लौट जाने की, और उनका मन्दिर जो विध्वंस हो चुका था फिर से बनाने की अनुमति देदी। यहूदी लोगों के झुण्ड के झुण्ड बेबिलन से यरुसलम लौट कर आये—अब वे सभ्य थे सजग थे, सुसंगठित थे। उनके मानसिक विचारों की परिधि अब विशाल थी—अनेक बातें गाथायें और कथायें उन्होंने बेबीलोनियन लोगों से सीखी थीं—उदाहरणतया "सृष्टि रचना" की कथा; "जब प्रलय" की कहानी जो उनकी धर्म-पुस्तक बाइबिल में आती है।

साथ ही साथ उन लोगों के दृष्टि कोण में भी बहु परिवर्तन हुआ जो यहूदी लोगों में दृष्टा कहलाते थे। यहूदी लोगों के दो प्रकार के धर्म गुण लेते थे। एक तो पुजारी, जो जेहोवाह के मन्दिरों में रहा करते थे,-उसकी पूजा किया करते थे, और धार्मिक अवसरों पर भेंट चढ़ाते थे। वे जादू टोणा भी करते थे, और लोगों का भविष्य भी बताते थे। ये धार्मिक समारोह, पूजा भेंट उसी प्रकार के होते थे जैसे प्रायः उसी युग में सौर--पाषाणीय सभ्यता वाले सभी लोगों में होते थे। दूसरे प्रकार के धर्म गुरु "दृष्टा" कहलाते थे। पहले तो इन लोगों में और पुजारियों में विशेष अन्तर नहीं था, जैसे ये लोग भी जादू टोणा करते थे, पीड़ित लोगों को उनका भविष्य बताते थे इत्यादि। किन्तु-बाद में, विशेषतया बेबीलोन में नई मतों के सम्पर्क में आने के बाद में-एक स्वतन्त्र रूप से उनका विकास हुआ; अब वे मन्दिर और मन्दिर के देवताओं को, पूजा और पुजारियों को निरर्थक बतलाते थे,-मूढ़ भ्रम मात्र। कभी कभी वास्तव में उन्हें आन्तरिक प्रकाश की अनुभूति होती थी, उनकी चेतना बन्धन मुक्त होती थी। ऐसे अवसरों पर वे अनेक निगूढ़तम और दार्शनिक बातें कहजाते थे। ऐसे अवसरों पर उनका बोलने का ढंग यही होता था—"ईश्वर ने मुझ से कहा ....।" इन्हीं लोगों की प्रेरणा से यहूदी धर्म में वे बातें और विचार समाहित हुए जो मानव चेतना

के विकास की एक उच्चतर स्थिति की ओर निर्देश करते हैं। स्थूल देवी देवताओं के विश्वास से-वह विश्वास जिसमें श्रद्धा कम तथा भय अधिक होता था,—ऊपर उठकर एक परमात्मा का आभास मानव चेतना का होता है—और वह परमात्मा भय का परमात्मा नहीं, किन्तु सत्य का परमात्मा है। इसके अतिरिक्त यह विचार और भावना मानव के सामने आती है कि एक दिन समग्र सृष्टि में "सत्य" का राज्य स्थापित होगा और सब लोग सुखी होंगे। इस प्रकार के विचार यहूदी बाइबल में बिखरे पड़े हैं।

यहूदी बाइबल (Old Testament) अनुमान है कि नई संगठित भावना, नये विचार, नई प्रेरणा तथा अपने प्राचीन इतिहास के विषय में नया ज्ञान लेकर जब यहूदी लोग बेबीलोन से लोटे (लगभग ५०० ई. पू. में) तभी उनमें यह भावना पैदा हुई थी कि वे अपने प्राचीन इतिहास, धार्मिक मान्यताओं, एवं द्रष्टाओं की वाणियों को एक पुस्तक रूप में संगठित करलें और उनको क्रम-बद्ध जमालें। बेबीलोन से लौटने के बाद यह काम शनैः शनैः हुआ। और ऐसा अनुमान है कि लगभग ईसा के २५०—३०० वर्ष पूर्व तक उपर्युक्त सब बातों का यथाः–यहूदियों का इतिहास, सृष्टि रचना के विचार, आचार व्यवहार के नियम, भजन प्रार्थना, धार्मिक मान्यता

आदि का, उस "पुस्तक" में संग्रह हो चुका था जिसे यहूदियों की बाइबिल (Old-Testament) कहा जाता है। यह केवल धार्मिक पुस्तक ही नहीं है किंतु इस पुस्तक से उस काल के मिश्र मेसोपोटेमिया फलस्तीन, अरब आदि देशों और वहां के लोगों के इतिहास पर काफी प्रकाश पड़ता है।

यहूदी धर्म की विशेष धार्मिक मान्यतायें:—

(१) यहूदी लोग पूर्वज अब्राहम की शुद्ध (वर्णसंकर रहित) संतान हैं।

(२) यहूदी जाति (Race) अन्य सब जातियों से अधिक गौरवान्वित होगी।

(३) किसी युग में एक मसीहा का अवतार होगा जो देव जेहोवाह द्वारा यहूदी लोगों को दिये गये सभी वायदों को पूरा करेगा। यथा, यहूदी लोगों का इजराइल की भूमि पर सुख समृद्धिपूर्ण प्रभुत्व कायम होगा।

(४) यहूदियों का देवता जेहोवाह अन्य जातियों के देवताओं से बड़ा है। जेहोवाह सब देवों का देव है। (और फिर शनैः शनैः इस विचार में विकास होता गया) और यह विश्वास बना कि सृष्टि में केवल एक ही सच्चा देव है—और वह एक सच्चा देव जेहोवाह है। इस प्रकार वे धीरे धीरे एकेश्वरवाद की भावना तक पहुँचते हैं। यह ईश्वर—किसी

मंदिर में नहीं रहता किंतु अनन्त काल से स्वर्ग में व्याप्त है। ईश्वर के सम्बन्ध में इस विचार के विकास का अर्थ हुआ कि मूर्ति पूजा, एवं स्थूल देवी देवताओं में विश्वास अज्ञानांधकार की स्थिति है। प्रारम्भिक मानव ने मानसिक गुलामी की ओर से मानसिक स्वतन्त्रता की ओर प्रगति की। ईश्वर की भावना में ओर भी विकास हुआ और यह विश्वास बना कि एक परमात्मा "Righteousness" सत्य का परमात्मा है यहूदी बाइबल (Old Testameat) में कहीं कहीं उच्च दार्शनिक विचार भी बिखरे पड़े हैं। यथा—

सचमुच किसी द्रष्टा (Prophet) को ऐसी आन्तरिक अनुभूति हुई होगी। फिर एक अद्भुत भविष्यवाणी की गई कि एक युग आयेगा जब मानव समाज नैतिकता के व्यवहार में सम्बद्ध होगा और इस दुनियां में सुख शांन्ति का राज्य होगा।

बार बार इस वाणी ने मानव को प्रेरित किया है है और उसके हृदय में आशा का संचार किया है मेसोपोटेमिया, मिश्र, पश्चिमी एशिया (फलस्तीन, फीनिशिया, सीरिया, अरब) की प्राचीन दुनिया में, प्रारम्भिक सभ्यताओं के विश्रृंखल होते हुए अंतिम दिनों में, जब मानव पीड़ित था, वह देखता था किन्तु उसे कुछ समझ में नहीं आता था, जब "पुरोहित-सम्राटों"

और "देवता सम्राटों" के पुरोहितपन और देवतापन में मानव की आस्था को ठेस लग चुकी थी, और उन्हें यह भाव होने लगा था कि मन्दिरों में स्थित देवता वास्तव में कुछ कर नहीं पा रहे हैं,–कुछ कर नहीं सकते हैं, उस समय अन्धकार में टटोलते हुए प्रारम्भिक मानव के मानस में प्रकाश की यह पहली किरण थी। यह तो पहली ही किरण थी, इसी में से उद्‌भव होने वाला था ईसा का प्रकाश और फिर अनेक शताब्दियों बाद मोहम्मद की ज्योति।

किन्तु यहां पर यह न भूलना चाहिये कि उस युग की पूर्व की दुनिया में यथा भारत और चीन में, यहूदी काल के कई शताब्दियों पूर्व भारत में निःश्रेयस, "एको अहं सर्व भूतेषु" (एक मैं ही सब भूतों में व्याप्त हूं) के ज्ञान की अनुभूति हो चुकी थी और वेदों में उसको यह आदर्श मिल चुका था कि मानव संपूर्णतयः" "मुक्त और निर्भय" हो सकता है। चीन में भी यहूदी काल के अनेक शताब्दियों पूर्व उनके "परिवर्तन के नियम" ग्रंथ में मानव जीवन और सृष्टिनियमों पर विचार हो चुका था–और चीन में महात्मा कनफ्यूशियस और लाओत्से इन प्राचीन पुस्तकों पर अपनी व्याख्या कर चुके थे।

ऊपर यह भी लिख आये हैं कि फारस के आर्यन सम्राट साइरस ने ही बेबीलोन पर विजय प्राप्त कर, यहूदियों को आज्ञा

दी थी कि वे यरुसलम लौट जा सकते हैं। इससे स्पष्ट है कि यहूदियों का पर्याप्त संपर्क इन आर्यनों से होचुका था। इन आर्यों का संपर्क भारतीय आर्यों से था, (उनकी भाषा तो भारतीय वैदिक भाषा से बिल्कुल मिलती जुलती थी ही), इससे अनुमान लगता है कि विनिमय द्वारा भारतीय वैदिक धर्म और दर्शन के विचारों से यहूदियों को कुछ परिचय प्राप्त होचुका होगा। संभव हैं यहूदी बाइबल में कहीं कहीं जो दिव्य-दृष्टि-गत दार्शनिक विचार बिखरे मिलते हैं वे यहूदी द्रष्टाओं (Prephets) पर भारतीय मनीषियों के प्रभाव के फलस्वरुप हों।

यह अनुमान मात्र है-इस संबंध में निश्चय पूर्वक कुछ नहीं कहा जासकता।

४. **आधुनिक काल में यहूदी**–यहूदी लोगों का लगभग १२०० ई. पू. से लेकर जब वे अरब से निकल कर फलस्तीन में बसे थे ५३८ ई. पू. तक का इतिहास जब फारस के आर्यन सम्राट साइरस ने बेबीलोन साम्राज्य (जिसके अन्तर्गत फलस्तीन भी था) पर अधिकार किया था, हम लिख आये हैं। ५३८ ई. पू. से लगभग ३४० ई. पू. तक अर्थात् लगभग २०० वर्षों तक फलस्तीन पर फारस के सम्राटों का अधिकार रहा।

३४० ई. पू. के आसपास फलस्तीन में सिकन्दर महान के नेतृत्व में ग्रीस वालों का आधिपत्य हुआ। ३२३ ई. पू. में

सिकन्दर महान की मृत्यु के बाद फलस्तीन लगभग एक शताब्दी तक मिश्र के ग्रीक सम्राट टोलमियों के आधीन रहा। फिर लगभग १०० वर्षों के बाद फलस्तीन सीरियन लोगों के अधिकार में चला गया। किन्तु १३० ई. पू. में फिर यहूदी लोगों ने सीरियनों से लड़ कर यरुसलम पर अपना अधिकार किया और उन्होंने अपनी स्वतंत्रता हासिल की। किन्तु यह स्वतंत्रता कुछ ही वर्ष तक कायम रह सकी। अब यूरोप में रोमन जाति का उत्थान हो रहा था। ये रोमन लोग इधर एशिया माइनर की तरफ भी आये। जूलियस सीजर के काल में ३७ ई. पू. में फलिस्तीन का शासन रोमन गर्वनरों के आधीन रहा। यहूदी लोग बेचैन रहते थे-स्वतंत्रता के लिये उपद्रव करते रहते थे। अंत में सन् ६६ ई. में यहूदियों और रोमन लोगों में भयानक युद्ध हुआ-रोमन जनरल टाइटस ने यरुशलम के चारों ओर घेरा डाल दिया-सन् ७० में यरुशलम का पतन हुआ-रोमन लोगों ने यहूदियों के मंदिरों को जला दिया-हजारों को मौत के घाट उतार दिया-हजारों को गुलाम बना लिया-जो यहूदी बचे वे इधर उधर देशों में तितर बितर हो गये-कुछ विरले फलस्तीन में डटे रहे। इस अरसे में एशिया माइनर में यहूदियों के अतिरिक्त जो अन्य कई छोटी छोटी जातियाँ थीं, जैसे फीनिशियन, केनेनाइट, मोएबाइट इत्यादि, जिनसे यहूदी लोगों के अनेक झगड़े और युद्ध हुये थे, सब यहूदी धर्म की इन प्रेरणाओं से कि ईश्वर यहूदी

जाति को गौरवान्वित करेगा और फलस्तीन की सुरम्य भूमि में उनका सुख शान्ति मय राज्य स्थापित करेगा. शनैः शनैः यहूदी लोगों में ही मिलजुल गई थीं-और इस प्रकार यहूदी जाति अब कई जातियों से मिलकर बनी एक मिश्रित जाति थी, किन्तु फिर भी उपरोक्त भविष्यवाणी और धार्मिक भावना उनको सुदृढ़ रूप से एक सूत्र में बांधे रखती थी। वही एक भावना यहूदी लोगों को आज तक भी सुगठित सूत्र में बांधे हुये है-और वे अपना पृथक एक अस्तित्व बनाये हुए हैं-चाहे उनका इस पृथ्वी पर राज्य रहा-हो न रहा हो-उनका कोई सुनिश्चित घर रहा हो न रहा हो ।

फलस्तीन से पृथक होकर ये लोग दुनियां के अनेक देशों में फैल गये; जहां जहां भी ये गये इन्होंने अपने धार्मिक भवन स्थापित किये-जहां इनके धर्म-गुरु धार्मिक प्रवचन करते रहते थे-मूसा के नियम पढ़ाते रहते थे,-उन नियमों के अनुसार जीवन व्यतीत करने की प्रेरणा देते रहते थे। भिन्न भिन्न देशों में व्यापार करना, एवं साहूकारी करना (रुपैया उधार देना) मुख्यतय: ये ही दो पेशे इनके पास बचे थे। ईसा की प्रथम शताब्दी से जब से ये अपने देश फलस्तीन से अलग हुए आधुनिक काल में कुछ ही वर्षों पूर्व तक, ये जिस जिस देश में भी रहे, वहां प्रताड़ित और पीड़ित रहें; किंतु अपनी बाइबल के

आधार पर, उसकी भविष्य वाणी के आधार पर इनका एक सुसंगठित राष्ट्र रहा–ऐसा राष्ट्र जिसका कोई सुनिश्चित देश नहीं था, जिसका कहीं राज्य नहीं था, किंतु फिर भी जिस में एक 'भाव ऐक्य' था। जीवन का कोई ऐसा क्षेत्र नहीं जहां ये न चमके हों, दुनिया को इन लोगों ने बड़े बड़े कलाकार; बड़े बड़े वैज्ञानिक, राजनैतिक, साहित्यकार और दार्शनिक दिये, जिन में कुछ नाम विशेष उल्लेखनीय हैं, जैसे, १६ वीं शताब्दी में इङ्गलैंड का प्रधान मंत्री डिसरेली, भारत का वायसराय लोर्डरीडींग, संसार में साम्यवाद का प्रतिष्ठाता कार्ल मार्क्स, साम्यवादी क्रांतिकारी ट्रोटसकी, फ्रैंच दार्शनिक बर्गसां, व्यापारिक क्षेत्र में धनी रोथ्सचाइल्ड और आज संसार का सबसे बड़ा वैज्ञानिक आइनस्टाइन।

जब प्रत्येक देश में जहां भी ये रहते थे इनकी प्रतारणा होती थी, तो इनमें फिर उसी प्राचीन भावना का उदय हुआ कि इनका कोई घर होना चाहिये, इनका कोई देश होना चाहिये। १६वीं शताब्दी में थियोडोर हर्जल नामक एक महान यहूदी नेता का उदय हुआ। इसने सब देशों के यहूदियों का एक वैधानिक संगठन किया और "अखिल विश्व यहूदी संगठन" की स्थापना की। सन् १८६० में बेसल नगर में इस संगठन का प्रथम अधिवेशन हुआ जहां निश्चय हुआ कि फलीस्तीन की पवित्र भूमि में उनका राष्ट्रीय घर स्थापित हो।

सन् ७० ई. में फलस्तीन में रोमन राज्य स्थापित हुआ था, कई सो वर्षों तक उनका राज्य रहा। सन् ६३७ ई. में अरब खलीफाओं ने अपना अधिकार जमाया, फिर १५१६ ई. में तुर्क लोग आये, तब से प्रथम महा युद्ध काल (१९१४-१८) तक वहां तुर्की सन्तानों का राज्य रहा। युद्ध के बाद राष्ट्रों की संधि के अनुसार अन्तर्राष्ट्रीक शासना देश (Mandate) के अन्तर्गत फलस्तीन इंग्लैंड की संरक्षता में गया। १८९७ ई. में बेसिल में किये गये निर्णय के अनुसार यहूदियों के प्रयत्न चलते ही रहते थे कि फलस्तीन यहूदियों के हाथ में किसी प्रकार आजाये। महायुद्धकाल में यहूदी वैज्ञानिक डा. विजमेन में इंग्लैंड के प्रधान मन्त्री लॉयडजोर्ज को एक रासायनिक पदार्थ एसीटोन (Acetone) बनाने का भेद बताया जो विस्फोटक बम बनाने के काम में आता है। इसके बदले में अंग्रेज सरकार ने १९१७ में एक घोषणा की जो बैलफर घोषणा (Balfour Declaration) के नाम से प्रसिद्ध है। इसके अनुसार अंग्रेजी सरकार ने इस सिद्धान्त को स्वीकार किया कि फलस्तीन में यहूदियों का राष्ट्रीय घर स्थापित होना चाहिए।

महायुद्ध के बाद यहूदी लोग धीरे धीरे फलस्तीन में जा कर बसने लगे। उन्होंने जंगल साफ किये, जंगली और बंजर भूमि को खेती के योग्य बनाया और नये घर बसाये।

यहूदी (Hebrew) भाषा और साहित्य का पुनरुत्थान किया, यरुसलम में एक विशाल विश्वविद्यालय की स्थापना की। सन् १९३३ में जब जर्मनी में नाजी हिटलर ने यहूदी लोगों को क़त्ल करना शुरु किया तो फलीस्तीन में बड़ी संख्या में यहूदी आकर बसने लगे। उनकी अनेक बस्तियां (Colonies) वहां पर खड़ी होगईं।

प्रथम महायुद्ध की संधिकाल से यद्यपि देश का शासन तो अंग्रेजों की देखभाल में था, किन्तु वहां के मुख्य रहने वाले अरबी मुसलमान थे। वस्तुतः सन् ६३७ ई० से फलस्तीन अरबी मुसलमानों ही का घर था, अतएव जब उन्होंने देखा कि बहु संख्या में यहूदी आकर उनके देश में बस रहे हैं तो वे घबराये। सन १९३३ के बाद उनकी (यहूदियों की) आबादी में अभूतपूर्व बढती देखकर तो और भी घबराये। उन्होंने उपद्रव प्रारंभ किये। ब्रिटिश सरकार के सामने मांग पेश की कि यहूदियों का फलीस्तीन में आना रोक देना चाहिए। यहूदियों और मुसलमानों में भयंकर झगड़े और डटकर लड़ाइयां होना प्रारंभ हुआ। ब्रिटिश सरकार भी जिनके हाथों देश का शासन धरोहर के रूप में था घबराई। सन १९३७ में सरकार ने एक कमीशन बिठाई—पील कमीशन (Peel Commission)। उसने सिफारिश की कि फलीस्तान का अरबों और यहूदियों के बीच

विभाजन कर देना चाहिए। फलस्तीन का यरुशलम शहर अन्तर्राष्ट्रीय संस्था के आधीन रहे। विभाजन किसी को भी मान्य नहीं हुआ, न यहूदियां को न मुसलमानों को। झगड़े चलते रहे। संधि करवाने के लिए गोलमेज सभाओं की योजना हुई। इतने में द्वितीय महायुद्ध (१९३९-४५) आरंभ होगया। द्वितीय महायुद्ध के बाद भी फलस्तीन में यहूदियों और मुसलमानों के झगड़े चलते रहे। यहूदी कहते थे फलस्तीन उनका आदि घर है, वहीं उनकी बाइबल का निर्माण हुआ, वहीं उनकी संस्कृति और धर्म का विकास हुआ, वहीं उनके प्रसिद्ध राजा सोलोमन (Solomon) ने आदि देव जेहोवाह (Jehovah) का मन्दिर बनवाया था, जिसके प्रतीक स्वरुप आज भी उस दीवार का एक अंश खड़ा है जो प्राचीन काल में जेहोवाह के मन्दिर के चारों ओर बनी थी (यह दीवार वेलिंगवाल कहलाती है और यहूदियों की धर्मस्थली है)। मुसलमान कहते थे प्राचीन-काल से (६३७ ई. से) वे यहां रहते आये हैं, यहीं उनका घर रहा है, यहीं उनकी आदि मस्जिद "उमर की मस्जिद" है— इत्यादि। इन झगड़ों को निपटाने के लिये राष्ट्रसंघ ने एक मध्यस्थ बैठाने की सोची। उधर अन्तर्राष्ट्रीय निर्देश के अनुसार १४ मई १९४८ के दिन ब्रिटिश धरोहर (Mandate) की अवधि समाप्त हुई और इस तारीख को ठीक रात्रि के १२ बजे ब्रिटिश हाई कमीश्नर ब्रिटिश फौजों सहित फलस्तीन देश

छोड़कर चलागया। एक तरफ तो वे गये, दूसरी तरफ यहूदियों ने फलीस्तीन में अपने उपनिवेश "तेल अबीव" से "इजराइल" राज्य की घोषणा करदी। वेनगुरियन इस राज्य का प्रथम प्रधान मन्त्री हुआ। इस घोषणा के समय यहूदियों के आधीन यरुशलम राजधानी, तेल अबीव और हैफा दो बड़े बन्दरगाह, और फलीस्तीन की लगभग आधा-भाग भूमि थी। शेष हिस्से अरबों के आधीन थे। स्वतन्त्र इजराइल राज्य की वस्तुतः स्थापना होगई, और इसके कुछ ही महीनों बाद अमेरिका, रूस एवं कई अन्य राष्ट्रों ने इजराइल राज्य को मान्यता भी देदी।

फलस्तीन (इज़राइल) की पवित्र भूमि में लगभग १६०० वर्षों के बाद फिर से यहूदी राज्य (Israel State) की स्थापना वास्तव में एक आश्चर्य जनक घटना थी। यह एक स्वपन की पूर्ति थी।

—:※:—

३०

ईसामसीह और ईसाईधर्म

एशिया के भूमध्यसागर तटवर्ती प्रदेशों यथा इजराइल (फलस्तीन), फीनीसिया, सीरीया में यहूदी द्रष्टाओं (Prophets) में एक नये ज्ञान, एक नई चेतना का विकास हुआ। ईसा पूर्व प्रायः ६ठी शताब्दी की यह बात है, लगभग उसी समय जब

चीन में महात्मा कनफ्यूसियस और ताओ और भारत में महात्मा बुद्ध अपनी ज्ञान आभाएं वहां के लोगों के मनों को एक नई चेतना से आलोकित कर रहे थे। भारत में तो बुद्ध के भी अनेक शताब्दियों पूर्व मानव, वेदों और उपनिषदों में मानसिक स्वतन्त्रता और निर्भीकता की अनुभूति कर चुका था, और चीन में भी मानव कनफ्यूसियस के पूर्व "परिवर्तन की पुस्तक" (Book Of changes) में सृष्टि की परिवर्तनशीलता को पहचान चुका था और प्रकृति के प्रति शरणागति भाव में शान्ति की अनुभूति कर चुका था; किन्तु पश्चिमी प्रदेशों में यहूदी द्रष्टा सर्वप्रथम मानव थे जो स्थूल देवी देवताओं के भय से मुक्त हो "एक ईश्वर" की प्रतिष्ठा कर रहे थे।

उन दिनों उपरोक्त प्रदेशों एवं मिश्र, मेसोपोटेमिया, अरब, उत्तरी अफ्रीका एवं यूरोप के भूमध्यसागर तटवर्ती प्रदेशों के लोग छोटी छोटी समूहगत जातियों (Tribes) में विभक्त थे। उनके छोटे छोटे राज्य थे, जैसे फीनिसिया, जूड़िया, इजराइल, इत्यादि। इनमें एक दूसरे पर प्रभुत्व प्राप्त करने के लिये परस्पर लड़ाइयां होती रहती थीं। साम्राज्यों की भी स्थापना हो चुकी थी यथा, बेबीलोन का साम्राज्य, मिश्र में फेरों का साम्राज्य; इन साम्राज्यों के बीच छोटे छोटे राज्य बनते बिगड़ते रहते थे। प्रायः ६६० ई. पू. से इजराइल में यहूदी लोगों का राज्य था, डेविड और सोलोमन उनके प्रसिद्ध शासक

हुए थे, फिर बेबीलोन का सम्राट ६ठी शती ई. पू. में यहूदी लोगों को पकड़ कर बेबीलोन लेगया। रोमन लोग अपने सम्राट (सीजर) की पूजा किया करते थे, और जहाँ जहाँ रोमन लोगों का राज्य था, वहाँ वहाँ सीजर के मन्दिर थे, और रोमन लोग अपने अधीनस्थ लोगों को सीजर की देवता के रूप में पूजा करने को वाध्य करते थे।

मिश्र, मेसोपोटेमिया, इजराइल, सीरीया, फीनिसिया, जूडिया प्रदेशों में जहां जल सिंचन का प्रबंध था वहां कृषि और पशु पालन मुख्य उद्यम थे, पहाड़ी प्रदेशों में भेड़ बकरी चराना मुख्य पेशा था। शासकों की राजधानियों एवं व्यापारिक नगरों में कपड़ा बुनना, मिट्टी के बर्तन बनाना, उन पर पोलिश करना चित्राकन करना, भवन निर्माण करना, कांसा, तांबा, पीतल, सोना, चांदी इत्यादि धातुओं सम्बन्धी अनेक उद्यम, समुद्र के किनारे के प्रदेशों में जहाजरानी एवं व्यापार, इत्यादि हलचल चलती रहती थी। गांवों एवं नगरों में स्थूल देवताओं के मन्दिर थे, उनके पुजारी और पुरोहित होते थे, देवताओं को प्रसन्न करने के लिये, उनसे डरकर मन्दिरों में लोग भेंट चढ़ाते थे, देवताओं के मन्त्री पुजारियों से लोगबाग अपने भविष्य, सुखदुख, बीमारी की पूछते रहते थे, जादू-टोना करवाते रहते थे, भेंट पूजा करते रहते थे; ऐसे संकुचित मानसिक विश्वास की यह दुनिया थी। यहूदी जाति के लोगों

में भी ऐसे ही विश्वास थे, किन्तु यहूदी द्दष्टाओं ने अपनी अनुभूतियों से इन मान्यताओं और विश्वासों के स्तर को ऊँचा उठाया, पर्याप्त उनमें विकास हुआ, किन्तु एक सीमा तक बढ़कर वे विश्वास भी एक परिधि में बंध गये। विकास होते होते उनके बंधे हुए जो स्थिर विश्वास बन गये थे वे ये थे कि:—एक ही देव, अर्थात् ईश्वर है, वह सत्य और नैतिकता का ईश्वर है; ईश्वर का एक मसीहा आयेगा और वह यरुशलम का उत्थान कर, यहूदियों को वहां स्थापित कर, उनके नेतृत्व में संसार में सुख, समृद्धि और शान्ति का एक राज्य स्थापित करेगा। उनकी धर्म पुस्तक बाईबल लिखी जा चुकी थी। वे अपने ईश्वर को छोड़ और किसी देव, यहां तक कि शासक वर्ग के रोमन लोगों के सीजर-देवता की पूजा मान्य करने को तैय्यार नहीं थे। और यद्यपि यहूदी लोग थोड़े थोड़े अनेक प्रदेशों में फैले हुए थे, जैसे मिश्र, उत्तर अफ्रीका, ग्रीस, रोम, कार्थेज, ऐशिया माइनर इत्यादि इत्यादि, किन्तु इन दूर दूर रहते हुए लोगों को उनकी बाईबल और उनका धर्म-संगठन उन सबको एक सूत्र में बांधे हुए था।

ऐसी सामाजिक, राजनैतिक, धार्मिक परिस्थितियां थीं जब जूडिया में एक अनुपम यहूदी द्दष्टा (Prophet) का उदय हुआ, जिसने अपने यहूदी लोगों के ही संकुचित विचार की, कि

यरुशलम में यहूदियों के अधिनायकत्व में संसार में सुख समृद्धि का राज्य स्थापित होगा, धज्जियां उड़ाईं; एक ऐसे साम्प्रदायिक ईश्वर की जगह जिसके लिये यहूदी लोग ही विशेष कृपा के पात्र थे, एक सार्वभौम ईश्वर की, सत्य अहिंसा और प्रेम के ईश्वर की असंदिग्ध रूप से प्रतिष्ठापना की और मुक्त घोषणा की, कि ईश्वर का राज्य (Kingdom of Heaven) अन्यत्र नहीं किन्तु मानव के मन में ही, मानव के अंतर में ही अधिष्ठित है। तत्कालीन मानसिक विकास की स्थिति और सामाजिक परिस्थितियों को देखते हुए यह एक क्रान्तिकारी घोषणा थी। जिस व्यक्ति ने यह क्रान्तिकारी घोषणा की, उसके उदय होने के कई शताब्दियों बाद, उसके व्यक्तित्व को केन्द्र बना ईसाई धर्म का संगठन हुआ, जो आज संसार के संगठित धर्मों में एक प्रमुख धर्म है। यह व्यक्ति—यह यहूदी द्रष्टा था, ईसा मसीह (Jesus Christ)। जूडिया प्रदेश के बेतलहम (Bethelhem) नगर में इसका जन्म हुआ; कौनसे सन् में जन्म हुआ यह निश्चित नहीं; कुछ विद्वानों का मत है कि ई० पू० ४ में इसका जन्म हुआ। नासरत (Nazareth) नगर में इसने अपना बचपन व्यतीत किया, फिर युवा होने पर स्वयं अनुभूत अपने विचार अपने चारों ओर लोगों को, उन्हीं की यहूदी भाषा में कहना; इसने प्रारम्भ किया। आकर्षक इसका व्यक्तित्व होगा, और

सरल और मधुर इसकी वाणी, क्योंकि इसकी बात को सुनने के लिये लोगों के झुन्ड के झुन्ड इसके चारों ओर एकत्रित हो जाते थे। उसकी वाणी सुनकर लोगों को शान्ति मिलती थी, आनन्द की अनुभूति होती थी, और विशेषतः गरीब, बीमार, उत्पीड़ित लोगों में एक अद्भुत आशा का संचार होता था। लोगों ने जो कि विशेषतः यहूदी ही थे समझा उनका मसीहा आया है; यहूदियों के पूर्वज इब्राहीम को जो वायदा ईश्वर ने दिया था कि एक मसीहा आयेगा और वह यरुशलम में यहूदी राज्य पुनः स्थापित करेगा;—लोगों ने समझा ईश्वर का वायदा पूरा हो रहा है।

धन ऐश्वर्य से बिल्कुल विरक्त, गरीब लोगों के यहां भिक्षा से अपना पेट भरते हुए, इस प्रकार घूमते फिरते, युवावस्था में ईसा सन् ३० ई. में, जब रोम का सम्राट टिबेरस था और इजराइल (फलीस्तीन) में रोमन गवर्नर पोंटियस पाइलेट (Pontins Pilate) का शासन, यरुशलम नगर में प्रविष्ट हुआ। उसके अनेक भक्त और अनुयायी उसके साथ थे, सब को यही विश्वास था कि यह अनुपम व्यक्ति यरुशलम में नये राज्य की स्थापना करेगा, उसकी अलौकिक शक्ति में उन्हें किंचित मात्र भी संदेह नहीं था।

ईसा यरुशलम में प्रविष्ट हुआ, यरुशलम के लोगों ने

(यहूदियों ने) उत्साह पूर्वक उसका स्वागत किया, एक भीड़ उसके चारों ओर एकत्रित होगई, और इस भीड़ और अपने भक्त अनुयायियों के साथ वह सीधा यरुशलम के मन्दिर (यहोवाह यहूदी ईश्वर का नाम) के द्वार पर गया। वहां व्यापारी लोग, मन्दिर के देवता में विश्वास करने वाले लोगों से अपनी मेजों पर पैसे गिनवा गिनवा कर, अपने पिंजड़ों में से फाकताओं को मुक्त कर रहे थे; लोगों का ऐसा विश्वास था कि ऐसे फाकताओं को मुक्त करवाने से 'देवता' प्रसन्न होता है। ईसा ने पहिला काम यही किया कि इन व्यापारी लोगों की मेजों को उलट दिया और अंध विश्वासी लोगों को ताड़ना दी। एक सप्ताह तक जगह जगह पर घूम घूम कर अपनी मुक्त वाणी लोगों को सुनाता रहा; अनुयायियों को भरोसा रहा, नया राज्य स्थापित होने वाला है। किन्तु उधर यहूदी धनी पुजारी लोग, अपने प्राचीन विचारों और मान्यताओं में आरुढ़, समझने लगे कि ईसा तो उनकी ही गद्दी उखाड़ फैंकने आया है, वह उनकी बाईबल (यहूदी बाईबल) में निर्देशित किसी भी आचार का पालन ही नहीं करता; और रोमन अधिकारी समझने लगे ईसा राज्य-क्रान्ति करने आया है। अतएव यहूदियों के पुजारियों ने ईसामसीह के विरुद्ध रोमन राज्याधिकारियों से शिकायत की, रोमन शासकों के प्रति अपनी राज्य-भक्ति का परिचय दिया। रोमन शासक ऐसा चाहते ही थे, तुरन्त उन्होंने

शिकायत पर गौर किया। और एक दिन यरुशलम के जेथेस्मेन बाग में ईसा पकड़ा गया; रोमन कोर्ट के सामने उसकी पेशी हुई, यहूदियों के बड़े पुजारी केकस ने आरोपकारियों का नेतृत्व किया, और रोमन गवर्नर पोंटियस पाईलेट ने ईसा को फांसी की सजा सुनाई। ईसा के भक्त और अनुयायी ईसा को छोड़गये, अकेला ईसा फांसी का क्रोस उठाये. थका भूखा प्यासा, लड़-खड़ाता हुआ यरुशलम की गोलगोथ नामक पहाड़ी पर पहुंचा जहां उसे सूली पर चढ़ाया जाने को था; ईसा को सूली पर चढ़ा दिया गया और अन्तिम पलों में एक बार वह चिल्लाया "मेरे ईश्वर, मेरे ईश्वर, क्यों तुमने मुझको विसार दिया है!"—और वह मर गया। इस प्रकार अन्त हुआ उस अनुपम व्यक्ति, यहूदी द्रष्टा, ईश्वर के भक्त, ईसामसीह का।

इस प्रकार की है ईसामसीह की जीवन कथा जिसकी झांकी हमें केवल ईसाइयों की धर्म पुस्तक बाइबल (New Testament) के प्रथम चार गोस्पल्स (Gospels), अध्यायों, में मिलती है, जो ईसा की मृत्यु के ५०-६० वर्ष बाद लिखे जा चुके थे। जीवन के उपरोक्त ऐतिहासिक तथ्यों के अलावा और किसी ऐतिहासिक तथ्य या घटना का पता नहीं लगता। युवावस्था में ईसा ने जब जूडिया प्रदेश के गेलीली प्रांत में अपनी वाणी कहना प्रारंभ किया था उसके पहिले उसने अपना

जीवन कहाँ और कैसे बिताया इस संबंध में कोई भी बातें निश्चित ज्ञात नहीं हैं। कुछ लोग ऐसा मानते हैं कि गेलीली में उपदेश देना प्रारंभ करने के पहिले ईसा ने ईरान, मध्य एशिया, यहां तक की उत्तर पच्छिम भारत में भी भ्रमण किया था, जहां उस समय प्रसिद्ध तक्षशिला विश्वविद्यालय था और जहां दूर दूर देशों के विद्यार्थी पढ़ने आते थे। यहीं पर बुद्ध और हिन्दूधर्म के प्रभाव उस पर पड़े थे; कई यूरोपीय विद्वान कहते हैं कि उत्तर-कालीन हिंदूधर्म में जिस भक्तिभाव का संचार हुआ, वह ईसामसीह का ही प्रभाव था। किंतु इस विषय में कुछ भी निश्चित-पूर्वक नहीं कहा जा सकता, ये केवल अनुमान मात्र हैं, और अनुमान भी ऐसे जिनका आधार बहुत कमजोर है। वैसे उनकी जीवन संबंधी धार्मिक गाथायें तो अनेक प्रचलित होगई हैं, जैसी प्रत्येक धर्म संस्थापक के संबंध में उनके धर्मानुयायियों में प्रचलित होजाया करती हैं। उदाहरण स्वरुप–ईसा का कोई पिता नहीं था, अलौकिक रुप से वह "माता मेरी" (Mother Mary) के गर्भ से पैदा हुआ; उसके दफनाये जाने के बाद उसका शरीर क़ब्र में नहीं मिला, वह तो सीधा स्वर्ग में चला गया था, इत्यादि। कई हिन्दू लेखकों ने जिनका 'अवतारवाद' में विश्वास हैं, अवतार की यह सबसे बड़ी विशेषता बतलाते हुए कि अवतारी पुरुष के व्यक्तित्व में बाह्य या आंतरिक किसी भी प्रकार का द्वन्द्व या विरोध नहीं होता, ईसा को ईश्वर का

अवतार माना है। किंतु बाइबल संबंधी साहित्य के अधिकारी विद्वानों ने स्वयं कहा है कि चाहे वह ईश्वर का पुत्र रहा हो, किंतु आज्ञा पालन का पाठ तो उसने वास्तविक जीवन के कई अनुभवों के बाद ही सीखा, एवं ईश्वर के सामने अन्तःकरण की इस सहज समर्पण, एवं पूर्ण शरणागति की स्थिति तक कि जब वह चिल्ला उठा "तेरी इच्छा, मेरी इच्छा नहीं", अनेक दर्द पूर्ण अन्तर्द्वन्द्वों के उपरान्त ही पहुँच पाया था। इससे यही अनुमान लगता है कि ईसा का एक मानवीय व्यक्तित्व था जो स्वयं अनुभूत भावनाओं और विचारों में से गुजरता हुआ "मुक्त चेतना" की स्थिति तक पहुँचा था। और जब उसने निर्भय मुक्त स्वर से मानव को कहा था।

ईसा का उपदेशः—कि परमात्मा एक है, जो हम सबका दयालु पिता है और हम सब उसके समान भाव से पुत्र, एतदर्थ हम सब मानव प्राणी समान भाई भाई। "ईश्वर का राज्य" (Kingdom of Heaven) इस संसार में स्थापित होगा। एक ईश्वरीय राज्य प्रत्येक प्राणी के अंतर में भी स्थित है; अपने अंतर में प्रत्येक प्राणी इसकी अनुभूति करे—इसको प्राप्त (Realize) करे।

ये बातें किसी दूसरे से सीखी हुई नहीं थी, पुस्तकों में पढ़ी हुई नहीं थीं, विद्वानों के साथ वाद विवाद करके ईसा की

बुद्धि ने यह बातें ग्रहण नहीं की थीं, वरन् ये बातें थीं स्वयं अनुभूत, मानों स्वतः ही ईसा के अंतर में प्रकाशित हो उठी हों; और ईसा का अंतर इन प्रकाश की किरणों को खिलते हुए कमल की तरह आत्मसात कर गया हो। इसीलिये उसकी वाणी आकर्षक थी, सच्ची। इसीलिये उसकी वाणी बारबार दबाईजाने पर भी युग युग में फिर फिर मुखरित हो उठती है।

पच्छिमी प्रदेशों में उन लोगों के लिये जिनको यह वाणी सुनाई गई, यह एक अभूतपूर्व क्रांतिकारी वाणी थी। उन्होंने कभी नहीं सुना था कि ईश्वर का राज्य मानव का अंतस् में ही स्थित है, और मानव स्वयं अपने अंतस् में ही उस ईश्वरीय राज्य को प्राप्त करे; त्याग, सेवा, प्रेम और अहिंसा के व्रत को अपनाते हुए सम्पूर्णतयः अपने आपको ईश्वर में समार्पित करके, ईश्वर की इच्छा में अपनी इच्छा मिलाकर यह एक संदेश था कि मानव, एवं संसार का कल्याण इसी में है, ईश्वर राज्य (राम राज्य) की स्थापना तभी हो सकती है जब प्रत्येक व्यक्ति स्वयं अपना सुधार करले। इस संदेश की तुलना कीजिये आज २० वीं शताब्दी के महानतम विज्ञानवेत्ता आइनस्टाइन के शब्दों से। एक प्रश्न के उत्तर में कि किसी प्रकार मानव और समाज का नैतिक स्तर ऊँचा किया जा सकता है, आइनस्टाइन ने कहा था:-"कोई साधारण (General) तरीका नहीं हो सकता।

प्रत्येक पुरुष या स्त्री अपने आपको सुधारना प्रारंभ करे। आजकल हम त्याग की अपेक्षा सफलता को अधिक महत्व देते हैं। इस लिये लोग महत्वाकांक्षी हो गये हैं। यह महत्वाकांक्षा ही मानव की सबसे बड़ी शत्रु है हमें धन (Dollars) एकत्रित करना नहीं किंतु सेवा करना सीखना चाहिये।" यही क्राइस्ट की स्पिरिट है। ईसा का संसार त्याग का संसार है, सेवा का संसार है, एक दूसरे के प्रति संवेदनात्मक अनुभूति का संसार है।

ईसा की विशालता में संकुचितता को स्थान नहीं; ईश्वर सार्वभौम है, वह केवल यहूदियों का ईश्वर नहीं। यहूदी यह बात तो मानने लग गये थे किंतु उन्होंने ईश्वर को सौदागर देवता भी समझ रक्खा था, जिसने यहूदियों के पूर्वज अब्राहम से यह वायदा किया था कि वह यहूदी राज्य और यहूदी गौरव को पुनः स्थापित करेगा। ईसा ने बतलाया कि ईश्वर को कोई विशेष जाति, या देश, या राष्ट्र प्रिय नहीं, उसके सन्मुख सब बराबर हैं। ईश्वर के राज्य में (राम राज्य में) किसी को भी कोई विशेष अधिकार, कोई विशेष रियायत या छूट नहीं। ईसा अपनी बातों को, अपने भावों को छोटी छोटी कहानियां (Parables) के रूप में प्रकट किया करता था, यह ढंग ऐसा था जो सीधा हृदय पटल पर जाकर चोट करता था। ईसा ने

बतलाया कि मानव हृदय में जब ईश्वर के प्रति प्रेम उमड़ पड़ता है तो उसके सामने भाई, बहिन, माता पिता का कोई संबंध नहीं ठहरता, इन सब संबंधों को भूल कर वह केवल ईश्वर प्रेम के अथाह सागर में अवगाहन करने लग जाता है।

धन, वैभव, लालच, और लोभ ईश्वर के साम्राज्य तक पहुँचने में बहुत बड़े बाधक हैं। उसने कहा, "एक ऊँट के लिये यह आसान है कि वह सुई के छिद्र में से पार होजाये, किंतु एक धनी के लिये संभव नहीं कि वह "ईश्वर राज्य" में प्रवेश पासके।" फिर ईसाने धज्जियां उड़ाई ऐसी भावनाओं की जो बाह्य आचार विचार, एवं परम्पराओं में ही धर्म की स्थिति मानते हैं। वास्तविक धर्म बाह्याचार में नहीं, वह तो केवल ढोंग मात्र है; वास्तविक धर्म स्थित है, मानव हृदय की भावना में, अंतस् के सत्य में।

ऐसी दुनिया में (विशेषतः पच्छिमी प्रदेशों में यथा, फलस्तीन, सीरीया, ऐशिया माइनर, मेसोपोटेमिया, अरब, मिश्र में) जहाँ ईसा के प्रायः १० हजार वर्ष पूर्व से ईसा के आगमन काल तक, यहूदी द्रष्टाओं के उपदेशों (Old Testament) के उपरान्त भी, लोग स्थूल देवी देवताओं के भय से त्रासित थे, पुजारी और पुरोहितों के, जादू टोणे और

भविष्य वाणियों के चक्कर में फंसे हुए थे जो निडर हो स्थूल देवी देवताओं के अज्ञानांधकारपूर्ण भावनाओं को ध्वस्त नहीं कर सके थे, जहां धर्म में देव के प्रति प्रेमानुभूति नहीं किंतु भयानुभूति होती थी, एक ऐसी वाणी का उदय होना जो 'एक' दयालु परमात्मा की स्थापना करती थी, जो ईश्वर का स्थान मन्दिर या कोई अन्य लोक नहीं किन्तु मानव अंतर में ही बतलाती थी, जो व्यक्तिगत प्रेम, सत्य और भ्रातृभाव में ही ईश्वरत्व निहित मानती थी, सचमुच मानव इतिहास में एक क्रांतिकारी वाणी थी; "मानव चेतना" के उच्च विकास की द्योतक। माना सब प्राणी इस उच्चतर चेतना की उपलब्धि नहीं कर सके, किन्तु उनको इस बात का ज्ञान अवश्य हुआ कि मानव चेतना का इतना उच्चतर विकास संभव है।

मानव की कहानी में ईसामसीह एक ज्योति है जो भ्रांतिपूर्ण धार्मिक मान्यताओं से जकड़े हुए मानस को विमुक्त करती है, और मानव को यह आश्वासन देती है कि इसी संसार में रामराज्य स्थापित होगा, कि मानव अपने अंतस् में ही ईश्वर के दर्शन करेगा। यह ज्योति युग युग तक मानव को उसके अंधकारमय काल में, उसकी निःसहाय घड़ियों में एक सहारा देती रहेगी।

ईसा के उपदेशों पर ईसाई धर्म की स्थापना और प्रसार

जब ईसा को पकड़ लिया गया था, उसी समय उसके अनुयायियों भक्तों और मित्रों ने उसको विसार दिया था। रोमन कोर्ट में पेशी के वक्त अनेक उसके तथाकथित भक्त ही उसका विरोध कर रहे थे। ईसा अकेला था, गोलगोथा पहाड़ी पर, संध्यावेला में ईसा को सूली पर चढ़ा दिया गया; उस दृश्य को देखने तक के लिए कुछ थोड़े से मित्रों और कुछ दुःखित बुढ़िया स्त्रियों के अतिरिक्त कोई नहीं था। एक साधारणसी यह घटना हुई, उस समय के इतिहास में इसका कोई महत्व नहीं था। जैसे और अपराधी लोग सूली पर चढ़ा दिये जाते थे और उनकी मृत्यु हो जाती थी, वैसे ही ईसा की मृत्यु हो गई। किन्तु कुछ ईसा के चेले जो अपनी मसीहा की मृत्यु को इतना साधारण सा समझना गवारा नहीं कर सकते थे, यह कहने लगे कि ईसा का शरीर कब्र में से जगकर उठा और आकाश में से होता हुआ वह ईश्वर के पास पहुँच गया। फिर उनमें कहानी फैलने लगी कि ईसा फिर इस दुनियां में आयेगा, और मानव जाति का न्याय करने बैठेगा। संभव है, ईसा के इन भक्तों का ऐसा कहना उनकी तीव्र श्रद्धा भावना के फलस्वरूप हो, एवं उनके मानस पर प्राचीन जादू टोना संबंधी मान्यताओं का प्रभाव हो,

वह ग्रीक-दृष्टि जो वस्तुओं और घटनाओं का वैज्ञानिक दृष्टि से विश्लेषण किया करती थी, इन लोगों के पास नहीं थी।

अतएव ईसामसीह की वास्तविक वाणी और ऐसी मान्यतायें एक साथ घुल मिल गई। ईसा के ये भक्त अपना जीवन सचमुच बहुत ही सरलता और सचाई के साथ बिताते थे, सरल प्रेम भावना उनके हृदय में वास करती थी, किन्तु उनके धार्मिक विश्वास उपरोक्त कल्पित कहानियों के आधार पर बनते जा रहे थे। ईसा के सूली पर चढ़ जाने के बाद लगभग ६०–७० वर्षों में ईसाइयों की बाइबल (New Testament) के वे प्रथम चार अध्याय जिन्हें गोसपल्स (Gospels) कहते हैं लिखे जा चुके थे। इन्हीं गोसपल्स में ईसा के जीवन की घटनाओं का वर्णन है एवं ईसा की वाणी या ईसा के उपदेश संग्रहित हैं। यह बात सत्य है कि इन गोसपल्स में प्राचीन मान्यताओं के फलस्वरूप एवं श्रद्धा भावना से प्रेरित होकर अनेक अनैतिहासिक बातें आ गई हैं एवं ईसा की सब वाणी या उपदेश सर्वथा उसी रूप में जिस रूप में वे ईसा के मुंह से उच्चरित हुए थे संग्रहित नहीं हैं, किंतु फिर भी ईसा की भावना और ईसा की आत्मा हमें उन सरल कवित्वमय गोसपल्स में शुद्ध रूप से झलकती दिखलाई देती है। अनेक काल्पनिक बातें होते हुए भी उनमें वास्तविक वस्तु और सत्य छिप नहीं पाया है।

ईसा के ये साधारण भक्त ही ईसा के सन्देश को सर्व प्रथम अपने आसपास के लोगों में, जूडिया और सीरीया में लेगये। उस समय फलस्तीन, सीरीया, एशिया माइनर, उत्तरी अफ्रीका, ग्रीस, स्पेन, इटली इत्यादि प्रदेशों में रोमन सम्राटों का साम्राज्य था, सब धार्मिक, सामाजिक एवं राजनैतिक जीवन उन्हीं के बनाये हुए नियमों के अनुसार चलता था। नगरों में रोमन देवताओं और रोमन सम्राटों के मन्दिर थे जिनकी पूजा सबको करनी पड़ती थी और जिनके आगे सबको सिर झुकाना पड़ता था। रोमन शासक वर्ग खूब ऐश्वर्य और ठाठबाठ से रहते थे, बाकी अनेक लोगों की स्थिति गुलामों जैसी थी। ऐसी सामाजिक परिस्थितियों में ईसा के ये प्रारम्भिक भक्त लोगों में ईसा का सन्देश फैलाने लगे। अभीतक ईसा के उपदेशों से किसी संगठित धर्म की स्थापना नहीं हो पाई थी।

इसी समय एक अन्य उपदेशक का आगमन हुआ। जन्म से वह यहूदी था और उसका यहूदी नाम "साल" था। इसका रोमन नाम "पाल" (Paul) हुआ। ईसा का नाम सुनने के पहिले से ही वह एक धार्मिक शिक्षक था, और उस काल में यहूदी, ग्रीक और रोमन लोगों में प्रचलित धार्मिक मान्यताओं और विश्वासों का उसे खूब ज्ञान था। वह ईसा मसीह के जीवन काल में उपस्थित था किंतु ईसा को उसने कभी

देखा नहीं। ईसा के आदि अनुयायियों के सम्पर्क में आने के बाद वह स्वयं भी ईसा का भक्त बन गया, किंतु उस समय में प्रचलित अन्य मान्यताओं के आधार पर एवं कई अपने मौलिक विचार लेकर उसने ईसा के आदि उपदेशों को अपना ही एक संगठित रूप दिया और इस प्रकार संगठित ईसाई धर्म की स्थापना की। ईसाई धर्म के तत्व तो ईसा की वाणी में ही निहित थे, किंतु उनको संगठित सामाजिक रूप देकर एक मत (Creed) के रूप में प्रतिष्ठापन करने का काम पाल ने किया। ईसाई बाइबल के उपरोक्त चार गोसपल्स (Gospels) के अन्त में कुछ और अध्याय हैं जिन्हें ऐपिसटल्स, ऐक्ट्स (Epistles, Acts) कहते हैं, इन्हीं में पाल के विचार संग्रहित हैं। ईसाई धर्म के सबसे प्राचीन लिखित आगम (Scriptures) ईसवी सन् दूसरी शताब्दी के प्रारंभ के मिलते हैं। ये हस्त लिखित पन्ने हैं जो मिश्र के पेपीरस (Papyrus पेपीरस वृक्ष की छाल) पत्रों पर लिखे हैं। संगठित ईसा धर्म में ईसाई के पूर्वकाल में प्रचलित मंदिर, बलि, वेदी, भेंट चढाना, पुजारी, पुरोहित आदि रस्मों का समावेश हुआ, चाहे भिन्न रूप में ही सही। मंदिर के स्थान पर गिरजा घर आया, पुजारी पुरोहित के स्थान पर पादरी, मूर्ति की जगह क्रोस(+)। पाल ने यह बतलाया कि ईसा का सूली पर चढ़ाया जाना तो ईश्वर की वेदी पर मानव के पापों के प्रायश्चित

स्वरुप एक बलिदान (Sacrifice) था। इस प्रकार संगठित ईसाई धर्म का उपदेश उसने जगह जगह पर घूम कर दिया और ऐसा माना जाता है कि उस काल में ईसाई धर्म के प्रसार में उसी का हाथ सबसे जबरदस्त था। उसकी मृत्यु के बाद ईसाई धर्म का रोमन साम्राज्य के साधारण लोगों में धीरे धीरे प्रसार होता गया। ईसा की दो शताब्दियों तक किस प्रकार इसका प्रसार हुआ, किस प्रकार भिन्न भिन्न प्रदेशों में उन लोगों में भिन्न भिन्न विचारों, आचारों और धार्मिक रस्मों का विकास होता रहा, यह बहुत कम ज्ञात है। किंतु इतना निश्चित है कि अन्य लोगों के धार्मिक आचार विचारों में और इन लोगों के धार्मिक आचार विचारों में, परस्पर विनिमय होता रहा। अनेक गिरजाघर बनते रहे और क्रमवार पदाधिकारी पादरी लोग उनका संचालन करते रहे। इसके साथ ही साथ चौथी शताब्दी में स्वयं ईसाइयों में ईसा की वाणी को लेकर जो गोसपल्स में संग्रहित थीं, और जो ईसा की सूली के बाद ६०-७० वर्षों तक संग्रहित हो चुकी थीं, अनेक झगड़े और वाद विवाद होने लगे। ये झगड़े और वादविवाद यहां तक बढ़े थे कि परस्पर हिंसात्मक लड़ाइयां होती थीं, हत्यायें होती थीं, विरोधियों को जला दिया जाता था इत्यादि। ईसा ने कहा था--"मैं परमात्मा का पुत्र हूं और मानव का पुत्र भी।"-इसी बात को लेकर प्रश्न उठने लगे क्या ईसा स्वयं ईश्वर था, या ईश्वर ने उसको रचा था? कोई ईसाई

धर्मज्ञ कहने लगे ईसा ईश्वर से छोटा था, किन्हीं धर्मज्ञों ने पिता पुत्र और पवित्रदूत (Holy Ghost) की कल्पना रक्खी, और कहने लगे ये तीन भिन्न भिन्न प्राणी थे, किंतु एक परमात्मा। इन्हीं प्रश्नों को लेकर वादविवाद में अनेक दार्शनिक विचार भी प्रकट हुए। अन्त में यह सिद्धान्त कि पिता (ईश्वर), पुत्र (मानव), होलीघोस्ट (Holy Ghost) सब एक ही परमात्मा में समाहित हैं, स्वीकार कर लिया गया था। इसी अरसे में रोमन सम्राटों का ध्यान इस बढते हुए संगठित धर्म की ओर गया जिसके अनुयायियों के अनेक समाज संगठित हो चुके थे। सम्राटों को यह भास होने लगा कि ये लोग विद्रोहकारी थे, क्योंकि ये रोमन सम्राट "सीजर" को देव-तुल्य नहीं समझते थे और न "सीजर" के मंदिर में पूजा करने को तैय्यार होते थे। साथ ही ये लोग रोमन परम्पराओं, आचार विचारों की अवहेलना करते थे; ग्लेडियेटर खेलों का विरोध करते थे, वे ग्लेडियेटर (Gladiator) खेल जो कि रोमन सम्राटों के प्रमोद के साधन थे, जिनमें गुलाम पहलवान लोग आपस में लड़कर एक दूसरे को घायल करते थे, मारते थे, या ये पहलवान लोग जंगली जानवरों से लड़ते थे। अतएव रोमन सम्राट इन ईसाई लोगों से चिढ़ गये थे और उन्होंने इनका दमन करना प्रारंभ कर दिया। हृदयहीन दमन की सीमा पहुँची सम्राट डायोक्लेशियन के काल में (चतुर्थशताब्दी के आरंभ में)

जब गिरजाओं की सब धन सम्पति को लूट लिया गया, बाइबल की पुस्तकें (जो उस काल में सब हस्तलिखित थीं) एवं अन्य धार्मिक लेख जला दिये गये, अनेक कट्टर धर्मावलंबियों को फांसी देदी गई, और रोमन साम्राज्य में किसी भी ईसाई को किसी भी प्रकार का कानूनी अधिकार नहीं रहा। यह दमन चलता रहा किंतु ईसाई समाज दब न सका, ईसाई धर्मावलंबियों की संख्या में अभिवृद्धि होती रही; विशेषतया शायद इसलिये कि रोमन साम्राज्य में सामाजिक संगठन विशृंखल होता जारहा था, उसमें विच्छेदन प्रारम्भ होगया था, कोई एक आदर्श, कोई एक भावना नहीं बचपाई थी जो समस्त समाज को एक सूत्र में बांधे रखती, जो जन साधारण को प्रोत्साहित और उत्साहित करती रहती कि वे अपने संगठित रूप को बनाये हुए रहते चलें। दूसरी ओर ईसाई समाज में एक संगठित, व्यवस्थित ढंग आने लगा था। एक प्रांत का ईसाई व्यापारी किसी भी दूसरे प्रांत में चला जाता था तो वहां ईसाई समाज में उसका स्वागत होता था और उसको हर प्रकार का सहकार मिलता था, मानो साम्राज्य के सब प्रांतों में किसी एक ही भावना से प्रेरित, समान आदर्शों से अनुप्राणित सब ईसाई मतावलंबियों का एक ही समाज हो।

फिर रोमन साम्राज्य के इतिहास ने पलटा खाया। सन् ३२४ ई. में कॉन्स्टेनटाइन महान् (Constantine, The Great) रोमन साम्राज्य का सम्राट बना। उसने

अपनी तीव्र बुद्धि से देखा कि रोमन समाज विच्छिन्न होता जा रहा है उसको एक सूत्र में बांधे रखने के लिये किसी एक नैतिक आदर्श की आवश्यकता है। उसने देखा कि साम्राज्य के भिन्न भिन्न प्रान्तों के अनेक लोगों में प्रचलित ईसाई धर्म ऐसा आदर्श दे सकता है जिसके सूत्र में साम्राज्य के सब लोगों को संगठित किया जा सके; अतएव उसने ईसाई धर्म को मान्यता दी। ईसाइयों के विरुद्ध दमन चक्र समाप्त हुआ और कुछ ही वर्षों में ऐसा वातावरण उपस्थित हुआ कि ईसाई मत रोमन साम्राज्य के सब प्रान्तों में, यथा ग्रीस, इटली, इजराइल, सीरीया, स्पेन, फ्रांस (गॉल) में, राज्य-धर्म के रूप में स्थापित हो गया। फिर कॉन्स्टेन्टाइन महान् ने देखा कि ईसाई धर्म में अनेक वाद विवाद एवं भिन्न भिन्न धार्मिक आचार प्रचलित हैं, अतएव सम्पूर्ण ईसाई समाज में एक ही प्रकार के नियमों, आचार, परम्पराओं और मान्यताओं का प्रचलन हो, इस उद्देश्य से उसने सब ईसाई धर्म गुरुओं एवं गिरजाओं की एशिया माइनर के निसीया नामक नगर में सन् ३२५ ई. में एक वृहद् सभा बुलवाई और उसमें अनेक वाद विवादों के बाद कॉन्स्टेन्टाइन के निर्देशानुसार ईसाई धर्म और मान्यताओं का एक रूप स्थापित किया गया। आज संगठित ईसाई धर्म का जो रूप प्रचलित है वह उसी के अनुरूप है जिसका निर्माण उपरोक्त निसीया सम्मेलन में हुआ था।

सन् ३२५ ई. के बाद भी ईसाई समाज को एक सूत्र में बांधे रखने के लिये और सब धार्मिक मान्यताओं का एक रूप कायम रखने के लिये कई सम्मेलन भिन्न भिन्न रोमन सम्राटों ने बुलाये थे। इनके फलस्वरूप धर्म सम्बन्धी सब अधिकार चर्च (Church=गिरजा) में केन्द्रीभूत होते गये, और चर्च की शक्ति यहाँ तक बढ़ी कि वह कहीं भी किसी प्रकार के मतभेद को दबा सकती थी। धीरे धीरे पांचवी शताब्दी के प्रारम्भ तक समस्त रोमन साम्राज्य में ऐसी स्थिति आगई थी कि साम्राज्य के अन्तर्गत सब प्राचीन देवालय, मन्दिर (प्राचीन भिन्न भिन्न देवताओं के) ईसाई गिरजा बन गये थे और सब पुजारी ईसाई पादरी। प्राचीन मूर्तिपूजक (Pagan), मन्दिर और पुजारियों का धर्म प्रायः समाप्त हो चुका था। उन देशों में प्राचीन सभ्यतायें (जिनका मानसिक आधार अनेक देवी देवताओं की भयकृत पूजा, पुजारियों की शक्ति में आस्था, इत्यादि था) प्रायः समाप्त हो चुकी थीं; यदि प्राचीन सभ्यतायें शेष भी थीं तो परिवर्तित रूप में। उन देशों में वास्तव में अब एक नया मानव बस रहा था।

ईसाई मत की उपरोक्त एकता कायम रही; भिन्न भिन्न शताब्दियों में यथा चौथी से दसवीं ग्यारवीं शताब्दी तक जितने भी असभ्य लोग यथा फ्रैंक, नोर्समैन, वैन्डल्स, गोथिक

एवं वलगर्स लोग जिनका कोई भी संगठित धर्म नहीं था (असभ्य स्थिति में केवल किन्हीं आदिकालीन जातिगत देवताओं (Tribal Gods) में मान्यता थी) रोमन साम्राज्य में उत्तर या उत्तर पूर्व से आते गये, सब ईसाई धर्म में प्रतिष्ठित होते गये। ये ही असभ्य लोग जो ईसाई धर्म में प्रवेश पाते गये आज यूरोप में फ्रांस, जर्मनी, इटली, ईंगलैंड इत्यादि राष्ट्रीय राज्य स्थापित किये हुए हैं। किंतु हम जानते होंगे कि इन समस्त देशों के ईसाई, आज ईसाई धर्म के एक रुप को नहीं मानते। ईंगलैंड, जर्मनी, नीदरलैंड इत्यादि प्रोटेस्टेंट (Protestant) धर्म को मानते हैं; ग्रीस, बाल्कन प्रायद्वीप के देश, एवं रुस, "ओरथोडोक्स चर्च", अर्थात् सनातन प्राचीन गिरजा धर्म को मानते हैं, एवं इटली, स्पेन दक्षिण अमेरिका "रोमन कथोलिक" धर्म को। यह विभेद कैसे ?

सन् १०५४ ई. तक तो ईसाई मत की एकता बनी रही। उस समय रोमन साम्राज्य के दो अंग थे:-एक पूर्वीय जिसकी राजधानी कस्तुनतुनिया थी और जहां ग्रीक भाषा और ग्रीक प्रभाव विशेष था, दूसरा पच्छिमी अंग जिसकी राजधानी रोम थी। रोम के चर्च का मुख्य पादरी पोप कहलाता था, उसकी शक्ति बड़ी चढ़ी थी यहां तक कि पच्छिमी 'पवित्र रोमन साम्राज्य' के सम्राट भी उसके आधीन थे। उसने घोषणा की

कि वह समस्त ईसाई समाज का प्रमुख पादरी (पोप) था। पूर्वीय रोमन साम्राज्य में कस्तुनतुनिया की गिर्जा का पादरी और न वहां का सम्राट इस हक्क को मानने के लिये तैय्यार थे, अतः वाद विवाद प्रारंभ हो गया। एक छोटी सी बात पर विवाद हुआ--कस्तुनतुनिया का गिर्जा तो पुरानी प्रचलित मान्यता के अनुसार यह कहता था कि "होली घोस्ट" (Holy Ghost) का आविर्भाव पिता (Father=God) से हुआ था;" किन्तु रोमन गिर्जा यह मान्यता रखना चाहता था कि "होली घोस्ट" का आविर्भाव पिता और पुत्र (God and Christ) से हुआ था।" इसी पर वे दोनों गिर्जा एक दूसरे से सर्वथा पृथक हो गये, और उनमें किसी प्रकार का संबंध नहीं रहा। कुछ देशों के ईसाई ग्रीक गिर्जा के अंतर्गत रह गये, एवं शेष देशों के ईसाई रोमन गिर्जा के अन्तर्गत।

किन्तु रोम के पोप की महत्वाकांक्षा जबरदस्त थी। सचमुच वह पच्छिमी रोमन साम्राज्य (पवित्र साम्राज्य) के ईसाइयों की आत्मा का एकाधिपति था। साधारण जनता को उसकी धार्मिक शक्ति में निःसंदेह ऐसा विश्वास था कि वह चाहे जिसको स्वर्ग का पासपोर्ट देदे, चाहे जिसको नर्क में भिजवादे, चाहे जिसको मनचाही सजा देदे या सम्राट से दिलवादे, जो कोई भी उसको मान्यता न दे उसको जलवाकर भस्म

करवादे, इत्यादि। और वास्तव में उन शताब्दियों में (१० वीं से १६ वीं) इस प्रकार हजारों निर्दोष मानवों की हत्या की गई, उनको जलाया गया उनकी धन सम्पत्ति लूटी गई। इन सब कारणों से १६ वीं शताब्दी के आरंभ में धार्मिक सुधार की एक लहर फैली, जिसके प्रवर्तक जर्मनी के मार्टिन लूथर हुए। मार्टिन लूथर ने पोप और उसके व्यक्तिगत धर्माडंबरों का विरोध किया; इस प्रकार विरोध करने वाले प्रोटेस्टेंट कहलाते। लूथर के प्रभाव में अनेक देशों की गिर्जाओं ने रोम के पोप से अपना संबंध तोड़लिया और उन्होंने अपने आपको स्वतन्त्र घोषित किया। प्रमुखतः इंगलैंड, जर्मनी नीदरलैंड इत्यादि देशों की गिर्जाओं ने ऐसा किया—वे प्रोटेस्टेंट चर्च हुईं; इटली, स्पेन इत्यादि की चर्च रोमनपोप के साथ रहीं; ये रोमन कथोलिक चर्च हुईं।

इस प्रकार हम देखते हैं:—प्रायः १४००-१२०० ई. पू. में अरब से चल कर यहूदी लोग इजराइल में बसे, वहाँ रहते रहते उन्होंने धीरे धीरे यहूदी बाइबल; यहूदी धर्म का विकास किया, जिसने अनेक देवी देवताओं में से लोगों की मान्यता हटा केवल एक सर्व शक्तिमान नैतिकता के ईश्वर की स्थापना की, इस भाव को पुष्ट किया यहूदी लोगों के द्रष्टाओं (Prophets) ने, इन्हीं द्रष्टाओं में उदय हुआ अनुपम मानव "ईसा" का, जिसकी मुक्त

चेतना ने घोषणा की प्रेम और करुणामय एक ईश्वर की, ईश्वरीय राज्य (रामराज्य) की, और फिर बतलाया कि यह रामराज्य मानव के अन्तर में ही स्थित है,—मानव अपने अन्तर में ही प्रेममय भगवान के दर्शन कर सकता है।

ईसा के कुछ ही वर्षों बाद इसी वाणी के आधार पर संत पाल द्वारा स्थापना हुई संगठित ईसाई धर्म की, धीरे धीरे अनेक मान्यताओं और विश्वासों का उसमें समावेश हुआ, उन सबको संगठित रूप मिला सन् ३२५ ई. में रोमन सम्राट कोन्स्टेनटाइन के समय में नीसीया के सर्व-गिर्जा सम्मेलन में। इसी संगठित मत का प्रचार हुआ, और कालांतर में इसीके तीन विभिन्न अन्ग हुए—ओर्थोडोक्स रोमनकथोलिक एवं प्रोटेस्टेंट गिर्जा जो आज भिन्न भिन्न ईसाई देशों में प्रचलित हैं।

यह है मानव के इतिहास में ईसा और ईसाई धर्म की कहानी।

—::—

३१

भारत का इतिहास

भूमिका एवं काल विभाजन

भारत का इतिहास भारतीय आर्यों के विकास का इतिहास है। भारत से अपरिचित किसी भी विदेशी को बाहर

देखने में भले ही ऐसा प्रतीत हो कि भारत तो भिन्न भिन्न जातियों, भिन्न भिन्न धर्मों, भिन्न भिन्न भाषाओं, एवं भिन्न भिन्न वेश-भूषा और रीति-रस्मों में विभाजित एक देश है, किन्तु यह विभिन्नता होते हुए भी इस विशाल देश के समस्त जीवन और अन्तस में एक अपूर्व साम्य है। विभिन्नता में एकता है। भारतीय एक विशिष्ट जीवन दृष्टिकोण है—यहां "आत्मतत्व" में एक अपूर्व विश्वास है, वह आत्म तत्व जिसके विषय में आज भी मानव एक प्रश्न-सूचक दृष्टि से सोचरहा है, वह आत्मतत्व जिसके दृष्टा प्राचीन भारतीय आर्य थे। इन भारतीय आर्यों की उत्पत्ति एवं प्रारम्भिक विकास के विषय में पूर्व-अध्यायों में विचार किया जा चुका है और यह कहा जाचुका है कि एक मत के अनुसार तो आर्यों का उद्भव भारत में ही ईसा के पूर्व अति प्राचीन काल में हुआ; दूसरे मत के अनुसार ये आर्य २५०० से १५०० ई. पू. में मध्य एशिया से आकर भारत में बसे।

भारत में आर्यों के उद्भव के पहिले प्राचीन पाषाण युग एवं नव पाषाण युग के मानव रहते होंगे। सम्भव है आजकल के मध्य भारत में पाये जाने वाले आदि मानव गौंड, विन्ध्याचल की पहाड़ियों में पाये जाने वाले आदि मानव भील, छोटा नागपुर में पाये जाने वाले आदि मानव सन्थाल, भारत के

प्राचीन या नव पाषाण युग के अवशेष मानव हों, किन्तु इनकी संख्या नगण्य है, इनका कोई इतिहास नहीं। फिर कुछ इतिहासकार अनुमान लगाते हैं कि या तो दक्षिण में गोंडवाना महाद्वीप से, या भारत के उत्तर–पच्छिम में मध्य एशिया से अति प्राचीन काल में द्राविड़ लोग उत्तर भारत में आकर बसे। द्राविड़ लोग सांवले रंग और नाटे कद के मानव थे। इनकी प्रारम्भिक सभ्यता सौर–पाषाणी नगर सभ्यता थी जिसका वर्णन पूर्व अध्याय में किया जा चुका है। कुछ ऐसा भी अनुमान है कि ४–५ हजार वर्ष ई. पू. की सौर–पाषाणी सभ्यता से जो भारत की सिन्धु नदी की घाटी में प्रचलित थी और जिसका पता आजकल की मोहेनजोदाड़ो और हरप्पा की खुदाइयों से लगा है, द्राविड़ लोगों का सम्बन्ध था। यह भी उल्लेख हो चुका है कि प्राचीन मिश्र और बेबीलोन से सामुद्रिक राह द्वारा द्राविड़ लोगों का व्यापारिक सम्बन्ध था किन्तु उत्तरीय भारत में आर्यों के विस्तार के साथ साथ द्राविड़ लोग दक्षिण भारत में जा जाकर बस गये। कुछ इतिहासकारों का ऐसा भी अनुमान है कि द्राविड़ लोगों का उत्तर भारत से कभी भी कुछ सम्बन्ध नही रहा। अति प्राचीन काल में दक्षिण भारत का पठार गोंडवाना महाद्वीप का एक भाग था। उस समय दक्षिण भारत के पठार और उत्तर भारत के बीच में समुद्र लहलहा रहा था। ऐसे प्राचीन काल में द्राविड़ लोग गोंडवाना से चलकर दक्षिण भारत में आकर

बस गये, और वहीं बसे रहे। शनैः शनैः जब उत्तर भारत और दक्षिण भारत के बीच का समुद्र पट गया, और आर्य सभ्यता का उत्तर भारत से प्रसार होने लगा (स्यात् भारतीय इतिहास के रामायण काल के पूर्व से ही) तब द्राविड लोग आर्य संस्कृति में संस्कारित होने लगे और उनकी अपनी स्वतन्त्र भाषा और अपना स्वतन्त्र साहित्य होते हुए भी वे आर्यत्व में इतना घुल मिल गये कि द्राविड जाति की आत्मा (भाव एवं जीवन तरङ्ग) आर्य जाति की आत्मा (भाव एवं जीवन तरङ्ग) से भिन्न नहीं रही। आर्यों ने भी उनकी अनेक बातें ग्रहण की और इस प्रकार एक भारतीय संस्कृति का विकास होने लगा।

भारत में उपरोक्त आर्यों और द्राविडों के समावेश के बाद, यहां कई और जातियां आईं—पहिले तो ई. पू. प्रायः दूसरी शताब्दी में शक (सम्भवत. मंगोल और तुर्क लोगों की मिश्रित एक जाति) फिर ई. सन् की पहली शताब्दी में कुशान (सम्भवतः ईरानी आर्य और तुर्क लोगों की मिश्रित एक जाति) फिर ईसा की ५वीं ६ठी शताब्दी में सफेद हूण जातियां;–किन्तु ये सब जातियां भी धीरे धीरे आर्यों में सर्वथा घुल मिल गई और उनका पृथक अस्तित्व कुछ भी नहीं रहा। फिर ८ वीं शताब्दी में अरब से अरबी मुसलमान, और ११ वीं १२ वीं शताब्दियों में (ईरानी, तुर्की, अफगानी मिश्रित) मुसलमान और अन्त में १६ वीं शती में मंगोल जाति के मुसलमान भारत में

आये और उन्होंने अपने साम्राज्य भी स्थापित किये, किन्तु वे भी यहां के वातावरण में और प्राचीन निवासियों में (आर्यों में) घुल मिल गये। भारत में आज जो मुसलमान हैं वे अधिकांशतः भारतीय प्राचीन निवासियों में से ही परिवर्तित हैं;—बाहर से आने वाले मुसलमान तो बहुत कम थे। अतः यद्यपि भारतीय मुसलमान यहां के आदि जीवन और सभ्यता से पृथक्त्व अनुभव करते रहे, और करते रहते हैं, और अपना सम्बन्ध बाहर अरब से स्थापित करते हैं किन्तु वे भारतीय वातावरण, भारतीय संस्कार, और भारतीय मानव से वस्तुतः विलग नहीं हैं। अरब, ईरान इत्यादि के मुसलमानों से तो वे प्रत्यक्ष भिन्न हैं।

भारत से अपरिचित किसी विदेशी को बाहिर से देखनें में भले ही ऐसा प्रतीत हो कि भारत तो भिन्न भिन्न जातियों, भिन्न भिन्न धर्मों, भिन्न भिन्न बोलियों, भिन्न भिन्न वेश-भूषा एवं भिन्न भिन्न रीति-रस्मों में विभाजित एक देश है, किंतु यह विभिन्नता होते हुए भी इस विशाल देश के समस्त जीवन और अन्तस में एक अपूर्व साम्य है। विभिन्नता में एकता है। भारतीयता एक विशिष्ट जीवन दृष्टि-कोण है-यहां "आत्म-तत्व" में एक अपूर्व विश्वास है, वह आत्म-तत्व जिसके विषय में आज भी मानव एक प्रश्न-सूचक दृष्टि से सोच रहा है-वह आत्म तत्व जिसका "दृष्टा" प्राचीन आर्य ऋषि था। इस प्रकार हम देखते हैं कि भारत से बाहर की जातियां जो भी भारत में आई

वे भारतीय आर्यों में घुलती मिलती रही। इसलिये हमने प्रारम्भ में कहा था कि भारत का इतिहास भारतीय आर्यों के विकास का इतिहास है। इन भारतीय आर्यों की उत्पत्ति एवं प्रारंभिक विकास के विषय में पूर्व अध्यायों में कुछ विचार किया जा चुका है किन्तु अभी तक भारत के इतिहास का काल-क्रमानुसार अवलोकन बाकी है। यही अब हम करेंगे। अध्ययन की सुविधा की दृष्टि से हम भारतीय इतिहास को निम्न काल विभागों में बांट सकते हैं।

प्राचीन युग

१. पूर्वार्द्ध-अनिश्चित प्राचीन काल से लेकर ई. पू. ४ शताब्दी में मौर्य साम्राज्य के संस्थापन काल के पूर्व तक, जब से तिथिवत् भारत का इतिहास कायम होता है। इस काल में मुख्यतय: ३ काल खंडों का समावेशहोता है।

पूर्वार्द्ध १. ऋग्वैदिक काल

२. उत्तर वैदिक काल (महाकाव्यों की घटनायें)

३. महाजन पद युग तथा मगध काल (ई. पू. ८वीं शताब्दी से ई. पू. ४थी शताब्दी तक)

२. उत्तरार्ध-ई. पू. ३३२ ६५० ई. तक-मौर्य्य, कुशान, गुप्त एवं हर्ष साम्राज्य काल.

मध्य युग

३. पूर्वार्द्ध-६५० से १२०६ ई. तक राजपूत राज्य काल

४. उत्तरार्ध-१२०६ से १५२६ ई. पठान राज्यकाल

आधुनिक युग

- ५. मुगल राज्य काल-१५२६ से १७०७ बाबर से सम्राट औरङ्गजेब तक-जिसके पश्चात् मुगल साम्राज्य की परम्परा चाहे १८५७ तक चलती रहती है किन्तु नाम मात्र,
- ६. हिन्दू मराठा प्रभुत्व काल-१७०७ से १८१८
- ७. अंग्रेज राज्य काल-१८१८ से १९४७
  १८१८-१८५७ ईस्ट इंडिया कम्पनी
  १८५८--१९४७ बृटिश साम्राज्य
- ८. १५ अगस्त १९४७ से स्वतन्त्र भारत

३२

भारत

(प्राचीन युग-पूर्वार्ध-पूर्व वैदिक काल से ई. पू चतुर्थ शताब्दी तक)

१. ऋग्वैदिक काल

भारतीय इतिहास बहुत प्राचीन है । यहां की सभ्यता मिश्र, बेबीलोन की सभ्यता से भी प्राचीन मानी जाती है । जिस प्रकार सम्भवतः चीन की सभ्यता का स्वतन्त्र विकास हुआ उसी प्रकार संभव है भारत की सभ्यता का भी भारत में ही उत्पन्न आर्य लोगों में स्वतन्त्र विकास हुआ हो। यहां का इतिहास प्राचीन होते हुए भी प्राचीन मिश्र, बेबीलोन की तरह यहां सम्राटों के राज्य एवं विजय की घटनाओं का कुछ भी

पता नहीं लगता, वस्तुतः ग्रीक आक्रमण के पहिले किसी घटना के निश्चित काल का पता नहीं।

इसका कारण है। आजकल इतिहास जिस अर्थ में समझा जाता है अर्थात् साम्राज्यों की स्थापना, युद्ध के वर्णन, परस्पर जातियों में टक्कर एवं राज्य परिवर्तन इत्यादि, उस अर्थ में सचमुच भारतवर्ष का प्राचीन इतिहास नहीं पाया जाता। वैदिक काल में आर्यों के जीवन का जो आदर्श था उसके अनुकूल, यहां वैदिक काल में विशाल राज्यों या साम्राज्यों का विकास नहीं हुआ और न कोई विशाल स्मारक, समाधियां, महल, मन्दिर इत्यादि बनवाये गये। मुख्यतः तपोभूमि एवं गाँवों का सरल जीवन था। धीरे धीरे विशेष नगरों में या विशेष परिमित स्थानों में आर्य राजाओं की राजधानियों का विकास अवश्य होगया था। अधिक प्रतिष्ठित, बनने के उद्देश्य से राजाओं में परस्पर युद्ध भी होते थे, किन्तु किसी विशाल राज्य की स्थापना नहीं हो पाई थी।

इन लोगों का लक्ष्य सरल उपासना मय जीवन था जिसमें सांसारिक सुख भी हो, किन्तु वह सुख कृषि, दुग्ध, फलफूल एवं निर्भय संतान की इच्छा एवं अनार्य शत्रुओं से रक्षा तक ही सीमित था। सृष्टि, प्रकृति, जीवन और आनन्दानुभूति के ज्ञान के विषय में आर्य लोग जिस गहराई तक पहुँच चुके थे, उस गहराई तक संसार में मानव अन्य कहीं नहीं पहुंच पाया था,

मिश्र और बेबीलोन के मानव की बुद्धि अभी बहुत सीमित और उसका मानस भयातुर था, उसे विमुक्ति की अनुभूति नहीं हो पाई थी। ग्रीक दार्शनिकों एवं मनीषियों ने जिस बौद्धिक स्वतंत्रता और मानसिक निर्भयता की अनुभूति की थी, वह भी थी अद्भुत किंतु उनका सृष्टि के तात्विक तथ्य का ज्ञान न तो अनुभूत्यात्मक ही था—और न वे निश्चित रूप से शुद्ध "आत्म तत्व" की कल्पना तक पहुँच पाये थे। चीनी दार्शनिक भी दृष्ट संसार की परिवर्तनशीलता तक ही रह गये—इसके परे किसी अपरिवर्तनीय तत्व को वे नहीं देख पाये। सारांश यही है कि प्राचीन भारतीय इतिहास के दर्शन हमें नगरों, महलों, साम्राज्यों के अवशेषों में नहीं किंतु विशेषतः उनके तत्व संबन्धी साहित्य अवशेषों में मिलते हैं।

वैदिक काल में सामाजिक जीवन—ऋग्वैदिक या उत्तर वैदिक या उससे भी बाद के काल के सामाजिक जीवन का पूर्ण चित्र हमें नहीं मिलता। तत्कालीन साहित्य के आधार पर उसकी कल्पना की जाती है। यह भी एक तथ्य है कि समाज की स्थिति उस प्राचीन काल में सर्वदा एकसी नहीं रही, उसमें भी परिवर्तन और विकास होता रहा, जैसे भारतीय इतिहास के वैदिक काल का जीवन सूत्र काल से भिन्न था, सूत्र काल का जीवन महाकाव्य काल से भिन्न था, महाकाव्य काल का जीवन

उस काल से भिन्न था जब भारत में बुद्ध और जैन धर्म का उद्भव हुआ।

वैदिक काल में लोग वैदिक-संस्कृत भाषा बोलते थे, उस भाषा का लिखित रुप शुरु में विद्यमान नहीं था, अतएव जीवन-विज्ञान एवं अध्यात्म सम्बन्धी ज्ञान का विनिमय चर्चा और उपदेश के रुप में होता था, और दृष्ट मंत्रों की रक्षा (Preservation) विद्याओं को कंठस्थ करके की जाती थी। इस प्रकार विद्याओं की परम्परा चलती रहती थी। उस समय मूर्ति-पूजा बिल्कुल नहीं थी और न मन्दिर निर्माण कराये जाते थे-अनंत आकाश के तले यज्ञ, हवन देव-प्रार्थना एवं उपासना होती थी। जीवन-निर्वाह के लिये मुख्य काम कृषि और पशुपालन था। दुग्ध, दही, घी, जौ और गेहूं और मांस इनके खाद्य पदार्थ थे। वे एक प्रकार का रस पीते थे जिसे सोमरस कहा जाता था और जिसके पीने से वे तनमय होजाते थे। आखेट, और रथों एवं घोड़ों की दौड इत्यादि इनके मनोरंजन के साधन थे। संगीत, वाद्य और नृत्य भी जीवन के अंग थे। रक्षा के लिये विशेषतः तीर-कमान, परसा, भाला, कवच, तलवार और गदा का प्रयोग होता था। अधिकतर समय सामूहिक यज्ञ, हवन और उपासना करने मे ही व्यतीत होता था। इनकी प्रार्थनायें सामूहिक लोक कल्याण के लिये ही होती थी, उनकी वृत्ति सात्विक होती थी।

मृत्यु पुनर्जन्म और कर्म-फल भोग आदि सम्बन्धी विचार

ऋगवेद में कुछ ऐसे मन्त्र आते हैं जिनसे भासित होता है कि वैदिक आर्य पुनर्जन्म एवं कर्म-सिद्धांत में विश्वास करते थे, यद्यपि यह निश्चय--पूर्वक नहीं कहा जा सकता कि उस काल में ये विश्वास सर्व-मान्य और सुस्पष्ट हो गये थे। निम्न ऋग्वैदिक मन्त्र से पुनर्जन्म और कर्म फल भोग दोनों सिद्धान्तों का आभास मिलता है,—यह आभास-मात्र है।

सूर्य चत्तुर्गच्छतु वातमात्माद्यां न गच्छ पृथिवीं च धर्मणा
अपोवा गच्छ यदितत्रते हितमोषधिषु प्रतिष्ठा शरीरैः
(ऋ. १०-१६-३)

भावार्थ--"शरीर यद्यपि अग्नि से भस्म हो जाता है (आर्य-लोग मृतको को जलाया करते थे) तथापि उसकी आत्मा नष्ट नहीं होती है। भिन्न भिन्न इन्द्रियाँ अपने अपने भौतिक पदार्थों में मिल जाती हैं; प्राण वायु लोक में मिल जाता है और जीवात्मा अपने किये हुए धर्म के अनुकूल, स्वर्ग पृथ्वी तथा अंतरित्त में यथावत् शरीर को धारण कर भोगों को भोगता है।" किन्तु इस विषय में कई भारतीय विद्वानों में ही मतभेद है। कई तो निर्विवाद रुप से अब यह सिद्ध मानते हैं कि भारत में आर्यों के आगमन के पहिले यहां कम से कम दो सभ्यतायें मौजूद थी

जो आर्यों से किसी भी प्रकार निम्न कोटि की नहीं थीं--यथा आस्ट्रिक (कोल) और द्राविड सभ्यतायें और इन्हीं सभ्यताओं से प्रभावित होकर ही आर्यों में पुनर्जन्म (और श्राद्ध) के विचार जो इन सभ्यताओं में एक आदिकालीन (Primitive) भय के रुप में विद्यमान थे धीरे धीरे विकसित हो गये और कालान्तर में जाकर वे आर्यों की सभ्यता और विश्वासों के प्रमुख अंग बन गये ।

इसके अतिरिक्त वैदिक आर्यों के प्रकृति और जीवन सम्बन्धी विचार एवं वे कृतियां जिन में ये विचार संग्रहित हैं, अर्थात् वेद, उपनिषद, दर्शन-शास्त्र इत्यादि; इनका परिचयात्मक उल्लेख पूर्व अध्याय में हो चुका है, एवं वेदों, उपनिषदों एवं दर्शन-शास्त्रों में जो समरस एक तत्व विद्यमान है उसका आभास पाने का प्रयत्न हम "आर्यों की संस्कृति एवं उसकी आत्मा" नामक अध्याय में कर चुके हैं । जो कुछ इन पूर्वोक्त अध्यायों में लिखा जा चुका है वही आर्यों की प्राचीन निधि है, वही उनका प्राचीन इतिहास।

राजकीय संगठनः— ऐसा अनुमान है कि आर्य-जाति के आरम्भिक काल में कोई राजा नहीं था; लोग अपने अपने परिवारों में, परिवार के वयोवृद्ध पुरुष के नेतृत्व और आदेश में रहते थे। ऐसे कई परिवार मिलकर एक समुदायं बन जाता

था जिसको वे "जन" कहते थे। यह एक प्रकार का एक ही प्राचीन वंश का, या एक जाति का समुदाय होता था। इस समुदाय की जन संख्या में जब वृद्ध हो जाती थी तो समुदाय के लोग कई गांवों में फैल जाते थे। इस प्रकार जब "जनों" और गांवों में वृद्धि हुई तो उन्हें किसी राजकीय व्यवस्था की आवश्यकता प्रतीत हुई। ऐसी स्थिति आने पर ये जन एक मुखिया का "वरण" करने लगे थे जिसे राजा कहा जाता था। वरण का यह अर्थ था कि प्रजा राजा को चुनती थी। यदि कोई राज-पुत्र होना तो प्रजा की स्वकृति के बाद ही वह राजा होता था। राजा को प्रजा के प्रतिकूल होने पर हटाया जा सकता था। राजकीय अधिकार की आदि शुरुआत (Origin) के विषय में महाभारत में कुछ ऐसी बात आती है कि ज्यों ज्यों जन-संख्या बढ़ने लगी पारस्परिक झगड़े आरम्भ हुए, लोग अतयन्त दुखी हो गये, प्रजा-पति के पास गये और अपनी समस्या कह सुनाई। प्रजापति नें कहा इसका एक ही उपाय है, वह यह कि तुम लोग अपने में से ही एक राजा चुनो, उसकी आज्ञा का तुम पालन करो, और वह तुम्हारी रक्षा करे। उसके खर्चे के लिये तुम अपनी आय का एक नियमित भाग उसको दिया करो। इस प्रकार मनु पहला राजा बनाया गया। उसने नियम बनाये और दंड निश्चित किये। भीष्म पितामह ने राजा-निर्वाचन के सम्बन्ध में कहा है कि यदि राजा प्रजा की रक्षा

करने योग्य नहीं हो तो उसे हटा देना चाहिये।

धीरे धीरे समाज और धर्म का विकास हो जाने पर, अनेक वर्षों बाद सामाजिक संगठन के दो मूल-भूत आधार बन गये थे। पहिला वर्ण-धर्म और दूसरा आश्रम-धर्म।

वर्ण-धर्म—भारतीय वैदिक समाज में धीरे धीरे चार वर्ण हो गये थे। १. ब्राह्मण २. क्षत्री ३. वैश्य ४. शुद्र। ब्राह्मण वह जो समाज का बौद्धिक, धार्मिक एवं आध्यात्मिक संचालन एवं नेतृत्व करे। क्षत्री वह जो समाज की रक्षा करे। वैश्य वह जो समाज का भरण-पोषण करे। शुद्र वह जो समाज की सेवा करे। व्यक्ति अपने स्वभाव एवं विकास की स्थिति के अनुसार उन चारों वर्णों में से किसी भी एक को ग्रहण कर सकता था। व्यक्तियों का वर्ण निर्धारण जन्म से नहीं होता था। किन्तु ज्यों ज्यों समय बीता लोग तात्विक बात को भूलने लगे, अन्धे होकर परम्परानुगामी होने लगे, एवं कालान्तर में एक ऐसी स्थिति आई जब वर्ण जन्म से माने जाने लगे। ऐसी स्थिति स्यात् ईसा के कई शताब्दियों पूर्व काल में ही आ चुकी थी। इतना ही नहीं, वरन् धीरे धीरे अनेक शताब्दियों में वैदिक (हिन्दू) समाज उपरोक्त चार वर्ण के अलावा सैंकड़ो, हजारों जातियों में विभक्त होगया,—यह बात हिन्दू समाज की अवनति का भी एक कारण बनी।

आश्रम-धर्म–धीरे धीरे आर्य मनीषियों ने, मानव जीवन किस प्रकार बिताना चाहिये इस बात की मनो-वैज्ञानिक आधार पर एक कल्पना की। यह मानकर कि मनुष्य की आयु प्रायः सौ वर्ष की होती है, इसे चार आश्रमों में बाँट दिया गया। १. ब्रह्मचर्य आश्रम–बालक २५ वर्ष तक ब्रह्मचर्य व्रत पालन करे और विद्याध्यन करे। उस काल में विद्याध्यन तपोभूमियों में स्थित गुरुओं अथवा ऋषियों के आश्रमों में होता था। २. गृहस्थ-आश्रम–२५ वर्ष से ५० वर्ष की आयु तक मनुष्य वैवाहिक जीवन व्यतीत करे, परिवार और समाज का पालन करे। ३. वानप्रस्थ आश्रम–'५० से ७५ वर्ष की आयु तक पति और पत्नि अपने परिवार को छोड़ कर, अपने पुत्रों को परिवार संचालन एवं सांसारिक कार्यों का सब उत्तरदायित्व देकर स्वयं कहीं बाहर एकान्त स्थान में चलें जायें और वहाँ ईश्वर उपासना में और अध्यात्म चिन्तन में अपना जीवन बितायें। ४. सन्यास आश्रम–७५ वर्ष की आयु के उपरान्त मनुष्य बिल्कुल अकेला रहे, अध्यात्म चिन्तन करे, एवं समाज और मानव के कल्याण के लिये उनका उचित मार्ग प्रदर्शन करे।

समाज में स्त्रियों का स्थानः—स्त्रियों का बहुत आदर होता था। जीवन में स्त्री और पुरुष एक दूसरे के पूरक और सहचर समझे जाते थे। कोई भी धर्म के कार्य हवन, यज्ञ

इत्यादि होते थे तो उनमें दोनों को एक साथ बैठना पड़ता था। वैदिक विधान के अनुसार पति या पत्नि एक ही शरीर के दो अङ्ग हैं। एक के बिना दूसरा अपूर्ण है, अतएव विकल अङ्ग के कारण अकेले इनमें से कोई भी धर्म कार्य नहीं कर सकता। वैदिक भावना यही रही है कि पति और पत्नि में एकता का भाव हो—"यह जो तुम्हारा हृदय है सो मेरा है और मेरा हृदय तुम्हारा है"। पर्दे की प्रथा का प्रचलन नहीं था—उस काल तक उनको ज्ञान भी नहीं था कि ऐसी भी कोई प्रथा हो सकती है। "युवक युवती को अपना सहचर चुनने की पूरी स्वतन्त्रता रहती थी। विनोद के कार्यों और स्थानों में उन्हें परस्पर अभ्ययन और अभिमनन करने (मिलने, मनाने) के यथेष्ट अवसर मिलते थे। राजपुत्रियों के स्वयंवर होते थे। विधवायें फिर विवाह कर लेतीं थीं।" (जयचन्द्र)। अनेक स्त्रियां एवं ऋषि पत्नियां बहुत विदुषी होती थीं। कई स्त्रियां वेदों की कई ऋचाओं की दृष्टा थीं।

२. उत्तर वैदिक काल (महाकाव्यों की घटनायें)

तपोभूमि में निःश्रेयस के ज्ञानोदय के बाद शनैः शनैः सामाजिक संगठन प्रारम्भिक सरलता से अपेक्षाकृत जटिल होता गया और इस प्रकार एक अनिश्चित लम्बा काल बीता। इस काल

में मनुष्य के भावों में परिवर्तन हुआ। आदि वेद अपने आप में अब तक एक सुसँस्थापित पूज्यनीय संस्था (Institution) बन चुके थे—समस्त आर्य समाज के आचरण के आधार। जन संख्या में वृद्धि हो चुकी थी, अनेक बस्तियां बस चुकीं थीं, अनेक छोटे छोटे राज्य स्थापित हो चुके थे, जहां राजा न्याय और दया से शासन करते थे। कला कौशल का विकास हो रहा था जैसे आभूषण निर्माण, शस्त्रास्त्र निर्माण, भवन निर्माण आदि। उद्यान और वाटिकायें लगाईं जातीं थीं, एवं सूत के अतिरिक्त रेशमी वस्त्रों का प्रयोग होता था। अनेक जन इन शिल्प कला के कामों में लगे थे, बहु संख्यक सर्व साधारण का मुख्य काम तो कृषि और पशुपालन ही था। भूमि अवश्य धन्य-धान्य पूर्ण थी। आचार्यों या गुरूजनों के आश्रमों में शिक्षाध्यापन होता था, वेद शिक्षा के अतिरिक्त शस्त्राशस्त्र विद्या एवं अन्य विद्याओं की शिक्षा भी होती थी। समाज में वर्ण विभाजन अब पहिले कीं अपेक्षा कठोर था, वैदिक देवों की पूजा कम हो चली थी, पुनर्जन्म में विश्वास जो वैदिक युग में स्यात् अस्पष्ट था, अब अधिक व्यापक रूप में विद्यमान था। तपोभूमियां और ऋषियों के आश्रम अब भी वैसे ही थे। यज्ञ, हवनादि अधिक विस्तृत और जटिल होगये थे। बलि दी जाने लगी थी। वैदिक धर्म मूल सरलता खो रहा था, कर्मकाण्ड जोर पकड़ गया था।

इस प्रकार धीरे धीरे वैदिक काल बीतते बीतते, समाज का विकास होते होते, नगरों और राज्यों का विकास होते होते भारतीय इतिहास का वह युग आया जिसे उत्तर वैदिक काल कहते हैं, और जिसमें सामाजिक संगठन की रूप रेखा प्रायः ऐसी ही थी जो ऊपर चित्रित की गई है।

उत्तर वैदिक काल में वस्तुतः वे घटनायें घटित हुईं जो आर्यों के दो महाकाव्य रामायण और महाभारत में मुख्यतः वर्णित हैं,—चाहे इन काव्यों की रचना घटनाओं के अनेक वर्षों बाद हुई हो। इनकी रचना के सम्बन्ध में पूर्व अध्याय में कहा जा चुका है। इन काव्यों का विचार है:—रामायण में राजा राम की कथा और महाभारत में भारत के दो प्रसिद्ध वंश कौरवों और पाँडवों के युद्ध की कथा और इसकी पृष्ठ भूमि में श्रीकृष्ण का अपूर्व व्यक्तित्व इनमें से रामायण की घटना पूर्ववर्ती है और महाभारत की घटना बाद की। सम्भव है इन दोनों घटनाओं बीच अनेक शताब्दियों बीती हों।

रामायण—रामायण की कथा इस प्रकार है:-अयोध्या के राजा दशरथ के तीन रानियां थी-कौशल्या, कैकेयी, सुमित्रा; एवं चार पुत्र थे। कौशल्या के राम, कैकेयी के भरत एवं सुमित्रा के लक्ष्मण व शत्रुघन। दशरथ ने राज्यभार से मुक्त हो राजगद्दी ज्येष्ठ पुत्र राम को देनी चाही, कैकेयी ने चाहा भरत को राज्य मिले; दशरथ ने कैकेयी को एक वरदान दे रक्खा था, फलतः

कैकेयी की बात माननी पड़ी। राम को १४ वर्ष का बनवास हुआ, उनके साथ उनकी स्त्री सीता भी गई। राजगद्दी भरत के लिये रही किन्तु भरत ने राजगद्दी स्वीकार नहीं की और अपनी मां कैकेयी को फटकारा। आखिर बड़े भाई राम के आदेशानुसार उनके प्रतिनिधि रुप में भरत १४ वर्ष तक राज्य-काज चलाते रहे। वनवास काल में, दक्षिण में लंका देश का राजा रावण सीता को हर ले गया; राम ने दक्षिण की वानर इत्यादि जातियों की सहायता से जिनके नेता सुग्रीव और हनुमान थे, लंका के राजा रावण का वध किया, सीता को पुनः प्राप्त किया एवं १४ वर्ष की अवधि की समाप्ति पर अयोध्या लौटे। प्रजा ने राम को सिंहासनारुढ किया। रामराज्य में अयोध्या की प्रजा सुख शांति से रही।

रामायण काल में मुख्य राज्य निम्न थे—कौशल जिसका आधुनिक नाम अवध है। इस राज्य की मुख्य नगरी अयोध्या थी जहां राम के पिता राजा दशरथ राज्य करते थे। केकय राज्य (आधुनिक पच्छिमी पंजाब)—इसी देश की दशरथ की तीसरी रानी कैकेयी थी। कौशल राज्य के पूर्व में विदेह देश था (जिसे आज तिरहुत कहते हैं) जहाँ के राजा "जनक" कहलाते थे। ऐसे ही एक जनक राजा की पुत्री सीता थी, जिसने स्वयंवर में राम का वरण किया था। इसके अतिरिक्त उत्तर भारत में सिन्धु और गाँधार प्रदेश थे। गांधार प्रदेश (आधुनिक अफगानीस्तान

के पूर्वीय भाग) में, कहते हैं, राम के भाई भरत के दो पुत्रों तक्ष और पुष्कर ने दो नगरियां बसाईं थीं–तक्षशिला और पुष्करावती। तक्षशिला आधुनिक रावलपिंडी से २० मील उत्तर-पच्छिम में स्थित थी और पुष्करावती आधुनिक काबुल के पूर्व में।

उस काल तक दक्षिण भारत में आर्यों की बस्तियां नहीं बसी थीं,–संभवतः रामचन्द्र ने ही पहले पहल दक्षिण का रास्ता खोला। वानर, ऋक्ष, राक्षस इत्यादि, ये दक्षिण की पुरानी जातियां थीं,–जिनमें राम के सहवास से भारतीय संस्कृति का प्रसार हुआ।

महाभारतः–महाभारत काल तक भारत में रामायण काल की अपेक्षा आर्यों की और अधिक बस्तियां बस चुकी थीं और वे दूर दूर तक फैल चुके थे। महाभारत काल के मुख्य राज्य निम्न थे यथाः–कुरुदेश; शूरसेन (आधुनिक मथुरा के आसपास का देश); चेदि (यमुना के दक्षिण का प्रदेश–आधुनिक बुन्देलखण्ड) यहां का राजा शिशुपाल था। अवन्ति (आधुनिक मालवा); सौराष्ट्र जहां की नगरी द्वारिका में यादवों के नेता वासुदेव कृष्ण थे। विदर्भ (आधुनिक बरार)। हस्तिनापुर नगरी में (यमुना के पच्छिम) प्राचीन राजा कुरु के वंशज कौरव राज्य करते थे।

वत्स (आधुनिक प्रयाग के आसपास का देश) जिसकी राजधानी कौशाम्बी (प्रयाग से ३२ मील उत्तर) थी। मगध (आधुनिक बिहार)—महाभारतकाल में यहां का राजा जरासंध था। भद्रदेश (पंजाब में रावी और चिनाव नदियों के बीच) जिसकी राजधानी शाकल (आधुनिक स्यालकोट) थी-पांडु (जिसके वंशज पांच पाँडव थे) की रानी माद्री, इसी मद्रदेश की रहने वाली थी। पंचाल जहां राजा द्रुपद राज्य करता था इसकी पुत्री द्रौपदी को पांडवो ने स्वयंवर में वरण किया था। इन्द्रप्रस्थ नगर-यमुना नदी के तट पर पाँडवों ने बसाया—आधुनिक दिल्ली के पुराने किले के पास अब भी एक बस्ती है जिसे इन्दरपत कहते हैं। मगध के पूर्व में अंग देश था जहाँ का राजा कर्ण था गांधार देश; कौरव राजा धृतराष्ट्र की रानी गांधारी इसी देश की थी। मत्स्य देश (आधुनिक अलवर)-यहाँ राजा विराट राज्य करता था, जहां पाँडवों ने अपने अज्ञात-वास का एक वर्ष बिताया था। महाभारत की मुख्य घटनायें इस प्रकार हैं:—हस्तिनापुर एक राज्य था जहां कौरव वंश के राजाओं का राज्य था। इस वंश में दो भाई हुए धृतराष्ट्र और पांडु। धृतराष्ट्र की रानी गाँधारी के कई पुत्र हुए जिनमें मुख्य दुर्योधन और दुशासन थे। पाँडु की दो रानियां थीं, कुन्ती और माद्री। विवाह होने के पहिले कुन्ती के एकपुत्र होचुका था—कर्ण। विवाह के बाद पाँडु के कुन्ती से तीन पुत्र हुए—युधिष्ठिर, भीम..

अर्जुन; और माद्री के दो पुत्र हुए-नकुल एवं शहदेव । ये पाँच पुत्र पांच पांडव कहलाये । धृतराष्ट्र के पुत्र दुर्योधनादि कौरव कहलाये । पांडु कुन्ती का पुत्र कर्ण इन कौरवों में जाकर मिल गया। कौरवों और पांडवों में द्वेष बना रहता था। पांच पाँडवों ने पंचाल के राजा द्रुपद की कन्या द्रौपदी को स्वयंवर में प्राप्त किया । उन्होंने दुर्योधन से अपने राज्य का हिस्सा माँगा। दुर्योधन ने कुछ नहीं देना चाहा। अन्त में यह तय हुआ कि यमुना पार कुरुक्षेत्र के दक्षिण के जंगलों को, जो खाँडव वन कहलाते थे, वे बसालें । उन जंगलों को साफ कर पांडवों ने इन्द्रप्रस्थ नगर बसाया और धीरे धीरे उन्होंने अपनी श्री और शक्ति में वृद्धि की। शक्तिमान होने के बाद उन्होंने राजसूय (अश्व मेघ) यज्ञ किया। कौरवों की ईर्ष्या बढ़ गई। कौरवों के मामा गाँधार देश के शकुनि की सलाह से दुर्योधन ने पाँडवों को जुआ खेलने के लिये आमन्त्रित किया। जुए में पाँडव लोग सब कुछ हार गये, अपना राज्य भी। और अन्त में एक शर्त पर उन्हें बारह वर्ष का बनवास और एक वर्ष का अज्ञातवास भुगतना पड़ा। इन तेरह वर्षों के उपरान्त पाँडवों ने अपना राज्य फिर मांगा, दुर्योधन ने कुछ भी देने से इन्कार कर दिया, फलतः दोनों पक्षों में युद्ध ठन गया जो महाभारत युद्ध कहलाता है। कौरवों की ओर से गाँधार (शकुनि का राज्य), सिन्धु (शिशुपाल का राज्य), अन्ग (कर्ण का राज्य), इत्यादि राज्य

लड़े। पाँडवों की ओर से सौराष्ट्र के कुछ राज्य एवं यादव वंश के नेता श्रीकृष्ण लड़े। १८ दिन तक घमसान युद्ध हुआ। कौरवों की पराजय हुई। पांडव कुरु देश के राजा और आर्यावर्त के सम्राट हुए।

आर्यों के जीवन की उपरोक्त राम और कौरव पांडवों से संबंधित घटनाओं के आधार पर कालान्तर में उनके महाकाव्य रामायण और महाभारत की रचना हुई। कुछ इतिहासकारों और चिन्तकों का ऐसा भी मत है कि रामायण और महाभारत की घटनायें ऐतिहासिक नहीं हैं, केवल कल्पनायें हैं। कवियों की कल्पना। आधुनिक गवेषणाओं के फलस्वरुप अधिक मान्यता तो इसी मत को दी जाती है कि ये घटनायें ऐतिहासिक हैं। जो कुछ हो, इतना तो निश्चित है ही कि वैदिक समाज धीरे धीरे विकसित होता हुआ उस स्थिति तक पहुंच चुका था जिसका आभास इन महाकाव्यों में मिलता है, और जिसकी कुछ रूप रेखा हम ऊपर दे चुके हैं। महाभारत युद्ध पर, आर्य इतिहास का एक प्रकरण समाप्त होता है।

इन प्राचीन युगों का चित्र अभी धूंधलासा है, संभव है ऐतिहासिक गवेषणाओं के फलस्वरुप धीरे धीरे यह चित्र अधिक स्पष्ट होता जाए। इतना अवश्य ध्यान में रखना चाहिये

कि प्रारम्भिक सभ्यताओं के जो राज्य या साम्राज्य, प्राचीन मिश्र, बेबीलोन, एवं चीन में विकसित हुए, उनसे ये प्राचीन भारतीय छोटे छोटे राज्य भावना एवं बाह्य संगठन, दोनों बातों में मूलत: भिन्न थे। भारतीय राज्य "जनो" (पारिवारिक समूह के राज्य होते थे। ये राज्य छोटे छोटे होते थे। एक "जन" के लोग अपने में से ही किसी एक विशिष्ट व्यक्ति का राजा के रुप में वरण कर लेते थे, उसके पश्चात् या तो उस राजा के ही पुत्र एवं वंशज राज्य करते रहते थे, या "जन" की इच्छाओं के अनुकूल न होने से किसी अन्य व्यक्ति का भी राजा के रुप में वरण कर लिया जाता था। सारांश यह है कि राजा लोगों का ही प्रतिनिधी रुप एक मानव होता था, उसमें देवता या पुरोहितपन के भाव का आरोप नहीं होता था, इसके विपरीत मिश्र में राजा (फेरो) स्वयं देवता या ईश्वर माना जाता था, बेबीलोन में शासक देवता (ईश्वर) का पुरोहित होता था; और चीन में शासक स्वयं देवता (ईश्वर) या देवता का वंशज माना जाता था। भारतीय राज्यों में जीवन, सामाजिक राजनैतिक संगठन सब सरल था। विचार और भावनायें भी सरल और सात्विक। मिश्र, बेबीलोन, चीन में भावना और विचार का अभी इतना सूक्ष्म, सरल विकास नहीं हो पाया था–जीवन अधिक स्थूल था। राज्यों का संगठन अधिक जटिल, उनमें नागरिकपन (शहरीपन) अधिक था, और शीघ्र ही उन्होंने

सम्राटों का रुप धारण कर लिया था। भारत में साम्राज्यों का विकास अपेक्षाकृत बहुत पीछे हुआ।

महाभारत युद्ध के बाद कुछ वर्षों तक युधिष्ठिर तथा अन्य पाँडव भाई भारत के प्रमुख राज्य-वंश की हैसियत से हस्तिनापुर में राज्य करते रहे। उनके बाद अनेक वर्षों तक उनके वंशज राज्य करते रहे।

महाजन पद युग तथा मगध काल

(ई. पू. ८ वीं शताब्दी से ई. पू. ४ थी शताब्दी तक)

इस प्रकार इतिहास के इस प्रायः धुंधले युग को पार करते हुए हम ई. पू. सातवीं आठवीं शताब्दी तक पहुंचते हैं जब से भारत का प्रायः सुनिश्चित क्रमबद्ध इतिहास हमको मिलता है। इस काल में अर्थात् ई. पू. ७-८ वीं सदी में भारत में प्रायः १६ भिन्न भिन्न राज्य प्रसिद्ध थे-जो "महाजनपद" कहलाते थे। ये पूर्व-कालीन जन राज्यों के विस्तृत रुप थे। कुछ जन राज्यों नें दूसरे राज्यों का प्रदेश जीतकर और कुछ नें आपस में मिलकर अपनी भूमि (राज्य) बढ़ा ली थी। प्रमुख महाजनपद निम्न थे:- कौशल (अवध) जिसकी राजधानी अयोध्या थी; मगध (बिहार) जिसकी राजधानी राजगृह थी और जहां काशी से निकले शशुनाक वंश के राजाराज्य करते थे; वत्स जिसकी राजधानी कौशाम्बी थी; अवन्ति जिसकी राजधानी उज्जेन थी; एवं उत्तर

पश्चिम में गांधार जिसकी राजधानी तक्षशिला थी, जो उस समय विद्या का सबसे बड़ा केन्द्र था, जहां बड़े बड़े जगत-प्रसिद्ध आचार्य रहते थे।

इन महाजन पदों में प्राचीन राजवंशो के राजा राज्य करते थे। ईसा पूर्व छठीं शताब्दी में वत्स प्रान्त में जिसकी राजधानी कौशाम्बी (प्रयाग जिले में) थी, उदयन नामक राजा जो पाँडवों का वंशज था, राज्य करता था। उसके जीवन की प्रेम और शौर्य की अनेक कथायें प्रचलित हैं जो कुछ एतिहासिक भी हैं। इनमें से सबसे अधिक प्रसिद्ध कथा है उज्जयिनी की राजकुमारी वासवदत्त की जिसे उदयन उड़ाकर लेगया था। संस्कृत के महाकवि भास ने अपने नाटक "स्वप्न वासव दत्त" में इस कहानी को अमर कर दिया है। इसके अतिरिक्त अमरावती के प्राचीन स्मारकों और उदयागिरी की गुफाओं की दिवारों पर यह घटना चित्रित है, इन चित्रों की कला अपूर्व है। कौशाम्बी की खुदाइयों में मिट्टी की बनी अद्भुत्त कलात्मक सौन्दर्य की मूर्तियां मिली हैं जिनमें उदयन और वासवदत्ता की प्रेममयी जीवन घटनायें अङ्कित हैं। कुछ महाजनपदों में एवं कुछ छोटे छोटे राज्य जन पदों में प्रजातन्त्रात्मक अथवा पंचायती राज्य भी कायम थे, जैसे नेपाल की तराई में शाक्य लोगों का संघ था; कपिलवस्तु में लिच्छवीं वंश के लोगों का संघ एवं मिथिला में विदेहों का संघ।

कम्बोज
भारत
महाजन पद युग
८०० ई.पू.
कपिश
गांधार
मद्र
सिंधु
कुरु
कोशल
शाक्य
कपिलवस्तु
काशी
वैशाली
राजगृह
मत्स्य
मगध
अंग
बंग
ताम्रलिप्ति
आंध्र
कलिंग
विदर्भ
मूचिक
शूर्पारक
ताम्रपर्णी

इन जनपदों में एवं महाजनपदों में परस्पर युद्ध भी होते रहते थे और इसी प्रकार कालान्तर में किसी महाजनपद के शासक के राज्य का विस्तार अधिक होने से भारत में साम्राज्य का सूत्रपात हुआ। भारतीय इतिहास में प्रथम उल्लेखनीय साम्राज्य "मगध" का साम्राज्य था, जो आधुनिक बिहार से प्रसारित होकर उत्तर प्रान्त, उज्जेन और तत् पश्चात् भारत के उत्तर पच्छिम और दक्षिण प्रान्तों तक पहुंच गया था। इसकी स्थापना ई. पू. छठी शताब्दी में मानी जाती है। मगध जब एक महाजनपद था तब ६५० ई. पू. के लगभग वहां शिशुन क वंश का राज्य था। इसी वंश में बिम्बिसार राजा हुआ जिसने अंग राज्य को जीतकर मगध राज्य में मिलाया। बिम्बिसार का पुत्र अजातशत्रु था जिसने काशी और कौशल राज्य मगध में मिलाये। इस प्रकार मगध साम्राज्य बना।

पूर्व में जब मगध साम्राज्य स्थापित था उसी समय ईरान के सम्राट दारा ने (डेरियस—५२१ से ४८५ ई. पू.) भारत के उत्तर पच्छिम में आक्रमण किया, और गांधार और सिन्धु प्रदेशों पर विजय प्राप्त की। सम्राट दारा अपने आप को "ऐर्य-पुत्र" (आर्य पुत्र) कहता था। इसने मिश्र, मेसोपोटेमिया के साम्राज्यों एवं सीरिया, फीलीस्तीन, आदि राज्यों एवं ग्रीस के कुछ नगरों को जीतकर अपने विशाल साम्राज्य का अङ्ग

बनाया था,—प्राचीन ईरान के आर्यों के इतिहास का यह एक गौरवपूर्ण युग था। इसका उल्लेख अन्यत्र हो चुका है।

प्रायः इसी काल में ई. पू. ६ठी शताब्दी मेंभारतीय धार्मिक मानस में एक अभूतपूर्व परिवर्तन हुआ–और यहां एक ऐसे युग-पुरुषका आविर्भाव हुआ जो अनेकानेक शताब्दियों के बाद आज भी संसार का एक महान पुरुष—"महात्मा" माना जाता है और वाणी का प्रभाव आज भी करोड़ करोड़ विश्व जन के हृदय में व्याप्त है। यह महात्मा बुद्ध था।

४. महात्मा बुद्ध और बौद्ध-धर्म

महात्मा बुद्ध (६२५–५४५ ई. पू.) के आविर्भाव केपूर्व भारत में वर्णों का (अर्थात् ब्राह्मण, क्षत्री, वैश्य एवं शूद्र वर्णों का) प्रचलन प्रायः बंधी हुई पृथक जातियों के रूप में हो चुका था। धर्मग्रन्थों का भी पठन पाठन प्रायः ब्राह्मणों तक ही सीमित होचुका था।

कर्मकांड अर्थात् वैदिक युग के यज्ञ और बलि ही व्यवहारिक धर्म के मुख्य अङ्ग रह गये थे। इस कर्मकांड को भी ब्राह्मणों ने बड़ा जटिल और आडम्बरपूर्ण बना दिया था। संस्कृत भाषा, इसका साहित्य एवं इसके धर्मग्रन्थ—जन साधारण से दूर की वस्तु थी; उस समय जन साधारण में

संस्कृत के सिवाय बोलचाल की कई बोलियाँ थीं, जो प्राकृत कहलाती थीं। यज्ञ, कर्मकांड की दुरुहता और जटिलता से स्वतन्त्र हों जन साधारण अनजाने कुछ ऐसी आवश्यकता अनुभव कर रहा था कि कोई सरल राह उन्हें मिल जाये। जीवन में यह सरल राह दिखलाने के लिये कई महात्मा प्रकट हुए जिनमें बुद्ध और महावीर प्रमुख थे।

महात्मा बुद्ध का जीवनः—सिद्धार्थ गौतम (बुद्ध) का जन्म ई० पू० ५५७ में कपिलवस्तु (आधुनिक बिहार में स्थित) नामक नगर में जो शाक्य वंश के लोगों के संघ राष्ट्र की राजधानी थी, शाक्य राजा शुद्धोधन की स्त्री महामाया से हुआ। सिद्धार्थ बचपन से ही चिंताशील रहता था—उसकी यह प्रवृति देख कर पिता ने १८ वर्ष को आयु में ही उसका विवाह कर दिया, किन्तु उसकी चिंतनशील प्रवृति बदली नहीं। एक बूढ़े और उसके बुढ़ापे के दृश्य ने, एक रोगी और उसके कष्टमय रोग के दृश्य ने, एक लाश और मृत्यु के दृश्य ने, और एक शांत प्रसन्न मुख सन्यासी के दृश्य ने उसके जीवन पर गहरी छाप डाली और उसकी दिशा को ही बदल दिया। २० वर्ष की आयु में उसके पुत्र भी हो चुका था, किंतु इसी सनन (आषाढ पूर्णिमा) एक रात अन्तिम बार अपनी स्त्री और बालक का मुंह देखकर वह घर से बाहर निकल पड़ा, दुख सुख और जीवन के रहस्य

को ढूंढने के लिए । इसे गौतम का "महानिष्क्रमण" कहते हैं। गृहस्थों के कर्मकांड (यज्ञयज्ञादि) से तो शांति मिली ही नहीं थी—अब वह दार्शनिकों के पास उस समय की विद्या सीखने लगा, उसमें भी शांति नहीं मिली। फिर जंगलों में छः वर्ष तक घोर तपस्या की जिसके परिणाम स्वरूप शांति तो दूर उसके सौम्य शरीर का केवल हाड़चाम बाकी रह गया, और उनकी स्थिति अस्वस्थ और अर्ध चेतन हो गई। कहते हैं उस समय एक युवती जिसका नाम सुजाता था, उधर से निकली। उस युवती ने गोतम को बड़ी श्रद्धा से पायस खिलाया. और वह स्वस्थ हो गया। स्वस्थ होने के बाद एक दिन (वैशाखी पूर्णिमा) गोतम एक पीपल के पेड़ नीचे मनन कर रहा था—जब वह ध्यान मग्न था उसे एक अद्भुत शांति की अनुभूति हुई—मानों उनके चित्त के सब विक्षेप शांत हो गये हों, सब प्रकार के कष्टों और दुःखों का रहस्य खुल गया है। इन्हे 'बोध" अर्थात् वास्तविक ज्ञान की प्राप्ति हुई। उसी दिन से "गौतम" बुद्ध हुए और वह पीपल भी बोधि वृक्ष कहलाया। बुद्ध का क्या बोध हुआ? वह बोध था—सरल, सच्चा जीवन ही सुख का मार्ग है; वह सब यज्ञों, शास्त्रार्थों और तपों से बढ़ कर है। जीवन का यह स्वयं-अनुभूत तथ्य था। सरल, सच्चा जीवन क्या है? इसका आभास बुद्ध की इस वाणी से मिलता है जो बोध प्राप्ति के बाद बनारस सारनाथ पहुंचकर उनके प्रथम श्रावकों के सामने

उच्चरित हुई थी—"भिक्खुओं ! सन्यासी को दो अन्तों (सीमाओं) का सेवन नहीं करना चाहिए। वे दो अन्त कौन से हैं ? एक तो काम और विषय, सुख में फंसना जो अत्यन्त हीन, ग्राम्य और अनार्य है; और दूसरा शरीर को व्यर्थ कष्ट देना जो अनार्य और अनर्थक है। इन दोनों अंतों का त्याग कर तथा गात (ठीक समझ वाला–बुद्ध) ने मध्यमा प्रतिपदा (मध्यम मार्ग) को पकड़ा है—जो आंख खोलने वाली और ज्ञान देने वाली है।" यह मध्यम–मार्ग ही बौद्ध धर्म का निचोड़ है। इसमें जाति भेद, ऊंच नीच का भाव, यज्ञयज्ञादि एवं देव पूजा, ब्राह्मण पौरहित्य एवं कर्मफल वाद का पचड़ा नहीं है। सब पचड़ो से दूर सरल आचरण का एक मार्ग है। बुद्ध ने अपनी अनुभूति से मानव का कल्याण करना चाहा। अतएव उन्होंने स्थान स्थान पर घूमकर, जाति, ऊंचनीच भेद भाव एवं यज्ञ यज्ञादि एवं ब्राह्मण सत्ता एवं कर्मफल वाद से ऊपर उठकर उपदेश देना प्रारम्भ किया। अनेक जन उनके चेले हो गये— जिनमें भिक्षु सन्यासी और गृहस्थ अनुयायी भी थे। अपने अनुयायी, भिक्षु–सन्यासियों का बुद्ध ने जनतन्त्र के आदर्शों पर एक संघ के रूप में संगठन कर दिया। ये बौद्ध भिक्षु भी धर्म प्रचार के लिये निकल पड़े। चारों ओर बुद्ध के यश का प्रचार हुआ। एक बार घूमते घूमते यशस्वी बुद्ध अपने पुराने घर पर भी अपनी पत्नि एवं पुत्र (जिसका नाम राहुल था) के

पास भी भिक्षा के लिये पहुँचे। गौतम (बुद्ध) की पत्नि फिर से उनका दर्शन पाकर अपने को न संभाल सकी। एकाएक गिर पड़ी और उनके पैर पकड़ कर रोने लगी। मां (गौतम की पत्नि) ने बुद्ध (अपने पति) को समर्पित किया अपना बालक राहुल, जो भिक्षुक बना और अपने पिता के पद चिन्हों पर चल पड़ा—धर्म प्रचार के लिये। कुछ वर्षों बाद स्वयं राहुल माता ने भिक्खुनी बनने का निश्चय किया—भिक्खुनी संघ की अलग स्थापना हुई। वह भी मानव कल्याणार्थ धर्म प्रचार के काम में लग गया।

४५ वर्ष तक भारत भर में बुद्ध बराबर घूमते रहे और अपनी सुखद वाणी लोगों को सुनाते रहे। अन्त में ८० वर्ष की आयु में उनके शरीर में दर्द हुआ—साथी भिक्षुओं को अन्तिम बार अपने पास बुलाया और यह अन्तिम वाणी कही—"भिक्खुओं मैं तुम्हें अन्तिम बार बुलाता हूँ। संसार की सब सत्ताओं की अपनी अपनी आयु है। अप्रमाद से काम करते जाओ। यही तथा गत की अन्तिम वाणी है। तत्पश्चात बुद्ध की आंखें मुन्द गईं। यही उनका "महापरि निर्वाण" (बुझना) था।"

बौद्ध-धर्मः—बुद्ध के उपदेश मागधी भाषा में मौखिक ही होते थे। बुद्ध के निर्वाण के बाद उनके भिक्खुओं ने उनकी शिक्षाओं का संकलन किया। निर्वाण के बाद राजगृह (मगध)

में ५०० बौद्ध भिक्षुओं की एक "संगीति" (सभा) हुई, जिसमें बुद्ध के मुख्य शिष्य आनन्द के सहयोग से "सुत्त पिटक" नामक धर्मग्रंथ, एवं एक अन्य प्रमुख शिष्य उपालि के सहयोग से "विनय पिटक" नामक धर्म ग्रंथ का संकलन किया गया।

उपरोक्त प्रथम सभा के सो वर्ष बाद, दूसरी सभा वैशाली में हुई और फिर तीसरी सम्राट अशोक के समय (२६७-२३२ ई. पू.) पटना में। इन सभाओं में बौद्धों के धार्मिक साहित्य का रुप निर्दिष्ट हुआ। उपर्युक्त दो ग्रंथों को मिलाकर कुल तीन ग्रंथ बौद्ध धर्म के आधार भूत ग्रंथ बने, यथा:—

१. सुत्त पिटक—जिसमें बुद्ध की सुक्तियां (उपदेश) हैं।
२. विनय पिटक—जिसमें भिक्षुओं के आचार संबंधी नियम है।
३. अधि-धम्म पिटक—जिसमें बौद्धों के दार्शनिक सिद्धान्त है।

बौद्ध धर्म के ये ही तीन पिटक (पेटियां—धर्म ग्रंथ) मुख्य हैं। ये पहिले पहल पाली नाम की प्राकृत भाषा में लिखे गये। कालांतर में उपरोक्त धर्मग्रंथ सुत्त पिटक में "जातक" नामक एक और अंश जोड़ दिया गया—जातक भाग में लगभग ५०० उपदेशात्मक कहानियां हैं। ६-७वीं शताब्दी में पूर्व में भारत में बहुत सी मनोरञ्जक कहानियां प्रसिद्ध थीं—उन सबको बुद्ध के पूर्वजन्म की कहानियों की शकल देदी गई और जातक नाम से सुत्त पिटक में उनका समावेश करलिया गया।

बौद्ध धर्म के सिद्धांत—बौद्ध धर्म के सिद्धान्तों का उल्लेख करने के पहिले एक बार अपना ध्यान प्रचलित धर्मों की साधारण मान्यताओं पर आकृष्ट करलें। ये मान्यतायें प्राय: निम्न हैं:—

१. एक सर्वोपरि सर्वशक्तिमान परमात्मा है जो अखिल सृष्टि का निर्विशेष शासन कर्ता है।

२. प्राणी में स्थित आत्मा है जो परमात्मा का ही अंश है और जो अविनाशी, अमर है। आत्मा एक अनिर्वचनीय, अव्यक्त सत्ता है जो शरीर, मन, बुद्धि आदि से सर्वथा भिन्न और परे है।

३. प्रार्थना, पाठपूजा इत्यादि द्वारा प्राणी परमात्मा की कृपा का भाजन हो सकता है, एवं मानवात्मा अनंतकाल तक के लिये सुख, शांति, आनंद की स्थिति प्राप्त कर सकता है।

उपरोक्त मत ईश्वर, परमात्मा या ब्रह्म, एवं आत्मा की नित्यता में विश्वास करता है। किंतु,—

बौद्ध धर्म इन मान्यताओं को स्वीकार नहीं करता—इन मान्यताओं को सत्य भी नहीं मानता। बुद्ध ने केवल वस्तु को ही नहीं आत्मा, परमात्मा को भी नित्य मानने से इन्कार कर दिया। बुद्ध की दृष्टि में यह सृष्टि एक सतत परिवर्तनशील प्रक्रिया-मात्र है यह आत्मा तथा जगत अनित्य हैं। वे मानसिक अनुभवों तथा प्रवृत्तियों को स्वीकार करते हैं, किंतु आत्मा को

उन मानसिक प्रक्रियाओं से कोई भिन्न पदार्थ नहीं मानते। आत्मा तो मानव प्रवृत्तियों का पुञ्जमात्र है. इन प्रवृत्तियों के समूह के अतिरिक्त अन्यत्र उसकी सत्ता नहीं। उनका सिद्धान्त आजकल के वैज्ञानिक भौतिकवादियों एवं मनोवैज्ञानिकों के सिद्धान्त के अनुकूल है जो मन और मानसिक प्रक्रियाओं को मानते हैं और यदि कोई आत्मा है तो वह उन मानसिक प्रक्रियाओं से भिन्न और परे कुछ भी पदार्थ नहीं। व्यवहार में सरलता के लिये उन सब मानसिक प्रवृत्तियों को "आत्मा" नाम दिया जासकता है और कुछ नहीं। किंतु बुद्ध सब वस्तुओं की क्षण क्षण परिवर्तन-शीलता अर्थात् उनकी अनित्यता मानते हुए भी एक दृष्टि से "प्रवाह" की एकता को, "परिणाम" की वास्तविकता को मानते हैं-जैसे बहती हुई गंगा में हम एक डुबकी लगाते हैं, फिर दूसरी फिर तीसरी; प्रथम बार जिस जल में हमने डुबकी लगाई, दूसरी डुबकी उसी जल में नहीं लगी, क्योंकि वह तो बहकर दूर निकल गया; किंतु फिर भी हम यह समझते रहते हैं कि हमने एक ही जल में (गंगा में) डुबकी लगाई है—यह इसलिये की प्रवाह की एकता बनी हुई है, अर्थात् चाहे हमने एक जल में डुबकी लगाई हो या कई जलों में, व्यवहारिक दृष्टि से परिणामात्मक स्थिति में कोई विशेष अन्तर नहीं आता। वास्तव में अपनी उस बोध-प्राप्ति की अनुभूति के अनुकूल जिस बोध-प्राप्ति के फल स्वरुप बुद्ध ने जीवन में मध्यम मार्ग पकड़ा था, सत्ता असत्ता विषयक

दार्शनिक प्रश्नों में भी ऐसा प्रतीत होता है, उन्होंने मध्यम मार्ग ही अपनाया है। "एक मत (नित्य) सत्ता पर विश्वास करता है, तथा दूसरा मत असत्ता पर निश्चय रखता है, पर मध्यम प्रतिपदा (मध्यम मार्ग) के पक्षपाती बुद्ध के अनुसार सत्य सिद्धान्त दोनों छोरों के बीच में कहीं है।" अर्थात् बुद्ध परिणामात्मक स्थिति को सत्य मानते हैं। ("भारतीय दर्शन" बलदेव उपाध्याय)। दूसरे शब्दों में हम यह कह सकते हैं कि वस्तु की सत्ता असत्ता में विश्वास करने न करने से उस वस्तु से हमारे सम्पर्क द्वारा उत्पन्न परिणाम में कोई फर्क नहीं पड़ता—जैसे एक पत्थर को आप सत असत, परिवर्तनशील अपरिवर्तनशील, गतिहीन या सतत गतिमान कुछ भी मानिये, यदि उसको आप अपने माथे के मारेंगे तो वह आपके माथे को फोड़े होगा। बुद्धकाल में कर्मवाद और परलोकवाद, मरने के बाद क्या होता है, आत्मा क्या है आदि विषयों में अनेक मत प्रचलित थे। इनके संबंध में बुद्ध ने साफ कह दिया कि तुम्हारे इन मतों रहते या न रहते संसार का दुःख तो कम नहीं होता, फिर इनके पीछे बेकार क्यों पड़े हो, वर्तमान के पीछे पड़ो; जो बीता सो बीता, जो नहीं आया उसकी चिंता करना बेकार है। वास्तव में बुद्ध की दृष्टि बहुत ही व्यवहारिक और बुद्धिसंगत थी। मानव मात्र के कल्याण के लिये दार्शनिक प्रपंचों और विषमताओं से दूर वे किसी व्यवहारिक रास्ते की खोज में थे, जो उन्होंने खोज भी

निकाला। उन्होंने निम्न चार आर्य सत्यों की अनुभूति की-और ये ही सत्य उन्होंने मानव के सामने रक्खे। ये सत्य हैं:—

१. इस संसार में जीवन दुःखों से परिपूर्ण है।
२. इन दुःखों का कारण विद्यमान है।
३. इन दुःखों से छुटकारा मिल सकता है।
४. दुःखों से छुटकारे के लिये उचित उपाय या मार्ग है!

इन चार सत्यों का विवेचन करें । (१) यह तो प्रायः निर्विवाद है कि संसार में दुःख हैं। (२) इन दुःखों का कारण बुद्धकाल में एवं उससे पूर्व भी हमारे पूर्व कर्म का फल बतलाया जाता था। बुद्ध ने आत्मा नाम की नित्य वस्तु से साफ इन्कार किया, इसीलिये किसी एक व्यक्तित्व (जीव) के कर्मफल भोगने के लिये पुनर्जन्म का प्रश्न ही नहीं उठता । किन्तु बुद्ध को दार्शनिक प्रश्नों की बहस में तो पड़ना नहीं था, अतः यदि सब कहते ही थे तो कुछ अंशों तक 'कर्मफलवाद' मानने में उन्होंने हठपूर्वक आना कानी भी नहीं की। किन्तु इतना उन्होंने साफ कहा है कि यह सत्य नहीं कि मनुष्य के सब ही दुख सुख उसके पूर्व कर्मों के कारण हैं। बुद्ध ने पुरबले कर्मों को इस जन्म की समस्याओं में महत्त्वपूर्ण स्थान नहीं दिया है–उनका मुख्य अभिप्राय अदृष्ट जगत की बातें न सोचकर दृष्ट जगत के प्रति चिंतनशील होना है। कर्मफलवाद को इस लोक में गौण

ठहराकर बुद्ध ने बतलाया है कि हमारे दु:खों का मूल कारण हमारी इसी जन्म भव की तृष्णायें (Desires) हैं। तृष्णायें जैसे:--इन्द्रीय जन्य इच्छायें पूरी हों अर्थात् विषय लोलुपता; यह इच्छा कि मैं हमेशा बना रहूँ, मैं अमर होऊ; यह इच्छा कि मैं संसार में खूब धनी और समृद्धवान बनूं। इत्यादि।

(३) इन तृष्णा जन्य दु:खों से हम बच निकल सकते हैं:

(४) और, इस बच निकले का उपाय है:–जीवन में सरल मध्यम मार्ग को अपनाते हुए (न तो घोर तपस्या एवं व्रत इत्यादि ही हो और न काम और इन्द्रिय विषयों में फँस जाना हो), बुद्धिपूर्वक (वहमी विश्वासों के आधार पर नहीं) सच्चाई और ईमानदारी के भाव से कर्म करते हुए (कर्म त्याग कर नहीं) हमें अपनी जीवन यापना करना चाहिये, और निस्वार्थ भावना की मतः स्थिति प्राप्त करने का प्रयत्न करना चाहिये। इस प्रकार सरलता से, सहजभाव से, जीवनयापन करते हुए निस्वार्थभावना की स्थिति प्राप्त होने पर हम निर्वाण की (अर्थात् दु:खों से निवृति की) अनुभूति कर सकते हैं। निर्वाण का अर्थ इस लोक में या किसी परलोक में 'अमरत्व' या किसी परमात्व तत्व में विलीन होजाना, या जन्म मरण के बंधन से मुक्ति, नहीं है। बुद्ध की दृष्टि में निर्वाण का अर्थ है–इस जीवन में, इस भव में दुख भाव से निवृति एवं पूर्ण शांति की अनुभूति–यह मानव मात्र को सरल शुचिमय जीवन द्वारा प्राप्त हो।

बुद्ध की शिक्षाओं का मत सम्प्रदाय रूप में संगठनः-

बुद्धधर्म आदि रूप में सरल आचार मार्ग का धर्म था। किन्तु जैसा सभी धर्मों के साथ प्रायः होता है, इस धर्म में भी कालान्तर में अनेक प्रपंच और आडम्बर आकर जुड़ गये और इसकी मूल सरलता और इसका मूल रूप विलुप्त हो गये। यदि आज स्वयं बुद्ध भगवान आ उपस्थित हों तो उनके नाम से प्रचलित धर्म को वे स्वयं नहीं समझ पायेंगे--वे आश्चर्य करने लगेंगे कि मनुष्य ने भी आखिर उनकी सरल सीधी शिक्षाओं में क्या अनर्थ पैदा कर दिया।

ई. पू. चौथी शताब्दी में वैशाली में बौद्ध भिक्षुओं की जो दूसरी सभा हुई थी उसीमें आचार तथा अध्यात्म-विषयक कुछ प्रश्नों को लेकर भिक्षुओं में परस्पर मतभेद उपस्थित होगया। कुछ ऐसे थे जो प्राचीन "विनयों" में कुछ संशोधन, परिवर्तन करना चाहते थे, कुछ ऐसे थे जो थोड़ा सा भी संशोधन नहीं चाहते थे। कालांतर में ऐसी ही बातों को लेकर अनेक सम्प्रदाय खड़े होगये। आजकल विशेषतया तीन सम्प्रदाय प्रचलित हैं:—

१. **महायान सम्प्रदाय**-जो बुद्ध के ईश्वरत्व में विश्वास करता है। इस प्रकार मानव बुद्ध की जगह लोकोत्तर बुद्ध की स्थापना हुई। अतः बुद्धमूर्तियों की पूजा का प्रचलन

हुआ। इसमें ईश्वर वादिता, पाठ पूजा, भक्ति, आचार्य एवं पुजारी पूजा का अधिक महत्त्व है। आजकल इसका प्रचार तिब्बत, चीन, कोरिया, मंगोलिया, जापान में विशेषतया पाया जाता है।

२. **हीनयान सम्प्रदाय**-जो बुद्ध की मूल शिक्षाओं के अधिक निकट हैं। जीव को परमुखापेक्षी (ईश्वर, देवपूजा इत्यादि की ओर मुखापेक्षी) होने की आवश्यकता नहीं-यदि वह स्वयं सरल मध्यम मार्ग का अनुसरण करता है तो उसका कल्याण हो सकता है। आजकल इसका प्रचार लंका, बरमा स्याम, जावा आदि प्रदेशों में है।

३. **वज्रयान सम्प्रदाय**-महायान तो बुद्ध को संसार के उद्धारक रुप में देखता था। वज्रयान ने उसे वज्रगुरु बना दिया। वज्रगुरु वे उस आदर्श पुरुष को कहते थे 'जिसे अलौकिक सिद्धियां प्राप्त हों।, इस में मंत्र, हठयोग, तांत्रिक आचारों का बहुत प्रचार है, क्योंकि सब सिद्धियाँ मंत्र, तंत्र, योगिक क्रियाओं आदि से ही प्राप्त होती हैं। अनुमान है कि इस सम्प्रदाय का जन्म ईसा के बाद ६ठी शताब्दी में हुआ। ऐसा माना जाता है कि ८वीं से ११वीं शती तक वज्रयान के ८४ सिद्ध हुए। प्रसिद्ध गोरखनाथ उन्हीं ८४ में से एक था। इन्हींके प्रभाव से ८ वीं ९ वीं शती में भारत में हठयोग सम्प्रदाय, वाममार्ग सम्प्रदाय, नाथपंथ आदि का प्रचलन हुआ।

५. महावीर स्वामी और जैनधर्म

महावीर स्वामीः—बुद्ध के ही समकालीन एक दूसरे महात्मा हुए, जिन्होंने बुद्ध की ही भांति जाति सत्ता, ऊंच नीच के भेद भाव, एवं यज्ञ यज्ञादि, और देव-पूजा, एवं ब्राह्मण सत्ता के भावों से ऊपर उठ कर-मुक्ति प्राप्ति के मार्ग की शिक्षा दी। ये महात्मा महावीर स्वामी थे। ये वैशाली के पास कुण्ड ग्राम में वृजिगण के ज्ञात्रिक नाम के एक कुल में 'राजा' सिद्धार्थ के घर पैदा हुए थे,। इनकी माता का नाम त्रिशला था और उनका अपना नाम वर्धमान। पहिले ये तीर्थंकर पार्श्व नामक एक धर्म सुधारक के अनुयायी थे, जो प्रायः दो शती पहिले बनारस में हुए थे। वर्धमान भी उन्हीं की शिक्षा पर चले। बड़े होने पर यशोदा नामक देवी से उनका विवाह हुआ, जिससे एक लड़की हुई। तीस वर्ष की आयु में उन्होने घर छोड़ा। १२ वर्ष के भ्रमण और तप के बाद उन्होने "कैवल्य" (ज्ञान) पाया। तब से वे अर्हत (पुज्य), जिन (विजेता), निग्रन्थ (बन्धन हीन) और महावीर कहलाने लगे। उनके अनुयायी जैन कहलाये। कैवल्य प्राप्ति के बाद मिथला कौशल आदि प्रदेशों में भ्रमण करते रहे और अपने ज्ञान का प्रचार। बुद्ध निर्वाण के एक वर्ष पहिले पावम्पुरी (राजगृह या गोरखपुर के आसपास) में उनका निर्वाण हुआ। जैनियों का ऐसा विश्वास है कि उनके आदि धर्म

संस्थापक एवं तीर्थंकर (सिद्ध पुरुष) अति प्राचीन काल में ऋषभदेव थे, किन्तु उनकी ऐतिहासिकता में अभी संशय है।

जैन धर्म के मूल ग्रन्थ ६ठी शताब्दी के उपलब्ध हैं, इसके पहिले वे लिखे कभी भी गये हों। ये प्राचीन ग्रंथ ४५ हैं। इनकी भाषा अर्ध-मागधी भाषा है। जैनाचार्यों द्वारा जैन धर्म और दर्शन सम्बन्धी ग्रन्थ बराबर लिखे जाते रहे हैं, जिनमें से अनेक प्रमाणिक माने जाते हैं। प्रथम शताब्दी के आचार्य कुन्द के ४ ग्रन्थ-नियम-सार, पंचास्तिकाय सार, समयसार, प्रवचनसार, जैन धर्म साहित्य के सर्वस्व माने जाते हैं।

वास्तव में जैन धर्म भी बुद्ध धर्म के समान जाति पांति के भेदभाव से ऊपर ऊठकर, मोक्ष प्राप्ति में यज्ञ यज्ञादि एवं ब्राह्मण पुरोहितों को अनावश्यक मानकर, जीवन में सत्य, निस्वार्थ आचार की प्रधानता मानकर ही चला था। किन्तु कालान्तर में क्रमबद्ध दर्शन का रूप उसने ग्रहण कर लिया, यद्यपि मोक्ष-प्राप्ति के लिये आचार की प्रधानता भी उसमें बनी रही।

जैन धर्म की दार्शनिक पृष्ठ भूमि इस प्रकार है:-सृष्टि अनादि काल से चल रही है, इसका नियंता कोई ईश्वर या भगवान नहीं—यह अपने ही आदि तत्वों के आधार पर स्वतः चल रही है। ये आदि तत्व जिनकी यह सृष्टि बनी है छः हैं, यथा- जीव (आत्मायें=Souls), पुद्गल (भूत पदार्थ=

Matter), धर्म, अधर्म, आकाश और काल। इस प्रकार जैन दर्शन आध्यात्मिक अद्वैतवादी या भौतिक अद्वैतवादी की तरह सृष्टि का मूलतत्व एक नहीं मानता, किन्तु अनेक। जैन दर्शन के अनुसार सृष्टि के ६ मूलतत्वों का विवरण इस प्रकार है:-

जीव चेतन द्रव्य है। जीव ही वस्तुओं को जानता है, कर्म करता है, सुख दुख का भोक्ता है, अपने को स्वयं प्रकाशित करता है तथा अन्य वस्तुओं को भी प्रकाशित करता है। प्रत्येक जीव (आत्मा) की अनादि काल से ही पृथक पृथक स्थिति है-ऐसा भी नहीं कि जीवों अर्थात् आत्माओं का विलीनीकरण किसी "परम—आत्मा" में हो ज.ता हो। जीव अनादि काल से कर्म से समबद्ध है। ऐसा नहीं कि किसी समय यह जीव सर्वथा शुद्ध था और वाद में उसके साथ कर्मों का बन्धन हुआ। कर्म एक प्रकार का पुदगल (भूत-पदार्थ) है—पृथ्वी, जल आदि के समान एक भौतिक पदार्थ, जो जीव के साथ बंधा रहता है। कर्म के साथ सम्बंध जीव ही बद्ध पुरुष (मनुष्य जो मुक्त नहीं है) के रुप में दिखता है। उत्तम कर्म जीवों को उत्तम जन्म प्राप्त कराता है, अधम कर्म अधम जीवन जैसे जानवर वनस्पति का जीवन; यहां तक कि अधम कर्म जीव को अजीव प्रतीत होने वाले पत्थर, धातु इत्यादि भूत पदार्थों में भी जन्म प्राप्त कराता है। वास्तव में जैन दर्शन इस जगत के समस्त प्रदेशों में जीवों

की सत्ता स्वीकार करता है और इसीलिये इसमें अहिंसा की सर्वाधिक महत्ता मानी गई है। जीव का मूल गुण है-अनंतज्ञान (Infinite Knowledge), अनंत वीर्य (Infinite Power) अनंत दर्शन (Infinite Prescience,—Insight), एवं अनंत सुख (Infinite Happiness)। किन्तु जीव के ये मूल शुद्ध गुण कर्मों के परदे में छिपे हुए रहते हैं, अनुनुभूत रहते हैं;—अनादि काल से यह ऐसा है।

मनुष्य (कर्म के साथ संबंद्ध जीव) आनंद, शांति चाहता है। यह तभी संभव है जब जीव कर्म का आवरण हटाकर अपने शुद्ध गुण को प्राप्त करले। कर्म का क्षय होने पर, कर्म का आवरण हटने पर, जीव उस स्थिति को प्राप्त होता है जिसे मोक्ष कहते हैं। मोक्ष प्राप्त करते ही जीव में अनंत सुख, ज्ञान, दर्शन, वीर्य, सद्यः उत्पन्न हो जाते हैं। ऐसा मुक्त जीव जिन, (या ईश्वर) कहलाता है, जो अनंत सुख ज्ञानादि की स्थिति में जिन लोक (ईश्वर लोक) में अनंत काल तक वास करता रहता हैं।

अतएव जीवन का ध्येय हुआ–मोक्ष प्राप्ति और उसका मार्ग है कर्मक्षय कर्मक्षय के साधन तीन हैं:-(१) सम्यक दर्शन अर्थात् सच्ची श्रद्धा; (२) सम्यक ज्ञान अर्थात् सच्चा ज्ञान (३) सम्यक चरित्र अर्थात् सच्चा आचार जिसकी प्राप्ति अहिंसा,

सत्य, ब्रह्मचर्य, अस्तेय और अपरिग्रह अर्थात् सच्चा वैराग्य पालन करने से होती है । इन साधनों से मनुष्य शनैः शनैः पूर्ण वैराग्य और तप की स्थिति और अंत में कर्मक्षय की स्थिति को प्राप्त होता है;-जब उसे मोक्ष की उपलब्धि होती है जीव बंधन में अनादिकर्म की और जीवन मुक्ति में सम्यक चरित्र के महाव्रत अहिंसा की महत्ता होने से जैनाचार्य्यों ने कर्म और अहिंसा के बहुत सूक्ष्म विवेचन किया है, जो अति तक पहुंच गया है ।

जैनाचार्यों ने कर्मफल और अहिंसा के सिद्धान्तों का इतना विश्लेषणात्मक अध्ययन कर डाला कि विश्लेषण करते करते कर्म सिद्धान्त एवं हिंसा अहिंसा के उन्होंने इतने भेद, बन्धन के रूप एवं दशायें गिना डाली, एवं उनको परिभाषाओं के इतने जटिल बन्धन में बांध दिया कि वे सहज सरल व्यवहारिक जीवन से दूर पुस्तकों में से रटने की अथवा केवल उपहास की वस्तुयें रह गई । जैन धर्म में भी और धर्मों की तरह कई भेद विभेद हो गये । दो भेद दिगम्बर जैन एवं श्वेताम्बर जैन तो प्राचीन काल से ही हो गये । इन दोनों वर्गों में तात्विक मतभेद कोई नहीं है- केवल इसी एक बात पर कि कुछ लोग तो अपरिग्रह का पूर्ण आदर्श मानकर जैन मुनियों के लिये दिगम्बर (नंगा) रहना आवश्यक समझते थे, और कुछ लोग इन

आचार विषयक बातों में ढील देने को तैयार थे एवं जैन मुनियों के लिये सफेद वस्त्र (श्वेताम्बर) धारण करना आवश्यक समझते थे,–ये दो भेद हो गये । जिन मन्दिरों, देवों, पुरोहितों के आडम्बर से ऊपर उठकर जैन धर्म के प्रवर्त्तक चले थे, उन प्रवर्त्तक तीर्थाङ्करों की ही मूर्तियों को मन्दिरों में स्थापित किया गया और वे ही मन्दिर, पूजादि इस धर्म के अगं बन गये, यहां तक कि आज भारत के मन्दिरों में जैन मन्दिरों का एक प्रमुख स्थान है ।

किन्तु फिर भी जैन दर्शन का अपना एक स्थान है । उन दार्शनिक बातों के अलावा जिनका उल्लेख ऊपर किया जा चुका है, जैन दर्शन की एक विशेषता है उसका अनेकान्तवाद और स्याद्‌वाद । अनेकान्तवाद का आशय है कि वस्तु का ज्ञान अनेकाङ्गी, अनेक रुपात्मक है । किसी भी पदार्थ का सत्य ज्ञान समस्त पदार्थों के पारस्परिक सम्बन्ध पर बिना ध्यान दिये प्राप्त नहीं किया जा सकता । अर्थात् वस्तु की उसकी निर्विशेष स्थिति (Absolute State) में परीक्षा नहीं की जा सकती, उसकी परीक्षा अन्य वस्तुओं के साथ सम्बन्ध की स्थिति (Relative State) में होनी चाहिये—उसका सापेक्ष निरुपण होना चाहिये । प्रत्येक वस्तु के अनन्त धर्म होते हैं और अनन्त सम्बन्ध । बद्ध–मानव में इतनी सामर्थ्य नहीं कि वह अनन्त

धर्मात्मक वस्तुओं का पूर्ण निरुपण कर सके, अतएव किसी वस्तु के विषय में उसका ज्ञान अपूर्ण होता है। एतदर्थ किसी वस्तु के विषय में जब वह किसी तथ्य का निरुपण करता है तो वह कहता है कि वस्तु का यह रुप तो है ही किन्तु यदि कोई अन्य व्यक्ति कोई दूसरा तथ्य उस वस्तु के विषय में बताता है तो वह मानता है यह भी हो सकता है। इस भावना को जैन दर्शन का स्यादवाद कहते हैं। अर्थात् वस्तु अनेक गुणात्मक एवं सापेक्षिक होने की वजह से वस्तु के विषय में किसी विशेष तथ्य की बात करते समय स्यादवाद का प्रयोग होना उचित है। यह भावना जैन दर्शन एवं धर्म की श्रेष्ठ सहिष्णुता की परिचायक है। वस्तु का पूर्ण ज्ञान, तथ्य का पूर्ण परिचय तो मुक्त जीव को ही हो सकता है जिसका गुण ही अनंत ज्ञान और अनंत दर्शन है।

६. भारतीय धार्मिक मानस का विकासः—

धर्म की धारा वैदिक युग की वैदिक ऋचाओं और मन्त्रों में, प्रकृति और विज्ञान, आत्मा और "परमात्मा" के रहस्यों का उद्‌घाटन करती हुई, यज्ञ यज्ञादि में कर्मकांड की दुरुहता प्राप्त करती हुई और उपनिषदों में दार्शनिक अनुभूतियाँ करती हुई प्रवाहित होती हुई चली जा रही थी। पुरोहितों यज्ञ यज्ञादि के अनेक, दुरुहपूर्ण कर्मकांड से जब यह धारा अवरुद्ध होने

लगी. तो बुद्ध और महावीर आये. जिन्होंने इस अवरुद्ध होती हुई धारा को प्रशस्त भूमि पर प्रवाहित किया। इन धर्मों का अध्ययन हमने किया है।

वैदिक (हिन्दू), जैन, बौद्ध धर्मों के बाह्यांतरों को छोड़कर उनके सैद्धान्तिक आधारों की तुलना करें तो हम कह सकते हैं कि हिन्दू धर्म आत्मा, ब्रह्म (ईश्वर), कर्मवाद और मोक्ष के विचारों पर आधारित है; सृष्टि ब्रह्म का प्रस्फुटन है; जैनधर्म आत्मा, कर्मवाद और मोक्ष के विचारों पर आधारित है, सृष्टि अनादि काल से स्वतः ६ मूलतत्वों (जीव, पुद्‌गल, धर्म, अधर्म, काल और आकाश) में स्थित है। वह सर्वव्यापी ब्रह्म (ईश्वर) के विचार को बिल्कुल नहीं मानता; और, बौद्ध धर्म न किसी आत्मा को मानता, न किसी ब्रह्म को, और कह सकते हैं कि कर्मवाद की भी इस धर्म में स्थिति नहीं है—सृष्टि सतत परिवर्तन शील एक प्रक्रिया मात्र है, यह विचार आधुनिक भौतिकवाद से मिलता जुलता है। शुद्धाचार द्वारा मोक्ष प्राप्ति का विचार इसको अवश्य मान्य है।

हिन्दू धर्म में मोक्ष का अर्थ है जीवात्मा का परब्रह्म में विलीनीकरण। जैनधर्म में मोक्ष का अर्थ है जीव को अनन्तसुख, ज्ञानादि की उपलब्धि और अमरत्वपद प्राप्ति, सुखमय, ज्ञानमय अमरत्वपद प्राप्त करके जीव जिनलोक (अर्हतलोक=ईश्वरलोक)

में अनन्तकाल तक विचरण करता रहे; बुद्ध धर्म में मोक्ष का अर्थ है जीवन में दुख: से पूर्ण निवृति और सम्पूर्ण सुख शान्ति की प्राप्ति।

किन्तु इन धर्मों का रूप इन सूक्ष्म सिद्धांतों में सीमित नहीं था, जैसा उल्लेख भी हो चुका है। जन साधारण में इन धर्मों के स्थूल रुप ने प्रशस्ति पाई। वेदो में उषा, वरुण, सूर्य, इन्द्र, आदि देवताओं के अतिरिक्त "विष्णु" नाम के एक साधारण देवता का भी नाम आता है। धीरे धीरे इस देवता के रुप और इसके प्रति भावना में परिवर्द्धन होता रहा। रामायण काल तक इस देवता का कोई महत्व नहीं था। महाभारत में इस देवता का महत्व बढ़ता है, और फिर पुराणों में इनको सर्वश्रेष्ठ स्थान प्राप्त होता है, और ये ब्रह्म के ही रुप माने जाते हैं। इस रुप में इनके प्रति पूजा की भावना का उद्भव ईसा पूर्व पांचवीं ६ ठी शताब्दी में हो चुका था। इसके बाद इनके अवतार रुप में इनकी प्रतिष्ठा होती है। सम्भवत: ईसा की प्रथम शताब्दी में श्रीकृष्ण की भावना का इसमें सम्मिलन होजाता है, अर्थात ईसा की प्रथम शताब्दी में कुछ लोग यह मानने लग गये थे कि श्रीकृष्ण विष्णु के अवतार थे। विष्णु की अवतार रूप में पूजा का भाव भागवत धर्म के नाम से धीरे धीरे प्राय: समस्त हिन्दुओं में प्रचलित हो जाता है। ईसा की ११ वीं शताब्दी से प्रारम्भ होकर १६ वीं शताब्दी तक अनेक भागवत धर्माचार्यों

द्वारा विष्णु रूप में कृष्ण, राम, विट्ठल या विठोवा मूल रूप से प्रतिष्ठित हो जाते हैं। जन साधारण के लिये अब राम, कृष्ण, विट्ठल, ही परमात्मा हैं, सृष्टि के नियंता हैं, मानव के भाग्यकर्ता हैं। ११ वीं शताब्दी के प्रसिद्ध आचार्य रामानुज, फिर १४ वीं शताब्दी में उनके चेले रामानन्द और फिर १७ वीं शताब्दी में महाकवि तुलसीदास के अद्भुत काव्य "रामायण" ने राम और राम भक्ति को जनजन के हृदय की एक अपूर्व संवेदनात्मक अनुभूति बनादी—राम और राम भक्ति से जनजन का मानस सावित हो उठा। इसी प्रकार श्री भागवत पुराण, एवं १२ वीं शताब्दी के श्री निम्बार्क स्वामी, फिर चंडीदास और विद्यापति कवि, फिर १६ वीं शताब्दी के श्री चैतन्य महाप्रभु, फिर १७ वीं शताब्दी के वल्लभाचार्य और भक्त महाकवि सूरदास के "सूरसागर" ने जनजन के हृदय को श्रीकृष्ण के प्रति अद्भुत प्रेम के माधुर्य से सावित कर दिया। इस प्रकार आज हम हिन्दू मात्र में राम और कृष्ण की भावना प्रतिष्ठित पाते हैं।

एक व्यक्तिरूप ईश्वर में विश्वास, वही ईश्वर सृष्टि का नियंता है, वही मानव का भाग्यकर्ता-ऐसी मान्यता, ऐसी स्थिति आज भी संसार के बहुजन समाज की बनी हुई है। ईसाई धर्म का, जो प्राय: यूरोप, अमेरिका महाद्वीपों में प्रचलित है ईसाई भी ईश्वर (God) के फैसले में भरोसा करता है; मुसलमान

धर्म का, जो प्रायः अरब, पच्छिमी एशिया और उत्तर अफ्रीका में प्रचलित है, मुसलमान भी खुदा की मर्जी और तक़दीर में इतबार करता है। चीन, तिब्बत्त, हिन्दचीन, जापान इत्यादि देशों में भी करोड़ों बौध हैं जो बुद्ध के ईश्वरीय रूप में विश्वास करते हैं और अपने सुख समृद्धि और कल्याण की स्थिति बुद्ध की कृपा पर आश्रित मानते हैं; नास्तिकवादी रूस में भी आज ऐसे अनेक साधारण जन हैं जिनके लिये गिरजा (Church) और ईश्वर (God) एक सत्य तथ्य है और यही मानते हैं कि यह 'सब' ईश्वर की ही करनी है।

यहूदी, ईसाई, मुसलमान धर्म तो अपने प्रारम्भ से ही एक व्यक्तिगत ईश्वर रूप पर आश्रित हैं; भारत ने अपने प्राचीन इतिहास के युग पुरुषों यथा राम और कृष्ण में व्यक्तिगत ईश्वर (Personal God) की प्रतिष्ठा की; बौद्ध और जैन धर्म ने अपने धर्म-प्रवर्तकों में यथा बुद्ध और महावीर में व्यक्तिगत ईश्वर की कल्पना की।

मानो व्यक्तिगत ईश्वर (Personal God) की कल्पना किये बिना मनुष्य का काम ही नहीं चला। भगवान के प्रति अनुराग, भक्ति, मानव मन की स्यात् एक भावमूलक, संवेदनात्मक आवश्यकता थी।

७. बौद्ध युग में सामाजिक जीवन

वैदिक और उत्तरवैदिक काल से अब तक भारतवासियों के जीवन में बड़ा परिवर्तन हो चुका था। वैदिक काल में तो कृषि और पशुपालन ही मुख्य काम था— धीरे २ उत्तरवैदिक (महाकाव्य) काल तक शिल्प में भी उन्नति हो चुकी थी। महाजनपद युग (बौद्ध काल) में शिल्प और व्यापार में अधिक उन्नति हुई, फलतः अनेक समृद्धिशाली नगरों का विकास हुआ– यद्यपि सभ्यता और जीवन का मूल ग्रामों में ही रहा। शिल्प के साथ २ स्थल और जल के व्यापार में भी खूब अभिवृद्धि हुई और व्यापार के विस्तार के साथ साथ अन्य देशों से भारत का सम्पर्क बढा। "वाराणसी (बनारस)" चम्पा, भरुकच्छ (भरौंच) शूपरिक आदि नगरों के व्यापारी अपने जहाज लेकर सुवर्ण भूमि (ब्रह्मा), ताम्रपर्णी (लंका) और बावेरु (बाबुल–Babylon) तक जाते थे। सात सात सौ आदमी जिनसे लम्बी यात्रा कर सके, इतने बड़े जहाज बनने लगे थे"। (जयचन्द्र–इतिहास प्रवेश)

राजनैतिक व सामाजिक संगठनः–सामाजिक संगठन की हम ३ इकाइयां मान सकते हैं सर्वप्रथम तो ग्राम थे। नगरों का विकास होने पर उनमें दो और इकाइयों का विकास हुआ– एक तो "श्रेणी"–एक नगर में एक ही प्रकार के शिल्पियों का

मिलकर संगठन होता था–जिसे 'श्रेणी' कहते थे--जैसे एक नगर के सब खातियों की मिलकर एक श्रेणी होती थी--इसी प्रकार कुम्हारों, मालियों, मल्लाहों, सुनारों आदि की अलग अलग श्रेणियां होती थीं। श्रेणी का एक मुखिया चुना जाता था जिसको प्रमुख या ज्येष्ठक कहते थे, श्रेणियां अपना आर्थिक प्रबन्ध खुद करती थीं; अपने नियम कानून बनाती थीं-अपने मामलों का फैसला खुद करती थीं--ये ही स्यात् बाद में जाकर जातियों और जाति पंचायतों में परिवर्तित हुई। शिल्पियों की तरह नगरों में व्यापारियों के भी संगठन बन गये थे जिन्हें 'निगम' कहते थे--निगम का मुखिया भी चुना जाता था जो सेट्ठी (श्रेष्ठी) कहलाता था। सब व्यापारियों का संगठन और संचालन निगमों द्वारा ही होता था।

कई गांवों का समूह, एवं नगरों के विकास होने के बाद उस समूह में नगर मिलकर, एक राज्य बनते थे–जो जनपद कहलाते थे; जनपदों से बड़े राज्य महाजन पद अथवा संघ--राष्ट्र कहलाते थे। इन राज्यों का आधार उपरोक्त ३ इकाइयां ही होती थीं--यथा ग्राम, श्रेणियां एवं निगम--जिनके मुखिया राज्य–कार्य में राजा को सलाह देते थे। इस प्रकार राज्य का 'संगठन' राजा होते हुए भी मूलतः "प्रजातन्त्रीय" था। कई कई राज्यों में राजा ही नहीं होता था—उपरोक्त इकाइयों के लोग एवं

मुखियाओं की परिषदें होती थीं-जो सब कुछ करती थीं- "परिषदों में प्रस्ताव रखने, भाषण देने, सम्मति लेने आदि के बाक़ायदा नियम थे।" ये ही जनपद या महाजनपद राज्य किसी एक शक्तिशाली राजा के आधीन होनें पर कालांतर में "साम्राज्य" रूप में परिवर्तित हुए।

—o—

३३

प्राचीन भारत (उत्तरार्ध)

(ई. पू. ३२२ से ६५० ई. तक = लगभग १००० वर्ष)

प्राचीन और मध्य युग में भारत में राजकीय संगठन की विशेषताः-भारत इतना विशाल देश रहा है कि सम्पूर्ण देश केवल एक राजकीय संगठन के अन्तर्गत हो ऐसे अवसर भारतीय इतिहास के प्राचीन काल से लेकर आधुनिक काल तक बहुत कम ही आए हैं। भारत के इतिहास में ऐसा सर्व प्रथम अवसर तो प्रियदर्शी अशोक के काल में आया; फिर मध्य-युग के मुसलमानी जमाने में अला-उद्दीन खिलजी के राज्य काल में आया फिर १६ वीं १७ वीं शताब्दी में मुगल सम्राट अकबर, जहांगीर, शांहजहां, औरङ्गजेब के समय में

रहा, फिर आधुनिक काल में सन् १८५७ ई. में अंग्रेजी राज्य काल से तो खैर ऐसी परम्परा बन गई कि अखिल देश में सावभौम राजनैतिक सत्ता एक ही रहे। प्राचीन और मध्य युग में उपरोक्त अवसरों को छोड़कर देश में अनेक छोटे छोटे स्वतन्त्र अदलते बदलते राज्यों का अस्तित्व बना रहता था-इन छोटे छोटे राज्यों में भी कई अपेक्षाकृत अधिक विस्तृत हो जाते थे, एवं संगठन और शक्ति की दृष्टि से बढ़े चढ़े। इन्हीं समृद्ध राज्यों के नाम से भारतीय इतिहास काल के भिन्न भिन्न युगों का नाम करण हुआ, और इतिहास में उन्हीं का विशेष परिचय रहा-यद्यपि पृथक पृथक छोटे राज्यों के एवं राज्यवंश एवं राजाओं के इतिहास भी लिखे जाते रहे, जो कुछ उपलब्ध भी हैं। किन्तु भारत में अनेक पृथक पृथक राज्यों के अस्तित्व बने रहने के तथ्य से यह धारणा कभी नहीं बना लेनी चाहिए कि भिन्न भिन्न राज्यों में बसने वाले भारत के लोगों-(जन साधारण)-का इतिहास भी भिन्न भिन्न रहा।—भारतीय इतिहास की यही विशेषता रही है कि एक ही काल में देश में छोटे बड़े अनेक राज्य होते हुए भी यहां के सभी लोग सभ्यता, संस्कृति, एवं दैनिक जीवन, विचार और भावनाओं की दृष्टि से सर्वदा एक सूत्र में बन्धे रहे हैं। अतएव अब तक भारतीय इतिहास का कुछ सविस्तार विवेचन, जो हमने किया है-जो भारतीय जीवन की मूलधाराओं को समझने के लिये आवश्यक भी था-उतना विस्तार

से विवेचन अब हम आगे नहीं करेंगे। इतिहास के विशेषतः उन्हीं (Turning Points) परिमण-बिन्दुओं को स्पर्श करेंगे–जिनने लोक जीवन या लोकमानस में कुछ दिशा परिवर्तन कर दिया हो।

क. मौर्य साम्राज्यः–(३२२–१८४ ई. पू)=ई. पू. ७वीं ८वीं शताब्दी में महाजन पदों की चर्चा करते समय हम कह आये हैं कि उस समय मगध (आधुनिक बिहार) एक प्रमुख महाजनपद था--जहां काशी से निकले शिशुनाक वंश के राजा राज्य करते थे—जिनमें बिम्बसार और अजातशत्रु प्रमुख हुए, जिन्होंने अनेक राज्य जीतकर अपने राज्य में मिलाये और इस प्रकार मगध ने साम्राज्य का रूप धारण किया। अजातशत्रु के पोते राजा उदयी ने गंगा और सोन के संगम पर पाटलिपुत्र नगरी की स्थापना की, जो आगे चलकर संसार भर में प्रसिद्ध हुई। शिशुनाक वंश का अन्तिम राजा महानन्दी था जो उदयी का पोता था। महानन्दी के दो बेटों का अभिभावक महा-पदम नन्द था—जो महानन्दी के दोनों पुत्रों को मारकर स्वयं मगध की गद्दी पर बैठ गया। महानन्द के बेटे धननन्द के राज्यकाल में ही यूनान के प्रसिद्ध विजेता अलक्सांदर ने भारत के उत्तर पश्चिम में चढ़ाई की थी और गांधार के पूर्व में कैकय देश के वीर राजा पूरु को झेलम नदी के किनारे पर हराया था। इसी

समय अलक्सांदर से एक भारतीय युवक की भेंट हुई थी जिसका नाम चन्द्रगुप्त था। हिमालय की तराई में 'मोरिय' (मौर्य) नाम की जाति का एक संघ राज्य था–इसी संघ राज्य का एक कुशाग्र बुद्धि युवक चन्द्रगुप्त था जो पीछे मगध के नन्द राजा के यहां एक सेना का सेनापति हुआ—राजा से किसी बात पर झगड़ा होने पर वह मगध से निकल गया—तक्षशिला में अलक्सांदर से मिला--और वहां उसकी भेंट चाणक्य नामक ब्राह्मण से--जो बाद में भारतीय इतिहास में प्रसिद्ध नीतिकार और अर्थशास्त्री के रुप में प्रसिद्ध हुआ, हुई। चाणक्य का दूसरा नाम "कौटिल्य" भी था—उसकी नीति और अर्थ--शास्त्र आज भारतीय इतिहास के अध्ययन के विशेष विषय हैं।

इसी ब्राह्मण चाणक्य और युवक चन्द्रगुप्त ने, जो दोनों ही असाधारण "कर्तृत्ववान, हठव्रती और प्रतिभाशाली" थे, मिलकर मगध के नंदवंश को समाप्त किया—और मौर्य वंश की नींव डाली। चन्द्रगुप्त स्वयं मगध का सम्राट बना। (ई. पू० ३२२ में)—और चाणक्य उसका प्रधान आमात्य (मंत्री)। यूनानी अलक्सांदर महान् अपने विजित प्रान्तो में शासन रखने के लिए कई सेनापति छोड़ गया था—एक सेनापति सेल्यूकस ने भारत पर आक्रमण किया—चन्द्रगुप्त ने उसे हराया; ग्रीक सेना पति को अपने राज्य के कई प्रान्त ,भारत के उत्तरी पच्छिमी

प्रांत) चन्द्रगुप्त को भेंट करने पड़े। अपनी पुत्री का भी विवाह चन्द्रगुप्त से कर दिया और चन्द्रगुप्त के दरबार में मेगस्थनीज नामक यूनानी राजदूत रक्खा।

मेगस्थनीज ने भारत का वास्तविक विवरण अपने लेखों में छोड़ा है—उनसे हमें तत्कालीन भारत की राजनैतिक, सामाजिक, धार्मिक दशा का एवं लोगों की रहन सहन का अच्छा परिचय मिलता है। यह लगभग वही काल था जब चीन में वहां का प्रथम महा सम्राट् शीह्वांगटी राज्य कर रहा था।

मौर्य्य वंश में ही सम्पूर्ण भारत का सम्राट् अशोक महान् (२६८ ई. पू० से २३२ ई. पू० तक) हुआ। अशोक ही भारत में पहला ऐसा सम्राट हुआ जिसके राज्य काल में राजनैतिक दृष्टि से प्रायः समग्र भारत एक सूत्र में बंधा।

अशोक ने राज्य ग्रहण करने के कुछ वर्ष बाद कलिंग देश पर आक्रमण किया—इस युद्ध में १ लाख आदमी मारे गए-लाखों घायल हुए - विनाश की इस प्रत्यक्ष अनुभूति से अशोक का मानव हृदय तड़प उठा; तत्पश्चात् वह दिग्विजय नहीं किंतु "धर्म-विजय"—"हृदय-विजय" करने निकला। बुद्ध धर्म उसने ग्रहण किया। अशोक का पुत्र महेन्द्र स्वयं भिक्षु बना; उसकी बहिन संघमित्रा भिक्षुणी। बुद्ध के प्रेम और करुणापूर्ण धर्म का प्रसार करने के लिए चारों ओर अशोक के दूत फैल गये। यथा

सिंहल (लंका), गांधार, काश्मीर, कम्बोज, ब्रह्मा, हिंदचीन, एवं पश्चिमी देशों में (यथा फारस, फलस्तीन इत्यादि)। अशोक के २५० वर्ष पीछे पश्छिमी एशिया के फलस्तीन देश में महात्मा ईसा प्रकट हुए, जिनकी शिक्षायें भगवान् बुद्ध की शिक्षाओं से बहुत मिलती जुलती हैं। ईसा की मातृभूमि में बुद्ध की शिक्षायें अशोक ने ही पहुँचाई थीं।

अशोक ने पहाड़ी चट्टानों पर, और पत्थर के खम्भों (स्तम्भों) पर अनेक लेख खुदवाये जिनमें से बहुत से आज तक भी मौजूद हैं। ये खम्भे जो मुख्यतः दिल्ली, प्रयाग और चम्पारन जिले में मिले हैं—४०-५० फीट ऊंचे हैं—और उनकी चिकनी पालिश आज २००० से भी अधिक वर्षों तक यों की यों बनी हुई है। ये कला की अनोखी कृतियां हैं, और आज के इन्जिनियरों को भी आश्चर्य होता है कि उस प्राचीन काल में एक ही प्रस्तर भाग में से इतने बड़े २ खम्भे कैसे बनाये गये, किस प्रकार इतने भारी खम्भों की प्रस्थापना की गई और एक स्थान से दूसरे स्थान तक ले जाये गये। इनके अतिरिक्त अशोक ने कई स्तूप भी बनवाये—ये पत्थर के बने गोलाकार मन्दिर (भवन) हैं—जिनमें कोई मूर्तियां नहीं हैं—किन्तु बौद्ध आचार्यों की राख गड़ी हुई है। उन पर स्मारक स्वरूप बौद्ध धर्म के सिद्धान्त बड़ी सुन्दरता से लिखे गये थे।

मौर्य्य वंश के सम्राटों का राज्य–विशेषतः चन्द्रगुप्त और अशोक का बहुत ही सुव्यवस्थित शांतिमय, सुखमय था। राज्य संगठन में, और उसके संचालन में वह पूर्ण और नियमित व्यवस्था और निपुणता थी—जिसकी कल्पना किसी आधुनिक राज्य के कुशल संगठन में की जा सकती है।

अशोक सम्राट होकर जनजन में प्रेम और मानवता का संदेश-वाहक था। उसके समान, प्रियदर्शी, प्रेम, और मानवता से सम्पन्न सम्राट न केवल भारत में किन्तु अखिल संसार में उस काल से आज तक नहीं हुआ—मानो उसका नाम सुनकर विश्व इतिहास के पन्ने सिहर उठते हों;—आज तक मानों मानव इस प्रतीक्षा में हो कि अशोक जैसा शासक फिर कभी इतिहास में हो।

ख. सातवाहन युग (१८४ ई. पू. से १७६ ई. सन्— ३६० वर्ष लगभग):—अशोक के देहावसान के बाद प्रायः ५० वर्ष तक मौर्य साम्राज्य की परम्परा चलती रही और समस्त भारत राजकीय संगठन की दृष्टि से एक सूत्र में बंधा रहा किन्तु १८४ ई. पू. के आते आते मौर्य साम्राज्य टूट गया और भारत के ४ मण्डलों यथा, १ मध्य प्रदेश (आधुनिक बिहार, उत्तर प्रदेश आदि), २ पूरब (आधुनिक बंगाल), ३ दक्षिण ४ उत्तरापथ (आधुनिक अफगानिस्तान, तुर्कीस्तान, सिंध, पंजाब आदि) में नये राज्य उठ खड़े हुए।

उत्तरा पथ में सेल्यूकस के बाद के ग्रीक शासकों का राज्य बना रहा, जो धीरे धीरे भारतीय तत्व से मिलते रहे। उस समय काबुल और कंधार के देश भारत में ही गिने जाते थे।

दक्षिण में सिमुक नाम के एक ब्राह्मण ने अपना राज्य स्थापित किया। उसके वंश का नाम सातवाहन था (सातवाहन=शालिवाहन)। सातवाहनों का राज्य पहिले महाराष्ट्र में था, पीछे अंध्र में भी होगया। उपरोक्त लगभग ३५० वर्षों के काल में यह राज्य प्रमुख रहा, इसलिए इस युग को इसी नाम से पुकारते हैं।

उपरोक्त ३६० वर्षों के अरसे में भारत में उत्तर पच्छिम राह से कई भारतेर जातियों के आक्रमण हुए—जो सब शक लोग थे। उस समय मुख्य चीन के उत्तर पश्चिम में मंगोलियन उपजाति के असभ्य बर्बर लोग रहते थे जो हूण कहलाते थे (इनका विवरण अन्यत्र देखिये)। इन हूण लोगों के आक्रमण चीन के समृद्ध राज्य पर लूट मार के लिये होते रहते थे। इनसे बचने के लिए तत्कालीन प्रसिद्ध चीनी सम्राट ने प्रसिद्ध 'महान दीवार" बनवाई (विवरण अन्यत्र देखिये)। जब हूणों की दाल चीन की तरफ नहीं गली, तब उन्होंने अपनी दृष्टि दक्षिण पच्छिम की ओर लगाई, अर्थात् यूरोप, मध्य एशिया एवं पश्चिमी एशिया की ओर। उस समय मध्य एशिया में कई जातियां बसी

हुई थीं (जैसे युचि कृषिक तुखार इत्यादि) ये सब शक परिवार की थीं। "शक लोग भी आर्य थे, किन्तु जब तक वे जंगली और खानाबदोश थे" (जयचन्द्र) । इन्हीं शक लोगों के अनेक आक्रमण भारत पर हुए, और उन्होंने उत्तरा पथ के यूनानी लोगों को ध्वस्त कर कुछ काल के लिये अपना राज्य समस्त उत्तरा पथ एवं पूरब में प्रयाग तक एवं दक्षिण में पूना तक स्थापित कर लिया।

प्रसिद्ध है कि सातवाहन राज्य के राजा "विक्रमादित्य" ने दक्षिण से आकर उज्जैन जीता और शकों का संहार कर (५६ ई. पू. से) विक्रम संवत चलाया । "विक्रमादित्य" तो उसकी उपाधि थी, उसका असली नाम था गौतमी पुत्र शातकर्णि इस "विक्रमादित्य" गौतमी पुत्र को गुप्त वंश के "विक्रमादित्य" चन्द्रगुप्त से भिन्न समझना चाहिए। शकों पर विजय के उपरान्त ही सातवाहनों ने २८ ई. पू. में मगध भी जीत लिया । तब से प्रायः १०० वर्ष तक सातवाहन भारत के सम्राट रहे । सातवाहन युग की समृद्धि अपूर्व थी।

किन्तु फिर शक परिवार की एक जाति कृषक के एक सरदार कुषाण ने भारत पर हमला किया—और राजा कुषाण के ही वंशज 'देवपुत्र कनिष्क' ने सातवाहनों से अनेक युद्धों बाद मध्य प्रदेश और पूर्व में प्रयाग तक अपना आधिपत्य

जमा लिया। प्रसिद्ध शक संवत् जो ७८ ई. में शुरु होता है, कनिष्क का चलाया माना जाता है। इसका राज्य उत्तर पश्चिम मध्य एशिया (तुखारिस्तान) तक फैला हुआ था। कनिष्क बौद्ध था,—अशोक की तरह उसने भी बहुत दूर दूर तक बौद्ध धर्म का प्रचार किया। इस कारण उसका नाम आज तिब्बत और मंगोलिया तक में बड़े आदर से लिया जाता है। तभी से चीन के साथ भारत का सम्पर्क उत्तर पश्चिम के रास्ते से बढ़ा। पूरुषपुर (पेशावर) उसने एक नया नगर बसाया और उसे अपनी राजधानी बनाया। पेशावर और अन्य स्थानों में उसने अनेक स्तूप और विहारादि बनवाये।

सातवाहन युग की समृद्धि और सभ्यता
(ई. पू. १८४ से १७६ ई.)

व्यापारः—यद्यपि इस युग में सातवाहन ("विक्रमादित्य" गौतमिपुत्र आदि), शक (कनिष्क) राजाओं के अतिरिक्त अन्य कई छोटे छोटे राज्य भी रहे, तथापि इस युग में भारत की समृद्धि खूब हुई।

महाजन पदों के काल (८००–४०० ई. पू.) से ही भारत के व्यापारी सामुद्रिक रास्ते से अपने जहाजों में अन्य देशों —यथा लंका, ब्रह्मा, सुमात्रा (सुवर्ण द्वीप) जावा (यव द्वीप) जाने लग गये थे। सातवाहन युग में सुमात्रा और जावा,

मलाया प्रान्त और स्याम में भारतीयों ने अपनी अनेक बस्तियां बसाईं, वहां के मूल निवासी (आग्नेय लोगों को=कार्ष्णेय लोगों को) सभ्य बनाया। बस्तियों के साथ साथ भारतीयों के कई छोटे छोटे राज्य भी वहां स्थापित हुए। इन बस्तियों और राज्यों के हिन्दू संस्थापक प्रायः शैव थे। इन राज्यों का जल मार्ग द्वारा चीन से भी व्यापार होने लगा। इस प्रकार भारत का सम्पर्क चीन से स्थल (तुखारिस्तान प्रदेश में होकर) एवं जल, दोनों मार्गों द्वारा हो गया—एवं उनकी सभ्यता और संस्कृति में विनिमय होने लगा। भारतीय नाविक केवल पूर्व में चीन देश ही नहीं जाते थे, किन्तु लालसागर एवं नील नदी की नहर में, जो भूमध्यसागर से मिलती थी, होते हुए वे रोम साम्राज्य के समस्त देशों तक पहुँचते थे। भारत से रोम को हाथी दांत का सामान, सुगन्धि द्रव्य, मसाले, मोती और कपड़े आदि जाते थे और वहां से बदले में सोना आता था। राजा कनिष्क के समय के एक रोमन लेखक ने शिकायत की है कि भारतवर्ष रोम से हर साल साढ़े पांच करोड़ का सोना खींच लेता है; और "वह कीमत हमें अपनी ऐयाशी और अपनी स्त्रियों की खातिर देनी पड़ती है।" एक दूसरे रोमन लेखक ने रोमन स्त्रियों की शिकायत करते हुए लिखा है कि वे भारतवर्ष से आने वाली "बुनी हुई हवा के जाले" (मलमल) पहन कर अपना सौन्दर्य दिखाती थीं। एक तरफ रोम और

पार्थव (ईरान) तथा दूसरी तरफ चीन और सुमात्रा जावा के ठीक बीच होने से भारतवर्ष इस समय सारे सभ्य जगत का मध्यस्थ था।

धर्म—भारतीय आर्यों का आदि धर्म वैदिक था फिर बुद्ध धर्म का प्रचलन और प्रचार हुआ—सातवाहन युग आते आते बुद्ध धर्म के प्रति जिसने निरर्थक कर्मकांड का विरोध किया था प्रतिक्रिया प्रारम्भ हुई, और वैदिक धर्म को पुनः जगाने की लहर उठी। किन्तु समाज और समय का प्रवाह बहुत आगे बढ़ चुका था--वैदिक धर्म के बजाय धर्म का दूसरा रूप सामने आया जिसे पौराणिक धर्म कहते हैं। आर्यों के निम्न वर्ग में एवं अनार्यों में कई प्रकार की जड़-पूजाएं प्रचलित थीं। जन साधारण ने बुद्ध की शिक्षाओं को तो सुना जो पूजा पाठ के विरुद्ध थीं—किन्तु, उनकी बुद्धि विकसित नहीं थी और न इतना बौद्धिक साहस कि वे देवता की पूजा, और उस पर आश्रित रहने के भाव को छोड़ देते। वैसे तो वैदिक काल में भी देवताओं की पूजा होती थी-किन्तु वैदिक देवता ईश्वरीय शक्ति के प्रतीक मात्र थे-और उनकी पूजा यज्ञों द्वारा होती थी- अब उन देवताओं की मूर्तियां बनने लगीं, और उन मूर्तियों की भव्य मन्दिरों में स्थापना होने लगी। विष्णु और शिव देवताओं की प्रधानता होगई-और प्राचीन ऐतिहासिक पुरुष विष्णु के अवतार माने जाने लगे—जैसे कृष्ण। कृष्ण की पूजा की

भावना से ही "भागवत धर्म" का प्रचलन हुआ- जिसका कालांतर में अपूर्व सैद्धांतिक एवं भावात्मक विकास हुआ। इन पौराणिक धर्मों का प्रभाव बुद्ध और जैन धर्म पर भी पड़ा -- और उनके यहाँ भी बुद्ध एवं महावीर ने देवताओं और अवतारों का स्थान ले लिया और उनके मन्दिरों की भी स्थापना होने लगी।

साहित्य-पुराने वैदिक साहित्य से स्वतन्त्र और भिन्न नये संस्कृत साहित्य का विकास इस काल से प्रारंभ हुआ।

महाभारत के कई अंश इसी समय की रचना बताये जाते हैं। सुप्रसिद्ध कवि भास जिसकी रचनाओं का प्रभाव चार शती पीछे महाकवि कालीदास के नाटकों पर पड़ा इसी काल के हैं। एवं प्रसिद्ध बौद्ध दार्शनिक, कवि, एवं नाटककार अश्वघोष जिनको कनिष्क अपने दरबार में ले गया था इसी काल के हैं। भारतवर्ष के प्रसिद्ध वैद्य चरक और सुश्रुत भी इसी युग में हुए। प्रसिद्ध आर्य दार्शनिक गौतम, बादरायण, जैमिनि इत्यादि भी इसी काल में हुए बताते हैं।

शिल्प कला:-साहित्य के समान शिल्प और कला का भी सातवाहन युग में विपुल विकास हुआ। इस युग की ३ प्रकार की शिल्पकला पाई जाती है। १—चट्टानों से काटे हुये गुहा मन्दिर जो विशेषतया महाराष्ट्र में बौद्ध और उड़ीसा में जैन मन्दिर हैं। २—भारहुत और सांची के स्तूप जो हैं तो इस

इस काल में पुराने किन्तु उन स्तूपों के चारों तरफ पाया जाने वाला पत्थर की वेदिकाओं (जंगलों) और तोरणों का काम-जिसमें सुन्दर सुन्दर मूर्तियां और तत्कालीन जीवन की झांकियां काटी गई हैं-और जो अपूर्व सौन्दर्य से परिपूर्ण हैं-वह इसी काल की है। ३—गांधारी भवन निर्माण कला एवं मूर्तिकला-जिसमें यूनानी (ग्रीक) प्रभाव स्पष्ट है।

सामाजिक जीवनः—पूर्व उल्लखित ग्रामों, शिल्पियों की श्रेणियों और व्यापारियों की नगर संस्थाओं का राजकाज में बहुत प्रभाव था। किसी भी प्रदेश का राजा उनका तिरस्कार नहीं कर सकता था। शिल्पियों की श्रेणियाँ बहुत साहूकार होती थीं। व्यापार, जहाजरानी खूब होती थी। वैदिक और मौर्य काल में विवाह-बंधन की कुछ शिथिलता अवश्य थी-चाहे आदर्श उच्च—उस काल में तलाक और पुनर्विवाह होता था। धर्म-समृतिकार इन बंधनों को अब कड़ा बनाने की कोशिश में थे। उद्यान-क्रीडायें, गोष्ठियाँ और नाटक जीवन में मनोरञ्जन के साधन थे। साहित्य और राजकाज की भाषा प्रायः सँस्कृत थी-साधारण जन में बोलचाल की भाषा प्राकृत- (पाली-प्राकृत का ही एक रूप) थी-शिक्षा का प्रचलन सीमित उच्च समुदाय तक ही था-साधारण जन समुदाय अशिक्षित था-किन्तु धर्म एवं दर्शन की भावनाओं से वे अपरिचित नहीं रहते थे।

ग. भारशिव, वाकाटक साम्राज्य-(१७६ से ३४० ई.= लगभग १६० वर्ष) ईसा की दूसरी शती अंत होते होते न शक सम्राटों में न सातवाहन सम्राटों में कोई शक्तिशाली शासक रहा-एवं शक और सातवाहन साम्राज्य टूटने लगे। नर्मदा नदी के दक्षिण में भारशिव क्षत्रियों का राज स्थापित हुआ-और इन्होंने नागपुर नगर बसाया। धीरे धीरे इन्होंने उत्तर पूर्व की ओर अपने राज्य का विस्तार किया। यह साम्राज्य गंगा कांठे से नागपुर तक विस्तृत था। इसमें मालवा, कोशला (छतीसगढ़) एवं बघेलखंड के प्रदेश सम्मिलित थे। इसी साम्राज्य पर भारशिवों के एक सेनापति का जो वाकाटक या विंध्यक वंश का था, अधिपत्य हुआ। इस साम्राज्य के अलावा वास्तव में इस समय भारत में कई छोटे छोटे अन्य स्वतन्त्र एकतंत्रीय राज्य एवं गण राज्य थे। समस्त भारत में कोई एक ऐसा सम्राट नहीं था-जिसकी शक्ति एवं जिसके व्यक्तित्व की मान्यता सर्वत्र देश में रही हो।

घ. गुप्त साम्राज्य-(३४० से ५४० ई.=लगभग २०० वर्ष)-उपरोक्त भारशिव एवं वाकाटक युग में जब भारत में अनेक छोटे छोटे राज्य थे, उसी समय साकेत-प्रयाग प्रदेश में गुप्त नामक एक राजा था। उसके पोते चन्द्रगुप्त ने पाटलीपुत्र पर ३२० ई. में चढ़ाई की, और उसे जीत लिया बस यहीं से

भारत का इतिहास प्रसिद्ध गुप्त वंश और गुप्त-साम्राज्य स्थापित हुआ। चन्द्रगुप्त के पुत्र समुद्रगुप्त ने दिग्विजय की-इसका रण-कौशल अद्वीतीय था-और अल्पकाल में ही वह समस्त भारत के
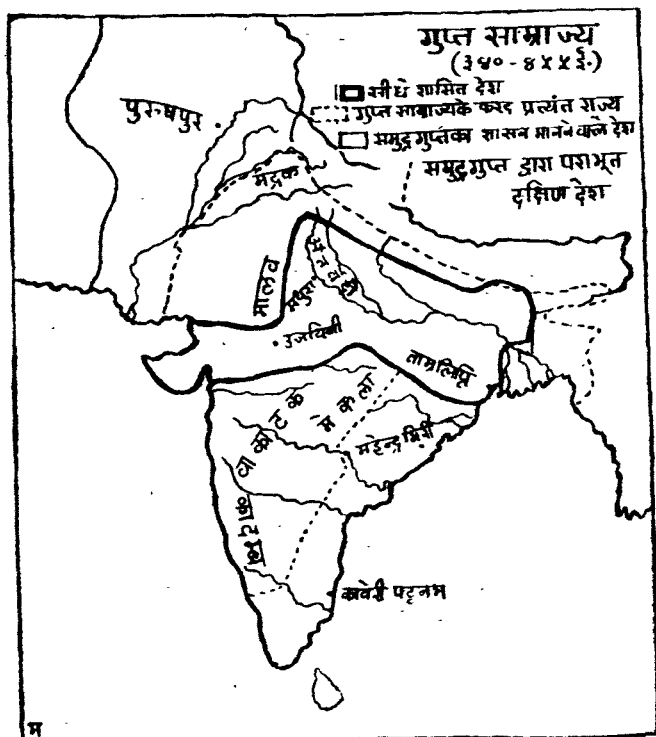
राज्यों में मान्य 'महाराजाधिराज' बन गया। समुद्रगुप्त जैसा वीर विजेता था वैसा ही आदर्श और कुशल शासक भी। वह स्वयं विद्वान था तथा राज्य और संगीत में उसकी ऊंची पहुंच

थी। गुप्त साम्राज्य का विस्तार समुद्रगुप्त के बाद चन्द्रगुप्त ने भी किया–जिससे चन्द्रगुप्त को विक्रमादित्य की उपाधि मिली।

चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य–(३७५ से ४१३ ई.) के जीवन काल में भारत ने कला, विज्ञान और साहित्य के क्षेत्र में इतनी आश्चर्य जनक उन्नति की कि उस युग को स्वर्णयुग के नाम से पुकारा जाने लगा। उस युग में नगर निर्माण, स्थापत्य, शिल्प तथा चित्रकला की ऐसी अमर रचनायें हुईं कि जिनकी स्मृति युगों युगों तक विश्व को भारत की महानता का परिचय कराती रहेगी। गुप्त वंश में एक और सम्राट का नाम उल्लेखनीय है–वह है स्कंदगुप्त (४५५-४६७), यह वह काल था जब मध्य एशिया की ओर से भारत पर हूणों के आक्रमण होने लगे थे। (हूणों का विवरण देखिये अन्यत्र) स्कंदगुप्त ही वह सम्राट था जिसने हूणों के दाँत खट्टे किये और ऐसी करारी हार दी कि अनेक वर्षों तक भारत की ओर मुँह फेरने का भी उनको साहस नहीं हुआ। स्कन्दगुप्त के बाद जब गुप्त साम्राज्य कुछ कमजोर हुआ, तब हूणों के फिर भारत पर आक्रमण हुये-समस्त उत्तरी पश्चिमी भारत पर उनका आधिपत्य हो गया—इनके हमले मालवा तक हुये–ये लोग अतयन्त क्रूर और निर्दयी होते थे–हूणों के एक सम्राट मिहिरकुल ने जिसने शाकल (स्यालकोट) को अपनी राजधानी बनाया था, और जो अपने आपको शिव

का उपासक कहता था गांधार की बौद्ध प्रजा पर अमाननीय अत्याचार किये-और तक्षशिला नगरी हमेशा के लिये मटियामेट करदी। कोई भी गुप्त सम्राट उसकी निशृंसता को नहीं दबा सका समस्त उत्तरी पश्चिमी भारत त्रस्त था--इसी समय एक जन नेता का आविर्भाव हुआ जिसका नाम यशोधर्मा था जो पीछे मालवा का राजा बना--उसने समस्त प्रजा को अपने साथ ले क्रूर मिहिरकुल को परास्त किया और समस्त हूणों को ऐसा त्रासित किया कि भारत से उनकी जड़ ही बिल्कुल उखड़ गई।

गुप्त युग की समृद्धिः-१ वृहत भारत, एवं विदेशी व्यापारः--चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य के राज्य काल में चीन से एक यात्री बौद्ध धर्म के ग्रन्थों का संग्रह करने के अभिप्रायः से भारत आया था। उसका नाम फाह्यान था। उसने ६ वर्ष तक (४०५-११) उत्तरीय भारत का भ्रमण किया। पाटली पुत्र में, रहकर उसने ३ वर्ष तक संस्कृत पढी। उसनें उस समय की भारत की सुव्यवस्था, सुखावस्था, उदारता का चित्र अपने लेखों में खेंचा है। वह लिखता है कि दुनियां के सब देशों में भारतवर्ष सबसे अधिक सभ्य है। प्रजा सभ्य, सम्पन्न, और सादाचारी है। लोग नशा नहीं करते, अपराध बहुत कम होते हैं, मृत्यु दंड किसी को नहीं दिया जाता। जिस समय फाह्यान भारत में भ्रमण कर रहा था, उसी समय भारत के दो बौद्ध विद्वान कुमारजीव

एवं गुणवर्मा जो संस्कृत एवं मध्य एशिया की भाषाओं के अजोड़ पंडित थे, चीन गये और वहां अनेक संस्कृत बौद्ध ग्रन्थों का चीनी भाषा में अनुवाद किया। चीन में ये ग्रन्थ अब भी लोक प्रिय हैं। इसी काल में कोरिया और जापान में बौद्ध धर्म का प्रचार हुआ और वहां अनेक बौद्ध बिहारों का निर्माण हुआ। महाजन पदों (प्रायः ई. पू. ८००) एवं सातवाहन युगों (ईसा की प्रथम शताब्दी) से भारत के दक्षिण-पूर्व में भारतियों के जो उपनिवेश बसने लगे थे-उनमें विकास और समृद्धि की वृद्धि होती रही। "फान-ये नामक एक चीनी लेखक ने ५वीं शती के शुरु में लिखा है कि काबुल से शुरु कर दक्षिण पच्छिम समुद्रतट तक और वहां से पूरब तरफ अनाम तक सब देश शिनतु (सिन्धु=हिंद) में शामिल हैं। अर्थात् उस काल में काबुल कंधार से लेकर समस्त भारत, लंका, ब्रह्मा, स्याम, हिंदचीन, मलाया, सुमात्रा जावा,-ये सब देश "भारत" माने जाते थे-इन सब देशों में भारतीय बसे हुये थे, भारतीय राज्य थे, एवं भारतीय संस्कृति एवं धर्म प्रसारित। वृहत्तर भारत देशों में (ब्रह्मा, हिंदचीन, स्याम, मलाया, सुमात्रा, जावा इत्यादि) हिन्दू (पौराणिक शिव-वैष्णव) एवं बौद्ध धर्म दोनों प्रचलित थे। वृहत्तर भारत, चीन, रोम साम्राज्य और पच्छिमी एशिया के देशों में परस्पर खूब व्यापार होता था। काश्मीर में उन के शालों का व्यवसाय बहुत पहिले से ही प्रारम्भ हो चुका था-अब इनका व्यापार अन्य

देशों से खूब होता था "फारस के राजा ने रोम सम्राट को एक काश्मीरी शाल भेंट किया जिसकी नफासत (सुन्दरता और बारीकी) देख कर रोम के लोग दन्ग रह गये।

राज्य संगठन एवं सामाजिक जीवन–साम्राज्य कई प्रांतों एवं जिलों ('भुक्ति' या 'विषयों') में विभक्त था,-प्रत्येक प्रांत का सम्राट द्वारा नियुक्त एक शासक (गोप्ता) राज्य करता था। ग्रामों, शिल्पियों की श्रेणियों एवं व्यापारियों के निगम का स्थानीय शासन में पूरा प्रभाव होता था, अर्थात् इन संगठनों का अपने अपने क्षेत्र में पंचायती राज्य चलता था। समस्त राज्य में सुव्यवस्था थी-और यही देश की समृद्धि का कारण था। धर्म, दर्शन, साहित्य की भाषा संस्कृत थी, संस्कृत ही शिक्षा का माध्यम था,-किंतु शिक्षा का प्रचार जन साधारण तक नहीं था, यद्यपि धर्म और संस्कृति की भावना से वे परिचित रहते थे। बोल-चाल की भाषा प्राकृत का जन-साधारण में प्रचलन था।

धर्म, काल, साहित्य, ज्ञान– इस युग में भारत में बुद्ध, जैन, एंव पौराणिक हिन्दू धर्म, तीनों ही प्रचलित थे। पौराणिक धर्म में विष्णु, शिव, सूर्य, स्कंद (युद्ध के देवता), एवं देवी की पूजा चल पड़ी थी। आजकल के हिंदू धर्म की बहुत सी बातें चल पड़ी थीं-किन्तु असवर्ण विवाह अभी तक प्रचलित थे। वैसे तो मन्दिरों का निर्माण स्यात् सातवाहन युग

से प्रारंभ हो गया होगा। किन्तु ऐसा अनुमान है कि विशाल धन सम्पत्ति व्यय करके उदात्त कलात्मक मन्दिर निर्माण करना इस युग में प्रारंभ हुआ। ऊँचे नुकीले शिखर वाले वैष्णव मन्दिर बनाने की शैली का प्रचलन अभी हुआ।

अजन्ता, इलोरा और उदयगिरी के गुफा-मन्दिर— अजन्ता और इलोरा दो पहाड़ी गुफायें हैं जो आधुनिक हैदराबाद प्रांत (प्राचीन-महाराष्ट्र के अंग) में हैं। अजंता की रमणीक चट्टानों को काट-काटकर, उन चट्टानों के अंदर ही अनेक विशाल गुफा-मन्दिर बनाये गये हैं। ऐसे गुफा मन्दिर प्रायः तीस के लगभग हैं। सबसे प्राचीन गुफायें स्यात् ई. पू. तीसरी शताब्दी की हैं-तब से नई नई गुफाओं का निर्माण होता रहा-अनुमान है कि ७ वीं शती तक समय समय पर यह काम चलता रहा। गुप्त युग में और इसके बाद भी इन गुफा मन्दिरों की दीवारों पर अनेक चित्र चित्रित किये गये, जिनमें से अनेक अब तक भी मौजूद है। ये चित्र प्राचीन जगत की चित्रकला के सर्वोत्तम उदाहरण हैं, आधुनिक पूर्वीय एवं पाश्च्यात सभी देशों के कला प्रेमियों के लिये सचमुच एक विस्मय की वस्तु। इसी प्रकार हैदराबाद राज्य के आधुनिक दौलताबाद नगर के निकट ऐलोरा (बेलूर) के गुफा मन्दिर हैं—ये गुफायें ऐलारो की रमणीक पहाड़ी में लगभग सवा मील की लम्बाई तक जगह

जगह पर काटकर बनाई हुई हैं। इन गुफाओं में बुद्ध, जैन एवं ब्राह्मण-पौराणिक--तीनों धर्मों के मन्दिर हैं। सर्वोत्तम और आश्चर्यकारी भव्य मन्दिर, कैलाश मन्दिर है जिसका निर्माण ७६३-७८३ ई. में मालखद (महाराष्ट्र और कर्नाटिक) के राजा कृष्ण प्रथम ने करवाया था। उदयगीरी की सुरम्य पहाड़ी मध्य भारत में भेलसा नामक नगरी से ४ मील दूर है। उदयगीरी की गुफाओं का निर्माण ५ वीं सदी अर्थात गुप्तकाल में ही हुआ। उदयगीरी में मूर्तिकला के सुन्दर नमूने मिलते हैं।

इस युग में सम्राट कुमारगुप्त ने राजगृह के पास (बिहार) नालंदा महाविहार की नींव डाली, जो एक संसार प्रसिद्ध विश्व-विद्यालय बन गया, जहां देश विदेश के अनेक विद्वान शिक्षा पाने आते थे। प्रसिद्ध ज्योतिषी आर्य भट्ट इसी युग में हुआ। इसने गुरुत्वाकर्षण और सूर्य के चारों ओर पृथ्वी के घूमने के सिद्धान्त स्थापित किये। गुप्तयुग के ज्योतिषियों ने रोम और अलक्सेदरीया के ज्योतिषियों के भी अनेक सिद्धान्त ग्रहण किये। छठी शताब्दी के भारतीय ज्योतिषी वराहमिहिर ने ग्रीक ज्योतिषियों का आधार माना था। अर्थ यह है कि ज्ञान विज्ञान में भारत और ग्रीस, रोम और टोलमी राजाओं की अलक्सेन्द्रिया विद्यालय (जिसका विवरण देखीये अध्याय) में परस्पर आदान-प्रदान होता रहता था। इस युग का काव्य-साहित्य अद्वितीय है। विष्णुशर्मा का पंचतन्त्र (कहानियां) एक अमर

रत्न है, जिसका संसार की अनेक भाषाओं में अनुवाद हुआ है। विश्व-विख्यात एवं विश्व पूजनीय महा कवि कालीदास इस युग के सबसे प्रसिद्ध पुरुष हैं। कालीदास के काव्य और नाटक (जिनमें प्रमुख–शकुन्तला, रघुवंश, कुमार-संभव, मेघ-दूत आदि हैं) समस्त मानव की अपूर्व निधियां हैं। इनमें पावन भूमि भारत की प्राकृतिक रमणीयता और आत्मा की उदारता के मधुर दर्शन होते हैं। कवि कालिदास ने जिस अपूर्व सौन्दर्य की सृष्टि की–वह सौन्दर्य देश देश के मनीषियों के अंतर को स्पर्श कर गया। सन् १७८६ में सर विलियम जेम्स ने 'शकुंतला' का अंग्रेजी में अनुवाद किया था-तत्पश्चात् उसका अनुवाद जर्मनी तथा अन्य भाषाओं में हुआ। १६ वीं शताब्दी में जर्मनी के विश्व–विख्यात कवि गेटे ने शकुन्तला को पढ़कर आनंद के आंसू बहाये थे। ऐसा प्रतीत होता है कि गुप्त काल में भारत मानों एक सुरम्य क्रीडा क्षेत्र था-जहां मानव सहज स्वभाव से खेलता था, हंसता था, गाता था–उसी प्रकार जिस प्रकार १६ वीं १७ वीं शती में ईंगलैंड का मानव महाकवि शेक्सपीयर के काव्य और नाटकों से अनुप्राणित होकर खेलने, हंसने और गाने लगा था।

उस युग के संसार में केवल चार सभ्य साम्राज्य और जातियां थीं–चीनी, भरतीय, ईरानी, और रोमन। इनमें वस्तुतः भारतवासी सभ्य संसार के नेता थे। वैदिक युग में

भारतीय मनीषी ने उदात्त आध्यात्मिक आनंद में मुक्ति की अनुभूति की थी–गुप्त काल में भारतीय मानव ने मानवीय सौन्दर्य और उल्लास की अनुभूती की ।

ङ पिछले गुप्त, मौखरि, एवं वैस (हर्ष) राज्य (५४०-६५०; लगभग १०० वर्ष) गुप्तवंश का अंतिम शक्तिशाली सम्राट स्कंदगुप्त था। उसके बाद गुप्त वंश का महत्व कम होने लगा-और सन् ५४० आते आते सर्वथा उसका अंत हो गया । ऐसी दशा में देश में अनेक छोटे छोटे स्वतन्त्र राज्य स्थापित हो गये। इन राज्यों में सबसे अधिक महत्वशाली राजा हर्षवर्धन (६०६–६४७) का साम्राज्य था, जिसकी राजधानी कन्नोज थी । इस साम्राज्य में काश्मीर और पंजाब, सिंध को छोड़कर प्रायः समस्त उत्तरी भारत सम्मिलित था । हर्ष शक्तिशाली विजेता, योग्य और न्यायी शासक था । इसके राज्यकाल में बाणभट्ट नामक प्रसिद्ध संस्कृत कवि हुआ–जिसने हर्ष चरित नामक ग्रन्थ की रचना की । हर्ष बुद्ध धर्म का अनुयायी था–किन्तु अन्य धर्मों का भी समान भाव से आदर करता था । इसके राज्य काल में युवान-च्वाङ्ग नामक एक चीनी यात्री ६३० ई. में भारत में आया। वह लगभग १५ वर्ष तक भारत के एक छोर से दूसरे छोर तक घूमा। नालंदा के विश्वविद्यालय में रहकर ५ वर्ष तक इसने संस्कृत एवं बौद्ध धर्म–ग्रन्थों का अध्ययन किया। उसने उस समय के जीवन का अच्छा चित्र खींचा है ।

जिसका सारांश यह है कि देश समृद्धिशील, सुव्यवस्थित अवश्य था-किन्तु जीवन और सामाजिक संगठन में से वह भव्यता, और गौरव प्रायः लुप्त हो चुका था, जिसने गुप्त युग को महान् बनाया था। हर्षवर्धन के राज्य को प्राचीन हिन्दू युग का अंतिम गौरवशाली राज्य मान सकते हैं। इसके बाद वास्तव में भारतीय जीवन में मौलिकता का ह्रास होने लगा-उसमें जड़ता आने लगी और वह संकीर्ण बन गया। छठी शताब्दी में १६ वीं शताब्दी तक, लगभग १३०० वर्ष मानों भारतीय ज्ञान चक्षु एवं जीवन द्वार अवरुद्ध हो गये हों। कहीं कहीं कभी कभी प्रकाश और तीव्र कर्मण्यता के उदाहरणों को छोड़कर प्रायः समस्त जीवन पर धीरे धीरे आलस्य और अज्ञानातांधकार छा गया।

३४

मानव इतिहास का प्राचीन युग-

एक सिंहावलोकन

अतीत काल से यह सृष्टि विद्यमान है। कौन कह सकता कि यह सृष्टि एक (अद्वैत, अद्वितीय) भूत-द्रव्य (Matter) विकास है, या एक चेतन परमात्वतत्व की अभिव्यक्ति ? इतना अब अवश्य अनुमान है कि किसी अतीत काल में किसी वाष्प-सम द्रव्य (Nebulae) से अपना सूर्य आविर्भूत हुआ; उस

सूर्य में से आज से लगभग २ अरब वर्ष पहिले अपनी पृथ्वी निकली। इस पृथ्वी पर अनुमानतः ५० करोड़ वर्ष पहिले प्राण का आगमन हुआ। इसी प्राण अंश में से विकसित होता हुआ आज से लगभग ५ लाख वर्ष पहिले प्रकट हुआ द्विपदजीव—अर्ध मानव प्राणी; और फिर ५० हजार वर्ष पूर्व प्रकट हुआ सृष्टि का सर्वाधिक विकसित और सर्वाधिक चेतना और बुद्धि-युक्त-रूप—मानव। मानव की इस पृथ्वी पर कहानी शुरु हुई। पहिले वह जंगली जानवर से श्रेष्ठ कोई प्राणी नहीं था। जंगली जानवर की तरह ही रहता था, वैसे ही खाता पीता और लड़ता था; वह उन्हीं में से एक था। इस असभ्य अवस्था को पार करता हुआ आज से लगभग १५ हजार वर्ष पूर्व वह इस स्थिति में था कि वह पशु पालन और कृषि करने लगा था, समूह बना कर गाँवों में रहने लगा था; अपने पूर्वजों की कहानी याद करने लगा था, और पूर्वजों के नाम पर समूहगत जातियों में विभक्त हो गया था,—देवी देवताओं की कल्पना कर चुका था, उनके मंदिर बनाने लगा था, उनकी पूजा करने लगा था उनको प्रसन्न करने के लिए बलि चढ़ाने लगा था। उन्हीं में से कुछ व्यक्ति पुरोहित हो गये थे, जो मन्दिरों के पुजारी थे, जादू टोणा करते थे और साधारण जन को बताते थे कि कब वर्षा होती है, कब भूमि में बीज डाला जाता है, कब धान की कटाई होती है, कैसे देव प्रसन्न होता है,—कैसे अप्रसन्न। यह मानव की वह

स्थिति थी, जब वह प्रकृति को देख कर विस्मित था, डरा हुआ था, घोर अज्ञान वश कुछ समझ नहीं पाता था,—प्रतिदिन की घटनायें उसके लिए एक रहस्य (Mystery) थीं।

इसी प्रकार के मानव ने आज से लगभग ८ हजार वर्ष पूर्व—ईसा से ६ हजार वर्ष पूर्व—धीरे धीरे सर्व प्रथम संगठित सभ्यताओं का विकास किया। मानव की यह हलचल हुई विशेषतया कुछ विशेष सुविधाजनक स्थानों में,—यूफ्रीटीज टाईग्रीस नदियों की भूमि मेसोपोटेमिया में, नील नदी की भूमि मिश्र में, सिन्धु नदी की भूमि भारत में, एवं ह्वांगहो, यांगटी-सिक्यांग नदियों की भूमि चीन में। यहाँ बड़े बड़े नगरों का; भवनों मंदिरों महलों का; नहर सड़कों का; वस्त्र, धातु संबंधी हस्त कौशल और कलाओं का; व्यापार विनिमय का; सामाजिक राजनैतिक नियमों का, एवं बड़े बड़े राज्यों और साम्राज्यों का विकास और निर्माण हुआ। नगर सभ्यता और ऐहिक ऐश्वर्य को मानव ने सर्वप्रथम देखा। कहां वह आदिम जंगली अवस्था—पेड़ों के नीचे और गुफाओं में रहना, नंगे फिरना या खाल से शरीर ढ़कना, प्राकृत फल एवं कच्चा या भुना मांस खाना, और कहां अब नगरों और भव्य भवनों में रहना, सुन्दर रेशम, सूत, या ऊन के वस्त्र धारण करना, एवं अनेक प्रकार के स्वादिष्ट व्यंजनों का भोजन करना। माना सब व्यक्तियों को ये सब सभ्य सुविधायें उपलब्ध नहीं थीं, किंतु मानव सभ्यता के

विकास की एक उच्च स्थिति यह अवश्य थी। ठीक, मानव सभ्यता का अपूर्व विकास यह अवश्य था, किंतु उसकी संस्कृति, उसकी चेतना अभी तक अवरुद्ध थी। अभी तक वह यह सोचता था कि देवी देवता, जादू टोना ही मंगल अमंगल करने वाले हैं, इनके डर से उनका मत अभी तक पराभूत था; निर्द्वन्द्व हो, मुक्त हो, अभी तक वह प्रकृति के साथ एकात्म्य स्थापित नहीं कर पाया था, उदात्त आनन्द (Sublime Joy) की अनुभूति नहीं कर पाया था। अपने ऐहिक विकास और मानसिक बद्धता की स्थिति को लिये हुए वह सर्व प्रथम सभ्य स्थिति वाला मानव चलता जा रहा था, जब सहसा उसकी सभ्यता प्रायः खत्म हो गई, वह विलीन हो गई; मिश्र, मेसोपोटेमिया और सिंधु प्रदेश सब की सभ्यतायें विलुप्त हो गईं मानो मानव की एक कहानी, उस कहानी का एक काल, एक प्रकरण बिल्कुल समाप्त हो गया है। हम आज के मानव मानो उस काल के मानव से बिल्कुल विलग हों, उनके संस्कार मानो हम में प्रायः न हों।

इसके बाद एक नया ही मानव उत्थित हुआ, और उसकी कहानी चलने लगी। यह कहानी ईसा के प्रायः दो हजार वर्ष पूर्व प्रारंभ हुई—उस युग में जिसको हमने मानव इतिहास का प्राचीन युग कहा है—(२००० ई. पू. से ५०० ई०) इस बार मानव कुछ नई ही प्रेरणा ले कर खड़ा हुआ। उसका मानस स्वतन्त्र था, उसकी चेतना मुक्त। भारत में मुक्त मानव ने, उसकी

मुक्त आत्मा ने परमानन्द की अनुभूति की, ग्रीस में मानव ने प्रकृति को एक जादूगरी रहस्य नहीं मान कर उसका स्वतंत्र अन्वेषण शुरु किया और मानव जीवन में कलात्मक सौंदर्य की अनुभूति की। अद्‌भुत साहसी, मुक्त और आनंदी ये लोग थे। भारत में वेद का आर्यऋषि हुआ और फिर बुद्ध भगवान; चीन में महात्मा कनफ्यूशियस और लाओत्से; ग्रीस में दार्शनिक प्लेटो और अरस्तू, और यरुसलम में यहूदी द्रष्टा और फिर महात्मा ईसा। भारत में काव्यमयी वाणी का गान हुआ रामायण और महाभारत में, ग्रीस में इलियड और ओडेसी में, चीन में "गीतों की पुस्तक" में। यह सब मानव चेतना का प्रथम प्रस्फुटन था, जब मानव हंसकर खिला था, जब मानव ने मानो अपने आंतरिक विकास के, अपनी संस्कृति के अंतिम छोर को छू लिया था।

एक बार चेतना प्रस्फुटित हुई,—उस युग की विकसित दिव्य आत्मायें मानव को संकेत दे गईं कि मानव के ज्ञान और आनन्द की इतनी उच्च संभावनायें हैं। उस प्राचीन युग की उदात्त और प्रकाश मान परम्परा कम या अधिक लगभग ५०० ई. तक चलती रही। फिर समस्त संसार में एक आवरणसा छा गया, प्राचीन मुक्त ज्ञान और आनन्द की परम्परा पर एक परदा पड़ गया, वह अंधकार में लुप्त हो गई। यह अंधकार था मानव इतिहास के मध्य युग का अंधकार।

———

पांचवां खंड

मानव इतिहास का मध्य युग

(५०० ई. से १५०० ई. तक)

जब मानव चेतना के मुक्त प्रस्फुटनापर एक
परदा गिर गया ।

३५

छठी सातवीं शताब्दियों में संसार की दशा

पच्छिमी युरोप:—रोमन साम्राज्य का पतन होचुका था। कला, साहित्य लुप्त हो चुके थे, संगठित सामूहिक जीवन विश्रृंखल हो चुका था, मानो एक दुनिया समाप्त होचुकी थी, उस पर आरंभिक अवस्था से प्रारम्भ करके एक नई दुनियां का ही निर्माण हो रहा था। यह नई दुनिया थी, नोर्डिक आर्य लोगों की जो स्थान स्थान पर फैल रहे थे और अपनी बस्तियां

बसा रहे थे—धीरे धीरे राज्यों का निर्माण हो रहा था और ये प्रारंभिक मूर्तिपूजक लोग धीरे धीरे ईसाई धर्म ग्रहण कर रहे थे और अपनी आर्य—जर्मेनिक बोलियों का भाषा के रूप में शनैः शनैः विकास कर रहे थे। धीरे धीरे सांमतवाद, ईसाई धर्म की भावना, गिरजा और पोप,-इन बातों के इर्द गिर्द साधारण मानव का जीवन घूमने लगा था। बहुजन के निर्वाह का आधार कृषि ही था। पच्छिमी यूरोप में मध्य युग की ये प्रारंभिक शताब्दियां थीं।

पूर्वीय यूरोप :- पूर्वीय यूरोप अर्थात ग्रीस और डन्यूब नदी के दक्षिणी प्रदेशों में रोमन साम्राज्य स्थापित था—अपनी पुरानी परम्पराओं को चला रहा था-इस साम्राज्य में मुख्य भाषा ग्रीक थी-सब लोग ईसाई बन चुके थे,-किन्तु यहां भी उत्तर पच्छिम एवं उत्तर पूर्व से गोथ लोगों के आक्रमण प्रारंभ हो गये थे-आक्रमण होते रहते थे- किन्तु पच्छिमी यूरोप की तरह साम्राज्य छिन्न भिन्न होकर सर्वथा लुप्त नहीं हो गया था। साम्राज्य की राजधानी कुस्तुनतुनिया उस काल में संसार का एक बहुत विशाल और समृद्धिशाली नगर था।

पच्छिमी एशिया:- एशिया माइनर, मिश्र, इजराइल, सीरिया, में पूर्वीय रोमन साम्राज्य स्थापित था, फारस और मेसोपोटामिया में फारसी (ईरानी) राजाओं का आधिपत्य था। इन प्रदेशों में बड़े बड़े नगर बसे हुए थे, नगरों में विशाल जन

संख्या आबाद थी। सीरिया में उस युग के प्रसिद्ध नगर अंटीओच, अपेमीआ,एमेसा; दश्मिक, इजरांइल में यरुशलम, मेसोपोटेमिया में हरन, हतराओ, नीसीबिन, सेलेन्सिया, इत्यादि।

नगरों का जीवन बहुत ऐश्वर्य-पूर्ण, आरामतलब, और अमीरी था, विशाल और सुन्दर रहने के भवन हुआ करते थे। व्यापार का धन नगरों में ही आकर एकत्रित होता था-धनिकों के यहां अनेक गुलाम रहते थे। किंतु बहुजन समुदाय का जीवन तो जैसा आज है यथा-खेत में खेती करना, पशु पालन करना, चरागाहों में भेड़, बकरी चराना, एवं कच्चे, फूस के घर बना कर उनमें रह जाना-वैसा ही तब था-और वैसा ही था छठी सातवीं शताब्दी के पहिले भी ईसा काल के प्रारंभ में और उसके पूर्व की शताब्दियों में।

नहरों और सिंचाई के लिये नालियां खूब मजबूती और कुशलता से बनाई हुई थीं-वास्तव में नहरों और नालियों द्वारा सिंचाई की प्रणाली पुराने काल से चली आ रही थी। इन्हीं पर किसान का जीवन आधारित था। इन प्रान्तों में शासकों का परिवर्तन होता रहता था, कभी ईरानी साम्राज्य के विस्तार होने पर ईरानी सत्रप या गर्वनर सीरीया, इजराइल, एशिया-माइनर के नगरों में एवं प्रांतों में नियुक्त हो जाता था, कभी रोमन

साम्राज्य के विस्तार होने पर, रोमन गर्वनर नियुक्त हो जाते थे,- किंतु यह परिवर्तन ऊपर ही ऊपर हो जाता था, साधारण गांव के रहने वाले या नागरिक तक इसका प्रभाव प्रायः नहीं पहुंच पाता था—किसान की दिलचस्पी बस इसी बात में थी कि उसकी नहरें और जल-नालियां सुरक्षित रहें-और वह नगर सुरक्षित रहे जिससे उनका लेन देन, खरीद बिक्री का संबंध था । नागरिकों की दिलचस्पी बस इसी में थी कि उनका नगर उन्नति करता रहे और विकसित होता रहे। यह भावना कि कोई एक सुनिश्चित देश या राष्ट्र होता है-वहां के रहने वाले उसके नागरिक होते हैं-एवं उस राष्ट्र के प्रति उनका कोई उत्तरदायित्व होता है, यह भावना या यह चेतना उस काल में अभी उत्पन्न नहीं हो पाई थी,-धर्मगत् विभिन्नता की भावना तो उनमें अवश्य थी—जरथुस्त्री, ईसाई, यहूदी धर्मावलम्बी पृथक पृथक थे-उनमें विरोध भी होते थे।

पूर्वीय एशियाः- उस समय की दुनिया में सबसे बड़ा, समृद्धिवान साम्राज्य था चीन का-जो सुदूर पूर्व में चीन से प्रारम्भ होकर पच्छिम में कैस्पियन सागर तक फैला हुआ था- उस समय प्रसिद्ध तांग वंश के सम्राट (सन् ६१८ से प्रारम्भ) चीन और चीन के विशाल साम्राज्य पर राज्य कर रहे थे। कला, साहित्य, शिक्षा की वहां अभूतपूर्व उन्नति हो रही थी।

निसंदेह ताँग वंश के सम्राटों के आने के पूर्व चीन भी कई शताब्दियों तक (तीसरी से ६ठी तक) कई छोटे छोटे राज्यों से विभक्त था--एक विशाल सुसंगठित केन्द्रीय शासन वहां नहीं था, और कह सकते हैं कि रोमन साम्राज्य के पतन के बाद जो दशा पच्छिमी यूरोप की वहां हुई थी, एक दुनियां खत्म होकर मानों दूसरी दुनियां शुरु हो रही हो--वही चीन की हालत थी;- किन्तु एक बुनियादी फर्क था। यूरोप में तो एक विशेष सभ्यता एक विशेष प्रकार का जीवन-दृष्टि-कोण एक विशेष जाति (रोमन) लुप्त हो रही थी, और उसके पतन पर एक नई जाति (नोर्डिक आर्य), मूलतः एक नई सभ्यता, एक नये प्रकार के जीवन दृष्टि-कोण का प्रादुर्भाव हुआ था,-किन्तु चीन में तांग वंश के पूर्व अनिश्चित, असंगठित, और अस्त व्यस्त शताब्दियों में भी, परम्परानुकूल कला, साहित्य निर्माण की एक अजस्र धारा विद्यमान थी,-वही जाति, वही दृष्टिकोण विद्यमान था—जो तुंग वंश के सुसंगठित सुराज्य काल में खूब विकसित होपाया।

भारत में भी गुप्त वंश के कुशल, व्यवस्थित, और शानदार (Glorious) राज्य काल के बाद ईसा की पांचवीं शताब्दी के मध्य से (४५० ई. लगभग से) मध्य एशिया की ओर से आते हुए हूणों के आक्रमण होने लगे—वे ही हूण जिन्होंने समस्त पूर्वीय और मध्य यूरोप को भी आन्तकित किया था—

और अभी पांचवीं ६ठी शताब्दियों में भी आतंकित कर रहे थे। अतएव पांचवीं शताब्दी के मध्य से सातवीं शताब्दी के आरम्भ में (६०६ ई. में) जब तक हर्षवर्धन का राज्य स्थापित नहीं हुआ, प्राय: यूरोप और चीन की तरह भारत की दशा भी अनिश्चित और अस्त व्यस्त ही रही। किन्तु यहां की और यूरोप की स्थिति में भी एक मूलभूत अन्तर था—भारत में चीन की तरह जीवन दृष्टिकोण और भावनाओं की प्राय: एकसी ही लहर प्रवाहित रहती थी—ऊपर से शासक बदलते रहे, किन्तु धार्मिक एवं सामाजिक जीवन को वे राजकीय परिवर्तन आकर छू नहीं पाते थे।—६ठी, सातवीं शताब्दियों में धर्म की दो धारायें—ब्राह्मण (हिन्दू) धर्म और बौद्ध धर्म-प्रवाहित थीं-दोनों धर्मों के अनुयायी थे—दोनों साथ साथ रह रहे थे,-किसान खेती करता था, पंडित पूजा करता था—ठीक उन्हीं बैल और हलों से,-उन्हीं घण्टे और आरतियों से,-जैसा आज २० वीं शती में किसान और ब्राह्मण कर रहे हैं।

—*—

३६

मोहम्मद और इस्लाम

इस पृथ्वी पर मानव के आगमन के बाद, किसी भी

सभ्यता के उदय होने के कई हजार वर्ष पूर्व, कह सकते हैं आज से लगभग १५–२० हजार वर्ष पूर्व, हम उसे (मानव को) कई भिन्न भिन्न उपजातियों (Races) में विभक्त हुआ पाते हैं। इन उपजातियों में एक उपजाति थी "सेमेटिक" । इस उपजाति के लोगों को विशेषतया हम अरब देश में रहता हुआ पाते हैं । जब मिश्र में मिश्र की सभ्यता का, मेसोपोटेमिया में सुमेर और बेबीलोन सभ्यताओं का उदय हुआ था एवं उनका विकास हो रहा था, उसी प्राचीन काल में उपरोक्त सेमेटिक उपजाति के लोग अरब में रहते थे। ये लोग अरब के भिन्न भिन्न भागों में समूह बना कर रहते थे। ये समूह ही समूहगत जातियाँ (Tribes) थीं। पृथक पृथक जाति के अपने अपने पूर्वज थे और अपने अपने देवता, ऐसे ही देवता जैसे प्रारंभिक अर्ध-सभ्य मानव में प्रत्येक जाति (Tribe) में पाये जाते हैं । कहते हैं, अरब में भिन्न भिन्न जातियों के सब मिलाकर ३४० देवता थे। उस काल में जब मिश्र और बेबीलोन के बड़े बड़े साम्राज्य थे, एवं परस्पर खूब व्यापार होता था, अरब में मक्का नगर का विकास होचुका था। मक्का में काले पत्थर का एक मन्दिर था, इस मन्दिर में एक पत्थर था जिसे आकाश से टूटे हुए एक तारे का अंश बताया जाता है; इसे काबा कहते हैं; यह काबा ही उपरोक्त सब ३४० देवी देवताओं में सर्वोपरि समझा जाता था, और ऐसा विश्वास था कि इसी देवता की संरक्षता में अरब जातियों (Tribes) के

अन्य सब देवी देवता रहते थे।

अरब एक रेगिस्तान प्रधान देश है। केवल पच्छिमी तट में एवं सुदूर-दक्षिण-पच्छिम भाग में जिसे यमन कहते हैं कुछ उपजाऊ भूमि खण्ड हैं। अरब के लोग विशेषतः घुम्मकड़ (Nomads) थे और ऊंटों और घोड़ों पर इन लोगों के समूह इधर उधर भोजन की तलाश में जाया करते थे, किंतु उपजाऊ भूखडों में खेती और पशुपालन करते थे, घास के मैदानों में भेड़, बकरी और ढ़ोर पाल कर भी रहते थे। अरब के पच्छिम में मिश्र में, उत्तर में मेसोपोटेमिया में, एवं पूर्व में ईरान में उच्च विकसित सभ्यताओं एवं बड़े बड़े साम्राज्यों की स्थापना हुई थी, किंतु अरब में कुछ भी विकास नहीं हो पाया, शायद इसीलिये की यहां पर प्राकृतिक सुविधायें नहीं थीं। किंतु याद होगा:— प्राचीन काल में इन्हीं सेमेटिक लोगों की एक जाति ने मेसोपोटे-मिया में असीरीयन राज्य की स्थापना की थी, इन्हीं अरब लोगों की एक जाति के लोग जिनके आदि पूर्वज अबराहम थे और जो बाद में यहूदी कहलाये अपने पूर्वज अबराहम के साथ लगभग १४०० ई. पू. में इजराइल चले गये थे और वहाँ यरुशलम में यहूदी राज्य की स्थापना की थी और उन्हीं यहूदी लोगों में दृष्टा (Prophet) ईसा मसीह का जन्म हुआ था जिसके उपदेशों के आधार पर ईसाई धर्म का संगठन हुआ था; किन्तु अरब देश स्वयं में कुछ भी प्रगति नहीं हुई, बल्कि कभी तो यहां मिश्र

साम्राज्य का, कभी ईरान का दबदबा रहता था, और फिर ग्रीक और फिर रोमन साम्राज्यों का दब दबा रहा । अरब लोगों को उपरोक्त साम्राज्य के शासकों को मान्यता देनी पड़ती थी, यद्यपि यह मान्यता नाम मात्र की थी, क्योंकि कोई भी सम्राट इतनी दूर रेगिस्तान में आने में कुछ तथ्य नहीं देखता था।

६ठी सातवीं शताब्दी में अरब में दो प्रमुख नगर थे, एक मक्का जहां उपरोक्त क़ाबा का मंदिर था; काबा, अर्थात् वह काला पत्थर (सङ्ग-असवद) जिसके विषय में एक विश्वास तो यह था कि वह आकाश से टूटे हुए तारे का अंश था, एवं दूसरी मान्यता यह कि एक देवदूत ने यह पत्थर अब्राह्म (इब्राहिम) को, जिसे अरबी लोग अपने पूर्वज मानते थे, दिया था। मक्का इसीलिए अरब लोगों का पवित्र तीर्थ स्थान था। यहां अरब यात्री आते जाते रहते थे, काबा को पूजते थे, उसकी परिक्रमा करते थे, उसे चूमते थे और रात्रि के समय एकत्रित होकर कवितायें या गीत गाते थे, उनकी अरबी भाषा में । ऐसा भी अनुमान है कि अनेक धार्मिक संवाद, विवाद और वार्तालाप भी होते रहते थे । अनेक यहूदी, ईसाई लोग भी इन धार्मिक वार्तालापों में भाग लेते थे । अरब के समीपस्थ देशों में इस समय विशेषतः यहूदी और ईसाई लोग ही बसे हुए थे । दूसरा नगर मदीना था, जो कि एक व्यापारिक स्थल था, जहां यहूदी

लोग विशेष बसे हुए थे और यहूदी धर्म का विशेष प्रभाव था। मक्का और मदीना दोनों उस व्यापारिक मार्ग पर बसे हुए थे जहां दक्षिण में यमन से ऊंटों के काफिले के काफिले सीरिया, फलस्तीन, फीनीसिया इत्यादि देशों में जाया करते थे—जो मिश्र और बेबीलोन से संबंधित थे।

इस तरह प्राचीन प्रारम्भिक काल से लेकर ईसा की सातवीं शताब्दी के प्रारम्भ तक अरब का काल बीता। उस समय कोई भी यह विश्वास नहीं कर सकता था कि अरब लोग एक शक्तिशाली संगठन बनाकर उठ सकते थे और सारी दुनिया को एक बार हिला सकते थे। किन्तु ऐसा हुआ, अरब लोग एक संगठन बनाकर तूफान की तरह उठे और उस तूफान ने उस समय में ज्ञात दुनिया के विशेष भाग को एक बार तो पराभूत कर ही दिया। यह अभूतपूर्व संगठन था—इस्लाम। यह एक धार्मिक संगठन था जिसकी स्थापना मोहम्मद ने की।

मोहम्मदः—मक्का नगर में अरब लोगों की समूहगत जातियों में बेदवां एक जाति थी। इसी बेदवां जाति के एक साधारण घराने में सन् ५७० ई. में मक्का नगर में इस्लाम के संस्थापक मोहम्मद साहब का जन्म हुआ। पहिले अनेक वर्षों तक एक गड़रिये का जीवन व्यतीत किया, फिर मक्का में ही रहने वाली एक धनवान व्यापारी की विधवा के यहां नौकरी

करली, उसका नाम क़दीजा था। मोहम्मद को उसके व्यापार की देख भाल करनी पड़ती थी। ऐसा अनुमान है कि मोहम्मद व्यापारी क़ाफिले के साथ कई बार यमन, सीरिया और मदीना भी गया था। संभव है वहीं पर वह ईसाई और यहूदी विचार-धाराओं के सम्पर्क में आया और इन धर्मों के विषय में काफी जानकारी हासिल की। मोहम्मद शिक्षित नहीं था, किन्तु बुद्धिमान अवश्य। धीरे धीरे अपनी मालकिन कदीजा से मोहम्मद का प्रेम सम्बन्ध हो गया और फिर बाद में उससे शादी भी करली। उस समय मोहम्मद की आयु कोई २५ वर्ष और क़दीजा की ४० वर्ष की होगी।

कहते हैं मोहम्मद अनेक बार रेगिस्तान के नितान्त एकान्त स्थानों में घूमने निकल जाया करता था और वहां मनन किया करता था। गहन आन्तरिक द्वन्दों की अनुभूतियां उसे होती होंगी। अवश्य उसकी समझ और भावनाओं का विकास शनैः शनैः हो रहा होगा। ४० वर्ष की आयु तक बाह्यरूप से तो उसमें किसी भी विशेषता के आभास नहीं मिलते किन्तु इस आयु के बाद उसकी अनुभूतियां अभिव्यक्त होने लगी अरबी कविताओं के पदों में जिसकी शैली की जानकारी मक्का में रात्रि के समय एकत्रित यात्रियों में होने वाले गान और कविता पाठों से मोहम्मद को अवश्य हो चुकी होगी।

इन अनुभूतियों की चर्चा पहिले तो मोहम्मद ने केवल अपनी स्त्री क़दीजा, एक स्नेही अंतरंग मित्र अबूबक़र और अपने एक गोद के बेटे अली के सामने ही की। किन्तु अनुभूतियों की तीव्रता बढ़ती गई और फिर तो मुक्त होकर उन अनुभूतियों का ऐलान वह सबके सामने करने लगा। जो कुछ भी मोहम्मद ने कहा उसके विषय में मोहम्मद ने ऐलान किया कि जो कुछ भी वह कहता है उसका दर्शन अल्लाह के एक दूत ने उसे करवाया है। उसका ज्ञान, उसकी शिक्षायें अल्लाह की देन हैं। अल्लाह एक है, एक के सिवाय दूसरा कोई नहीं। बुतपरस्ती (मूर्तिपूजा) अज्ञान है। जो अल्लाह में विश्वास करेंगे वे स्वर्ग का उपभोग करेंगे, जो अविश्वासी होंगे वे नर्क (दोजख) की आग में जलेंगे। अनेक आदमी मोहम्मद के अनुयायी होने लगे। किन्तु साधारणतया ये ऐलान, ये शिक्षायें मक्कावालों को बर्दाश्त नहीं हो सकती थीं, वहां तो ३४० बुत थे, क़ाबा की पूजा सदियों से प्रचलित, थी जो अरबी लोगों की भावनाओं और परम्पराओं का केन्द्र थी। आखिर मक्कावालों का निर्वाह भी तो यात्रियों की मक्का यात्रा पर निर्भर था; किस प्रकार वे अपने बुतों, अपनी परम्पराओं, अपनी भावनाओं, अपने क़ाबा को जिसे वे चूमते थे विनिष्ट होने देते। मोहम्मद और उसके कुटुम्बियों और सहयोगियों को क़त्ल करने का उन्होंने इरादा कर लिया। मक्का तो एक पवित्र तीर्थ स्थान समझा जाता था, लोगों की

भावना ऐसी थी कि वहां कोई भी दुष्कार्य नहीं किया जाये, अतः वहां क़त्ल नहीं हो सकता था। किन्तु मोहम्मद को बर्दाश्त करना भी कठिन था। आख़िर उन्होंनें एक षडयन्त्र रचा, जिसमें मोहम्मद के परिवार को छोड़कर मक्का के सभी परिवारों का प्रतिनिधित्व था, जिससे बाद में कोई यह नहीं कह सके कि मक्का पवित्र स्थान में किसने यह काम किया किसने नहीं,—पाप के साझीदार सभी हो सकें। किन्तु मोहम्मद को षडयन्त्र का पता लग गया। उधर मदीना नगर में जहां पहिले से ही यहूदी, ईसाई लोगों के प्रभाव से अनेक जन ऐकेश्वरवादी थे, मोहम्मद के विचारों को अभूतपूर्व सहानुभूति और सहयोग मिला। उन्होंने मोहम्मद को मदीना में आकर रहने के लिये आमन्त्रित किया। पहिले तो मोहम्मद ने अपने सब परिवार वालों को (उसकी पहिली स्त्री क़दीजा की मृत्यु हो चुकी थी) और सहयोगियों को मदीना भेजा; और फिर षडयन्त्रकारियों से बचकर मोहम्मद स्वयं और उसका अंतरंग मित्र और सहयोगी अबूबरक़ गौरव के साथ सन् ६२२ ई. में २० सितम्बर के दिन मदीना में प्रवेश हुए। मोहम्मद की मक्का से मदीना तक की यह दौड़ हिज्र कहलाती है, और उसी दिन से जिस दिन मोहम्मद ने मदीना में प्रवेश किया मुसलमानों का हिजरी सन् प्रारम्भ होता है, और वही दिन इस्लाम धर्म का स्थापन दिवस माना जाता है।

मोहम्मद का विश्वास था कि एक ही "अल्लाह" है। एक ही अल्लाह का सारी पृथ्वी पर राज्य होना चाहिये। सारी पृथ्वी में एक ही अल्लाह में विश्वास करने वाले (अर्थात मुसलमान) लोग होने चाहियें; अतएव सारी पृथ्वी के लोगों को आस्तिक बनाना मोहम्मद ने आरम्भ किया। सब अपने अनुयायियों, सहयोगियों को एकत्रित किया, अल्लाह का सबक उनको सिखाया, उनको मुसलमान बनाया और अपने विश्वास के प्रसार के लिये आगे बढ़ा। सबसे पहिले व्यापारिक काफिलों पर हमला करना प्रारम्भ किया,—वे काफिले जो मक्का से आते थे। युद्ध होना अनिवार्य था। मोहम्मद के नये परिवर्तित मुसलमानों और मक्का वालों में अनेक युद्ध हुए, षडयंत्रों और हृदयहीन हत्याओं से परिपूर्ण। कभी मोहम्मद जीते कभी मक्का वाले। अंत में इस संधि पर फ़ैसला हुआ कि जो भी मोहम्मद के अनुयायी मुसलमान हों वे यरुशलम की तरफ नहीं किंतु मक्का की तरफ अपना मुन्ह करके खुदा की इबादत किया करें और मुसलमानों का पवित्र तीर्थ स्थान मक्का ही रहे। इस संधि के बाद एक धर्म संस्थापक और शासक की हैसियत से सन् ६२६ ई. में मोहम्मद ने मक्का में प्रवेश किया। काबा की बुतों को अपने पैरों के नीचे कुचला और मक्का को केन्द्र बना कर वहाँ से दुनिया में अल्लाह की सल्तनत कायम करने का इरादा किया। अदम्य विश्वास से उसने काम प्रारम्भ किया। सन् ६२९ ई. में

दुनिया के सब बड़े शहंशाहों को उसने खत लिखे कि वे एक अल्लाह के पैगम्बर मोहम्मद की सल्तनत मंजूर करलें और मुसलमान होजायें, अन्यथा उनको दोजख की आग में जल कर खतम होना पड़ेगा। रोम के सम्राट, ईरान के सम्राट, चीन के सम्राट के पास खत लेकर मोहम्मद के दूत गये। इन खतों की क्या हालत हुई, इसकी कल्पना की जासकती है-संक्षेप में इतना ही कि उनको कुछ भी महत्व नहीं दिया गया। खैर-नये अरबी मुसलमानों में जोश था, सारे अरबिस्तान में वे फैल गये। अनेक युद्ध हुए, साजिशें हुईं, आखिर समस्त अरब पदाक्रांत हुआ और सब अरब के रहने वाले मुसलमान। जब मोहम्मद समस्त अरब देश का मालिक था, सन् ६३२ ई. में ६२ वर्ष की उम्र में वह मर गया। अपने पीछे छोड़ गया अपने परिवार में कई विधवायें जो आपस में झगड़ती थीं; इस्लाम धर्म; और एक सच्चा मुसलमान अबुवक़र।

ईस्लाम-धर्म

ईस्लाम धर्म के संस्थापक मोहम्मद साहब को अवश्य कुछ आंतरिक अनुभूतियां, हुई थी। उनकी एक तात्विक अनुभूति जो उनकी तीव्रतम अनुभूति होगी, वह यही थी कि एक अल्लाह है, परवरदिगार सबका मालिक। बंदा अपनी ख्वाहिश को अल्लाह की ख्वाहिश में मिलादे और अल्लाह के भरोसे अपने आपको

छोड़दे। एक अल्लाह में अदम्य, स्थिर, पूर्ण विश्वास। यह अल्लाह बुत (मूर्ति) में समाया हुआ नहीं है इसलिये मूर्तिपूजा अज्ञान है। मंदिर, बलि, पूजा, पुजारी सब विमूढ़ता। मुसलमान को चाहिये कि वह इन्हें खत्म करदे। इस्लाम किसी भी सूरत में मूर्तिपूजा को बर्दाश्त नहीं कर पाया। इस तात्विक बात के अतिरिक्त मोहम्मद ने बतलाया, एक स्वर्ग है (बहिश्त) और एक नर्क (दोजख़)। जो अच्छा काम करेंगे वे स्वर्ग में परी और ऐश्वर्य का उपभोग करेंगे, जो बुरे कार्य करेंगे वे दोजख़ की आग में जलेंगे। जो एक अल्लाह में विश्वास नहीं करेगा, जिसका अर्थ लगाया गया जो मुसलमान नहीं होगा उसको कभी भी बहिश्त नहीं मिलेगा। मुसलमानों में कोई भी भेदभाव नहीं होगा-किसी भी प्रकार का भेद भाव, ऊंचनीच का, छोटे बड़े का। खुदा के सामने खुदा की इबादत में सब बराबर होंगे। हर एक मुसलमान एक दूसरे का भाई होगा। कोई भी मुसलमान एक दूसरे की जान माल पर निगाह नहीं डालेगा। इस प्रकार भ्रातृत्व और समानता इस्लामी सामाजिक संगठन की दो बुनियादी चीजे हैं, जो आधुनिक जनतंत्रवाद (Democracy) के भी आधारभूत सिद्धान्त हैं। वास्तव में किसी भी मुसलमान इबादत की जगह (मस्जिद), किसी भी सामूहिक खानपान में देखा जासकता है कि उनमें बड़े छोटे का, गरीब अमीर का, अफसर नौकर का किंचितमात्र भी भेद भाव नहीं रहता। सब

बराबर एक साथ बैठ कर ईश्वर की प्रार्थना कर सकते हैं सब बराबर बैठ कर खा पी सकते हैं। किसी भी नस्ल, किसी भी कबीले या जाति का व्यक्ति हो जब एक बार इस्लाम के संगठित समूह में मिल गया कि उसकी विभेदात्मक सारी विशेषतायें दूर करदी जाती हैं। और यही बात है कि सामूहिक रुप से वे एक दूसरे के साथ समान भ्रातृत्व के बन्धन से जकड़े हुए हैं और अपने आपको शक्तिशाली महसूस करते हैं।

इतिहास में स्यात् मानव का यह प्रथम व्यवहारिक प्रयास था कि समानता और भ्रातृत्व के आधार पर मानव समाज का संगठन हो। इस प्रकार के संगठन का भाव मानव की चेतना में स्यात् पहिले कभी नहीं आया था।

मोहम्मद साहब ने इबादत का ढंग-(यथा दिन में पांच समय नमाज पढ़ना) व्रत उपवास (रमज़ान के महीने में रोजा) रखना, शादी विवाह, धन जमीन, आचार विचार के सब नियमों का निर्देश कर दिया था और लोगों को यह ऐलान कर दिया था कि उसका ज्ञान ईश्वर प्रदत्त ज्ञान है, उसकी व्यवस्था ईश्वरीय है, अतएव सब कालों के लिये अपरिवर्तनीय है। उसने यह भी घोषित किया कि उसके पहिले भी ईश्वरीय ज्ञान के दर्शन कराने वाले पैगम्बर हुए थे, जैसे अब्राहम मूसा, और ईसा। किन्तु वह स्वयं अंतिम पैग़म्बर था जिसने उस ईश्वरीय

ज्ञान को पूर्ण किया। जो कुछ उसने कह दिया उससे न तो कुछ विशेष हो सकता था, और न कुछ कम। परमात्मा एक है, और मौहम्मद उसका भेजा हुआ रसूल। यही मुसलमानों का क़लमा अथवा मूलमंत्र है ।

मोहम्मद के ये सब उपदेश, उसके शब्द उसकी वाणियां उसके भक्त और अनुयायियों ने मोहम्मद की मृत्यु के बाद संग्रहित किये, और वे सब संग्रहित रूप में "कुरान" कहलाये। कुरान ही मुसलमानों की एक मात्र धर्म पुस्तक है। आज भी दुनिया के अनेक प्राणी कुरान के शब्दों में कट्टर विश्वास रखते हैं।

इस्लाम के दो फिर्के:-(शिया और सुन्नी) यद्यपि प्रत्येक नियम, आचार और धार्मिक विवेचन निश्चितरूप से मोहम्मद द्वारा निर्देशित कर दिये गये थे, किन्तु उनकी मृत्यु के बाद मुसलमानों में परस्पर झगड़े हुए ही। मोहम्मद साहब के बाद उनकी कई विधवायें बचगई थीं (मदीना में आने के बाद उन्होंने कई शादियां करलीं थीं)। मोहम्मद का कौन उत्तराधिकारी हो और कौन नहीं, राज्य का कौन खलीफा बने और कौन नहीं, इन बातों को लेकर, विधवाओं उनके सहायकों और स्वार्थी लोगों में अनेक झगड़े हुए। इन्हीं झगड़ों को लेकर मुसलमानों में दो फिर्के होगये। एक फिर्का उन लोगों का था जो मोहम्मद साहब के गोद के बेटे अली को जो कि मोहम्मद साहब के जमाई भी

थे क्योंकि उसका विवाह मोहम्मद साहब की पुत्री फातमा से हुआ था, और अली के वंशजों को मोहम्मद साहब का असली उत्तराधिकारी समझते थे। यह फिर्का "शिया" मुसलमान लोगों का कहलाया। दूसरा फिर्क़ा था जो अली और उसके वंशजों को उचित उत्तराधिकारी नहीं समझता था। इस फिर्क़े के लोग सुन्नी कहलाये। आजकल ईरान और भारत में अधिकतर शिया मुसलमान मिलते हैं, अन्य मुसलमानी देशों में अधिकतर सुन्नी। सुन्नी मुसलमानों ने ही अली के दो पुत्रों हसन और हुसेन को बड़ी बे रहमी से इराक़ के कर्बला के मैदान में मारडाला था। भारत में मुसलमान इसी घटना को हर वर्ष बड़े त्यौहार के रुप में मनाते हैं और ताजिये निकालते हैं।

इस्लाम का प्रसार

अरब और खलीफाओं का राज्यः—मोहम्मद की सन ६३२ ई. में मृत्यु हुई। उसके बाद मक्का और अरब का शासन मोहम्मद के ही अन्तरङ्ग मित्र और बफादार भक्त अबुबकर के हाथों में आया। अबुबकर ख़लीफा कहलाया; खलीफा अर्थात् उत्तराधिकारी। अबुबकर मक्का में लोगों की आम सभा में उत्तराधिक़ारी चुना गया था।

मोहम्मद की मृत्यु के तीन वर्ष पहिले ही दुनिया के सम्राटों को इस्लाम स्वीकार करने के लिये पत्र लिखे गये थे और

दूत भेजे गये थे। दुनिया को अभी मुसलमान बनना बाकी था। अबुबकर सच्चा मुसलमान था, अपने पैगम्बर का काम उसे पूरा करना था। अरब के मुसलमानों में नया नया जोश था, उनमें एक तमन्ना थी। वे दुनिया को मुसलमान बनाने के लिये आगे बढ़े।

उस समय दुनिया की क्या दशा थी? पूर्वीय रोमन, और ईरान के सम्राटों में अपना साम्राज्य बढ़ाने के लिये अनेक वर्षों से परस्पर युद्ध हो रहे थे और इस तरह दोनों साम्राज्य जर्जरित थे। इन साम्राज्यों में बसने वाले लोग, यथा सीरिया, मेसोपोटेमिया, मिश्र, उत्तरी अफ्रीका, ऐशिया माइनर, आरमेनिया एवं आधुनिक बाल्कान प्रायद्वीप के देशों के लोग, सब पीड़ित और थके हुए थे। अपने सम्राटों और शासनकर्त्ताओं में उन्हें तनिक भी विश्वास नहीं था, और न उनके साथ किसी प्रकार की सहानुभूति। पूर्वीय रोमन साम्राज्य के पच्छिम की ओर, रोम और इटली और समीपस्थ प्रदेशों (जैसे स्पेन, फ्रान्स) में कुछ ही शताब्दियों पूर्व भव्य, शक्तिशाली रोमन साम्राज्य स्थापित था, वह अब ध्वस्त हो चुका था; वहां अस्त व्यस्त राजनैतिक स्थिति में लोग बसरहे थे; वे मुख्यतया ईसाई थे, और कई बाह्य धार्मिक मतभेदों को लेकर आपस में लड़ झगड़ रहे थे। इन्हीं प्रदेशों में उत्तरपूर्व से नये असभ्य लोग जैसे फ्रैंक, गोथ, नोर्समैन, इत्यादि आ आकर बस रहे थे, किन्तु

अभीतक स्थिर और संगठित रूप में कुछ भी जमाव नहीं हो पाया था। यह तो हुई यूरोप की दशा। उधर एशिया में, इस समय भारत में बौद्ध हर्षवर्धन का राज्य प्रमुख था, एवं चीन में तांग वंश के सम्राटों का। दोनों देश उन्नत और समृद्ध थे; यद्यपि हर्षवर्धन के बाद भारत शक्तिहीन दशा में प्रवेश करने वाला था। मध्य एशिया में घुम्मकड़ तुर्क लोग रह रहे थे। इन घुम्मकड़ लुटेरे लोगों पर इस समय चीनी सम्राट का दबदबा था। उस समय की दुनिया में उपरोक्त देशों में ही विशेष मानवीय चहल पहल थी।

ऐसी दुनियां में--अबुबकर और नये अरबी मुसलमान नये जोश में इस्लामी तलवार लेकर दुनिया में एक खुदा का साम्राज्य स्थापित करने के लिये निकले। सन् ६३२ ई में उनकी यह विजय यात्रा प्रारंभ हुई और ताज्जुब होगा कि कुछ ही वर्षों के अन्दर अन्दर उन्होंने पूर्व में समस्त मेसोपोटेमिया और फिर ईरान परास्त किया, और आगे बढ़ते बढ़ते मध्य एशिया में काबुल, किरात और बलख तक और भारत में सिंधु प्रांत तक बढ़गये, और इन समस्त देशों को अपने आधीन कर लिया। अपने पच्छिम में उन्होंने सीरिया, फलस्तीन (इजराइल) और फिर मिश्र, सूदान और उत्तर अफ्रीका पर विजय प्राप्त की। उत्तर अफ्रीका से आगे, जिब्राल्टर के मुहाने से उन्होंने सन्

७११ ई. में यूरोप में प्रवेश किया और समस्त स्पेन अपने आधीन किया। वे आगे बढ़ते हुए जारहे थे और संभव है वे सारे यूरोप को पदाक्रांत कर डालते किन्तु ७३२ ई. में फ्रांस में पोईतियर (Poitiers) के मैदान में पश्चिमी यूरोप के लोगों के एक संघ ने जो चार्ल्स मार्टेल के नेतृत्व में लड़ रहा था, उनको परास्त किया। इस हार से वे हतोत्साह हो गये और स्पेन तक ही उनका राज्य कायम रहा। उधर पूर्व से भी एशिया माइनर और कस्तुनतुनिया के रास्ते वे यूरोप में प्रवेश करके यूरोप को पदाक्रांत कर सकते थे किंतु पूर्वीय रोमन साम्राज्य अभी डटा हुआ था,—उसने इस्लाम के प्रवाह को रोके रक्खा।

इस प्रकार पच्छिम में स्पेन से लेकर उत्तर अफ्रीका और मिश्र में होते हुए पूर्व में सिंध प्रांत तक इस्लामी राज्य स्थापित हुआ। यह केवल सामरिक विजय ही नहीं थी, किंतु धार्मिक विजय भी; जहां जहाँ इनका राज्य होता गया, वहां के लोगों का धर्म इस्लाम और भाषा अरबी बनती गई।

यह जो नया साम्राज्य स्थापित हुआ इसके प्रथम शासक थे मोहम्मद साहब के परिवार से संबंधित व्यक्ति। जैसा ऊपर लिख आये हैं सन् ६३२ ई. में पहिला खलीफा मोहम्मद साहब का अंतरंग मित्र अबुबकर था। किंतु इस सच्चे मुसलमान और खलीफा की मृत्यु दो ही वर्ष में होगई। इसके बाद मोहम्मद साहब का साला उमर खलीफा बना। उमर के ही राज्यकाल में अनेक देश जीते गये थे और इस्लामी राज्य में मिला लिये गये थे ये "खलीफा" केवल राज्य के शासक नहीं होते थे किंतु समस्त इस्लामी दुनिया के सब मुसलमानों के धार्मिक नेता (Head) भी। उमर के बाद एक नये परिवार के लोग खलीफा बने। यह 'उमियाद' परिवार था। इस परिवार का पहिला खलीफा उस्मान था। उस्मान के बाद मोहम्मद साहब का दत्तक पुत्र अली जो कि मोहम्मद साहब का जमाई भी था (क्योंकि मोहम्मद साहब की पुत्री से उसकी शादी हुई थी) खलीफा बना। तभी से मोहम्मद साहब के परिवार में उनकी विधवाओं और रिश्तेदारों

में अनेक झगड़े होने लगे इस बात पर कि कौन खलीफा बनाया जाये और कौन नहीं । इसी बात को लेकर मुसलमानों में दो फिर्के हो गये। एक फिर्का कहता था कि अली के वंशजों को खलीफा बनाने का अधिकार है, यह फिर्का शिया कहलाया: दूसरा फिर्का जो इसके पक्ष में नहीं था सुन्नी कहलाया । अली की मृत्यु के बाद उमियाद परिवार के लोगों ने अली के दो लड़के हसन और हुसेन को बड़ी बेरहमी से मार डाला, अतएव उमियाद परिवार के लोग ही खलीफा बनते रहे; किंतु ७४६ ई. में एक अन्य परिवार का उत्थान हुआ। यह अब्बासीद परिवार था। ये लोग मोहम्मद साहब के चाचा के वंशज थे । इस परिवार के लोगों ने हसन और हुसेन के क़त्ल का उमियाद परिवार से बदला लिया। उस परिवार के सब लोगों को कत्ल कर डाला और उनके मृतक शरीरों को ज़माकर, उनकी एक मेजसी बना कर उस पर खूब मौज से एक दावत उड़ाई । ७४६ ई. से इसी अब्बा सैय्यद परिवार के लोग खलीफा बनते रहें।

इन पारिवारिक झगड़ों की वजह से केन्द्रीय शक्ति शिथिल होगई थी, अतएव मिश्र, अफ्रीका, स्पेन, के प्रान्तीय शासक खुदमुख्त्यार बन बैठे थे। किसी ने तो स्वतन्त्र खलीफा की उपाधि धारण करली और किसी ने अलग सुल्तान की उपाधि धारण करली। उपरोक्त अब्बा सैय्यद परिवार में जिसका राज्य

अब केवल ईरान, मेसोपोटेमिया (बग़दाद), सीरिया, इजराइल और अरब में रह गया था, हारुनल-रशीद नाम का एक ख़लीफा हुआ। इसकी प्रसिद्धि विशेषतः "अलिफ लैला" अर्थात् अरेबियन नाइट्स (Arabian Nights) की कहानियों की वजह से है। ये अलिफ लैला के किस्से उसी ज़माने में अरबी भाषा में लिखे गये थे, उनमें हारुनलरशीद की राजधानी बग़दाद की शान शौकत, धन ऐश्वर्य के बहुत रोमाञ्चकारी किस्से हैं। हारुनल रशीद की मृत्यु सन् ८०६ ई. में होगई। इसके बाद समस्त अरब राज्य शिथिल, पतित और विच्छिन्त होगया। किसी तरह से इसका नाम चलता रहा। ११ वीं शताब्दी में उत्तर पूर्व से तुर्की मुसलमान आये, इन्होंने अरबी साम्राज्य के ईरान, सीरिया और फलस्तीन देश अपने आधीन किये, अरबी ख़लीफाओं के आधीन, पैगम्बर मोहम्मद के उत्तराधिकारियों के आधीन, अब केवल बग़दाद और उसके चारों ओर की भूमि और अरबिस्तान रह गये। ख़लीफाओं का बग़दाद पर यह अधिकार भी तुर्कों की कृपा से था। वास्तविक शक्ति तो तुर्कों के ही हाथ में थी। १३ वीं शताब्दी में पूर्वीय एशिया से मंगोल लोगों के आक्रमण हुए। सन् १२५८ ई. में बग़दाद नगर समूल ध्वस्त कर दिया गया और ख़लीफाओं का जो कुछ राज्य शेष रह गया था वह भी समाप्त हुआ। अरब और अरबी सभ्यता का एक प्रकार

से अन्त हुआ। उपरोक्त मंगोल साम्राज्य के विच्छिन्न होने पर १५ वीं शताब्दी में पच्छिमी एशिया में ओटोमन (उस्मान) तुर्क लोगों का अभ्युदय हुआ। उन्होंने पूर्वीय यूरोप (बालकन प्रायद्वीप) और पच्छिमी एशिया (अरब, ईराक, इजराइल, सीरिया) में एक साम्राज्य स्थापित किया। सन् १५१२ ई. में एक तुर्की सुल्तान ने जिसका नाम "सलीम" था, ख़लीफा की भी उपाधि धारण की (ख़लीफा अर्थात् धार्मिक मामलों में समग्र मुसलमानों के नेता; अब तक अरब के मोहम्मद साहब के वंशज ख़लीफाओं की परम्परा तो ख़त्म हो ही चुकी थी)। १५ वीं शताब्दी से २० वीं शताब्दी तक अर्थात् प्रथम महायुद्ध (१९१४–१८) तक अरब उपरोक्त तुर्की साम्राज्य का अङ्ग रहा। महायुद्ध काल में अरबों ने तुर्की राज्य के खिलाफ उपद्रव किये; तभी से अरबों के देश अरब, ईराक़, सीरिया इत्यादि प्रायः स्वतन्त्र हैं इन अरबी देशों के अतिरिक्त मिश्र भी प्रायः ७ वीं शताब्दी से अरबी देश होगया था, और याद होगा अरब लोगों ने स्पेन पर भी अपना अधिकार जमाया था। इन दो देशों में अरब लोगों का इतिहास इस प्रकार रहा:—

मिश्रः—का अरबी शासक सन् ९६९ ई. में बगदाद के केन्द्रीय खलीफा के शासन से पृथक हुआ। वह स्वयं एक स्वतन्त्र ख़लीफा बना। यह शिया समुदाय (हरा झण्डा) का

मुसलमान था और अपने आपको अली और फात्मा का वंशज मानता था। किंतु सन् ११६६ ई. में एक नये कुर्दिश वंश का एक सुन्नी मुसलमान जिसका नाम सलादीन था मिश्र का सुलतान बना। सलादीन एक प्रसिद्ध शासक था। फिर मिश्र उस्मानी तुर्क साम्राज्य का अंग रहा; फिर १६ वीं शती में मिश्र पर अंग्रेजों का अधिकार हुआ, आज मिश्र स्वतन्त्र है, वहां वैधानिक राजतंत्र है, मिश्र का बादशाह पार्लियामेंट की अनुमति से राज्य करता है।

स्पेन:—में अरब लोग सन ७११ में प्रवेश हुए थे। दो ही वर्षों में उन्होंने समस्त स्पेन और पुर्तगाल पर अपना आधिपत्य जमा लिया था। स्पेन में इन्होंने कुर्तबा अपनी राजधानी नाई। ७४९ ई. तक स्पेन के अरब केन्द्रीय शासन अर्थात् अरब खलीफा के आधीन रहे किन्तु केन्द्र में पारिवारिक झगड़े और गृह युद्ध होने की वजह से केन्द्र की शक्ति शिथिल हुई और स्पेन का शासक, जो अरब खलीफा का वायसरॉय कहलाता था, स्वतन्त्र अमीर बन बैठा। सम्पूर्ण स्पेन पर अरब अमीरों का जो अब 'मूर' कहलाते थे १२३६ ई. तक राज्य रहा। जब यूरोप के एक ईसाई राजा केस्टिल (Castille) ने उनको परास्त किया और अरब (मूर) लोगों को भागना पड़ा, तो दक्षिण स्पेन में अरबों ने ग्रानाडा नामक एक छोटा सा प्रथक राज्य स्थापित

किया जहां प्रसिद्ध अल्यहारा (लाल महल) अब भी स्थित है। यहां सन् १४६२ तक वे राज्य करते रहे । १४६२ में स्पेन के सम्राट और साम्राज्ञी फरदीनेन्द और ईसा बेला ने उनको परास्त किया और देश से बिल्कुल निकाल दिया । इस प्रकार हम देखते हैं कि सन् ७११ से १४६२ तक समस्त स्पेन या स्पेन के कुछ भागों में प्राय: ७०० वर्षों तक अरबों का राज्य रहा। इन वर्षों में विज्ञान, दर्शन, कला, शिक्षा का देश में खूब विकास हुआ । कुर्तुबा उस समय पश्चिमी दुनिया का सब से बड़ा नगर और सबसे बड़ा विश्वविद्यालय था, जहां कलात्मक ढंग के अनेक महल, उद्यान; सार्वजनिक स्नान घर, पुस्तकालय और मस्जिदें बनी हुई थीं । दर्शन, गणित, ज्योतिष, वैद्यक, विज्ञान की हजारों पुस्तकों का अरबी भाषा में निर्माण हो रहा था । कहते हैं स्पेन के अमीर राज्य पुस्तकालय में कई लाख पुस्तकें थीं, किंतु सन् १४६२ में यह सब समाप्त हुआ, अब अरबी स्पेन की जगह ईसाई स्पेन था और देश आधुनिक युग में प्रवेश कर रहा था।

हिन्दुस्तान:—सन् ७१२ ई. में बग़दाद के खलीफा की आज्ञा से मुहम्मदबिनकासिम एक मुसलमान सेनापति सिंध की ओर बढा। सिंध का हिन्दू शासक दाहिर परास्त हुआ और सिंध और मुल्तान पर अरबों का राज्य स्थापित हुआ। मुहम्मदबिन-

कासिम ही बगदाद के खलीफा की ओर से इस प्रान्त का वायसरॉय रहा। इसका राज्य अच्छा था, और यद्यपि हिन्दुओं पर इसने जजिया नामक एक कर लगाया, तथापि उनके प्रति इसका व्यवहार अच्छा रहा। अन्य देशों में तो जहां भी अरबी आक्रमण हुए वहां के सब लोगों को मुसलमान बनाया गया और उनकी भाषा अरबी कर दी गई। किंतु सिंध में ऐसा नहीं हो पाया। सिंध केन्द्रीय शासन से दूर पड़ता था अतएव खलीफाओं की दृष्टि इधर न रह सकी। यहाँ के अधिकारी भी धीरे धीरे सिंध में ही हिल मिल गये। धीरे धीरे इन अरबी मुसलमानों की शक्ति कम होती गई और ११ वीं शताब्दी में सर्वथा खत्म हो गई। इस अरब आक्रमण से दोनों देशों में सांस्कृतिक सम्पर्क अवश्य बढ़ा, भारत से अनेक संस्कृत ग्रन्थ अरब ले जाये गये जहां उनका अरबी भाषा में अनुवाद हुआ।

अरब खलीफाओं के समय में सामाजिक दशा
(बग़दाद ८ वीं से ११ वीं शताब्दी)

अबुबकर, उमर और उस्मान, प्रथम तीन खलीफाओं के ज़माने तक तो अरबी मुसलमानी राज्य नये जोश में सरल ढंग से चलता रहा, किन्तु तबतक इतनी विशाल विजयों के फल-स्वरूप खूब धन दौलत इकट्ठी हो चुकी थी। पहिले तो खलीफा चुने जाते थे, किन्तु बाद में जिसके हाथ में शक्ति होती थी,

जो अधिक चालाक होता था वही खलीफा बन बैठता था। ऐश्वर्य और आराम से जिन्दगी बिताना खलीफाओं का एक काम रह गया था। बड़े बड़े महल, बाग़ बगीचे बनाये जाने लगे और दूर दूर देशों से ठाठबाठ की चीजें एकत्रित होने लगीं। पहिले मक्का राजधानी थी, फिर सीरिया में दमिश्क राजधानी बनाई और फिर ईराक़ में बग़दाद। दमिश्क और बग़दाद खलीफाओं के जमाने के दो बहुत ही ऐश्वर्यशाली नगर थे, देश देश के व्यापारी वहां एकत्रित होते थे, खलीफाओं के इन नगरों में बड़े बड़े महल, उद्यान बने हुए थे। इन नगरों में खलीफाओं का ठाठ प्राचीन रोम और ईरान के सम्राटों के ठाठ को भी मात करता था। राज परिवारों में झगड़े चलते रहते थे, साजिशें होती रहती थी, राज को संगठित करने की, उसको सुधारने की और मज़बूत करने की किसी को कुछ नहीं पड़ी थी। साधारण जन वही अपनी खेती करता रहता था और भेड़े बकरी पालता रहता था, कुछ लोग व्यापार में व्यस्त थे. जिनकी दशा साधारण-जन से अपेक्षाकृत ठीक थी, और कुछ लोग खलीफाओं के दरबारों में साजिशें करने कराने में व्यस्त रहते थे। जबतक अरब में इस्लाम का प्रचार नहीं हुआ था, तबतक औरतें स्वतन्त्र थीं, किसी प्रकार का पड़दा नहीं था; किन्तु इस्लाम धर्म के प्रचार के बाद जिसमें औरत को मिलकियत का एक तिहाई हिस्सा स्वीकृत है किन्तु जिसकी दशा घर की एक बेजान चीज से

बेहतर नहीं है, सब मुसलमानों में पर्दा प्रथा का प्रचलन होगया और खलीफा लोग अनेक शादियां करके स्त्रियों को हरम में रखने लग गये।

ज्ञान विज्ञान का विकास: यह सब होते हुए भी ये अरबी मुसलमान काफी सहिष्णु थे और उनमें कुछ ऐसे स्वतन्त्र लोगों का विकास हुआ था जो विद्याप्रेमी थे। ७ वीं शताब्दी के आरम्भ से लेकर ११ वीं शताब्दी तक अरबी इस्लामी खलीफाओं का इतिहास परस्पर वैमनस्य, ईर्षा, द्वेष, लड़ाई झगड़ों, साजिशों ऐशोआराम, पर्दे की स्त्रियों और गुलामों से भरा है, किन्तु इन सब के परे हमें एक दूसरी तस्वीर देखने को मिलती है जो वास्तव में बहुत ही गौरवपूर्ण और सराहनीय है, जिसमें वस्तुतः मानव विकास की कहानी समाहित है। इस पृथ्वी पर सर्व प्रथम ग्रीक लोग ऐसे थे जिन्होंने इस संसार को, संसार के पदार्थों को वस्तु-दृष्टि (Objective View) से, शुद्ध वैज्ञानिक ढंग से देखने की कोशिश की थी। पदार्थ और सृष्टि की यथार्थ वस्तु-सत्य समझने की कोशिश की थी, और इस प्रकार विज्ञान की नींव डाली थी, वह विज्ञान जिस पर आजका हमारा समस्त ज्ञान भण्डार आधारित है। ग्रीक लोगों ने विज्ञान की नींव डाली, उसकी परम्परा प्रारम्भ की, किन्तु ग्रीक सभ्यता के विलीन होने के बाद वह परम्परा भी प्राय

विलीन होगई। ग्रीक सभ्यता के बाद रोमन सभ्यता आई थी; रोमन सभ्यता बड़ी ठाठ वाली, आवाज करने वाली, बजने वाली थी, किन्तु ज्ञान विज्ञान की परम्परा को वह चालू नहीं रख सकी, बाह्याडम्बर और दिखाव में ही वह अपने आपको भूल गई। किन्तु उस परम्परा को चालू रक्खा अरब ने, और आधुनिक काल को उस ज्ञान की टोर्च पकड़ाई अरब ने। इतिहास की यह एक महत्वपूर्ण बात है।

अरब लोग अपने साम्राज्य के विस्तार में अनेक लोगों के सम्पर्क में आये थे, पहिला सम्पर्क उनका सीरिया के लोगों से था; सीरिया (Syria) की भाषा में अनेक प्राचीन ग्रीक-दर्शन और विज्ञान के ग्रन्थों का अनुवाद मिलता था। इसी सीरियन भाषा से अरबी भाषा में उन प्राचीन ग्रीक ग्रन्थों का अनुवाद हुआ। फिर अरबी सिंध के रास्ते से भारतीय मनीषियों के सम्पर्क में भी आये, भारतीय संस्कृत साहित्य के सम्पर्क में आये, फलतः भारतीय आयुर्वेद शास्त्र, दर्शन और गणित के अनेक ग्रंथों का अरबी में अनुवाद हुआ और अरबों ने उनसे बहुत कुछ सीखा। अरब राज्य से इधर उधर बिखरे हुए यहूदी लोगों के सम्पर्क में भी वे आये। यहूदी और अरब मस्तिष्कों की टक्कर हुई और अवश्य एक दूसरे ने एक दूसरे को कुछ दिया, कुछ प्रभावित किया। मध्य-एशिया के रास्ते से वे चीन के

सम्पर्क में आये और ऐसा अनुमान है कि चीनियों से ही अरबों ने कागज बनाना सीखा और फिर यूरोप में यह कला अरबिस्तान से ही गई। प्रतीत होता है मानव एक देश में बंद, एक कठघरे में बंद अकेला अपने एक मस्तिष्क से कुछ नहीं कर सकता। लोगों के परस्पर स्वतंत्र सम्पर्क से ही ज्ञान विज्ञान का विकास होता है और मनुष्य को प्रकाश मिलता है। उपरोक्त सम्पर्क के प्रभाव से ही अरब ने ज्ञान विज्ञान के क्षेत्र में प्रगति की।:—

अरब में कई इतिहासकार पैदा हुए जिन्होंने अरबी भाषा में अपने काल का इतिहास लिखा; इसके अतिरिक्त अनेक रोमांचकारी कहानियां और किस्से लिखे जो आज भी पढ़े जाते हैं, और जिनने उस काल में साधारण लोगों को पढ़ना सीखने के लिये प्रेरित किया। इसी काल में अलबुर्नी नाम का एक प्रसिद्ध यात्री भारत की यात्रा के लिए आया; भारत की यात्रा करके वह अपने देश लौटा और जो कुछ उसने भारत में देखा उसका एक सुन्दर वर्णन लिखा। यह वर्णन उस काल के भारत के इतिहास का एक ऐतिहासिक आधार है। रेखागणित में दो ग्रीक गणितज्ञ यूक्लिड ने मानों बहुत कुछ प्राप्त कर लिया, उस जमाने में उससे अधिक विकास संभव नहीं था, किंतु अरबों ने त्रिकोणमिति (ट्रिगनोमेट्री) का विकास किया और ऐसा अनुमान है कि बीजगणित (Algebra) का तो उन्होंने ही आविष्कार

किया। कुछ विद्वानों का मत है कि बीजगणित का ज्ञान भी भारत से आया था। आज जो गिनती के अंक प्रचलित हैं वे अरबी अंकों से ही लिये हुए हैं; अरबों ने वे अंक कहां से लिये इसका अभी कोई निश्चय नहीं, ऐसा अनुमान लगाया जाता है कि अरबों ने प्रारंभ में भारत से ही इन अंकों को सीखा था।

चिकित्सा शास्त्र में बहुत कुछ तो अरबों ने प्राचीन ग्रीक पुस्तकों से सीखा और बहुत कुछ भारतीय आयुर्वेद शास्त्र से। उस काल में अरब के दवाखानों में, जो बड़े बड़े नगरों में स्थित थे, बड़े बड़े चीरा फाड़ी के इलाज (Operations) होते थे, और वे सफल होते थे। शरीर विज्ञान और सफाई शास्त्र का वैज्ञानिक ढंग से अध्ययन होता था, इसमें उनका ज्ञान काफी बढ़ा चढ़ा था। रसायन शास्त्र में उन्होंने कई नई चीजें ईजाद की जैसे अल्कोहल, पोटाश, नाइट्रिक तेजाब और गंधक तेजाब। वे लोग शर्बत, सत्व (Essence) और आसव (Tinctures) भी बनाना जानते थे। वनस्पति शास्त्र (Botany) की भी अनेक बातें जानते थे। वे जानते थे कि खाद का क्या महत्व होता है, किस प्रकार दो जातियों का मेल (Cross-breed) करके नये पुष्प या नई प्रकार के फल पैदा किये जा सकते हैं, जो कि आधुनिकतम विज्ञान का एक अंग है। भौतिक शास्त्र में उन्होंने लंबक (Pendulum) का आविष्कार किया

और आंखों की ऐनक के ज्ञान में बहुत कुछ विकास किया। उन्होंने कई वेधशालायें (Observatory) भी बनाई और नक्षत्रों की चाल इत्यादि देखने के लिये कई यंत्र भी बनाये जो आज भी प्रचलित हैं। शिक्षा के प्रसार के लिए और ज्ञान विज्ञान की उन्नति के लिए कई विश्व-विद्यालय थे जिनमें बग़दाद का विश्वविद्यालय, और स्पेन में कुर्तुबा (Cordoba) का विश्वविद्यालय प्रमुख थे, वे उस काल में बहुत प्रसिद्ध थे। इनमें दूर दूर से विद्यार्थी पढ़ने आया करते थे। कुतुर्बा विश्व-विद्यालय में अनेक ईसाई विद्यार्थी भी पढ़ते थे। बसरा (ईराक) काहिरा (मिश्र) और कूफा में भी विश्वविद्यालय थे। अरब दार्शनिकों में इब्नरुशद, डाक्टरों में इब्नसीना जो बुखारा (मध्य एशिया में रहता था) और गणितज्ञों में इब्नमूसा के नाम उल्लेखनीय हैं। यह सब प्रगति और विकास उस काल में हो रहा था, ८ वीं से ११ वीं शताब्दी में जब समस्त यूरोप अंधकार मय था।

३७

ईसाई और मुसलमान धर्म-युद्ध

(Crusades)

(१०९५-१२४६ ई.=लगभग १५० वर्ष)

ईसा मसीह की प्रेरणा थी—इस पृथ्वी पर ईश्वर का

राज्य स्थापित हो। फिर ६३२ ई. में मोहम्मद साहब की प्रेरणा हुई कि इस दुनिया में एक ख़ुदा की सल्तनत क़ायम हो। ईसा का मतलब था मनुष्य का अन्तःकरण पवित्र हो, प्रेममय हो, वहीं अपने अन्तर में वह ईश्वर का राज्य स्थापित करे, ईश्वर की अनुभूति करे। मोहम्मद का मतलब था कि सब दुनिया में लोग केवल एक परमात्मा में विश्वास करने वाले हों। ईसाइयों ने समझा बस सारी दुनियां के लोग ईसाई होजायें और ईश्वर का राज्य स्थापित हो जायेगा, मुसलमानों ने समझा बस सारी दुनिया के लोग मुसलमान होजायें और दुनिया में ख़ुदा की सल्तनत क़ायम हो जायेगी।

ईसा के बाद सन्त पॉल ने संगठित ईसाई धर्म की स्थापना की। धीरे धीरे व्यक्तिगत सम्पर्क से इस धर्म का प्रसार होने लगा। रोमन साम्राज्य के देशों में अनेक लोग इसके अनुयायी हुए, फिर चौथी शताब्दी के प्रारम्भ में रोमन सम्राट कोन्सटाइन ने ईसाई धर्म स्वीकार किया, फिर तो इसके प्रभाव से फलस्तीन, एशिया माइनर, ग्रीस मिश्र, उत्तर अफ्रीका, रोम इटली, स्पेन देशों के प्रायः सभी लोग ईसाई होगये और फिर धीरे धीरे वे असभ्य नोर्डिक आर्य जातियों के लोग जैसे गोथ, फ्रैंक, नोर्समैन, स्लाव इत्यादि जो उत्तर पूर्व से रोमन साम्राज्य की ओर अनेक झुंडों में आये वे भी धीरे धीरे ईसाई

होते गये। इन सब ईसाइयों का धार्मिक केन्द्र रोम था। प्राचीन रोमन साम्राज्य दो भागों में विभक्त हो चुका था। (१) पूर्वीय रोमन साम्राज्य जिसकी राजधानी कस्तुनतुनिया थी, जो ग्रीक भावना प्रधान था और जिसकी भाषा भी ग्रीक थी। (२) पच्छिमी रोमन साम्राज्य जो लेटिन प्रधान (रोमन प्रधान) था और जिसकी भाषा लेटिन थी। यह पच्छिमी रोमन साम्राज्य सर्वथा ध्वस्त हो चुका था। उत्तर पूर्व से आने वाले उपरोक्त असभ्य नोर्डिक लोगों ने इसको खत्म कर दिया था, किन्तु इसके भग्नावशेषों पर इसी की यादगार में एक अन्य रोमन साम्राज्य स्थापित हो रहा था—"पवित्र रोमन साम्राज्य" (Holy Roman Empire) जिसके संस्थापक वही उपरोक्त उत्तर पूर्व से आये हुए नोर्डिक जातियों के शासक लोग थे जो सब ईसाई बन चुके थे। शार्लमन महान द्वारा सन ८०० ई. में इसकी स्थापना होचुकी थी। रोम इसकी राजधानी थी। पूर्वीय रोमन साम्राज्य भी (जो बिजेनटाइन साम्राज्य भी कहलाता था) सम्राट कोन्सटाइन के समय से एक ईसाई साम्राज्य ही था। इस प्रकार इस समय (अर्थात् ११ वीं शताब्दी में) दुनिया में दो ईसाई साम्राज्य थे:—(१) पवित्र रोमन साम्राज्य (Holy Roman Empire) जिसका विस्तार क्षेत्र हम आधुनिक फ्रांस, जर्मनी, हौलेंड, बेलजियम, इटली मान सकते हैं। माना ये सभी देश तथाकथित केन्द्रीय सम्राट के

शासन के अन्तर्गत हों किन्तु रोम के पोप का दबदबा अवश्य इन सब देशों के लोगों पर था, मानो पोप उनकी आत्मा का संरक्षक हो। यह भी ठीक है कि सभी पोप दयालु, धर्मात्मा और शुद्धात्मा नहीं होते थे, वरन् अधिकतर क्रूर, दुष्ट और शक्तिलोलुप और लोभी होते थे, एवं धार्मिक क्षेत्र में सर्वेसर्वा होते हुए भी हर समय उनका यह प्रयास रहता था कि राजक्षेत्र में भी उन्हीं का प्रभाव हो, जिसके लिये उनमें और सम्राटों में हर समय द्वन्द्व भी चलता रहता था। किन्तु गांव गांव में, नगर नगर में फैले अनेक पादरियों का जीवन सरल, त्यागमय होता था, और वे ईसा के नाम से प्रेरणा पाते थे और ज्ञात या अज्ञात रूप से समस्त शिक्षित एवं धर्म भावना प्रधान ईसाइयों में यह भावना और यह आशा बनी रहती थी कि समस्त पृथ्वी पर ईसा की भावना से प्रेरित शान्ति और सुखमय ईश्वरीय राज्य स्थापित हो।

२. पूर्वीय रोमन साम्राज्य—इसका विस्तार क्षेत्र आधुनिक बाल्कन प्रायद्वीप, ग्रीस एवं एशिया माइनर में था। इसकी राजधानी कस्तुनतुनिया थी। कस्तुनतुनिया का गिर्जा यद्यपि कई शताब्दियों तक रोम के पोप के ही आधीन था, किन्तु १०५४ ई. में एक साधारण सैद्धान्तिक मतभेद पर यह रोम से सर्वथा स्वतन्त्र हो चुका था। यहां का सम्राट भी रोम के पोप

से अपने आपको बिल्कुल स्वतन्त्र समझता था। किंतु रोमके पोप में यह इच्छा हर समय बनी रहती थी कि पूर्वीय रोमन साम्राज्य भी उसके आधीन रहे और समस्त ईसाई दुनिया पर उसीका एकाधिपत्य हो। इस समस्त ईसाई दुनिया में अदृश्य रूप से यह भावना अवश्य प्रवाहित थी कि एक ईसाई धार्मिक राज्य स्थापित हो। यह तो ११ वीं शताब्दी में ईसाई धर्म की बात हुई।

अब इस्लामी दुनिया का अध्ययन कीजिए। सन् ६३२ ई. में इस्लाम का प्रसार होने लगा। अबुबकर, उमर, उस्मान एवं अन्य खलीफाओं ने अपने तलवार के बलपर कुछ ही वर्षों में समस्त अरब, ईराक़, ईरान, सीरिया, मिश्र, और उत्तर अफ्रीका, स्पेन और मध्य तुर्किस्तान को मुसलमान बनालिया; किन्तु ८ वीं शताब्दी के प्रारम्भ तक शुरुआत का जोश खत्म हो चुका था। इस्लाम का अब अधिक विस्तार नहीं हो रहा था, बल्कि उपरोक्त समस्त देश जो पहिले बग़दाद में स्थित केन्द्रीय शासक अरबी खलीफा के आधीन थे, स्वतन्त्र होने लगे थे। स्पेन स्वतन्त्र हो चुका था और वहां का प्रान्तीय शासक अलग ही सुल्तान बन बैठा था इसी तरह उत्तर अफ्रीका और मिश्र में हुआ। यहां तक कि ११ वीं शताब्दी में बग़दाद के चारों ओर की कुछ भूमि को छोड़कर अन्य समस्त प्रदेश केन्द्रीय खलीफा के हाथ से निकल चुके थे और छोटे छोटे स्वतन्त्र राज्य क़ायम हो चुके थे। ये सब निष्प्राण से थे।

ऐसी दशा में उधर यूरोपीय ईसाई राज्य समझ बैठे थे कि मुस्लिम शक्ति का सर्वदा के लिये ह्रास हो चुका है, किन्तु इस्लाम का एक नया शक्तिशाली दौर आया। यह दौर था तुर्की मुसलमानों का। ये तुर्की मुसलमान कौन थे ? याद होगा कि प्रारम्भिक मानव की कई उपजातियां (Races) थीं, जिनमें प्रमुख थीं—नोर्डिक आर्यन या काकेशियन; भूमध्य-वर्गीय जिनमें सेमेटिक प्रमुख थे; निग्रो (हब्शी); एवं मंगोलियन। इन चारों उपजातियों (Races) की अपनी अपनी व्यक्तिगत विशेषतायें थीं। यह भी खयाल होगा कि अरब के मुसलमान सेमेटिक उपजाति के थे। अरब, सीरिया, फलस्तीन (इजराइल) के ईसाइयों एवं यहूदियों को छोड़कर जो सेमेटिक उपजाति के थे—पवित्र रोमन साम्राज्य के ईसाई जो मुख्यतय: उत्तरपूर्व से आये थे, एवं पूर्वीय रोमन साम्राज्य के लोग जिनमें प्राचीन ग्रीस और रोम के लोग थे प्राय: नोर्डिक आर्यन उपजाति के थे। इन सब उपरोक्त लोगों तक किसी न किसी रूप में सभ्यता का प्रकाश पहुंच चुका था। उधर भारतीय और चीनी लोग सभ्यता के उच्चशिखर तक पहुंचे हुए थे। इतनी दुनिया सभ्य थी। तुर्क लोग जिनका अब हम जिक्र करने जारहे हैं उपरोक्त मंगोलियन उपजाति की एक विशेष प्रशाखा के लोग थे; इस मंगोलियन उपजाति की अन्य उपशाखायें थीं—हून, मंगोल, फिन्स इत्यादि। अबतक मध्य एशिया, तुर्किस्तान, एवं मंगोलिया प्रदेशों में ये

मानव बसे हुए थे, असभ्य थे, घुम्मकड़ प्रकृति के। समय समय पर इन लोगों के समूह प्रचण्ड प्रवाह की तरह कभी पूर्व (चीन) की ओर बहजाते थे, कभी पच्छिम (यूरोप) की ओर; और कभी दक्षिण (भारत) की ओर। ये लोग उसकाल के सेमेटिक, नोर्डिक उपजातियों के लोगों से शरीर में, मानस और भावना में, एवं भाषा में मूलतः भिन्न थे। यह भी याद होगा कि जब अरब मुसलमान दुनिया को मुसलमान बनाने निकले थे तो उनका एक प्रवाह ईरान होता हुआ मध्य एशिया तक भी आया था और वहां के समस्त तुर्क लोगों को (जो पहिले किसी भी प्रकार के संगठित धर्म से परिचित नहीं थे, केवल जातिगत देवों की पूजा किया करते हों) मुसलमान बन गये थे। इन्हीं तुर्क मुसलमानों का दौर अब पच्छिम की तरफ हुआ। यह भी हम देखते हैं कि आरंभिक मानव में उपजाति (Race) की भावना इतनी जबरदस्त नहीं होती थी जितनी समूहगत जाति (Tribe) की भावना। भिन्न भिन्न समूहगत जातियां (Tribes) सभी प्रारंभिक मानवों में मिलती हैं। तुर्क लोगों में भी इस प्रकार की अनेक जातियां थीं जो आपस में लड़ा झगड़ा करती थीं। इन लडाइयों में क्रूरता, षड़यंत्र और चाला-कियां सब कुछ चलती थीं। इस समय जब का हम जिक्र कर रहे हैं अर्थात् ११ वीं शताब्दी में सेलजुक जाति के तुर्क लोग जोरों में थे और इन्हीं लोगों के झुण्ड एक के बाद दूसरे अरबी

ख़लीफा साम्राज्य की ओर ईरान के रास्ते से बढ़े। ईरान, ईराक, सीरिया, फलस्तीन (यरुसलम) इत्यादि प्रदेशों पर कब्जा करने में कुछ भी देर नहीं लगी। बग़दाद के ख़लीफा को बग़दाद का शाह बने रहने दिया, किन्तु केवल नाम मात्र के लिये, वास्तव में शासन तुर्कों ने अपने हाथ में लेलिया। दक्षिण अरब (रेगिस्तान) की ओर, एवं मिश्र और अफ्रीका की ओर नहीं बढ़े। किन्तु उनकी दृष्टि ऐशिया माइनर की ओर गई जो अभी-तक रोमन साम्राज्य का एक अंग था,—उधर ही सेलजुक तुर्क बढ़े। रोमन साम्राज्य की राजधानी कस्तुनतुनिया दूसरे किनारे पर थी, उसके ठीक सामने इधर ऐशियाई किनारे पर उनका नीसिया शहर था। वहां तक तुर्क लोग पहुंच गये।

बस इसी बिन्दु पर पहुंचने पर ईसाई और मुसलमान की भिड़न्त हुई। बढ़ते हुए मुसलमान तुर्कों को देखकर पूर्वीय रोमन साम्राज्य के सम्राट ने फौरन रोम के पोप को सहायता के लिये लिखा और कहा कि ईसाइयों की धर्मस्थली यरुशलम और पवित्र गिर्जा (Sepulchre) को मुसलमानों से विमुक्त करना चाहिये। रोम के पोप ने देखा अच्छा अवसर है पूर्वी रोमन साम्राज्य को अपने प्रभुत्व में लाने का और इस प्रकार समस्त ईसाई संसार का अधिनायक बन जाने का। उस समय "अर्बन द्वितीय" रोम का पोप था। तुरन्त सारे ईसाई प्रदेशों के

शासकों एवं समस्त ईसाई प्रजा के नाम एक अपील निकाली कि ईसाई धर्मभूमि यशरुलम को पवित्र गिर्जा को, मुसलमानों के हाथों से मुक्त करना चाहिये, मुसलमानों की क्रूरता और निशृंसता को खत्म करना चाहिये, मुसलमानों के विरुद्ध एक जिहाद बोल देना चाहिये।

पीटर नामका एक ईसाई साधु पादरी था। मुसलमानों के खिलाफ़ जिहाद का संदेशा लेकर ईसाई प्रदेशों के गांव गांव में, नगर नगर में पैदल ही वह पहुँच गया। जन साधारण के हृदय पर उसका अद्भुत प्रभाव था, जन जन के हृदय में उसने एक नई स्फूर्ति पैदा करदी। समस्त ईसाई दुनिया धर्म युद्ध के लिये, जिहाद के लिये, तैय्यार हो गई। १०६५ ई. में यूरोप की ईसाई प्रजा प्रथम धर्म युद्ध के लिये रवाना हुई। इसमें अभी कोई शासक या कोई संगठित फौज शामिल नहीं हुई थी, केवल साधारण प्रजा थी। अनेक लोग सच्ची ईसाइयत की भावना से निकले, बहुतों ने देखा, चलो लूटमार का मौक़ा मिलेगा। सब तरह के आदमी थे अच्छे बुरे, किसान व्यापारी। मानव इतिहास में यह पहिला अवसर था जब जन साधारण इस प्रकार संघबद्ध होकर किसी एक आदर्श की प्राप्ति के लिये काम करने को निकल पड़ा हो। पच्छिमी यूरोप से यरुशलम तक लम्बा रास्ता था; पैदल, या गदहों या घोड़ों पर जाना

पड़ता था। बहुत से तो यरुशलम तक पहुँचे ही नहीं, जो पहुंचे वे लड़े किन्तु सेलजुक तुर्कों के हाथों सब खत्म हो गये। हजारों मानवों की यह नृशंस हत्या थी। धर्म युद्ध का कुछ भी परिणाम नहीं निकला।

किंतु अब ईसाइयों का दूसरा प्रवाह चला। इस बार लोगों की संगठित फौजें थीं। बोसफोरस मुहाने को उन्होंने पार किया। ऐशिया माइनर में नीसिया शहर पर क़ब्जा किया और फिर यरुशलम की ओर बढ़े। यरुशलम पर भी क़ब्जा किया और अपनी विजय की खुशी में जितने भी मुसलमान मिले सबको तलवार के घाट उतार दिया। रोम के पोप ने अपना ही आदमी यरुशलम का पादरी नियुक्त किया। किंतु युद्ध समाप्त नहीं हुए। सन् १०९५ ई. पू. में ये शुरु हुए थे; सन् १२४६ तक, लगभग डेढ़सो वर्षों तक ईसाइयों और मुसलमानों में ये क्रूर युद्ध होते रहे। कभी युद्ध शांत होजाते थे, कभी गरम। इन युद्धों में मिश्र के प्रसिद्ध सुल्तान सलादीन, ईंगलैंड के प्रसिद्ध बादशाह 'सिंह हृदय' रिचार्ड, फ्रांस के राजा एवं अन्ये देशों के राजाओं ने भाग लिया। इन युद्धों में अनेक कहानियाँ सच्ची वीरता की भी मिलती हैं अनेक कहानियाँ रोमांचकारी। किंतु इन सब धर्म-युद्धों का कुछ भी परिणाम नहीं निकला। यरुशलम अंत में तुर्क मुसलमानों के ही हाथ रहा, और उधर ये भी यूरोप में नहीं बढ़

सके। केवल यही हुआ कि यूरोप में तो "रोमन साम्राज्य" खोखला होगया और इधर ऐशिया में सेलजुक तुर्क साम्राज्य भी निशक्त। लाखों मनुष्यों की, बच्चों की, धर्म के नाम पर नृशंस हत्या हुई। एक बात और अवश्य देखने को मिली कि यूरोप के जनसाधारण में एक भावना थी जिसको संगठित करके सामूहिक ढंग से कुछ काम करवाया जासकता था, कुछ हलचल पैदा की जासकती थी।

३८

मंगोल लोग और संसार के इतिहास में उनका स्थान

प्राचीन काल से लेकर लगभग १२ वीं शताब्दी तक के मानव इतिहास का अवलोकन हम सरसरी नज़र से कर आये हैं। इस काल में अनेक सभ्यताओं का उद्‌भव विकास और फिर पतन हुआ। हमने देखा जहां जहां भी जब जब भी किसी सभ्यता का विकास हुआ उसका अन्त बाहर से आने वाले घुमक्कड़ चरवाहे अथवा बनजारे असभ्य लोगों द्वारा हुआ। सभी सभ्यताओं एवं संगठित समाजों का ऐसा ही इतिहास रहा। प्राचीन काल में सुमेर में संगठित समाज और सभ्यता

का विकास हुआ, उसको ध्वस्त किया बाहर से आकर घुमक्कड़ सेमेटिक असीरीयन लोगों ने। क्रीट द्वीप, एवं ईजीयन द्वीप समूहों में विकसित प्राचीन मायोनियन सभ्यता का अन्त किया अपेक्षाकृत असभ्य ग्रीक लोगों ने जिनके समूह उत्तर-पूर्व से इन प्रदेशों में दाखिल हुए थे। और इन्हीं ग्रीक लोगों ने फिर प्राचीन मिश्र की सभ्यता पर अपनी सभ्यता का आरोप किया। कालान्तर में पच्छिमी एशिया में, फारस और मेसोपोटेमिया में जब प्राचीन ईरानी सभ्यता स्थापित थी और मिश्र में रोमन साम्राज्य, उनको ध्वस्त करते हुए निकले घुमक्कड़ अरब लोगों के प्रवाह। और फिर रोम, रोमन साम्राज्य और रोम सभ्यता का अन्त किया उत्तर पूर्व से आते हुए घुमक्कड़ नोर्डिक आर्य लोगों ने। इस प्रकार हम देखते हैं कि प्राचीन काल में किसी भी संगठित सभ्यता और समाज के लिये हर समय यह भय बना रहता था कि कभी भी, कोई भी असभ्य जाति बाहर से आकर उसका विनाश कहीं न कर दे। उस समय की स्थिति ऐसी थी मानों जिस किसी प्रदेश या भूभाग में सुसभ्य समाज संगठित है और उच्च सभ्यता का विकास है, वह एक नखलिस्तान के समान है जिसके चारों ओर रेगीस्तान फैला हुआ है—कौन जाने कब धूल का बवंडर उठ खड़ा हो और उस नखलिस्तान को खत्म कर डाले। इसका यह अर्थ नहीं की उस संगठित सभ्यता या समाज के विनाश का कारण केवल वह बाहरी आक्रमण ही

होता था। वस्तुतः कुछ आन्तरिक कमजोरी उत्पन्न हो जाने पर ही–जैसे शासक वर्ग में सामाजिक भावना का अभाव, ऐश्वर्य एवं स्वार्थ और सत्ता लोलुपता, बाहरी दुनियाँ की अनभिज्ञता इत्यादि, ऐसी बातें उत्पन्न हो जाने पर ही बाहरी आक्रमण सफल होते थे। उस स्थिति की तुलना कीजिये आधुनिक संसार की स्थिति से। आज पृथ्वी पर जहां कहीं भी मानव रहते हैं लगभग उन सभी स्थानों पर सभ्यता, संगठित सामाजिक जीवन-प्रणाली, आधुनिक यातायात और सम्पर्क के साधन इत्यादि प्रसारित हैं-यदि कुछ भू-भाग ऐसे भी हैं जहां के मानव सभ्य न हों, तो वे इतने सबल नहीं कि अपने चारों ओर प्रसारित सभ्यता को दबा सकें। आज दुनियाँ में सभ्यता को बाहरी किसी खतरे का डर नहीं—यदि इसको कुछ चीज ध्वस्त कर सकती है तो इसकी कुछ आन्तरिक कमजोरियाँ या कुछ आन्तरिक बुराइयाँ हीं।

१२ वीं शताब्दी तक भिन्न भिन्न सभ्यताओं पर असभ्य घुमक्कड़ लोगों के जो ध्वंसात्मक आक्रमण हुए उनका निर्देश करने के बाद अब हम मानव इतिहास में बंजारे लोगों के अंतिम आक्रमण का वर्णन करते हैं। यह बवंडर अपने से सब पूर्व बवंडरों की अपेक्षा अधिक प्रसारित, अधिक ध्वंसकारी एवं ऐतिहासिक दृष्टि से अधिक महत्वशाली भी है;—हमारे युग के अधिक निकट, इसलिये इसकी स्मृति भी अधिक ताजा।

यह तूफानी बहाव था मंगोल लोगों का, जो मध्य एशिया के उत्तर-पूर्व में मंगोलिया इत्यादि प्रदेशों में फैले हुए थे, और जो पूर्व में प्रशान्त महासागर के किनारे से पच्छिम में यूरोप तक जहां कहीं भी गये, सब कुछ अपने पीछे समेटते गये, और सब कहीं अपना अधिकार स्थापित करते गये।

ये मंगोल लोग कौन थे? ये लोग आर्य एवं सेमेटेक उपजातियों (Races) से भिन्न मंगोल उपजाति (Race) के लोग थे; हूण, तुर्क और तातार लोगों से मिलते जुलते जिनके आक्रमण भिन्न भिन्न शताब्दियों में दक्षिण-पच्छिमी प्रदेशों में हुए थे—वे ही हूण जिनके आक्रमण ई. पू. शताब्दियों में चीन पर होते रहते थे—और जिनको रोकने के लिये महान् दीवार बनाई गई थी; वे ही हूण जिनके नेता अटिला ने चौथी पांचवीं शताब्दी में पूर्वीय यूरोप में अपना साम्राज्य स्थापित किया था, और जिनके एक अन्य नेता मिहिरगुल ने ६ठी शताब्दी के आरंभ में भारत पर लूटमार का आतंक जमाया था,—वे ही तुर्क जिन्होंने ११ वीं शताब्दी में अरबी खलीफाओं को विनिष्ट कर फारस, ईराक, सीरीया, इत्यादि पर अपना आधिपत्य स्थापित किया था। वास्तव में हूण, तुर्क-तातार, मंगोल—ये सब लोग एक ही मंगोलियन उपजाति के लोग थे, जिनके प्रवाह भिन्न भिन्न युगों में इधर उधर होते रहते थे।

ये घुमक्कड़ (बंजारे) लोग थे, जो भेड़ बकरी, घोड़े पालते थे–और चरागाहों में इधर उधर चराते फिरते थे और शिकार करते थे, ठण्ड के दिनों में दक्षिणी भागों में आ जाते थे, गर्मियों में उत्तर की ओर चले जाते थे। तम्बूओं में अपना जीवन व्यतीत करते थे, घोड़ी का दूध और मांस इनका मुख्य भोजन होता था। जीवन सरल और साहसी होता था। यूराल आल्टिक (मंगोल) परिवार की भाषाओं–तुर्की-मंगोल इत्यादि की बोलियों का ये प्रयोग करते थे–जिनके लिखित रूप का अभी विकास नहीं हुआ था। वे इस बात से परिचित ही नहीं थे कि भाषा और बोली का कोई लिखित रूप भी होता है। शैमिनिज्म–एक प्रकार का (आरंभिक) (Prmitive) धर्म जिसमें "आकाश देव" या अन्य देवताओं की पूजा होती थी—उसी का ये पालन करते थे किंतु यह धर्म उनके जीवन में कोई महत्व की वस्तु नहीं थी, उस समय की दुनियां में प्रचलित संगठित एवं सुविकसित बौद्ध, हिन्दू, ईसाई, इस्लाम धर्मों से ये सर्वथा अपरिचित थे। छोटी छोटी समूहगत जातियों में ये विभक्त थे–प्रत्येक जाति का एक नेता या सरदार होता था, जिसके आदेश का पालन होता था।

१३ वीं शताब्दी के प्रारंभ में उत्तरी चीन में जिन (तातार) लोगों का साम्राज्य था, उन्हीं के आधीन ये थे—उन्हीं के आधीन रह कर संगठित सेना संचालन का काम

इन्होंने सीखा था। धीरे-धीरे ये लोग इनके एक नेता चंगेजखां के नेतृत्व में संगठित हुए। चंगेजखां के नाम से यह अनुमान नहीं लगाना चाहिये कि वह मुसलमान था। अभीतक अपने शेमिनिज्म मत के अतिरिक्त और किसी मत को ये नहीं जानते थे। चंगेजखां ने एक कुशल सेना का संगठन किया। १३ वीं शती के प्रारम्भ होते ही उसने अपना विजय प्रयाण प्रारम्भ किया।

उस समय (१३ वीं शताब्दी के आरम्भ में) दुनियां की क्या हालत थी :—सुदूरपूर्व में चीन दो राज्यों में बिभक्त था, उत्तर में तातार वंशज किन साम्राज्य था और दक्षिण में शुंग साम्राज्य। हिंदचीन, स्याम, पूर्वीय द्वीप समूहों में चीनी, एवं भारतीय बौद्ध और हिन्दू उपनिवेश थे, उत्तर भारत में गुलाम वंश के मुसलमान बादशाहों का राज्य था, भारत के उत्तर पच्छिम में भारतीय सीमा से लेकर मध्य एशिया समस्त फारस और मेसोपोटेमिया के कुछ भागों में मुसलमानी खीवान वंश के बादशाहों का राज्य था। मिश्र, सीरीया, इज-राइल में मिश्र के प्रसिद्ध सुल्तान सलादीन के वंशजों का राज्य था, और उत्तर अफ्रीका एवं दक्षिण स्पेन तक अन्य मुसलमानी राज्ये थे। एशिया माईनर में तुर्क लोगों का राज्य था-जिनकी संरक्षता में बगदाद का खलीफा मेसोपोटेमिया के कुछ भागों में राज्य कर रहा था, चीन साम्राज्य के पच्छिमी छोर से लेकर

पच्छिम में यूराल पर्वत और कालासागर तक के विशाल घास के मैदानों में बनजारें तातार एवं मंगोल फैले हुए थे। यूरोप में पूर्वीय रोमन (Byantine) साम्राज्य बाल्कन प्रायद्वीप एवं एशिया माइनर के पच्छिमी भागों में स्थित था, कस्तुनतुनिया उसका केन्द्र था; उत्तरी इटली, जर्मनी, बेलजियम प्रांतों में पवित्र रोमन साम्राज्य प्रसारित था। इङ्गलेण्ड व फ्रान्स में द्वन्द्व चलता था; पोलेण्ड, हंगरी, नार्वे, स्वीडन राज्यों का धीरे धीरे उद्‌भव हो रहा था,- उत्तरीय स्पेन में कई सामन्ती शासकों का राज्य थ; पूर्वीय यूरोप में रुस राज्य का भी उद्‌भव हो रहा था जिसके उत्तर में नेवोगोरोड प्रजातन्त्र स्थापित था और दक्षिण में कीफ का राज्य।

दुनियां का उपरोक्त जो चित्र दिया गया है उससे यह तो अनुमान लगाया जासकता है कि संसार के किसी भाग में कोई शक्तिशाली सुसंगठित राज्य कायम नहीं था और न उनको इस बात का सुस्पष्ट ज्ञान था कि मध्य एशिया कोई विशाल भूभाग है जहाँ अनेक लोग रहते हैं।-पूर्व में चीनी सुन्ग साम्राज्य अवश्य था-किंतु इसकी शक्ति इस समय क्षीण थी, इसी चीनी साम्राज्य को छोड़कर बारुद और बंन्दूकों का ज्ञान भी दुनियां में अन्य किन्हीं लोगों को नहीं था, मंगोल लोग चीन के इस अविष्कार से परिचित हो चुके थे, और अपने आक्रमणों में उन्होनें इसका प्रयोग भी किया।

(१) **मंगोलों के आक्रमण**–(१३ वीं शताब्दी पूर्वार्द्ध)–१३वीं शताब्दी के प्रारम्भिक वर्षों में चंगेजखाँ का तूफानी दौरा प्रारम्भ हुआ। सर्व प्रथम वह पूर्व की ओर बढ़ा, चीन के उत्तरी साम्राज्य, किन साम्राज्य, का अंत किया, और मंचूरिया जीता। स्यात् इतने साम्राज्य से ही वह संतुष्ट होजाता किंतु ईरान के बादशाह ने कुछ मंगोल व्योपारियों को लूट लिया, और चंगेजखाँ के भेजे हुए राजदूतों को मार डाला, इस पर चंगेजखाँ भयंकर प्रतिकार की भावना से ईरान पर चढ़ आया, भयंकर गर्जते हुए काले बादलों की तरह सन् १२१६ में उसकी सेनायें समस्त प्रदेश पर छागईं। समृद्धिशाली प्रसिद्ध समरकन्द, बुखारा, कोरंद नगरों को धूल में मिला दिया, ऐसा साफ करदिया मानों वे कभी बसे हुए ही नहीं थे, लाखों आदमियों को नृशंसता से मार डाला गया, और इस प्रकार एक तूफान की तरह वह आगे बढ़ता गया। सम्पूर्ण तुर्किस्तान पर अपना राज्य स्थापित करता हुआ, ईरान की ओर बढ़ा, उसे अपने राज्य में सम्मिलित किया, और फिर आरमेनिया, और फिर पच्छिम में यूरोप की ओर वोल्गा नदी को पारकर कालासागर के उत्तर तक उसने अपना राज्य स्थापित कर लिया।

इस प्रकार पच्छिम में काला सागर से लगातार पूर्व में प्रशान्त महासागर तक उसके राज्य का विस्तार होगया।

चंगेजखाँ ने मंगोलिया के छोटे से नगर कराकोरम को ही इस विशाल साम्राज्य की राजधानी रक्खा। राजधानी में प्रत्येक देश के–ईरान, यूरोप, तुर्किस्तान, चीन, मेसोपोटेमिया, इत्यादि सभी देशों के व्यापारिक, और विद्वान लोग आकर एकत्रित होते थे।-यद्यपि चंगेजखाँ अशिक्षित था, किंतु बहुश्रुत था, देश देश की बातों के सुनने का बहुत शौक था,-यहाँ तक कि जब उसको ज्ञान हुआ कि बोलियों का कोई लिखित रूप भी होता है, तो उसने चाहा था कि मंगोल लोगों के जितने रस्म रिवाज हैं उनको लिखित रूप देदिया जाए। येल्यू चुत्सई, चीन का एक शिक्षित राजनैतिक, चंगेजखाँ का सलाहकार था, उसके प्रभाव की वजह से अनेक नगरों, कलाकृतियों और साहित्य की रक्षा होसकी।

(२) **१३ वीं शताब्दी मध्यः**–सन् १२२७ में उस समय जब चाँगेज अपनी विजय की उच्च शिखर पर था, उसकी मृत्यु हो गई। उसकी मृत्यु के बाद उसके पुत्र चगताई को जाति के सामन्तों और सरदारो द्वारा खां की उपाधि दी गई और वह विशाल साम्राज्य का सम्राट बना। विजय यात्रा जारी रही। सर्व प्रथम यूरोप की ओर प्रयाण हुआ। सन् १२४० में दक्षिण रूस की राजधानी कीफ का पतन हुआ,–फिर पौलेंड और जर्मनी की सम्मिलित फौज के साथ मध्य यूरोप में लिबनिज स्थान पर मंगोलों का युद्ध हुआ–पवित्र रोमन साम्राज्य का सम्राट फ्रेडरिक

महान भी कुछ नहीं कर पाया। जर्मन और पोल लोग परास्त हुए, समस्त दक्षिणी रूस में मंगोलों का राज्य स्थापित होगया उपरोक्त युद्ध की विजय के बाद मंगोल लोग पच्छिमी यूरोप की ओर भी बढ़ते—जर्मन और पोलिश लोगों की सम्मिलित शक्ति की हार के बाद कोई भी यूरोपीय शक्ति नहीं थी—जो उनको रोक सकती थी, किन्तु घर पर सम्राट की मृत्यु के बाद उत्तराधिकार के प्रश्न पर कुछ झगड़ा होने के समाचार पाकर, मंगोल फौजें यूरोप से अपने घर कराकोरम राजधानी की ओर लौट आईं, पच्छिमी यूरोप बच गया। पूर्व में अब तक समस्त चीन साम्राज्य—सुंग साम्राज्य सहित मंगोलों के आधीन होचुका था।

सन् १२१२ ई. में मंगुखां साम्राज्य का अधिनायक बना। उसने भिन्न भिन्न प्रान्तों में गवर्नर शासक नियुक्त किये जिनमें सबसे प्रसिद्ध चीन का गवर्नर कुबलेखां था। ईरान का गवर्नर हुलागु था। बगदाद के खलीफा ने मंगोल गवर्नर को किसी बात पर नाराज कर दिया, इससे क्रोधित होकर मंगोल गवर्नर ने बगदाद पर आक्रमण कर दिया और इस प्राचीन नगरी को नष्टभ्रष्ट कर दिया। अरब खलीफाओं के पिछले ५०० वर्षों के राज्य काल में जो कुछ भी कला, साहित्य, धन, ऐश्वर्य वहां एकत्रित हुए थे सब धूल में मिला दिये गये, बगदाद के अतिरिक्त बुखारा एवं अन्य अनेक नगर भी नष्ट भ्रष्ट कर दिये गये। इस प्रकार सन् १२५८ ई.

में जब बगदाद का पतन हुआ मोहम्मद के वंशज खलीफाओं का और जो कुछ भी छोटा मोटा अब्बासीद वंश का राज्य बचा था वह समूल नष्ट होगया। मेसोपोटेमिया में मंगोल लोगों ने केवल नगर ही बरबाद नहीं किये, किन्तु हजारों वर्षों से सिंचाई की जो अनुपम प्रणाली वहां चली आ रही थीं, वह भी नष्ट कर डाली। सम्राट मंगुखां का राज्य दरबार कराकोरम में ही लगा करता था। यहाँ, जैसा कि मंगोल लोगों का स्वभाव था मंगोल सम्राट ने कोई बड़ा नगर बसाने का प्रयत्न नहीं किया और न कोई बड़े बड़े महल बनवाये। बनजारे लोगों की तरह तम्बुओं के अन्दर उसका राज्य दरबार लगा करता था, देश विदेश से व्यापारी राजदूत, कलाकार, विद्वान, ज्योतिषी इत्यादि एकत्रित होते थे। मंगुखां सब लोगों से परिचय प्राप्त करता था उसने ईसाईयों के पोप की भी बातें सुनीं। ईसाई, मुसलमान, बौद्ध इत्यादि धर्म प्रचारक इसके राज्य दरबार में आये और सबने यह प्रयत्न किया कि सम्राट उनका धर्म अपनाले। वे समझते थे कि जिस धर्म को खां ने स्वीकार कर लिया वह धर्म संसार में अधिक शक्तिशाली हो जायेगा। कहते हैं, एक बार खाँ ने ईसाई धर्म ग्रहण करने का इरादा भी कर लिया था किन्तु यह बात सुनकर कि रोम का पोप ही सर्वमान्य और सर्वशक्तिशाली पुरुष है, उसने यह विचार छोड़ दिया। अंत में मंगोल लोगों ने जहां जहां वे

बसे हुए थे वहां वही धर्म ग्रहण कर लिया जो उन स्थानों में प्रचलित था। चीन तिब्बत, मंगोलिया में जो लोग बसे हुए थे उन्होंने इस्लाम धर्म स्वीकार कर लिया और रूस और हंगरी में जो मंगोल लोग बसे हुए थे सम्भवतः उन लोगों ने ईसाई धर्म स्वीकार कर लिया।

मंगुखां की मृत्यु के बाद चीन का मंगोल गर्वनर कुबले खां मंगोल साम्राज्य का सम्राट बना। कुबले खां पर चीनी सभ्यता और स्वभाव का बहुत प्रभाव पड़ चुका था। मंगोल लोगों की क्रूरता उसमें नहीं थी। वह उन लोगों में इतना घुल मिल गया था कि चीनी लोग उसको अपनी ही जाति का एक व्यक्ति समझने लग गये थे और वास्तव में उसने चीन में चीनी युआन राज्य-वंश की नींव डाली। समस्त चीन तो उसके साम्राज्य में आ ही चुका था, इसके अतिरिक्त हिन्द-चीन बर्मा भी उसने अपने साम्राज्य में मिला लिये। जापान और मलेसिया (पूर्वीय द्वीप समूह) पर भी उसने राज्याधिकार करना चाहा, किन्तु मंगोल लोग नव-सेना युद्ध में और जहाजरानी में दक्ष नहीं थे। इसलिये इस काम में वह सफल नहीं होसका। कुबलेखां के राज्य-काल में (१३ वीं शती में) इटली से दो व्यापारी चीन में आये थे। कुबले खां पर उनका काफी प्रभाव पड़ा था। कुबले खां ने उनसे कहा था कि वे अपने देश जायें और वहां

पोप से प्रार्थना करके १०० ईसाई धार्मिक विद्वान चीन में पहुंचवायें। ये दोनों व्यापारी लौट कर रोम आये। पोप से १०० विद्वानों को चीन भेजने की बात कही गई। विद्वान उपलब्ध नहीं थे, आखिर दो पादरी इन व्यापारियों के साथ भेजे गये। वे चीन की राजधानी पेकिंग आये। इनके साथ एक व्यापारी का लड़का भी था। अपनी यात्रा में इसने चीनी भाषा अच्छी तरह से सीखली थी। खां पर इसका खूब प्रभाव पड़ा, और उसे खां के राज्य में बहुत ऊंचा पद मिला। १२ वर्ष तक वह वहां रहा, फिर दक्षिण भारत, ईरान होता हुआ वह अपने देश इटली में आया जहां उसने १२९८ में अपनी यात्राओं का एक विषद वर्णन लिखा। यह विचक्षण व्यक्ति मार्कोपोलो था।

कुबले खां की समस्त शक्ति चीन में लग जाने के फलस्वरुप मंगोल साम्राज्य के भिन्न भिन्न प्रान्तों के गवर्नर शासक धीरे धीरे स्वतन्त्र होते जारहे थे। सन् १२९२ ई. में जब कुबलेखां की मृत्यु हुई उस समय साम्राज्य में कोई ऐसा प्रभावशाली व्यक्ति नहीं था जो इतने बड़े साम्राज्य का एकाधिपत्य स्वामी बन सकता। अतएव उसकी मृत्यु के बाद साम्राज्य छिन्न भिन्न होकर कई भागों में विभक्त होगया। साम्राज्य के मुख्यतः ५ निम्न भाग बने।

१. चीन जिसमें तिब्बत, मंगोलिया, मंचूरिया इत्यादि सम्मिलित थे। यहां सन् १३६८ ई. तक कुब्लेखां द्वारा स्थापित यु-आन वंश का राज्य चलता रहा, तदुपरान्त शुद्ध चीनी मिंग राज्य वंश की स्थापना हुई।

२.–३. सुदूर पच्छिम में किपचक और शिविर साम्राज्य (जो रूस के दक्षिणी भाग में स्थित थे)। इन प्रदेशों में धीरे धीरे अधिकतर मंगोल लोगों ने समयानुकूल घुमक्कड़ जीवन

ग्रहण कर लिया, और वे उन प्रदेशों में पूर्व स्थित अन्य घुमक्कड़ जातियों, जैसे इन्डोसिथियन, काकेशियन इत्यादि के साथ, हिल मिल गये; किन्तु पूर्व-स्थित नगरों के जो ड्यूक (सरदार) थे जैसे कीफ (Kiev), मास्को का ड्यूक इत्यादि इन्हें, मंगोल शासक खां को निश्चित कर देते रहना पड़ा। अन्त में सन् १४८० ई. में मास्को (Moscow) के ड्यूक आईवन तृतीय (Ivan III) ने खां का आधिपत्य मानने से इन्कार कर दिया। साथ ही उसने उत्तर में स्थित नोवोग्रोड प्रजातन्त्र को जीत कर अपने आधीन कर लिया। इस प्रकार इन प्रदेशों में मंगोल आधिपत्य समाप्त करके आइवन तृतीय ने आधुनिक रूसी राज्य की नींव डाली।

४. पामीर सेटो की भूमि में जगताई, मंगोल साम्राज्य का एक विभाग बना। यहां के मंगोल लोगों ने भी धीरे धीरे जंगली चरावाह एवं घुमक्कड़ जीवन ग्रहण कर लिया। कभी कभी किसी शताब्दी में उन लोगों का छोटा मोटा साम्राज्य कायम रहा किन्तु धीरे धीरे इस विभाग का पूर्वीय भाग तो चीन साम्राज्य में मिल गया और शेष भाग रूसी साम्राज्य में।

५. मंगोल इलखान साम्राज्य जो कि ईरान और मेसोपोटेमिया में स्थित था। १४ वीं शताब्दी के अन्तिम वर्षों में पच्छिमी तुर्किस्तान में एक और घुमक्कड़ लोगों का बवंडर उठा

जिसका नेता तैमूरलङ्ग था। तैमूरलङ्ग माता की ओर से चंगेज-खाँ के वंशजों में से ही था। तैमूरलङ्ग के पिता ने इस्लाम धर्म ग्रहण कर लिया था इसलिये तैमूर मुसलमान था; वह बहुत ही असभ्य और क्रूर आदमी था। मंगोल इलखान साम्राज्य के ईरान और मेसोपोटेमिया पर धुआँधार की तरह वह चढ़कर आया, जो कुछ भी रास्ते में मिला उसे ध्वंस करता गया। उसने एशिया माइनर, समस्त ईरान, मेसोपोटेमिया, दक्षिणी तुर्किस्तान एवं अफगानीस्तान में अपना साम्राज्य स्थापित किया और सन् १३९८ ई. में जब महमूद तुगलक देहली के सिंहासन पर था, भारत में लूटमार करने के लिये भयङ्कर आक्रमण किये। भारत की राजधानी में कई दिनों तक उसने लूटमार की, लाखों आदमियों को मार डाला और जहाँ जहाँ गया बरबादी फैला दी। भारत से लौटते समय हजारों कैदियों और अटूट धन-राशी भारत से लूटकर ले गया। सन् १४०५ में उसकी मृत्यु के बाद उसका साम्राज्य छिन्न भिन्न होगया, मेसोपोटेमिया में १३ वीं शताब्दी में ओटोमन (उसमान) तुर्क लोगों का राज्य हुआ, और फारस में कुछ ही वर्ष बाद एक अन्य तुर्की वंश का राज्य क़ायम हुआ।

इस प्रकार १३ वीं शताब्दी के प्रारम्भ में मंगोल लोगों की जो आंधी चली थी, वह समस्त एशिया, यूरोप पर भयङ्कर रूप से छाती हुई, १५ वीं शताब्दी में कहीं जाकर साफ हुई।

उसके बाद मंगोल लोगों की संगठित स्थिति दुनियां में कहीं नहीं रही। हां इन्हीं मंगोल लोगों से कुछ सम्बन्धित जातियों द्वारा एक ओर तो एशिया माइनर और यूरोप में और दूसरी ओर भारत में कुछ महत्वपूर्ण आक्रमण हुए जिनका वर्णन संक्षेप में कुछ आगे किया जायेगा।

मंगोल आक्रमणों का विश्व इतिहास पर प्रभाव:— मंगोल आक्रमक पूर्व में चीन से लेकर पश्चिम में यूरोप तक पहुंचे थे—यूरोप में इन आक्रमकों ने जर्मनी और पौलेण्ड को भी अछूता नहीं छोड़ा था, अतएव चीन, मध्य-एशिया, तुर्किस्तान ईरान एवं यूरोपीय देशों में पर्याप्त निकट सम्पर्क स्थापित हुआ। दो शताब्दियों तक पूर्व से पश्चिम और पश्चिम से पूर्व तक व्यापारिक मालों से लदे बड़े बड़े काफिले निशंक होकर घूमे थे; भिन्न भिन्न देश के अनेक विद्वानों, ज्योतिषियों, धर्मज्ञों में भी सम्पर्क स्थापित हुआ था; मंगोल खां के दरबार में ये सब लोग मिलते थे—भारत के बौद्ध भिक्षुक, चीन के कनफ्यूशियन, अरब के मुसलमान, यूरोप के ईसाई।

यूरोप अभी अन्धकारमय युग में से ही होकर गुजर रहा था—विज्ञान प्रकाश में नहीं आया था। पूर्व और पश्चिम के उपरोक्त सम्पर्क ने यूरोप को चार बहुमूल्य चीजें दीं। कागज,

छपाई, जहाजी कुतुबनुमा एवं बारुद की बन्दूकें। इन चारों वस्तुओं से चीनी लोग अति प्राचीन काल से परिचित थे—यहीं इनका आविष्कार हुआ था। हम कल्पना कर सकते हैं कि कागज ने, और छपाई की कला ने यूरोप में कितना युगान्तरकारी परिवर्तन कर दिया होगा। वास्तव में यूरोप का उत्थान तभी से होने लगा जब कागज और छपाई की कला वहां पहुंच गई। इन सब से भी अधिक महत्वशाली प्रभाव था—मार्को पोलो की प्रसिद्ध पुस्तक (The Travels Of Marco Polo) (मार्कोपोलो की यात्रायें) का, जो उसने अपने पूर्वीय देशों में भ्रमण और चीन में १२ वर्ष के अनुभव के आधार पर लिखी थी। इस पुस्तक में पूर्वीय देशों के धन, वैभव, स्वर्ण, मोती, जवाहरात, मसाले, इत्यादि का अपूर्व एवं रोमांचकारी वर्णन किया गया था—एवं यह भी निर्देश किया गया था कि पूर्वीय देशों में कई ईसाई राज्य स्थापित हैं जो बहुत ही ऐश्वर्यशाली हैं। इस रोमाञ्चकारी पुस्तक ने यूरोप में इटली, स्पेन, पुर्तगाल और फ्रान्स में एक क्रान्ति सी पैदा करदी एवं परोक्ष या अपरोक्ष रुप से अनेक जनों के मन में एक महत्वाकांक्षा पैदा करदी कि वे भी भिन्न भिन्न पूर्वीय देशों में भ्रमण करें। उधर जहाजी कुतुबनुमा का पता लगही चुका था—बस कुछ ही वर्षों में यूरोपीय जातियों ने सामुद्रिक रास्तों से पूर्वीय देशों की खोज प्रारम्भ करदी, जिसने दुनिया के इतिहास ही को बदल डाला।

उस्मान (Ottoman) **तुर्क**–१३वीं शताब्दी के प्रारंभ में मंगोलिया से जब चंगेजखां के आक्रमण मध्य ऐशिया और पच्छिम की तरफ होने लगे, तब मध्य ऐशिया और तुर्किस्तान में बसने वाले तुर्कों की एक विशेष 'समूहगत जाति' के लोग उस्मान तुर्क (Ottoman Turks) पच्छिम की ओर खिसकने लगे-बढ़ने लगे। इन्हीं प्रांतों से पहिले सेलजुक जाति के तुर्क लोगों (Seljuk Turks) के समूह के समूह ११वीं शताब्दी में एक आंधी की तरह पच्छिम में गये थे, और वहां ईरान, सीरीया, इजराइल, ऐशिया माईनर, मेसोपोटेमिया के अरब खलीफाओं के साम्राज्य को छिन्नभिन्न कर स्वयं शासक बन बैठे थे। इजराइल पर उनका आधिपत्य स्थापित होने पर पच्छिम के ईसाई देशों से "धर्म-युद्ध" (Crusades) प्रारंभ होगये थे, जो बीच बीच में रुक रुक कर कई शताब्दियों तक चलते रहे, जिनमें उनकी शक्ति क्षीण होगई। १३वीं शताब्दी के आरंभ में उन सेलजुक तुर्क लोगों का राज्य केवल एशिया माइनर के कुछ भागों में शेष रह गया था-और वह राज्य भी छोटे छोटे सरदारों में विभक्त था। जब उस्मान तुर्क लोग इधर बढ़कर आये, तो वे सेलजुक तुर्क लोगों में ही उन्हीं के साथ बसने लगे, क्योंकि भाषा और जातीयता की दृष्टि से वे उन्हीं से मिलते जुलते थे। धीरे धीरे सेलजुक तुर्क लोगों के छोटे छोटे राज्यों में उस्मान तुर्कलोगों का प्रभाव बढ़ने लगा, और वह यहाँ तक बढ़ा कि एशिया माइनर

में उन्हीं का प्रभुत्व मान्य होने लगा।

इन उस्मान तुर्क लोगों ने एक विशेष प्रकार का सैन्य संगठन स्थापित किया जो 'जेनिजरी' कहलाता था। जब कभी भी तुर्क किसी ईसाई देश को पराजित करते थे, तब ईसाई प्रजा के नवयुवकों एवं बच्चों को पकड़ कर उनको मुसलमान बना कर, उनको अच्छा वेतन देकर, उनको कड़े अनुशासन में ढालकर एक सुसंगठित सेना का अंग बनालिया जाता था। इसी सैन्य संगठन की वजह से उस्मान तुर्कों की विजय सरल होगई। डार्डेनेलीज मुहाने के रास्ते से उन्होंने यूरोप में प्रविष्ट करना प्रारंभ किया, और कुछ ही वर्षों में कुस्तुनतुनिया को छोड़ कर प्रायः समस्त पूर्वीय रोमन साम्राज्य (बिजेंनटाइन साम्राज्य) पर जिसकी परिपाटी प्राचीन काल से चली आती थी, अपना अधिकार जमा लिया। सर्बिया, बुलगेरिया, ग्रीस इत्यादि प्रदेश उस्मान तुर्की राज्य के अंतर्गत आगये, और अंत में सन् १४५३ में उस्मान सुल्तान मुहम्मद द्वितीय ने कुस्तुनतुनिया पर घेरा डाला। पच्छिमी यूरोप के ईसाई देशों की इस समय इतनी सामर्थ्य नहीं थी कि वे इतनी दूर आकर पूर्वीय यूरोप के ईसाइयों की सहायता करते; रोमन साम्राज्य की राजधानी कुस्तुनतुनिया के चारों ओर द्वेष, बेईमानी, लालच, सिंहासन लोलुपता का साम्राज्य था; कोई भी संगठित शक्ति नहीं थी, अतएव थोड़े से समय में ही प्रसिद्ध और महान कुस्तुनतुनिया

नगर ने आधीनता स्वीकार करली; पूर्वीय रोमन सम्राट मारा गया। बड़ी लूटमार मची, बहुजन प्रजा कत्ल करदी गई, सेंटसोफिया के प्रसिद्ध गिरजा को जो सम्राट जस्तीनियन ने ५३२ ई. में बनवाया था, मस्जिद के रूप में परिवर्तित कर दिया गया।

यूरोप के इतिहास में कुस्तुनतुनिया का तुर्कों के हाथ में चलाजाना एक ऐसी घटना थी, जिससे समस्त यूरोप पर मुसलमानी आक्रमण की संभावना होगई। किसी तरह हंगरी की सैनिक आबादी ने इनके प्रवाह को रोके रक्खा। फिर १६वीं शताब्दी के अंत तक तुर्कों की विजयनी शक्ति समाप्त भी होगई,– और वे प्रायः बाल्कन प्रायद्वीप के प्रदेशों से आगे नहीं बढ़ सके। मुहम्मद द्वितीय के बाद एक सुल्तान ने जिसका नाम सलीम था, स्वयं खलीफा की उपाधि धारण की–अतएव तुर्की के सुल्तान अब 'मुसलमानी दुनिया' के धार्मिक शाह (खलीफा) भी थे। सलीम के बाद तुर्की का सुल्तान बना–"सुलेमान–शानदार" (Suleiman, the Magnificent)-(१५२०-१५६६), जिसके राज्यकाल में तुर्की साम्राज्य का विस्तार और उसकी समृद्धि सबसे अधिक थी। इन्हीं तुर्क सुल्तानों एवं खलीफाओं की परम्परा आधुनिक काल तक चलती रही, जब प्रथम महायुद्ध (१९१४–१८) उनका प्राचीन किंतु जर्जरित

साम्राज्य छिन्न भिन्न होगया, साम्राज्य के सब अरब देश यथा अरब, ईराक, सीरीया, इजराइल उससे पृथक होगये; केवल एशिया माइनर एवं यूरोप के कुस्तुनतुनिया नगर और कुछ समीपस्थ भूमि में तुर्की का एक महान क्रांतिकारी नेता मुस्तफा-कमालपाशा तुर्की राज्य कायम रखने में सफल रहा, जहाँ उसने "सुल्तानियत और खिलाफत" दोनों प्राचीन परम्पराओं को जड़ से उखाड़ फैंका और आधुनिक ढंग के एक जनतंत्र की स्थापना की।

मुगल:—१३ वीं शताब्दी के प्रारम्भ में चंगेजखां का (जो किसी संगठित धर्म जैसे बौद्ध, ईसाई, इसलाम का अनुयायी नहीं था, किन्तु आदि कालीन अर्धसभ्य स्थिति के देवी देवताओं वाले विश्वासों का अनुगामी था) पच्छिमी एशिया पर आक्रमण हुआ। उसने समस्त तुर्किस्तान, फारस इत्यादि पर अपना प्रभुत्व स्थापित किया। इसी १३ वीं शताब्दी के अन्त तक उसका विशाल साम्राज्य कई भागों में विभक्त होगया—एक भाग था इलखान साम्राज्य जिसमें फारस और मेसोपोटेमिया सम्मिलित थे। धीरे धीरे यह साम्राज्य छिन्न भिन्न हो गया, किन्तु १५ वीं शताब्दी के प्रारम्भ में इन्हीं प्रदेशों में एक नये साम्राज्य का निर्माण किया तैमूरलंग ने जो चंगेजखां का कोई दूरस्थ वंशज था, किन्तु जिसके पिता मुसलमान हो चुके थे। तैमूर की मृत्यु

के बाद उसका साम्राज्य भी टूट फूट गया—अलग अलग छोटे मोटे प्रदेशों में अलग अलग यौद्धा सरदार शासक बन गये। इन शासक सरदारों में बराबर झगड़े चला करते थे। ऐसे ही एक सरदार का उदय हुआ जिसका नाम उमरशेख मिर्जा था, जो तैमूरलंग की पांचवी पीढ़ी में से था और जिसकी स्त्री चंगेजखां के वंशजों में से थी। इसी उमरशेख के पुत्र "बाबर" ने सन् १५२६ ई. में भारत के तत्कालीन पठान सम्राट इब्राहिम लोदी को पानीपत की लड़ाई में परास्त कर भारत में मुग़ल (मंगोल) राज्य की नींव डाली—जिसकी परम्परा आधुनिक काल में प्रायः १८५७ तक चली, जब तक धीरे धीरे मुगल साम्राज्य के अवशेषों पर भारत में अंग्रेजी राज्य स्थापित हो चुका था।

३६

चीन का इतिहास (मध्य-युग)

५. उत्थान (६६० से १६४३ ई.)—इस काल में ३ राज्य वंश के सम्राटों ने राज्य किया यथा शुंग, युआन और मिंग। प्राचीन तांग वंश के अन्तिम शासक सबल और कुशल नहीं थे अतः ६०७ में यह राज्यवंश ही लुप्त हो गया। फिर से चीन के इतिहास में विकेन्द्रित मनमाने छोटे छोटे राज्यों का

काल आया; देश उत्तर और दक्षिण के कई राज्यों में विभक्त हो गया, किन्तु यह अस्थिर और अनिश्चित स्थिति इस बार बहुत समय तक नहीं चली। सन् ९६० में शुंग वंश की स्थापना हुई। इस वंश के राज्य काल में देश में शान्ति और संतोष बना रहा। शुंगवंश के राजा दयालु थे और जीवन में कला को प्यार करते थे। अतएव दर्शन, राजनीति-शास्त्र, कला और कनफ्यूसियस के विचारों का गहन अध्ययन हुआ और प्रत्येक वस्तु को मौलिक दृष्टि से देखा गया। छपाई की वजह से पुस्तकें तो खूब मिलतीं ही थीं, जगह जगह पर अध्ययन परिषदें बनीं; अनेक लोग उद्यान, नदी और झरनों के किनारें जाकर अध्ययन में लग्न रहते थे। एक नई बौद्धिक विकास की लहर देश भर में फैली।

दो भिन्न भिन्न राजनैतिक विचार-धाराओं का जन्म हुआ, जिनके अनुरुप दो राजनैतिक दल भी देश में पैदा हुए। १० वीं ११ वीं शताब्दी के दो राजनैतिक दलों को आज की भाषा में हम अनुदार दल और रेडिकल दल कह सकते हैं। समस्त शासनाधिकार तो सम्राट के ही हाथ में था और चीन में जब तक कि सन् १९१२ में जनतन्त्र की स्थापना नहीं हुई तब तक हम किसी उदार या लोक सम्मत सरकार की कल्पना भी नहीं कर सकते। एकतन्त्रीय राजशाही सरकार होते हुए भी

उपरोक्त दो राजनैतिक दलों की उपस्थिति का यही अर्थ था कि सम्राट किन लोगों की विचार धारा से अधिक प्रभावित होकर किन लोगों को उच्च पदों पर अपने विचारों के अनुकूल शासन चलाने के लिये आरुढ करते हैं। यद्यपि अधिकतर लोग अनुदार दल की विचार-धारा में ही विश्वास करते थे तब भी शुंग-वंश के एक बहुत अच्छे सम्राट ने रेडिकल दल के प्रसिद्ध विचारक वांग-आंग-शी को कई शासनाधिकार देकर एक उच्च पद पर नियुक्त किया। वाँग-आँग-शी ने गरीब किसान लोगों की हालत में कई सुधार किये। विशेषकर उसने यह काम किया कि बोहरे लोगों को जो किसानों को कर्ज दिया करते थे और उनको खूब चूसा करते थे हटाकर उनकी जगह यह व्यवस्था की कि सरकार किसानों को कर्ज दे और उनकी उपज की बिक्री का ठीक प्रबन्ध करे। एक और काम रेडिकल दल ने किया। चीन में घोड़ा प्रमुख जानवर नहीं है, वहां पर खेती प्राय: भैंस और बैल की ही सहायता से की जाती है और बहुत कम कभी कभी खच्चरों की सहायता से। किन्तु उस काल में चीन राष्ट्र को घोड़ों की आवश्यकता विशेष रहती थी, वह इसलिये कि तातार और हूण लोग उत्तर पच्छिम से देश पर जो हमले किया करते थे, वे हमले वे घोड़ों पर करते थे और उनका मुकाबला घुड़सवार सिपाहियों से ही किया जा सकता था। घोड़ों की इस समस्या को रेडिकल दल के नेता वांग-आंग-शी ने हल

करने के लिए यह ढङ्ग निकाला कि देश का प्रत्येक परिवार कम से कम एक या दो घोड़े हर वक्त तैयार रक्खें।

जब इस प्रकार शुंग-वंश के राज्य काल में बौद्धिक पुनरुत्थान हो रहा था उसी समय चीन की विशाल दीवार के पीछे बर्बर मंगोल जाति के लोग शक्तिमान हो रहे थे इतिहास प्रसिद्ध मंगोल विजेता चंगेज खां ने समस्त चीन, मध्य एशिया, फारस, रूस इत्यादि को पददलित कर डाला। एशियाई महाद्वीप के पूर्वी छोर से पश्चिम में ठेठ रूस तक एक विशाल साम्राज्य की उसने स्थापना की। उसकी मृत्यु के बाद यह विशाल साम्राज्य कई भागों में बंट गया। साम्राज्य का पूर्वीय अंग चीन था। इस विभाग का शासक बना कुबलेखां जो इतना क्रूर नहीं था जितने अन्य मंगोल। चीनी जीवन के साथ वह घुल मिल गया, और उसने चीन ने 'यु-आन' राज्य वंश की स्थापना की। यद्यपि चीनी लोगों के प्रति इसका व्यवहार अच्छा था और चीनी लोगों ने भी इसको अपना लिया था तथापि इस विचार से कि कहीं चीनी लोग विद्रोह न कर डालें वह इस बात का ध्यान रखता था कि बड़े बड़े ऊँचे पदों पर वह यूरोप से लाये हुए उपयुक्त-लोगों को ही नियुक्त करे। चीन का पश्चिम में यूरोप तक मध्य एशिया के रास्ते होकर निकट-सम्पर्क स्थापित हो ही गया था क्योंकि ये सब प्रदेश एक ही मंगोल साम्राज्य के अंग थे। प्रसिद्ध इटालियन यात्री

स्वयं मार्को-पोलो ने यू-आन (कुबलेखां) वंश के आधीन चीन में २० वर्ष से भी अधिक काल तक नौकरी की थी । किन्तु जिस प्रकार संसार के अन्य भागों में मंगोल साम्राज्य जितनी तेजी से आया था उतनी ही तेजी से विलीन होगया था उसी प्रकार चीन में भी वह लुप्त होगया । चीनी लोग इन विजातीय अपरिचित लोगों से असन्तुष्ट तो थे ही; ज्यों ज्यों मंगोल सम्राट अपने विजित धन और ऐश्वर्य में फंसकर शिथिल होते गये त्यों त्यों चीनी राष्ट्र का विरोध प्रबल होता गया और अन्त में सन् १३६८ ई. में विद्रोहियों के नेता हूँगवू ने मंगोल यु-आन वंश का खातमा किया और विशुद्ध चीनी मिंग राज्य-वंश की नींव डाली ।

मिंग राजवंश के सम्राटों ने सन् १३६८ से १६४३ तक राज्य किया । मिंग शब्द का अर्थ है जाज्वल्यमान; और वास्तव में चीन के इतिहास में मिंग-वंश का राज्य काल एक जाज्वल्यमान काल माना जाता है । इस राज्य काल में देश में शान्ति, अमन चैन और सुख रहा । चीनी सम्राटों की प्रसिद्धी दूर दूर देशों में फैली । कोरिया, जापान, हिंद-चीन, सुमात्रा, जावा इत्यादि देश चीन के सम्राट को, मिंग वंश के सम्राट को अपना शहनशाह मानते रहे । विदेशियों से मित्रता और देश के अन्दर शान्ति कायम रहने की

वजह से साधारण लोगों के लिये अनेक जन-हितकारी कार्य हो सके। सड़कें, नहरें, जलमार्ग इत्यादि की मरम्मत की गई। किसान लोगों पर लगान का भार कम किया गया, फसल बिगड़ जाने या अकाल पड़ जाने की आफत से बचने के लिए अनेकों गोदाम अनाजों से भरे रहते थे। सम्राट ने कागज के नोटों का भी प्रचलन किया; इससे व्यापार और लेन देन में भी वृद्धि हुई। बड़ी बड़ी शानदार इमारतें बनीं, मिट्टी के सुन्दर सुन्दर बर्तन बने और उन पर नक्काशी का काम हुआ। अनेक कला पूर्ण चित्र बने जिनकी तुलना इटली के चित्रों से की जा सकती थी। उस काल के हाथी दांत, जेड, कांसा और लकड़ी में सुन्दर खुदाई के नमूने मिलते हैं। भिन्न भिन्न सम्राटों के राज्य काल में चीन की राजधानी भिन्न भिन्न नगर रहे हैं। शुंग और यु-आन वंश के सम्राटों के काल में चीन की राजधानी दक्षिण प्रदेश का हंग-चो नगर रहा, जिसके धन, ऐश्वर्य और ठाठ की तारीफ मार्को-पोलो ने अपनी यात्रा वर्णन में की है। मिंग वंश के राज्य-काल में उत्तर में एक नया नगर पेकिंग बसाया गया। सन् १४२१ ई. में यह नगर बन कर तैयार हुआ और तब से सन १९१२ तक यही चीन की राजधानी रहा।

उत्थान युग के समस्त ७०० वर्षों के (९६० से १६४३ ई.) काल में विशेषतः मिंग राज्य-वंश के काल में (१३६८–१६४३ ई.) बुद्धि का पुनर्जागरण हुआ। बौद्धिक, दार्शनिक, आध्यात्मिक

क्षेत्रों में एक आन्दोलन चला जिसे ली-शुई (Li-Hisa= Rationalism=बुद्धिवाद) कहते हैं। इस युग के पूर्व राष्ट्र के बौद्धिक क्षेत्र में दो धारायें प्रवाहित हो रही थीं—दो विचार-धारायें विद्यमान थीं। एक तो प्रोफलीगैटस (Profligats) थे जो अपने आपको बुद्ध एवं लाओत्से के अनुयायी बताते थे, किंतु न जो बुद्ध और न लाओत्से के सिद्धान्तों को अच्छी तरह समझ सकते थे। ये अजीब तरह के "निराशावादी" थे जो दुनिया को बताते तो थे सारहीन और बुरी किंतु स्वयं सांसारिक जीवन ऐशोआराम से बिताना चाहते थे, जो दुनिया को सारहीन समझकर चाहते तो थे त्याग और तपश्चर्या करना, किन्तु जीवन में ध्येय बना रहता था खाने पीने और सुख से दिन काटने का। दूसरे क्लासिसिस्टस (Classicists) अर्थात् रीतिकार थे—जो प्राचीन ग्रन्थों के शब्दों, लेखन के नियमों, वाह्यालंकार इत्यादि को ही महत्त्व देते थे, किन्तु वाणी या लेखन की आत्मा तक पहुँचने को किंचितमात्र भी महत्त्व नहीं देते थे—वे कोरे पण्डित थे। इस प्रकार की दो विचारधारायें चीन में अनेक वर्षों तक चलीं, किंतु फिर प्रतिक्रिया हुई। उसका पहिला चिन्ह था "ली सुई" (Li-Hsia) बुद्धिवाद। इस युग के ७०० वर्षों में इस आंदोलन के प्रवर्तक अनेक प्रसिद्ध विद्वान हुए, जिन्होंने एक प्रकार से चीन में वैज्ञानिक ढंग से, तर्कपूर्ण ढंग से एवं मानवीय बुद्धि के आधार पर विचार करने

के ढंग की नींव डाली। ये बुद्धिवादी युगप्रवर्तक न केवल महान विद्वान एवं दार्शनिक थे किंतु इनका व्यक्तित्व भी महान था। चीनी बुद्धिवाद का संस्थापक चाऊ तुनयी (Chou-Tun-yi) था। उसकी दो कृतियाँ बहुत प्रसिद्ध हैं :—१. ताई ची तू सुओ (Tai-Chi-tu-hsuo) अर्थात् "महान निर्विशेष का आकार और उसकी समीक्षा" (The Diagram of the Great Absolute and Its explanation), इस पुस्तक में विश्व के तात्विक ज्ञान का विश्लेषण है। इसके अनुसार सृष्टि की अभिव्यक्ति वू ची (Wu-chi) अर्थात् अज्ञात, निर्विशेष (The unknown Absolute) एवं ताई ची (Tai Chi) अर्थात् महान निर्विशेष (Great Absolute) दोनों में निहित है। जब महान् निर्विशेष (Great Absolute) में स्पन्दन होता है, तो हां–धर्मी (Positive) शक्ति का उद्भव होता है और जब निर्विशेष समाधिस्थ होता है तो ना–धर्मी (Negative) शक्ति का उद्भव होता है। जब हाँ-धर्मी एवं ना-धर्मी शक्तियों का (पुरुष और प्रकृति का) मिलन होता है तो ५ तनमात्राओं (तत्वों) धातु, लकड़ी, जल, अग्नि और पृथ्वी (चिन, वू, शुई, हो और तू) का जन्म होता है। फिर जब इन पञ्च तत्वों का मिलन होता है तो उससे सम्पूर्ण विश्व (Cosmos) की सृष्टि होती है। मनुष्य जीवन इसी विश्व का एक अंग है। अतएव मनुष्य को चाहिए कि वह इस विश्व के साथ सामंजस्य,

स्थापित करके रहे, एवं इस प्रकृति के व्यापारों (Phenomena) के साथ अपना जीवन एकरस करदे। चाऊ-तुन-यी का यह दर्शन चीन के प्राचीन ग्रन्थ (परिवर्तन के नियम) एवं प्राचीन महात्माओं की शिक्षा पर आधारित है। इस दार्शनिक ने तो केवल उन प्राचीन शिक्षाओं को एक प्रकार से सुसंगठित ढङ्ग से जमाकर मनुष्यों के सामने रक्खा। दार्शनिक चाऊ-तुन-यी की दूसरी कृति तुंग-शू (Tung-Shu साधारण ग्रन्थ) है। इस पुस्तक में मानव जीवन के दर्शन को समझाने का प्रयत्न किया गया है।

इसी चीनी बुद्धिवाद का अन्तिम महान् विद्वान वाँग-यांग-मिन (Wang-Yang-Min) था। इसके अनुसार ज्ञान की परिणति या ज्ञान की सार्थकता कर्म में है। बिना कर्म के कुछ ज्ञान नहीं, बिना ज्ञान के कर्म नहीं। उनका मुख्य ध्येय यही था कि ज्ञान और कर्म में सामंजस्य स्थापित हो, एवं मनुष्य प्राचीन महात्माओं और ऋषियों की शिक्षाओं को अपने व्यवहार जीवन में उतारे। चीन के महात्मा और मनीषी हमेशा से तत्व-दर्शन की अपेक्षा नैतिक जीवन पर विशेष जोर देते रहे हैं।

चीन में ६६० से १६४३ ई. तक का यह ७०० वर्षों का युग एक महान् बौद्धिक, विचारात्मक एवं आध्यात्मिक पुनरुत्थान का युग रहा है, जिसमें प्राचीन महात्माओं और ऋषियों की वाणियां पुनर्जीवित की गई।

मानव इतिहास के 'मध्य-युग' में चीन को छोड़कर और सब देशों में, यहां तक कि 'प्राचीन युग' से सांस्कृतिक परम्पराओं के धनी भारत देश में भी, बुद्धि का प्रायः ह्रास ही रहा, चेतना कुछ जड़वत ही रही, अर्थहीन मान्यताओं और विश्वासों से पराभूत। विज्ञान, समाज एवं विचार के क्षेत्रों में निर्भीक, स्वतन्त्र कोई भी नई उद्भावना नहीं हो पाई।

—:—

४०

मध्य-युगीय भारत-पूर्वार्ध

(६५०-१२०६)

[६५० ई. सन् से १२०६ तक लगभग ५५० वर्ष, राजपूत-काल=मुसलमानों के आक्रमण के पूर्व भारत की दशा]

हर्षवर्धन के अनन्तर कोई भी एक ऐसा शक्तिशाली संगठनकर्ता, एवं जागृत दूरदर्शिता एवं विशाल दृष्टिकोण युक्त व्यक्ति नहीं हुआ, जो दुनियाँ की ओर शक्तियों से अपनी जानकारी बनाये रखता, और उस ज्ञान की पृष्ठभूमि में अपने घर का उचित प्रबन्ध करता। ऐसे प्रतिभाशाली व्यक्ति के अभाव में, एवं सामरिक दृष्टि से ही किसी महान् महत्वाकांक्षी

सैनिक के अभाव में, उत्तर भारत और दक्षिण भारत छोटे छोटे स्वतन्त्र राज्यों में विभक्त होगया। ये स्वतन्त्र राजे भारतीय इतिहास में राजपूतों के नाम से प्रसिद्ध हैं–जो एक नया ही नाम है। सम्भवत: संस्कृत शब्द "राजपुत्र" जो राजकुमारों के लिये प्रयुक्त होता था, से विगड़ कर राजपूत बना। वस्तुत: राजपूत प्राचीन क्षत्रीय राजाओं की परम्परा में से ही थे; यह सम्भव अवश्य हो सकता है कि उनमें विदेशी आक्रमणकारियों जैसे शक, हूण आदि लोगों का सम्मिश्रण होगया हो। ये लोग प्राचीन आर्य परम्परा के पालक, बड़े वीर, युद्ध-कुशल, एवं साहसी थे, ब्राह्मण-पौराणिक धर्म में मान्यता रखते थे। हर्ष के अनन्तर प्राय: समस्त भारत में इन्हीं राजपूत (क्षत्रीय) राजाओं के छोटे छोटे स्वतन्त्र राज्य हुए–जिनका अस्तित्व १२ वीं शताब्दी के अन्त तक बना रहा।

प्रमुख राज्य एवं राज्य वंश निम्न थे—कन्नौज, अजमेर और दिल्ली; बिहार में पाल-वंश, बंगाल में सेनवंश, गुजरात और सौराष्ट्र में परिहार, सोलंकी और गहलोत वंश; मालवा में परमार वंश, देवगिरी में यादव; पंजाब, काश्मीर, दक्षिण में राष्ट्रकूट और चालुक्य वंश इत्यादि। इसी मध्य युग में मालवा का प्रसिद्ध विद्या-प्रेमी राजा भोज (१००६–१०५४ ई.) हुआ जिसके विषय में अनेक कहानियां और दन्त कथायें प्रचलित हैं।

इन राज्यों में भिन्न भिन्न क्षत्रीय (राजपूत) वंशों का राज्य था, समय समय पर परस्पर युद्ध, विजय, पराजय और राज्य-परिवर्तन की घटनायें घटित होती रहती थीं।

इन राज्यों में ब्राह्मण धर्म अथवा पौराणिक वैष्णव धर्म की उन्नति हुई, बौद्ध धर्म का भारत से प्रयाण होने लगा-ब्राह्मणों ने राजपूतों के गुणगान किये और राजपूतों ने ब्राह्मणों के प्रभाव और मान गौरव को मान्यता दी। इसी काल से धीरे धीरे साधारण जन में अपने राजनैतिक कर्त्तव्यों और अधिकारों के प्रति उदासीनता आने लगी—इस काल में किसी भी गण-राष्ट्र का नाम नहीं सुना जाता। हाँ—गाँवों की पंचायतें इस मध्यकाल में पूर्ववत् सुसंगठित रहीं। भूमि पर अभी तक प्रजा का ही अधिकार माना जाता था, राजा का नहीं।

मध्य-युगीय हिन्दू काल की सभ्यता

धर्म और दर्शन- बौद्ध-धर्म की अवनति का उल्लेख ऊपर होचुका है। इस धर्म को भारत से उखाड़ फैंकने में दो प्रतिभाशाली विद्वानों का प्रभाव विशेष माना जाता है। एक कुमारिलभट्ट जो ७ वीं शती में हुए थे और जिन्होंने वैदिक भावना और यज्ञों का पुनरुत्थान चाहा था। दूसरे स्वामी

शङ्कराचार्य जिनका जन्म केरल प्रान्त में ७८८ ई. में हुआ था। शङ्कर ने मीमांसा सूत्र पर अपना भाष्य लिखा था और अद्वैत दर्शन का विचक्षण प्रतिपादन किया था। इनके मतानुसार एक अव्यक्त निर्विकल्प ब्रह्म की ही सत्ता है—यह दृश्य सृष्टि केवल माया है—यह भासित होती है, इसका अस्तित्व नहीं। शङ्कर की गणना संसार के महान् दार्शनिकों और विद्वानों में होती। शंकर का भारत के दार्शनिक मत पर इतना प्रभाव रहा कि २–३ शतियों तक उनकी ही विचार पद्धति का भारत में साम्राज्य रहा। लोक में धर्म-भावना जागृत रखने के लिए शंकर ने भारत के चारों कोनों में चार—उत्तर में बद्रीनाथ के पास, दक्षिण में रामेश्वरम्, पूर्व में पुरी एवं पश्चिम में द्वारका, शंकराचार्य मठों की स्थापना की, जिनकी परम्परा आज तक भी चली आ रही है। फिर ११ वीं–१२ वीं शताब्दी में मीमांसा सूत्र के अन्य भाष्यकार जैसे रामानुज आदि उत्पन्न हुए। उन्होंने अपने दार्शनिक मतों का प्रतिपादन किया, जिनमें भक्ति को मुख्य स्थान मिला। दार्शनिक आचार्यों के अतिरिक्त अनेक भक्त और सुधारक भी इस युग में पैदा हुए। तामिल (दक्षिण) देश में तो वैष्णव और शैव भक्तों का एक सिलसिला ही जारी रहा। वैष्णव भक्त वहाँ आलवार कहलाते थे और शैव भक्त नायन्मार। इन भक्तों की तामिल रचनाओं का वेद और उपनिषद् की तरह आदर किया जाता है।

सातवाहन युग में (१८४ ई. पू. से १७६ ई.) जिस सरल भक्तिमय पौराणिक पूजा का सूत्रपात्र हुआ था, गुप्त युग में जिसका अधिक प्रचार हुआ था-वह अब साधारण जन के हृदय में और भी परिपुष्ट होगई। इस धार्मिक भावना का ललित कला से बंधन हुआ, स्थापत्य और मूर्तिकला मनोरम रुप में प्रकट हुई। देवताओं के सुनहले मन्दिर बनने लगे, उनका साज शृङ्गार होने लगा, उनकी पूजा एक भारी और जटिल प्रपंचसा हो गई। अनेक विशाल और भव्य मन्दिरों का निर्माण हुआ-मुसलमानों के आक्रमण प्रारम्भ होगये थे, मंन्दिर तोड़े जाते थे, किन्तु इनका निर्माण बन्द नहीं होता था। इसी काल में आबू का प्रसिद्ध देलवाड़ा मन्दिर बना जो संगमरमर के बारीक नकाशी के काम में भारतभर में एक अनूठी रचना है। उड़ीसा में भुवनेश्वर के मन्दिर, खजुराहो में चंदेल राजाओं के बनवाये मन्दिर, मालवे में उदयादित्य का मन्दिर,-एवं अनेक पत्थर और कांस्य की सुन्दर मूर्तियां हैं। इस युग तक वृहत्तर भारत (सुमात्रा, जावा आदि द्वीप) भारत का ही एक अंग माना जाता था। इस युग में बौद्ध राजओं ने जावा द्वीप के बोरोबुदर स्थान में वे अनोखे मन्दिर बनवाये जिनको 'पत्थर में तराशे हुए महाकाव्य' कहा जाता है। ६ वीं शताब्दी के अन्त में जावा के शैव राजा दत्त ने प्राम्बनन के मन्दिर बनवाये, जिन पर रामायण की सारी कहानी मूर्तियों में चित्रित है।

साहित्य और शिक्षाः– कवि भवभूति जिसने करुणरस-पूर्ण अद्वितीय "उत्तर राम चरित" नाटक लिखा, इस युग में हुआ। कवियों और विद्वानों की परम्परा काश्मीर राज्य में भी चलती रही, वहां के कल्हण पंडित ने ११४९ ई. में राजतरङ्गिणी नामक काश्मीर का इतिहास लिखा, जो भारतीय साहित्य का एक रत्न माना जाता है।

उपरोक्त तत्वज्ञानी शंकर, रामानुज के अतिरिक्त बौद्ध दार्शनिक शांतरक्षित प्रसिद्ध हुए। इस युग में सर्वप्रसिद्ध विद्या का केन्द्र नालंदा विश्व-विद्यालय था, जिसकी स्थापना गुप्त-काल में हुई थी। ७ वीं ८ वीं शती में वहां ३५०० से ५००० तक विद्यार्थी पढ़ते थे।। उपरोक्त बौद्ध दार्शनिक विद्वान शांतरक्षित ने नालंदा विहार के नमूने पर तिब्बत में विहार स्थापित कराया। एक क्षत्रिय राजा वीसलदेव ने अजमेर में एक विद्यालय बनवाया जो अब अढ़ाईदिन का झोंपड़ा कहलाता है और जिसके अवशेष अब भी बाकी हैं।

देशी-भाषायें भारत में आदि आर्य युग की भाषा वैदिक थी। यह भाषा धीरे धीरे नियमों के बंधन में जकड़ी गई, इसका रुप संवारा गया और स्थिर किया गया–और यह 'संस्कृत' कहलाई। वैदिक युग के बाद संस्कृत भाषा में हिन्दुओं का समस्त साहित्य और धर्म-शास्त्र लिखा गया। किन्तु धीरे धीरे जन साधारण

से यह संस्कृत भाषा दूर होती गई, उनमें बोलचाल की भाषा के एक रुप का चलन होता रहा, जिसे प्राकृत कहते थे। जन साधारण की प्राकृत भाषा में ही बुद्ध और महावीर के उपदेश हुए थे। प्राकृतभाषा भी फिर नियमों के बंधन में जकड़ी गई और उसका भी संस्कृत के समान व्याकरण बन गया! प्राकृत के बाद जन साधारण में जिस बोल चाल की भाषा का प्रचलन था वह अपभ्रंश थी—इसी अपभ्रंश भाषा से फिर धीरे धीरे आधुनिक देशी भाषाओं--हिन्दी, बंगाली, गुजराती, मराठी आदि का विकास हुआ।

मध्य युग में विद्यालयों में तो संस्कृत और प्राकृत में लिखना पढ़ना होता था—किन्तु इसी युग में हमारी देशी भाषायें भी शूरु होगईं। ८४ सिद्धों के गीतों और दोहो में हिंदी कविता का सबसे पहिल नमूना है। दक्षिण के तामिल साहित्य का तो प्रारम्भ सातवाहन युग में ही हो गया था; तेलगु साहित्य १० वीं शताब्दी में प्रारम्भ हुआ। ८ वीं शताब्दी में जावा की देशी भाषाओं में भी संस्कृत के प्रभाव से ग्रंथ लिखे जाने लगे।

सामाजिक और बौद्धिक जीवनः—मध्य युग तक प्राचीन परम्पराओं और स्फूर्ति के फलस्वरुप जातीय जीवन में समृद्धि तो बनी रही, किन्तु एक परिवर्तन जो सबसे जबरदस्त हुआ वह था—बुद्धि-द्वारों का अवरुद्ध होना। इस युग में विचारों की प्रगति

और प्रवाह बंध हो गया था—जीवन में स्फूर्ति का ह्रास होने लगा था—दृष्टि आगे की ओर नहीं किन्तु पीछे की ओर उन्मुख थी। इसलिए जीवन की प्रत्येक दिशा में-धर्म में, आचारविचार में, सामाजिकता में संकीर्णता का आधिपत्य होने लगा। इस युग में जांत पांत की सृष्टि हुई। सामाजिक ऊंच नीच के जितने दर्जे थे वे पथराकर जाँत पांत बनने लगे। लोगों का स्वतन्त्र सामाजिक मिलन बंध हो गया-उनका जीवन कूपमंडूक की तरह हो गया। फिर भी इस काल तक समाज में स्त्रियों को पूरी स्वतन्त्रता थी। उनमें परदा नहीं था, विवाह बड़ी होने पर ही होता था। उनमें ललित कलाओं का प्रचार था। किंतु बुद्धि, मानस एवं सामाजिक जीवन का प्रवाह रुक अवश्य गया था और उसमें सड़ांध पैदा होने लग गई थी।

—*—

४१

मध्य-युगीय भारत-उत्तरार्ध

(१२०६ से १५२६=लगभग ३०० वर्ष)

भारत में मुसल्मानी राज्य की स्थापना

अध्याय ३६ में सविस्तार हम लिख आये हैं कि किस प्रकार ७वीं शती के आरम्भ में अरब में इस्लाम धर्म की स्थापना

हुई, और किस प्रकार अपने नये जोश में इस्लाम के खलीफाओं ने ७वीं ८वीं शतियों में पश्चिम में स्पेन से लेकर पूर्व में मध्य एशिया तक अपना साम्राज्य स्थापित किया। जब इस्लाम इस तरह बढ़ रहा था, तब संसार में कहां कहां कौन कौनसी जातियां बसी हुई थीं, इस पर एक विहंगम दृष्टि डालना, भारत में इस्लामी राज्य कैसे स्थापित हुआ इस घटना की पृष्ठभूमि समझने के लिये आवश्यक है। उस समय भारत, वृहत्तर भारत, चीन, मध्य एशिया, ईरान पश्चिम एशिया (अरब, सीरिया, फलस्तीन, एशिया माइनर), मिश्र, उत्तरी अफ्रीका, यूरोप (ठेठ उत्तरी भागों को छोड़कर) इत्यादि देश सभ्य दुनियां में विशेष ज्ञात थे। अमेरिका देश, आस्ट्रेलिया एवं प्रशान्तमहासागर के द्वीप-समूह, इत्यादि सर्वथा अज्ञात थे। दक्षिण अफ्रीका अर्ध-ज्ञात था। इन ज्ञात प्रदेशों में कौन कौन सी जातियां बसी हुई थीं? यूरोप में प्राचीन रोम-साम्राज्य का पतन होचुका था—केवल बलकान प्रायद्वीप के देशों में और ग्रीस में उसकी परम्परा बनी हुई थी-ये सब ईसाई थे। पश्चिमी यूरोप में नार्डिक आर्य जातियों का यथा-ट्यूटीनिक, गोथ, डेन्स, केलटिक इत्यादि का प्रसार हो रहा था। (देखिये अध्याय ४१), धीरे धीरे उनके राज्य स्थापित हो रहे थे-और वे अपने आदि (Primitive) देव-पूजा के धर्म को छोड़कर धीरे धीरे सब ईसाई बन चुके थे-या बनते जारहे थे। फलस्तीन, सीरीया, एशिया-माइनर, मिश्र में

सेमेटिक उपजाति के प्रायः यहूदी, एवं ईसाई धर्मी लोगों का बास था। चीन सभ्य चीनी जाति का देश था। यह जाति प्राचीन कनफ्यूसीयस मत को मानने वाली थी, इसमें बौद्ध धर्म का भी प्रचलन होगया था। मंगोलिया, और मंगोलिया से लेकर सीधे पच्छिम में यूरोप तक हूण-तुर्क असभ्य लोगों का ताता बंधा हुआ था। भारतवर्ष में प्राचीन आर्य लोग थे-ये प्रायः वैदिक या पौराणिक हिन्दू थे, यहां बौद्ध धर्म और जैन धर्म का भी प्रचलन था। वृहतर भारत (सुमात्रा, जावा, कम्बुज (स्याम), हिंद-चीन, इत्यादि) में भी अधिकतर भारतीय आर्य बसे हुए थे जो वहां के आदि आग्नेय लोगों से हिलमिल चुके थे। आधुनिक अफगानिस्तान (काबुल, कंधार, गज़नी), एवं पामीर प्रदेश (काश्मीर के उत्तर में मध्य एशिया का भाग) प्रायः भारत के ही अंग माने जाते थे-और यहां भारतीय हिंदू राजाओं का राज्य था। पामीर के उत्तर में तुखारिस्तान, (मध्य एशिया) में शक जातियों के लोग (कृषिक, तुखार) बसे हुए थे, ये भी भारतीय आर्यों के सम्पर्क में आने से सभ्य होचुके थे, और वहां तिब्बती राजा होने लगे थे। इन भारत निकट प्रान्तों में—यथा तुखार प्रदेश, तिब्बत आदि में बौद्ध धर्म का प्रचार था। ईरान प्राचीन ईरानी-आर्यों का देश था—पारसी (जरथुस्त्र) उनका धर्म था।

७ वीं शती में प्रायः ज्ञात संसार की यह राजनैतिक,

धार्मिक व जातिगत विभाजन की संक्षिप्त रूपरेखा (Outline) खींच लेने के बाद, थोड़ासा यह भी यहां दुहरा लेना आवश्यक प्रतीत होता है कि ७वीं शती तक किन किन भारतेर जातियों के भारतीय आर्यों पर आक्रमण हुये थे और उनका क्या परिणाम हुआ था। सर्वप्रथम तो प्राचीन काल में ई. पू. ३२७ में ग्रीक अलक्सांदर महान का आक्रमण हुआ- वह पंजाब तक ही आकर लौट गया,-उसके पश्चात् अलक्सांदर द्वारा विजित भारत के समीपस्थ प्रांतों के ग्रीक शासक सेल्यूकस का भारत पर आक्रमण हुआ-किंतु तत्कालीन भारत सम्राट चन्द्रगुप्त मौर्य के हाथों उसकी करारी हार हुई। फलतः कोई स्थायी ग्रीक राज्य भारत में कायम नहीं हुआ परन्तु भारत समीपस्थ ग्रीक राज्यों के फलस्वरुप ग्रीक और भारत सभ्यता का, जो दोनों ही उच्च रुप से विकसित थीं, सम्पर्क बढ़ा, दोनों में पर्याप्त आदान प्रदान हुआ। जो कोई भी ग्रीक भारत में बस गये होंगे वे यहीं की सभ्यता और जीवन में समा गये।

तदुपरान्त ईसा की प्रथम शताब्दी में मध्य एशिया से शकों के (जो असभ्य आर्य ही थे-मंगोल या सेमेटिक उपजाति के नहीं) आक्रमण हुए, इन्हीं शक लोगों की एक शाखा के एक सरदार (देवपुत्र कनिष्क) का भारत के उत्तरी पच्छिमी भाग में साम्राज्य भी स्थापित हुआ। किंतु इसके बाद शक लोगों

का और कोई आक्रमण नहीं हुआ-और ये शक लोग जो आये और जिनका राज्य स्थापित हुआ, वे सब भारतीय आर्य जीवन और संस्कृति में घुल मिल गये।

इसके बाद ५ वीं शताब्दी के मध्य में क्रूर हूणों के (जो चीन के पच्छिम में मंगोल प्रदेश के मंगोलियन उपजाति के असभ्य लोग थे और जिन्होंने इन्हीं शताब्दियों में समस्त पूर्वीय यूरोप को भी आक्रान्त किया था) अनेक आक्रमण लगभग ५०-६० वर्षों तक उत्तर पच्छिम भारत में हुए-उन्होंने मध्यदेश तक भी भयङ्कर लूटमार मचाई-किन्तु उस समय मालवा के राजा यशोधर्मा और कुछ गुप्त-सम्राटों ने मिलकर छठी शताब्दी में उनको परास्त किया, और उनकी शक्ति का पूर्णतः दमन किया। यदि कुछ हूण भारत में रह गये होंगे तो उनको भी आर्य संस्कृति ने अपने में घोल लिया।

इसके बाद हम ७ वीं शताब्दी में आते हैं—अरब के सेमेटिक लोगों में इस्लाम धर्म का उदय हुआ। कई प्रदेशों को विजय करते हुए (जिसका विवरण हम अध्याय ३६ में दे चुके हैं) लगभग ई. सन् ६५० में सबसे पहिले अरब के मुसलमानों के भारत के पच्छिमी तट पर सामुद्रिक हमले हुए। अनेक हमले हुए-किन्तु स्थानीय हिन्दू राजाओं ने वे सब विफल कर दिये।

इसी समय अरबी मुसलमान ईरान विजय कर रहे थे। ईरान के आर्यन राजाओं को उन्होंने परास्त किया (६३६–३७ ई.) तदुपरान्त फिर उनकी दृष्टि सिन्ध की ओर गई। सिन्ध में उस समय हिन्दू राजा दाहिर था। खलीफाओं की ओर से अरबी मुसलमान सरदार जिसने सिन्ध पर आक्रमण किया (सन् ७१०–११) उसका नाम मुहम्मदइब्नकासिम था। हिन्दू राजा दाहिर वीरता से लड़ा, किन्तु अन्त में परास्त होगया, किन्तु फिर भी उसकी रानी ने कुछ सेना एकत्रित की–और जब तक बन सका आक्रमणकारियों का डटकर मुकाबला किया। अन्त में जब कोई आशा नहीं रही तो उसने बची हुई राजपूत स्त्रियों के साथ जौहर कर लिया। भारत में जौहर की यह पहली घटना थी। इस प्रकार सिन्ध पर ८ वीं शती के आरम्भ में अरब के मुसलमानों का राज्य हुआ–अरबों ने सिन्ध से आगे बढ़ने के भी भरसक प्रयत्न किये, किंतु वे सब विफल हुए। ६ वीं शती में अरब में खलीफाओं की शक्ति कम होगई--उनका साम्राज्य टुकड़े टुकड़े होगया। सिध में भी उनका शासन अधिक काल तक नहीं रहा। जो कुछ भी अरबी मुसलमान सिंध में बच गये, वे यहीं घुल मिल गये। सिंध में इन अरबी मुसलमानों की अल्पकालीन विजय से भारत के राजनैतिक क्षेत्र में कुछ भी बुनियादी हलचल नहीं हुई–किंतु हाँ इससे दुनिया के सांस्कृतिक क्षेत्र में अवश्य एक बुनियादी प्रभाव पड़ा। अरब लोग प्रारम्भ

में तो क्रूर थे, किंतु ईरान और भारत के सम्पर्क ने उनको शीघ्र ही सभ्य बना दिया था। खलीफा हाँरुनलरशीद के समय में (७८६–८०६) बगदाद में उसका दरबार भारतीय पंडितों से भरा था। अनेक अरब विद्यार्थी भारत में संस्कृत पढ़ने आए। संस्कृत के दर्शन, वैद्यक, ज्योतिष, गणित, इतिहास, काव्य, आदि के अनेक ग्रन्थों का अरबी में अनुवाद हुआ। और अरबों के द्वारा ही यह ज्ञान धीरे धीरे यूरोप में पहुँचा। इस प्रकार अरबों ने पच्छिम और पूर्व में ज्ञान प्रसार के लिये एक माध्यम का काम किया।

सीधे मूल अरबी मुसलमानों के आक्रमण से तो भारत में कोई भी राजकीय परिवर्तन नहीं हुआ--किंतु यह काम मध्य-एशिया के पठान और तुर्क लोगों द्वारा हुआ जो १० वीं ११ वीं शती में मुसलमान होगये थे।

ये पठान और तुर्क लोग कौन थे ? पठानः—भारत के पच्छिमोत्तर भाग में एवं मध्य एशिया के दक्षिण भागों में ईसा काल से कुछ पूर्व बसने वाले तुखार, लोगों का हम उल्लेख कर आये हैं, जो शक जाति के लोगों की ही श्रेणी के थे। ये सब लोग असभ्य आर्य ही थे। धीरे धीरे ये सब लोग बौद्ध या हिन्दू धर्मावलम्बी होगये थे, इन्हीं लोगों में पठान एक जाति थी। ये भी सब हिन्दू थे। वस्तुतः चन्द्रगुप्त एवं अशोक काल से

ही कुछ अरसे तक भारत के उपरोक्त ग्रीक और शक एवं हूण शासकों को छोड़कर उत्तर और पच्छिम प्रदेशों में भारतीय बौद्ध या हिन्दू राजाओं का ही राज्य रहा था। १० वीं ११ वीं शती में उपरोक्त पठान मुख्यतः अफगानिस्तान के गजनी और गोर के इलाकों में बसे हुए थे। इन इलाकों में ११ वीं सदी में तुर्क मुसलमान महमूद गजनवी राजा हुआ—और उसी काल में प्रायः अफगान हिन्दू (पठान) मुसलमान बने।

तुर्कः—मंगोलिया प्रदेश के प्रायः मंगोल उपजाति के असभ्य हूण लोगों का जिक्र पहिले (अध्याय ३८ में) हो चुका है— जिन्होंने समस्त पूर्वीय यूरोप, मध्य एशिया और यहां तक कि भारत के सीमावर्ती प्रदेशों में आफत ढ़ाई थी। इन्हीं हूण लोगों की एक शाखा तुर्क थी। इनका असली नाम असेना था और ५ वीं शताब्दी में ये लोग कान्सू प्रान्त में (मध्य एशिया के उत्तर में) एक पहाड़ के पास रहते थे। उस पहाड़ की शक्ल एक फौजी टोपी की सी थी, जिसे हूण भाषा में तुर्कु कहते हैं। इसी से वे लोग 'तुर्कु' या 'तुर्क' कहलाने लगे। ये ही तुर्क लोग मध्य एशिया और पच्छिम एशिया की ओर फैले और ईरानी और तुखार लोगों के सम्पर्क में आये। इन प्रदेशों में इनकी शक्ति भी बढ़ी, और कहीं कहीं इनके छोटे छोटे राज्य भी कायम हुए। जो तुर्क मध्य एशिया में आकर बस गये थे, धीरे धीरे उनमें बौद्ध धर्म का प्रवेश होरहा था

तुर्की भाषा में संस्कृत के कई ग्रन्थों के अनुवाद भी हुए। वास्तव में मध्य एशिया और पच्छिम एशिया में आकर जो तुर्क लोग बस गये थे,–अब वे पुराने हूण नहीं रहे थे–उनमें शकों-तुखारों और ईरानियों का आर्य खून पर्याप्त मिल चुका था। ८ वीं शती के प्रारम्भ में (७११) जब अरब सेनापति मुहम्मद बिन कासिम सिंध को जीत रहा था, उसी समय एक दूसरा अरब सेनापति कौतेबा (७०५–१४) मध्य एशिया में लड़ रहा था। उस समय तो चीनियों से मुकाबला होने पर अरबी मुसलमानों को सफलता नहीं मिली, किंतु उनके आक्रमण बराबर जारी रहे। ९ वीं शती के प्रारंभ तक उन्हें सफलता मिली, और काबुल और गजनी में उनका शासन स्थापित हुआ। ऐसा होने पर पहिले तो वे तुर्की लोग मुसलमान बने जो पच्छिमी भागों में बसे हुए थे फिर तुखारिस्तान के तुर्क १० वीं शती के अन्त तक मुसलमान हो गये। पहिले तो इन तुर्कों में जो सरदार लोग थे वे अरबों और ईरानियों के आधीन रहे–किन्तु बगदाद की खलीफ़ा-शक्ति का क्षय होने पर वे सिर उठाने लगे–और १० वीं एवं ११ वीं शति के प्रारंभ तक तो उनका एक ऐसा भयंकर बवंडर पच्छिम की ओर टूट कर पड़ा कि उन सब प्रान्तों में, यथा (पच्छिम एशिया, सीरीया आदि) जहां अरबी खलीफाओं की सत्ता थी, ये सर्वत्र फैल गये और स्वयं सत्ताधारी बन गये।

(देखिये अध्याय ३८)।

इसी सिलसिले में और इसी काल में अल्पतगीन नामक एक तुर्क ने गजनी में एक छोटे से राज्य की नींव डाली। यह राज्य धीरे धीरे विस्तृत हुआ, यहां तक की उसके पोते महमूद गजनवी (९९७-१०२९) के समय में यह राज्य पच्छिम में कास्पियन सागर तक फैला। इसी महमूद गजनवी ने, कहते हैं भारत पर (पंजाब में) १७ आक्रमण किये, जिनमें अन्तिम आक्रमण १०२३ ई. में सौराष्ट्र के प्रसिद्ध सोमनाथ मंदिर पर हुआ, और वह भारत से अटूट धन माल लूट कर अपनी राजधानी गजनी ले गया, जहां उसने अनेक भव्य महल और मसजिदें बनवाईं। भारत के पच्छिमोत्तर कुछ जिले महमूद राज्य के अंतर्गत हो गये किंतु पंजाब के हिन्दू राजाओं के उससे बराबर लड़ते रहने के कारण पंजाब या भारत के किसी भाग पर उसकी राज्य-सत्ता स्थापित न हो सकी। इसके दरबार में अल्वेरुनी नामक एक विद्वान था जिसने पेशावर और मुल्तान के पंडितों से संस्कृत पढ़ी, और भारतवर्ष के विषय में एक बड़ा ग्रन्थ लिखा।

इस प्रकार लगभग सन् १००० ई. से प्रारम्भ होकर लगभग दो सौ वर्षों तक तो यही सिलसिला जारी रहा कि मुसलमान आक्रमक आते थे और केवल लूटमार करके चले जाते थे। स्थायी मुसलमान राज्य भारत में शहाबुद्दीन गोरी ने

स्थापित किया। उपरोक्त गजनी का तुर्क राज्य महमूद के बाद धीरे धीरे क्षीण हो गया था-गजनी से कुछ दूर गौर नामक प्रदेश के अलाउद्दीन नामक एक पठान सरदार ने गजनी पर आक्रमण किया-७ दिन तक गजनी को खूब लूटा और उसे जला कर खाक कर दिया। इसी अलाउद्दीन का बेटा शहाबुद्दीन गोरी था जो ११८६ ई. में अपने पिता उलाउद्दीन की मृत्यु के बाद गौर और गजनी का शासक बना। शहाबुद्दीन ने भारत जीतने का संकल्प किया। जब शहाबुद्दीन गोरी हिन्दुस्तान पर विजय करने के विचार में था उस समय समस्त उत्तरी भारत राजपूत राज्यों में विभाजित था (जिनका उल्लेख पहिले हो चुका है)। इन राज्यों में कहीं भी इस समझ और भावना वाले शासक नहीं थे और किन्हीं में भी यह राजनैतिक चेतना नहीं थी कि जो देखते कि उनके राज्य के बाहर भी, उनके देश के बाहर भी कुछ शक्तियां हैं, जिनका कुछ महत्व हो सकता है और जिनकी वजह से कुछ ऐसी हलचल पैदा हो सकती है जिनके भावी परिणाम की उन्हें कल्पना भी न हो। केवल शासक ही इस राजनैतिक और सामाजिक जागरुकता और दूरदर्शिता से हीन नहीं थे—उस समय की प्रजा भी सामाजिक और राजनैतिक चेतनता से सर्वथा विहीन थी। उन सबकी दृष्टि इतनी संकीर्ण हो चुकी थी कि वे अपने घर की चहार दीवारी के बाहर देख ही नहीं पाते थे। एक अजीब मानसिक एवं बौद्धिक शिथिलता

उनमें घर कर चुकी थी– पुरानी लकीर पर चलने के अतिरिक्त कोई दूर की या नई चीज उन्हें सूझती ही नहीं थी। दृष्टि शून्यता तो थी ही, साथ ही किसी भी प्रकार के व्यवस्थित, संगठित, सामाजिक एवं राजनैतिक जीवन के लिये कार्य शून्यता भी।

ऐसी परिस्थितियों में शाहबुद्दीन गोरी के भारत पर आक्रमण प्रारम्भ हुए। ११८६ ई. तक उसने मुल्तान, लाहोर और सीमा–प्रान्त अपने अधिकार में कर लिये। सन् ११९२ ई. में उसने दिल्ली के चौहान शासक पृथ्वीराज को पानीपत के पास तरावड़ी के मैदान में परास्त किया, और इस प्रकार दिल्ली पर उसका अधिकार हुआ। फिर ११९४ में कन्नौज पर आक्रमण हुआ, और वह राज्य भी जीत लिया गया। इसके पश्चात् गोरी के सेनापतियों ने ग्वालियर, कालिंजर, अजमेर,–और फिर ११९७ में अवध, बंगाल और बिहार प्रदेशों को जीता। इस प्रकार उत्तर भारत में इस्लामी सल्तनत क़ायम हुई। शहाबुद्दीन अपने सेवक (गुलाम) कुतबुद्दीन को जो तुर्क था, भारत में हस्तगत किये प्रान्तों का शासक बनाकर गजनी की ओर लौटा जहां १२०६ में उसकी मृत्यु हुई। कुतुबुद्दीन भारत में विजित प्रान्तों का सन् १२०६ में बादशाह बना–वह और उसके उत्तराधिकारी गुलाम वंश के बादशाह कहलाये। इस प्रकार सन् १२०६ ई. से भारत में इस्लामी बादशाहत प्रारम्भ हुई।

सन् १२०६ ई. से १५२६ ई. तक अर्थात् लगभग ३०० वर्षों तक भिन्न भिन्न वंशों के (यथा गुलाम, खिजली, तुगलक एवं लोदी) मुसलमान बादशाहों ने भारत में राज्य किया। इसका यह अर्थ नहीं कि इन ३०० वर्षों में भारत में कोई भी स्वतन्त्र हिन्दू राज्य रहे ही नहीं। केवल खिलजी वंश के बादशाहों के जमाने में (१२८०--१३२५) भारत का यह तुर्क राज्य अपनी चरम सीमा पर था--जब सुदूर दक्षिण के कुछ भागों को छोड़कर समस्त भारत दिल्ली की सल्तनत के आधीन था। प्रायः इन कुछ वर्षों को छोड़कर उत्तर भारत के प्रान्तों में यथा काश्मीर में, राजपूताना में, दक्षिण के अनेक प्रान्तों में स्वतन्त्र हिन्दू राज्य क़ायम थे। इसके अतिरिक्त जब कभी-कभी दिल्ली की सल्तनत कमजोर पड़ जाती थी तो प्रान्तीय मुसलमान शासक भी अपने आपको स्वतन्त्र घोषित कर देते थे। इन ३०० वर्षों का राजनैतिक इतिहास इन्हीं दो विशेषताओं का बना हुआ है:—कि केन्द्रीय बादशाहों का राज्यकाल प्रायः, हिन्दू राजाओं या प्रान्तीय मुसलमान शासकों के साथ लड़ने में बीतता था, और केन्द्रीय बादशाहत के लिये सम्बन्धियों में चाल बाजियां चलती रहती थीं।

इसी युग में सन् १३९८ में मंगोल तुर्क तैमूरलङ्ग का भारत पर आक्रमण हुआ-कौन ये मंगोल लोग थे-इसका उल्लेख

अन्यत्र हो चुका है। उस समय देहली के सिंहासन पर महमूद तुग़लक था। तैमूर भयंकर आतंककारी मनुष्य था। पंजाब को पदाक्रांन्त करता हुआ वह देहली पर आया, तीन दिन तक खूब लूटमार की, खुले आम लोगों को बध किया-इस प्रकार हजारों निरपराध नर नारी मारे गये। अंत में असंख्य कैदियों और लूट का धन लेकर वह वापस मध्य एशिया लौट गया-केवल लूटमार करने ही वह भारत आया था। किन्तु उसके पीछे दिल्ली सिंहासन के टांके उघड़ गये और प्रायः समस्त देश स्वतन्त्र प्रादेशिक राज्यों में विभक्त हो गया। अब तुर्क सरदारों में दिल्ली का शासन मानने की प्रवृति नहीं थी, डेढ़ शताब्दी में वे भारतवर्ष के विभिन्न प्राँन्तों से परिचित हो चुके थे और भारत के बन चुके थे। प्रत्येक प्राँत में कुछ लोग मुसलमान हो चुके थे और बाहर से आये हुए तुर्क उनमें घुल मिल गये थे। अब जब वे अपने अपने प्रदेश में नि-शंकता से राज्य खड़े कर सकते थे तो किसी भी केन्द्रीय शासक की आधीनता मानने की वे जरुरत नहीं समझते थे। इसी प्रकार अनेक हिंदू राज्य भी स्वतन्त्र होगये। इस प्रकार १५वीं शती का (१३४८-१५०४) भारत का इतिहास प्रादेशिक राज्यों का इतिहास है। मुख्य प्रादेशिक राज्य ये थे–मेवाड़, राजपूत राणाओं का; बंगाल, जौनपुर, मालवा, गुजरात, तुर्क सरदारों (सुल्तानों) के। दक्षिण भारत में दो महत्वशाली राज्य हुए,-एक

मुसलमान बहमनी राज्य जिसका विस्तार आधुनिक बम्बई प्राँत और हैदराबाद तक की सीमाओं तक था, दूसरा हिन्दू विजयनगर राज्य।

१२०० से १५२६ ई. तक भारतीय जीवन

यह ३०० वर्षों का भारतीय इतिहास का मध्य काल, पठान या तुर्क राज्य-काल, हिंदू सभ्यता की अधोगति का युग था। सचमुच यह देखकर आश्चर्य हो सकता है कि किस प्रकार मुसलमानी राज्य स्थापित होने के पूर्व समस्त देश के अंदर आर्य राजाओं का राज्य होने पर भी एक विदेशी आक्रमक का अधिकार दिल्ली पर होकर प्रायः समूचे भारत में फैल गया। इस घटना को समझाने के लिये प्रायः यह कहा जाता है कि ठंडे देशों के निवासी और माँसहारी होने की वजह से मुसलमान हिन्दुओं से अधिक हृष्ट-पुष्ट थे; हिन्दू राजा युद्ध में अपने मंद हाथियों पर भरोसा करते थे जो फुर्तीले तुर्क घुड़सवारों के मुक़ाबले में नहीं ठहरते थे, एवं हिन्दुओं में एकता नहीं थी। इन बातों में तथ्य नहीं है। जैसा ऊपर निर्देशित किया जा चुका है, इस पराजय का कारण था हिन्दू राजाओं और हिन्दू प्रजा के राजनैतिक जीवन की मंदता, उनकी दृष्टि संकीर्णता, एवं उदार सामाजिकता का अभाव। "सच बात तो यह है कि यदि हिन्दूओं का राजनैतिक जीवन मन्द न होगया होता

तो एक एक हिन्दू राज्य अकेले ही शत्रु का मुकाबला कर सकता था"। मुसलमानों का राज्य पक्की तरह स्थापित हो जाने के बाद भी अनेक स्वतन्त्र हिन्दू राज्य थे। यदि उनमें राजनैतिक सचेष्टता और जागरुकता होती तो वे एक बड़ी शक्ति संगठित कर सकते थे। न जाने क्यों सामाजिक भावना का नितान्त अभाव हो गया था। यहां तक कहा जा सकता है कि यदि तुर्की का राज्य भारत में स्थापित नहीं होता तो जहां तहां छोटे मोटे सरदारों और राजाओं की अनगिनत रियासतें खड़ी होगई होती और देश में कहीं भी एक सूत्रता का पता नहीं लगता।— इसके विपरीत मुसलमान मानों एक जाति के लोगों का दल था, जिनकी भाषा, जिनका आचार, रहन सहन, मजहब सब एक:- उनमें नया जोश और नई उमंग थी,-सामाजिक मिलन जुलन में कोई भेदभाव कोई अंतर नहीं था;—और जहां जातीयता का प्रश्न होता है एक साथ संगठित होकर काम करने की क्षमता अपने आप आ जाती है।

"हिन्दू राजाओं ने जितनी लड़ाइयाँ लड़ीं—वे सब अपनी रक्षा के लिये थीं। कभी उन्हें आगे बढ़कर शत्रु पर चढ़ाई करने की नहीं सूझी। मुसलमान बादशाह यदि हमलों में हारे भी तो उन्हें अपने राज्य का कोई हिस्सा नहीं देना पड़ा, और यदि हिन्दू राजा उनके मुकाबले में जीते भी तो

अधिक से अधिक अपना घर बचाने में ही सफल हुए।" राजपूतों की जिस वीरता की बड़ी प्रशंसा की जाती है, वह वीरता सदा रक्षापरक युद्धों में ही प्रकट हुई। वह अपना अंत निकट देख निराश होकर मरने मारने पर तुले हुए आदमियों की वीरता होती थी। उसमें महत्त्वाकांक्षा की वह प्रेरणा, विशाल दृष्टि का वह स्वप्न, वह ऊंची साधकभी न होती थी जो मनुष्यों को नई भूमियां खोजने और जीतने के ख़तरे उठाने के लिये आगे बढ़ाती है। बेशक, कायर बनकर आधीनता मानने की अपेक्षा वैसी वीरता की मौत मरना भी अच्छा था। किन्तु वह बहादुरी का मरना ही था, बहादुरी का जीना नहीं कहा जा सकता।" (जयचन्द्र) साथ ही साथ इस युग में राजपूत रमणियों के चमत्कारिक "जौहर" व्रत के कई उदाहरण सामने आते हैं। जब राजपूत मुसलमानों से लड़ते लड़ते ऐसी स्थिति में आ जाते थे कि उनकी विजय असंभव हो—तब वे केसरिया बाना पहनकर अपनी स्त्रियों को अन्तिम दर्शन दे युद्ध में धधकती अग्नि की लपटों की तरह फैल जाते थे-और वहीं अँतिम बार चमक कर भस्मीभूत हो जाते थे। साथ साथ दूसरी ओर राजपूत रमणियाँ अपने पति के पीछे अग्नि चिता प्रज्वलित कर मौन अपने आप को उसी में भस्मीभूत कर लेती थीं। विश्व इतिहास में मानवी जीवन के ऐसे चमत्कारिक दृश्य और कहीं देखनें को नहीं मिलते।

भारतीय उपनिवेशों का अन्त:– हिन्दू राज्य—काल के मध्य काल तक अर्थात् १२०० ई. तक, बृहत्तर भारत (सुमात्रा, जावा, हिन्द चीन, इत्यादि) में भारतीयों के उपनिवेशों का जिक्र हम कर आये हैं। पठान राज्य काल से अर्थात् १३ वीं शताब्दी से हिन्दू जन कूप-मँडूक के समान हुए-तभी से उनका संबंध इन सब उपनिवेशों से प्राय: सर्वथा टूट गया-और कुछ ही वर्षों में भारत यह भूल भी गया कि कभी उसका संबन्ध इन प्रदेशों से था भी कि नहीं।

सामंतशाही- इसी काल से भारत में भू स्वत्व की एक नई प्रणाली चल पड़ी। वह नई प्रणाली थी सामंतशाही। अब तक कृषक अपनी उस भूमि का जिस पर वह कृषि करता था स्वयं स्वामी समझा जाता था। अब मध्य युग से यह होने लगा कि जो तुर्क या अन्य विजेता आते थे वे विजय के बाद जमीन आपस में बांट लेते थे या मुसलमान बादशाह विजेता अपने सामन्तों या सरदारों को जमीन या कहिये जागीरें बाँट देता था। तो मानों अब जमीन का मालिक बादशाह हुआ न कि किसान--या जमीन के मालिक वे सामन्त या सरदार हुए जिन्हें बादशाह जमीन दे देता था। प्राय: ऐसी ही सामन्तशाही का प्रचलन यूरोप में भी, मध्य युग में हुआ।

सामाजिक जीवनः— इस्लामी आक्रमण के प्रारंभ में प्रायः दो शताब्दियों तक तो इस्लाम एक विदेशी तत्व के समान रहा। किंतु १५ वीं शती से प्रादेशिक मुस्लिम राज्यों की स्थापना के साथ साथ इस्लाम भी भारत में विदेशी न रहा। तुर्क लोग तब तक भारतीय हो चुके थे और बहुत भारतीय भी मुसलमान हो चुके थे। लोदी और अन्य पठान, भारतीय मुसलमान-अर्थात् हिन्दू से बने मुसलमान थे-वे विदेश के लोग नहीं थे और वास्तव में इस्लाम का उग्र प्रचार उन्हीं मुसलमानों ने किया था जो हिन्दू से बने मुसलमान थे,-न की मूल तुर्की मुसलमानों ने। हिन्दू कालीन मध्य युग में जांत पांत का विकास हो चुका था, और विवाह, खान पान इत्यादि पर कड़े बंधन लग चुके थे। इस मध्य युग में वे और भी कड़े और परिपुष्ट हुए। वास्तव में बजाय इसके कि हिन्दू लोग अपने आचार विचार के अवरुद्ध द्वार खोलते, जीवन में कुछ साहस, उदारता और जिंदादिली बरतते, शुद्ध स्वतन्त्र वायु को अपने जीवन में प्रवाहित होने देते कि जिससे वे नई इस इस्लामी हलचल को भी अपने में समा-जाते, जैसे वे ग्रीक, शक और हूणों को अपने में समा गये थे,-वे दिन प्रति दिन अधिक से अधिक संकीर्ण होते गये और अपने आप में ही सिकुड़ते गये-उनके लिए जांत पांत, खान पान, पाठ पूजा और अपने धर्माचारों से बाहर कुछ नहीं बचा था, इसके साथ साथ परदा और बाल विवाह, जड़पूजा, वाम-

मार्ग और अन्धविश्वास, तथा कथित सिद्धों की असाधारण सिद्धियों में विश्वास–ये सब बातें हिन्दू मानस में बहुत दृढ हो गई थीं। इस प्रवृत्ति के खिलाफ एक सुधार की लहर भी चली थी। वह लहर मुख्यतः संत लोगों ने चलाई थी जो प्रायः वैष्णव भक्त थे। इन लोगों ने बाह्याडंबरों, जाति पांति के भेद भावों, पूजा पाठों की बात छोड़कर केवल शुद्ध भक्ति भाव, प्रेम और अन्तः करण की शुद्धता पर जोर दिया। मध्य एशिया और ईरान में वैष्णव धर्म के सम्पर्क से इस्लाम में भी एक रहस्यवाद चला जिसके अनुभूति–कर्त्ता सूफी कहे जाते थे। इस काल में ईरान में एक प्रसिद्ध सूफी कवि हुआ जिसका नाम हाफिजा था–जिसके काव्य का प्रभाव फारसी भाषा भाषियों पर अब भी है। प्रेम और मधुर भक्ति-भावना की अनुभूति जन जन में कराने में सफल इस काल में कई महान महात्मा हुए-यथा रामानन्द जिसने कृष्ण को छोड़ राम-भक्ति को अपनाया-महात्मा कबीर, गुरु नानक, (१४६८-१५३८), राजपूताना में दादूदयाल और मीरा (१४६८–१५४६),–बंगाल में चैतन्य महाप्रभु (१४८५–१५३३); महाराष्ट्र में नामदेव । इन सब भक्तों का धर्म अनुभूति-परक था, आचारपरक नहीं–ये सब स्वयं अनुभूत बात कहते थे; "अनुभव गावे सो रागी है"–शास्त्र में पढ़ी लिखी बात नहीं। इनकी वाणी मधुर कविता की अजस्र धारा में बहकर निकलती थी जो मानव हृदय को आप्लावित कर देती थी–जो

आज भी मानव हृदय को मस्त कर देती है। उस युग के जीवन में यदि कहीं सौन्दर्य था तो बस यहीं–मानव मात्र की अमर बात वे कहते थे—व्यक्ति विशेष, धर्म विशेष, जाति विशेष की नहीं।

कला कौशल:—वास्तव में १४ वीं १५ वीं शती में प्रादेशिक राज्यों में ही कला-कौशल, साहित्य की विशेष उन्नति हुई। दिल्ली में जो कुतुबमीनार है वह प्रथम मुसलमान बादशाह कुतुबुद्दीन की बनवाई हुई मानी जाती है। उस काल के प्रादेशिक हिन्दू व मुसलमान शासकों ने अनेक भवन, लाट, मस्जिदें, मन्दिर, बनवाये जो उस काल की वस्तुकला के भव्य स्मारक हैं, जो विशेषतः मालवा, गुजरात और दक्षिण में मिलते हैं। मूर्तिकला का इस युग में ह्रास हुआ।

भाषा एवं साहित्य- जिन तुर्क मुसलमानों का आधिपत्य भारत पर हुआ, पहिले ईरानी प्रभाव के सम्पर्क से उनकी भाषा फारसी थी। मुसलमानी शासन-काल में फारसी भाषाओं द्वारा समस्त राज्य-कार्य किये जाने लगे। मुस्लिम दरबारों के इतिहास भी फारसी में लिखे जाते थे। अतः संस्कृत का प्रचलन कम हुआ–किन्तु हिन्दू राज्यों में हिन्दू शास्त्रों और भाषा की रक्षा होती रही। दक्षिण के हिन्दू राज्य विजयनगर में दो बड़े विद्वान् हुए–माधवाचार्य और सायणाचार्य। इन्होंने सँस्कृत पुस्तकों के अनुवाद, सम्पादन और प्रकाशन के लिये एक मँडल

बनाया था जिसमें बड़े बड़े पंडित काम करते थे। सायणाचार्य द्वारा सम्पादित वेद ही आज वेदों के पाठ (Texts) के आधार हैं। याद रखना चाहिये कि यह सब काम हस्तलिखित होता था। इस समय सँस्कृत का स्थान देशी भाषा ने ले लिया, देशी-भाषाओं और साहित्य को प्रादेशिक राज्यों में खूब प्रोत्साहन मिला। मलिक खुसरो (१२५३–१३२५) ने खड़ी बोली में सब से पहले कविता की। बंगला भाषा में प्रसिद्ध कवि चंडीदास, मैथिल भाषा में विद्यापति, इसी काल में हुए। बंगाल के प्रादेशिक मुसलमान शाहों ने बंगला में भागवत और महाभारत के अनुवाद करवाये। १३ वीं सदी के तामिल कवि कम्ब की रामायण तथा प्रसिद्ध कवियित्री आण्डाल के गीत भारतीय साहित्य के उज्जवल रत्न हैं। भक्त कवियित्री मीरा, कवि कबीर और दादू का नाम पहिले ही लिया जा चुका है–इन सब की सौन्दर्यमयी कृतियों से हिन्दी भाषा और साहित्य की अपूर्व समृद्धि हुई। वास्तव में हिन्दू हो या मुसलमान, उस समय सर्व साधारण की बोली प्रादेशिक देशी भाषायें ही थीं–न तो फारसी और न संस्कृत।

इसी भारतीय मध्य युग (१२००–१५२६) की तुलना हम यूरोप के मध्य युग (८००–१४५० लगभग) से कर सकते हैं। सभ्यता की दृष्टि से देखें तो भारत यूरोप से अनेक गुणा उन्नत

स्थिति में था, किन्तु दोनों जगह राजनैतिक दृष्टि से सामन्तशाही थी,—बुद्धि का द्वार अवरुद्ध था—धर्म में आडम्बर और संकीर्णता विशेष थी। यूरोप के लिये तो ऐसा होना स्वाभाविक था, क्योंकि वह तो असभ्य स्थिति में से धीरे धीरे विकास कर रहा था, उसकी कोई प्राचीन परम्परा या सँस्कृति नहीं थी। किन्तु भारत में ऐसा सँकीर्ण युग आया, ऐसा अप्रतिशील युग आया, यह आश्चर्य-जनक घटना अवश्य है, क्योंकि इस देश के पीछे तो हजारों वर्षों की भव्य और उदात्त परम्परा और सँस्कृति थी। वास्तव में भारतीय इतना शिथिल और स्थिर हो चुका था, कि जब १५ वीं शती के मध्य से यूरोप ने तो करवट बदली भी—और करवट बदल कर, सहसा जागृत होकर ऐसा खड़ा हुआ और प्रगति-पथ पर अग्रसर हुआ कि कल्पनातीत ज्ञान का अबाध गति से वह सम्पादन करता गया,—भारत प्रायः २० वीं शती के प्रारम्भ तक वहीं रहा जहां वह हिन्दू या इस्लामी मध्य-युग में था। यूरोपीय मानव की उपरोक्त जागृति के फलस्वरूप पुर्तगाली (यूरोप) नाविक वास्को-द-गामा अफ्रीका का चक्कर काटता हुआ १४९८ ई. में भारत के पच्छिमी तट (मलाबार तट) पर स्थित कालीकट बन्दर आ पहुँचा। पुर्तगालियों ने वहाँ व्यापार प्रारम्भ किया—कई व्यापारिक कोठियाँ खोलीं। १५०३ में कोचीन में अपनी कोठी की किलाबन्दी की। फिर १५१० में बीजापुर राज्य से गोआ छीना और उसे अपने व्यापारिक क्षेत्र

की राजधानी बनाया। आधुनिक काल में पच्छिम का भारत से यह प्रथम सम्पर्क था—यहीं से भारत पर यूरोप की प्रभुता स्थापित होने का श्रीगणेश समझना चाहिये।

४२

यूरोप में मध्य युग

आधुनिक इतिहासकारों ने ई. सन् की लगभग ६ठी शताब्दी से प्राय: १५वीं शताब्दी तक के काल को मध्य युग माना है।

प्राचीन रोमन साम्राज्य के पतन के बाद यूरोप में जिस जीवन, जीवन के रहन सहन, जीवन की गति विधि का विकास यूरोप में सर्वत्र फैलती हुई और बसती हुई नवागन्तुक नोर्डिक जातियों में होरहा था-वह ग्रीक और रोमन जीवन से सर्वथा भिन्न था, यूं कहना चाहिये एक नई सभ्यता का विकास होरहा था-धीरे धीरे उस नई सभ्यता का जो आधुनिक यूरोपीय सभ्यता की (Forerunner) थी।

मानव जाति के इतिहास को एक सतत प्रवाहित धारा के समान समझना चाहिये। उस धारा में कहीं रोक-टोक होसकती

है, उसकी दिशा में परिवर्तन होसकता है, किन्तु वह धारा कभी टूटती नहीं,-इसलिये जब कहा जाता है कि यूरोप में एक नई सभ्यता का विकास होने लगा, तो हमें यह नही समझ लेना चाहिये कि पहिले से बहती आती हुई जीवन की धारा से सर्वथा पृथक कोई दूसरी धारा ही प्रवाहित होने लग गई थी-किन्तु यही समझना चाहिये कि उस आदि धारा में ही कोई नया गुण, कोई नई दशा उत्पन्न होगई थी,-उस आदि धारा के गुण नई सभ्यता को प्रभावित करते रह सकते थे-या कुछ काल तक लुप्त होकर फिर प्रकट होसकते थे।

मध्य युग का व्यक्तिगत, सामाजिक एवं जो कुछ भी राजनैतिक जीवन है वह समस्त मुख्यतया दो संस्थाओं (Institutions) से प्रभावित है, और उन्हीं दो बातों से सीमित भी। वे हैं-सामन्तवाद (Feudalism) और ईसाई धर्म। इन्हीं दो बातों के इर्द गिर्द मध्य युग का जीवन घूमता रहा था।

यूरोप के लोगों में जब तक राष्ट्रीय भावना का जन्म नहीं हो पाया था। समस्त यूरोप भिन्न भिन्न सामंती ठिकानों (Dukedoms) का बना प्रायः एक ईसाई राज्य था। यूरोप में लोगों की गणना इस आधार पर प्रायः नहीं होती थी कि अमुक लोग अंग्रेज हैं, अमुक जर्मन, अमुक फ्रान्सीसी, अमुक

स्पेनिश, अमुक डच, अमुक ग्रीक इत्यादि इत्यादि। वस्तुतः भिन्न भिन्न राष्ट्रीय राज्यों की स्थापना होने में एवं कट्टर राष्ट्रीय भावना जागृत होने में अभी प्रायः एक हजार वर्षों की देर थी। राष्ट्रीय भावना का स्पष्ट विकास यूरोप में सोहलवीं शताब्दी से होने लगा।

सामन्तवाद–संगठित राज्य और समाज ध्वस्त होचुके थे। नई जातियां आरही थी, लूटमार करती थीं और धीरे धीरे अपनी बस्तियाँ बसा कर बस रही थीं। समाज में कोई व्यवस्था नहीं थी, प्राण और धन के रक्षार्थ कोई संगठन नहीं था। गड़बड़ी और लूटमार का समय था। कोई भी शक्तिशाली व्यक्ति, अपनी शक्ति और अपने साथियों की सहायता के बल पर किसी भी भूमि का मालिक बन बैठता था-और कोई पक्का किला बनवाकर उसमें शरण लेता था। ऐसे बहुत से किले उस काल में बन गये थे। ऐसी अवस्था में से धीरे धीरे संगठित राज्य का विकास होने लगा। उस जमाने की उपरोक्त परिस्थितियों में यह होने लगा कि जो सबसे कमजोर था वह समीपस्थ अपने से अधिक शक्तिशाली व्यक्ति की शरण में जाने लगा और वह शक्तिशाली व्यक्ति अपनी रक्षा के लिये किसी अन्य अपने से अधिक शक्तिशाली व्यक्ति की शरण में जाने लगा और इस प्रकार रक्षित और रक्षक इन दो सम्बन्धों वाले व्यक्तियों की शृंखला सी बन गई।

इस शृंखला में सबसे नीचे तो थे किसान। वे किसान लूटमार से बचने के लिये अपने पड़ोसी किसी सरदार की शरण लेते थे जो अपनी शक्ति से अपने कुछ साथियों के साथ किसी किले या विशेष भूमि का मालिक बनकर बैठ जाता था। यह सरदार किसी अन्य बड़े सरदार की शरण लेता था। और वह सरदार अन्त में किसी राजा की इस प्रकार बहुत अंशों तक एक संगठित सामाजिक प्रणाली का विकास हो रहा था और उस प्रणाली की परम्परायें, नियम और रस्म रिवाज स्थापित हो रहे थे। राजा सब भूमि का स्वामी समझा जाता था और इस दुनियां में ईश्वर का प्रतिनिधी। राजा अपनी यह भूमि अपने आधीन या साथी सरदारों को दे देता था, जो सामन्त या बड़े भूपति जमीदार कहलाते थे। इस भूमि के बदले जो राजा से मिलती थी, सामन्तों को, जब कभी भी राजा चाहता, अपनी सेनाओं सहित राजा के पास उपस्थित होना पड़ता था—किसी बाहरी दुश्मन से राज्य की रक्षा करने के लिये। ये बड़े बड़े सामन्त अपनी जमीन छोटे छोटे सामन्तों या जमीनदारों को दे देते थे, और वे छोटे छोटे जमीनदार भूमि को जोतने और खेती करने के लिये अपनी भूमि किसानों को दे देते थे। किसान यह मान्यता रखकर कि यह भूमि तो उसे जमीनदार या राजा से मिली है, इसके बदले सामन्त को जमीन की उपज का कुछ भाग दे देता था। सामन्त लोगों का किसानों पर पूरा अधिकार रहता था और

उपज का विशेष भाग वे ले जाते थे। किसान लोग सर्फ कहलाते थे और वह भूमि जहां वे बसे हुए होते थे और जिसे वे जोतते थे फीफ (Fief) कहलाती थी। सामन्त की ओर से यदि और कोई भी चीज जैसे पवन-चक्की इत्यादि, किसी व्यक्ति को चलाने के लिये मिली होती थी, वह भी फीफ कहलाती थी और उसके बदले में सामन्त को लाभ का पर्याप्त भाग मिलता था। जैसा ऊपर कह आये हैं यह फीफ सामन्त अथवा राजा की देन समझी जाती थी। जब तक किसान भूमि की उपज का हिस्सा सामन्त को देता रहता, एवं उस सामन्त के लिये मजदूरी का या अन्य कोई काम जो सामन्त कहता करता रहता, तब तक वह जमीन उसके पास रहती थी अन्यथा छीनी जा सकती थी। सर्फ का यह धर्म था कि वह सामन्त की सेवा करे और सामन्त का यह धर्म था कि वह सर्फ की रक्षा करे। इसी तरह आगे बढ़कर सामन्तों का राजा के प्रति यह धर्म था कि उनकी सेवायें राजा के लिये उपस्थित रहें क्योंकि राजा ने ही उनको सामन्त या जमींनदार बनाया था। सामन्तों को राजा के प्रति पूर्ण स्वामी-भक्ति, युद्ध काल में वीरता और त्याग की भावना का विचार रखना पड़ता था। इस संगठन की भावना तो कम से कम यही थी, यद्यपि व्यवहार में इसके विपरीत भी उदाहरण मिलते हैं। ऐसे सम्बन्ध की परम्परा इन नोर्डिक आर्य लोगों में प्राचीन काल से ही चली आती थी। उत्पादन के साधन भी वही थे:—भूमि

हल, बैल, वर्षा, कुए, नदी—जो सैकड़ों वर्षों से चले आरहे थे। रहने के लिये मिट्टी, घास, फूस के कच्चे मकान और जहां पत्थर सरलता से उपलब्ध होता वहां पत्थर के मकान, सामन्त के किले के चारों ओर बन जाते थे—और इस तरह गांवों का विकास और उनकी वृद्धि होती चलती थी।

ऊपर जिस संगठन का वर्णन किया गया है वही सामन्तवाद (Feudalism) कहलाता है। प्राय: ऐसा संगठन मध्य युग में यूरोप में सर्वत्र विकसित हुआ था—स्थानीय विभिन्नतायें तो होती ही थी। यह संगठन, इसके नियम, इसकी विधियाँ, लिखकर निश्चित नहीं की गई थीं, किन्तु उस काल की परिस्थितियों में भिन्न भिन्न प्रदेशों में अपनी स्थानीय विशेषताओं के साथ ऐसा संगठन अपने आप विकसित हो गया और उसकी अपनी ही कुछ परम्परायें बन गई थीं। उन दिनों, जमीन जोतना और खेती करना ये ही मुख्य काम थे। अतएव भूमि के आधार पर ही उपरोक्त प्रकार से आर्थिक जीवन का संगठन हुआ।

उस काल में सामन्तवादी संगठन भारत में भी प्रचलित था किन्तु यूरोपीय और भारतीय सामन्तवाद में एक बुनियादी फर्क था। भारत में खेती करने योग्य विशाल भूमि पड़ी थी।

अतएव जो लोग जिस ओर जितनीं भूमि पर खेती करने लग गये थे वह भूमि उन्हीं किसानों की मानी जानें लगी थी। परम्परा से या सिद्धान्तया राजा भूमि का स्वामी नहीं समझा जाता था। किन्तु राजा का एक अधिकार सर्वथा मान्य था। वह यह कि जो कोई भी खेती करे उसकी उपज के कुछ अंश पर राजा का अधिकार होता था, और किसान को उपज का कुछ भाग या उस भाग जितना रुपयों में मूल्य राजा के पास जमा करा देना पड़ता था। राजा का भाग पैदावार का प्रायः दसवें हिस्से से छठे हिस्से तक होता था। राज्य की मुख्यतया एकमात्र आय भूमि का लगान होती थी। छोटे छोटे भू-भाग सामन्तों के आधीन होते थे और ये सामन्त अन्त में एक राजा के आधीन होते थे। सामन्त लोगों का सम्बन्ध राजा के प्रति स्वामी भक्ति-पूर्ण होता था और वे राजा को वार्षिक भेंट दिया करते थे एवं युद्धकाल में अपनीं सेना से राजा की सहायता करते थे। इन सब बातों में लिखित नियम का इतना बन्धन नहीं था जितना रूढि और परम्परागत भावनाओं का। तो हमनें देखा कि उस युग में यूरोप में राजा भूमि का सम्पूर्ण सार्वभौम (Absolute) स्वामी माना जाता था और भारत में भूमि पर सम्पूर्ण (Absolute) स्वामीत्व किसी का नहीं था:—जब तक किसान उचित लगान राजा को देता रहे तब तक वह उस भूमि का स्वामी है और उसको वहां से कोई नहीं हटा सकता।

चीन में सब भूमि किसानों में विभक्त थी और अपनी अपनी भूमि पर किसान पूर्ण सत्ताधारी थे।—उस पर किसी भी सरदार, शासक या राजा का दखल नहीं था, वैसे धार्मिक भावना में राजा सर्वस्व भूमि का स्वामी समझा जाता था। हरएक प्रदेश या गांव में कुछ भूमि राज्य की अपनी स्वतन्त्र भूमि समझी जाती थी और उस भूमि की तमाम ऊपज राजाओं के पास जाती थी। उस नियुक्त भूमि पर उस गाँव या प्रदेश के लोगों को ही खेती करनी पड़ती थी और उसकी तमाम उपज राजा को या शासक को संभलवा देनी पड़ती थी।

यह तो मध्य युग में, यूरोप में समाज के आर्थिक संगठन की रुप रेखा हुई—जिसकी तुलना उस जमाने के और देशों के आर्थिक संगठन से भी की है। आज भी पच्छिमी यूरोप में कहीं कहीं एवं भारत के उन प्रान्तों में जो १९४८-४९ में केन्द्रीय सरकार के आने के पूर्व देशी राजाओं के आधीन थे, सामन्तशाही मिलती है, किन्तु आज दशा में बहुत जल्दी जल्दी परिवर्तन होते जा रहे हैं।

सामन्तवाद का इस आर्थिक पहलू के अतिरिक्त एक और पहलू भी था जिसे हम साँस्कृतिक पहलू कह सकते हैं। समाज में दो वर्ग तो हो ही गये थे,—एक सामन्तवाद और दूसरा सर्फ वर्ग। यह भी सत्य है कि सर्फ वर्ग एक शोषित वर्ग था,

किन्तु उस युग में सर्फ वर्ग के लोगों को इस विचार और भावना ने अभी तक परेशान नहीं किया था कि सामन्त लोग तो उन्हें चूस रहे हैं, उन्हें उत्पीड़ित कर रहे हैं, अतएव सर्फ लोगो में यह ख्याल भी नहीं था कि सामन्त वर्ग का विरोध करना चाहिए और उसे खत्म करना चाहिए बल्कि दोनों वर्ग के लोगों में परस्पर अविरोध का ही भाव था और धीरे धीरे वे ये ही विश्वास करने लगे थे कि जिस प्रकार का भी संगठन है उसमें परिवर्तन का कोई प्रश्न नहीं है। लोग धर्म और ईश्वर में एक सरल विश्वास के सहारे रहते थे।

स्वयं सामन्त वर्ग में कुछ विशेष संस्कारों का विकास हो रहा था। सामन्त लोगों के बड़े बड़े अच्छे अच्छे किले होते थे और उन्हीं किलों में वे अच्छे अच्छे महल और मकान बनवाने लग गये थे। उनके खाने पीने, वस्त्र परिधान, रहन सहन, उनके घरानों की स्त्रियों को किस तरह से बाहिर निकलना चाहिये; किस ठाठ से गिरजा में प्रार्थना करने के लिये जाना चाहिये इत्यादि बातों के कुछ निश्चित नियम से धीरे धीरे अपने आप ही विकसित हो गये थे। सामन्त लोग सैनिक रखते थे, नौकर चाकर रखते थे, रक्षा-दल रखते थे इत्यादि। सामंत का प्रमुख सैनिक या रक्षक नाइट (Knight) कहलाता था। नाइटों में अपने स्वामी के प्रति संस्कार गत शुद्ध स्वामी भक्ति और आत्म-त्याग की

भावना होती थी। इन नाइट लोगों के बड़े बड़े खेल (Tournaments) होते थे जिनमें साहसी कार्यों का प्रदर्शन होता था; और सचमुच ऐसा होता था कि नाइट लोग किसी सुन्दर स्त्री की प्रशंसा भावना (Appreciation) से प्रेरित और अनुप्राणित हो जीवन में कुछ अनोखा वीरता पूर्ण और रोमाञ्चकारी काम कर जाते थे।

मध्य-युग के इस प्रेम, साहस और सम्मान, व स्त्री के प्रति आदर और उसके लिये त्याग की भावना,-इन सब गुणों को एक शब्द शिवेलरी (Chivalry) से निंदेशित किया गया है। सामन्त वर्ग में शिवेलरी की भावना मध्य-युग की एक विशेषता थी। उस युग के साहित्य में हमें इस भावना के सुन्दर दर्शन होते हैं। यह भाव कि वह आनन्द नहीं जो सम्मान से नहीं आता और वह सम्मान नहीं जो प्रेम का प्रतिफल न हो, उस युग के काव्य में एक अन्तर्धारा की तरह प्रवाहित रहता है। उस युग के साहित्य में जो दूसरी मुख्य धारा प्रवाहित है, वह है ईसाई धर्म की भावना। जैसा हमने प्रारम्भ में कहा था, सामंती संस्कृति और धार्मिक भावना ही इस युग के जीवन के आधार हैं। समस्त यूरोप में लोगों के मनोरंजन के लिये और साथ ही साथ इस उद्देश्य से कि मनोरंजन के द्वारा उनको धार्मिक शिक्षा मिले, अनेक नाटक खेले जाया करते थे। ये वास्तव में

नाटक नहीं थे किन्तु इन्हें साहित्यिक नाटकों का प्रारंभिक रुप कह सकते हैं। इन सबका विषय होता था ईसाई धर्म, स्वर्ग, नर्क, ईसाई एतों की जीवनियां इत्यादि। इसके अतिरिक्त स्वयं अपने प्रतिभा पूर्ण व्यक्तित्व की छाप लिये हुए यूरोप में दो महान कवि प्रकट हुए जिनके नाम विशेष उल्लेखनीय हैं। पहला, इटलीका (जहाँ का साहित्य उस युग में सर्वाधिक सम्मुनत था) महाकवि दांते (Dante=१२६५–१३२१ ई.) जो अपने जीवन के प्रारम्भ काल में बिट्रिस नामक सुन्दर लड़की के प्रेम में मग्न हुआ था और फिर उसीसे आविर्भूत होकर जिसने हमारे लिये वह सुन्दरकाव्य "दीवाइना कोमेदिया"(Divina Comedia) प्रस्तुत किया जिसमें गाई है उसने अपनी कहानी कि किस प्रकार वह जो अपने जीवन में बिट्रिस नहीं पा सका था 'स्वर्ग-लोक' (भावलोक) में उस सौन्दर्यमयी देवी के दर्शन कर सका, प्रेम की उस स्फूर्ण से जिस पर आधारित है सूर्य और नक्षत्र लोकों की गति भीं। छापेखानों के प्रचलन के पहिले इस काव्य की ६०० हस्त लिखित प्रतियां तैयार हो चुकी थीं, और भिन्न भिन्न यूरोपीय देशों में प्रसारित हो चुकी थी। दूसरा इङ्गलैण्ड का महाकबि चोसर (Chaucer:–१३४०–१४११) जिसने स्वतन्त्र या स्यात् उस युग के प्रसिद्ध इटालियन बोके-क्सियो की संसार प्रसिद्ध गद्य कहानी की पुस्तक 'डेकामेरोन' से प्रभावित हो कर अपने प्रसिद्ध काव्य "कन्टरबरी टेल्स"

(Conterbury Tales) की रचना की, जो काव्य उस समय के भिन्न भिन्न पेशोंवाले साधारण जन नाइट (Knight) चक्कीवाला, पादरी, हलकारा देने वाला (Snmmoner), बाथ की स्त्री के जीवन की मधुर झांकी हमको देता है। और जिससे हमको आभास मिलता है कि कितने भिन्न भिन्न रंगों में रंगी हुई है मानव जीवन की यह कहानी।

मध्य युग में ईसाई धर्म, और जीवन पर उसका प्रभाव—उत्तर प्रदेशों से जो नोर्डिक लोग आये थे वे सब मूर्तिपूजक और बहु देववादी थे। उनका धर्म एक बहुत ही प्रारम्भिक किस्म का धर्म था। इजराइल से निकल कर ईसाई धर्म प्रचारक सर्वत्र फैल गये थे। रोमन सम्राट एवं साम्राज्य के लोग तो चौथी शताब्दी में ही ईसाई धर्म ग्रहण कर चुके थे-यह धर्म वहां के समस्त समाज में पैठ गया था—और इस धर्म के चारों ओर परम्परायें भी बन गई थी। साम्राज्य के पतन के बाद उत्तर पूर्व और उत्तर-पच्छिम से जो अर्ध सभ्य लोग आये, उनमें अब इस धर्म का प्रचार होने लगा, कहीं कहीं तो जबरदस्ती उनको ईसाई बनाया जाने लगा।

रोम के प्रथम पोप ग्रिगोरी ने सन्त आगसटाइन को इङ्गलैंड भेजा—वहां के असभ्य लोगों को सभ्य ईसाई बनाने के लिये। लगभग छठी शताब्दी के अन्तिम वर्षों की यह बात है।

धीरे धीरे वहां के सभी 'एँग्लो सेक्सन' लोग ईसाई बन गये और केन्टरबरी में उनका सबसे बड़ा गिरजा बना। पादरी भिक्षुओं के रहने के लिये कई धर्म मठ भी बनें। चारों ओर तो अशिक्षा और अज्ञान का साम्राज्य था किन्तु इन मठों में शिक्षा और अध्ययन के सँस्कार जमने लगे थे। मठों में बड़े बड़े विद्वान् अध्ययनशील और अध्यवसायी भिक्षु (Monks) पैदा होने लगे थे। इङ्गलैंड में एक प्रसिद्ध भिक्षु विद्वान हुआ वेनरेबल बीड (Venebrable Bede: ६७३–७३५) उसने एक महान पुस्तक लिखी, (Ecclesiastic History of England) (इङ्गलैंड में ईसाई पादरियों का इतिहास) इस पुस्तक में उसने तमाम सन् और तारीख ईसा के जन्म दिन से समय की गणना करके लगाई थी। इस पुस्तक का यूरोप में खूब प्रचार हुआ था–और तभी से इङ्गलैंड और समस्त यूरोप में ई. सन् की प्रणाली चली जो आज भी प्रचलित है।

सातवीं और आठवीं शताब्दी में ट्यूटोनिक और स्लव लोगों को ईसाई बनाने का काम खूब जोरों से चला। शार्लमन महान् जो पवित्र रोमन साम्राज्य का संस्थापक था वह एक के बाद दूसरे देशों पर विजय प्राप्त करता गया और सब लोगों को अपनी तलवार के बल से ईसाई बनाता गया:—यहां तक कि धीरे धीरे बहुत ही साहसी और लड़ाकू डेनिस और वाईकिंग लोग भी ईसाई बन गये।

छठी शताब्दी से मगयर जाति के मंगोल लोग मध्य एशिया से आकर धीरे धीरे उस प्रान्त में बसने लगे थे जो आज हंगरी कहलाता है। ये लोग भी एक हजार ई. तक सब ईसाई बन गये थे। इसी तरह वे तुर्क लोग जो धीरे धीरे बलगेरिया में बस रहे थे, किन्तु जो नोर्डिक स्लव लोगों के साथ घुलमिल गये थे और जिनके राजा बोरिश (८५२-८८४) के दरबार में अरब साम्राज्य के कई मुसलमान राज्य-दूत आये थे, जो स्वयं एक बार मुसलमान बनने की सोच रहा था, वह भी ईसाई मत के प्रभाव में आया और उसने अपने आपको और अपने राज्य के सब लोगों को ईसाई धर्म के सामने समर्पित करदिया।

हिन्दू और बौद्ध धर्मों का मुख्य क्षेत्र पूर्व में ही था, यथा भारत, पूर्वीय द्वीप समूह और चीन। वे लोग यूरोपीय देशों में सीधे निकट सम्पर्क में नहीं आये थे। इस्लाम धर्म जिसकी स्थापना सातवीं शताब्दी में हुई थी वह अरब विजेताओं के साथ आठवीं शताब्दी में स्पेन तक पहुंच चुका था और सम्भव है कि स्पेन के आगे बढ़ता हुआ वह समस्त यूरोप में भी फैल जाता। किन्तु याद होगा कि सन् ७३२ ई. में, यूरोप में नव स्थापित फ्रेन्किस राज्य के शासक चार्ल मारटेल ने उनको टूर्स के मैदान में हराया था और तभी से उनका आगे बढ़ना सर्वथा रुक गया था। इसलिये बहुत सम्भावनायें होते हुए भी यूरोप

में इस्लाम के पैर नहीं जम पाये। इस प्रकार हमने देखा कि मध्य युग की प्रारम्भिक शताब्दियों में यूरोप में प्रायः सभी लोग अपने आदिम (Primitive) पैगन धर्म को भूलकर ईसाई बन गये थे। उनमें ईसाई धर्म के संस्कार, ईसाई धर्म की भावनायें धीरे धीरे स्थापित हो गई थीं। ईसाई धर्म का संस्कार उनके जीवन और भावनाओं में इतना जम गया था कि १२ वीं शताब्दी के आरम्भ में इजराइल में यरुसलम की पवित्र गिरजा जो उस समय मुसलमानों के हाथ में थी जीतने का प्रश्न चला, उस समय मुसलमानों से धर्म-युद्ध करने के लिए समस्त यूरोप के ईसाइयों में एक स्फूर्ति सी पैदा हो गई और सब एक विशाल संगठन बनाकर धर्म युद्धों में जुट पड़े। (इन धर्म-युद्धों का विवरण पढ़िये अध्याय ३७ में)। यूरोप के इतिहास में यह पहिला अवसर था जब साधारण जन एक भावना और एक विचार से प्रेरित होकर, एक-सूत्रीय संगठन में बंधे हों और कोई आयोजित कार्य करने में जुटे हों। यूरोप में ही नहीं किंतु स्यात समस्त मानव इतिहास में यह पहिला अवसर था जब साधारण जन ने अपना एक संगठन बनाकर कुछ कार्य किया।

रोम के पोप—यूरोप के मध्य युग के इतिहास में पोप का बहुत महत्वपूर्ण स्थान है। यहाँ तक कहा जासकता है कि साधारण जन के सरल विश्वास के आधार पर उसकी शक्ति यहाँ

तक बढ़ गई थी कि मानों वह सब लोगों की आत्माओं का आधिनायक है। पोप की शक्ति का दूसरा आधार था सब गिर्जाओं का एक अपूर्व अन्तर-प्रान्तीय, और जहाँ तक यूरोप का सम्बन्ध है एक अंतर्राष्ट्रीय संगठन। समस्त पच्छिमी और मध्य यूरोप गिर्जाओं के संगठन के लिये, प्रान्तों में विभक्त था। प्रान्त में सबसे बड़ा धार्मिक पादरी आर्कबिशप होता था।—प्रांत जिलों में विभाजित थे, जिले (Dioces) का सब से बड़ा पादरी बिशप होता था। जिले, गाँवों (Parishes) में विभक्त थे, जहाँ साधारण पादरी गाँव के गिर्जा में लोगों के धार्मिक जीवन का संचालन करता था। गाँवों में प्रायः गिर्जा ही केवल एक पक्की इमारत होती थी, और गांव का पादरी थोड़ा बहुत शिक्षित व्यक्ति—अन्यथा मीलों तक पक्के भवन और शिक्षित व्यक्ति का मिलना कठिन था। पहिले तो यरुसलम, रोम, कोन्सटेनटिनोपल, इत्यादि प्रमुख गिर्जाओं के बिशप पद में प्रायः बराबर माने जाते थे; फिर यरुसलम और कोन्सटेंटिनोपल, के बिशप अपने को सबसे बड़ा समझते थे किन्तु धीरे धीरे लोगों में यह विश्वास फैल गया था कि ईसाई धर्म का प्रथम सन्त पीतर ही रोम का सर्व प्रथम बिशप था, और उसकी अस्थियां, जिनके अवशेष रोम में थे, चमत्कारिक काम कर सकती थीं—जैसे अंधों को सूझता कर देना, कोढ़ियों को स्वस्थ कर देना, इत्यादि; और यह चमत्कारिक काम करवाना रोम के बिशोप के हाथ में था। ऐसी परिस्थितियों

में सन् ५६० ई. में उच्च वर्ग का एक धनिक व्यक्ति जिसका नाम ग्रिगोरी था. रोम का पादरी निर्वाचित हुआ, उसे समस्त गिर्जाओं का आधिपति घोषित किया गया और वह पोप कहलाया। ईसाई धर्म में यह पहिला पोप था-जिसकी परम्परा आज भी रोम में चली आरही है और जो अपने निवास स्थान वेटिकन पैलेस (Vatican Palace) से रोमन कैथोलिक ईसाइयों का धार्मिक नेतृत्व करता रहता है। ग्रिगोरी जब पोप बना तब उसके पास अपने स्वयं की काफी लम्बी चौड़ी भूमि थी और इटली में इसका काफी प्रभाव था। धीरे धीरे एक के बाद दूसरे पोप आने लगे और पोप लोगों के धन, जायदाद और प्रभाव क्षेत्र में विस्तार होने लगा,-पूर्वीय रोमन साम्राज्य को छोड़कर समस्त पच्छिमी और मध्य यूरोप के गिर्जाओं और पादरियों पर तो इसका धार्मिक प्रभाव था ही किन्तु धीरे धीरे राजनैतिक शक्ति भी पोप में केन्द्रित होने लगी; और उसका राजनैतिक प्रभाव भी बढ़ने लगा।

ईसामसीह के इन वाक्यों से कि समस्त संसार में ईश्वरीय राज्य हो, अनेक पादरी और सर्वोपरि पोप यह विचार मन में लाने लगे थे कि सारे संसार में ईसाई धर्म का प्रचार हो, और सब लोग एक राज्य के सूत्र में बंध जायें,-किंतु इस विचार के साथ ही साथ यह भावना भी अंतर्निहित थी कि उस

साम्राज्य का समस्त अधिकार हो पोप के पास—और उसका संचालन भी करे पोप। विशाल रोमन साम्राज्य जिसकी स्मृति अभी बनी हुई थी, उसकी कल्पना करके ये लोग एक विशाल साम्राज्य स्थापित करना चाहते थे। ऐसा अवसर आया भी। यह याद होगा कि सन् ८०० ई. में पोप लियो तृतीय ने शार्लमन महान् को गिरजा में राज-मुकट से आभूषित किया था और यह घोषित किया था कि वह पवित्र रोमन साम्राज्य का प्रथम सम्राट है। (रोम नाम की महानता चली आ रही थी, इसलिये इस साम्राज्य का नाम रोमन रक्खा गया)। पवित्र रोमन साम्राज्य स्थापित हुआ—किन्तु अब झगड़ा यह चलने लगा कि उस साम्राज्य की सत्ता किसके हाथों में हो, पोप के हाथों में या सम्राट के हाथों में। बस यहीं से यूरोपीय इतिहास में मध्य युग की घटना—राज्य और गिर्जा के बीच द्वन्द्व चालू होता है। अनेक वर्षों तक यह द्वन्द्व चलता रहता है। पहिले तो पोप ग्रीगोरी सप्तम (१०७३–१०८५) के समय से प्रारम्भ होकर, जिसने गिर्जा, पादरियों इत्यादि के संगठन में अनुपम व्यवस्था और अनुशासन स्थापित किया, लगभग डेढ़ शताब्दी तक पोप और गिर्जा की शक्ति में खूब वृद्धि होती रही। पोप लोग अपना यह अधिकार मानते थे और बहुत अंशो तक शासकों को यह अधिकार मान्य भी था कि वे, अर्थात् पोप ही राजाओं को राज्य करने का अधिकार देते हैं और वे ही

उनको शासनारुढ करते हैं । जो राजा या शासक पोप और धर्म की अनुमति के अनुकूल नहीं चलता था उनका वे समस्त समाज द्वारा वहिष्कार करवा सकते थे। जगह जगह पर इनके स्वयं के न्यायालय, जेल खाने, इत्यादि होते थे, जहाँ पर विशेष कर ऐसे मामले जाँचे जाते थे जिनका सम्बन्ध धर्म और आज्ञा भंग, अनाथों, विधवाओं, एवं गिर्जाओं की भूमि लगान से होता था। गिर्जाओं के आधीन राजाओं अथवा धनिक व्यक्तियों द्वारा दी हुई बड़ी बड़ी भूमि होती थी। इन न्यायालयों के ऊपर रोम में पोप का प्रधान न्यायालय होता था और पोप को समस्त ईसाइयों का विशेषतया धार्मिक मामलों में एक मात्र नियमाता माना जाया करता था। ये लोग कर लगा सकते थे, और प्रायः सब स्थानों में इन्होंने एक प्रकार का कर लगा रखा था जिसे टाइथ (Tieth) कहते थे अर्थात् भूमि की उपज का दसवां हिस्सा गिर्जा में करवाया जाना चाहिये । पोप को यह भी अधिकार था कि वह चाहे जिसको विशेष नियमों या अनुशासन के पालन से मुक्ति दे सके। जिसका यह अर्थ था कि वे पादरी जो पोप के मित्र और सम्बन्धी होते थे उनको वह विवाह, भूमि और धन प्राप्ति की आज्ञा दे देता था जो कि साधारण नियमानुसार उचित नहीं थी। एक अद्भुत प्रथा पोप लोगों ने चलाई थी। यह प्रथा इस मान्यता पर चली मानों पोप को जो कि इस पृथ्वी पर ईश्वर का प्रतिनीधी माना जाता था,

यह अधिकार है और उसमें यह शक्ति है कि वह किसी भी पापी या दुष्कर्मी को नर्क की यातनाओं से बच सकता है। इस मान्यता के आधार पर पोप लोगों नें बड़ी बड़ी कीमत पर "सभा पत्र" बेचना (Sale of Indulgences) प्रारम्भ किया, जिसका यह अर्थ होता था कि मानों जिसने यह क्षमा-पत्र पालिया उसको दुष्कर्मों के बदले में नर्क में यातना नहीं भोगनी पड़ेगी। इसके अतिरिक्त पोप लोगों ने अपनें एक और अधिकार का प्रचलन किया; वह यह था कि पोप किन्हीं लोगों के विरुद्ध धर्म-विरुद्ध भावना या नास्तिकता का आरोप लगा कर उनकी जाँच-पड़ताल करवा सकता था, और उनको ईसाई-मत-विरोधी एवं नास्तिक घोषित करके सूली पर चढ़वा सकता था, मरवा सकता था, जलवा सकता था। इस अधिकार के फलस्वरूप यूरोप में तेरहवीं, चौदहवीं शताब्दियों में बहुत ही अमानवीय और क्रूर घटनाएं घटित हुई। जहां कहीं भी देखो यूरोप में सैकड़ों जगह सैकड़ों आदमियों को जलाया जा रहा है और नृशंशता: से मारा जा रहा है-और उनका अपराध केवल यही कि वे पोप की सत्ता के विरुद्ध कुछ बोलते होंगे पोप की सत्ता का आदर नहीं करते होंगे।

धर्म के नाम पर ये सब कृत्य उसी हालत में सम्भव हो सकते थे जब लोगों में बाह्य-धर्म और पोप के प्रति एक अन्ध विश्वास सा बना हुआ था, और जब उनको ज्ञान का इतना

अंतर प्रकाश नहीं था कि वास्तविक धर्म तो पोप और गिर्जा के परे मानव-प्रेम और सेवा में निहित है। किन्तु धीरे धीरे लोग यह महसूस करने लग गये थे कि गिर्जा और पोप तो धर्म जायदाद और राजनैतिक सत्ता के द्वन्द्व के क्षेत्र बनते जा रहे हैं और पोप तथा गिर्जाओं का राजाओं और साधारणजन के हृदय पर कई शताब्दियों से जो एक सरल और विश्वासमूलक आधिपत्य जमा हुआ था वह खिसकता हुआ जा रहा था। इसका प्रथम संकेत मिला पवित्र रोमन साम्राज्य के फ्रेडरिक द्वितीय (Frdrick II) के राज्य काल में, जब उसने पोप को एक खुला पत्र लिखा कि यह महत्वाकाँक्षा कि वह धर्म और राज्य दोनों का अधिपति बना रहे, अनुचित है, और यह कि सांसारी (भौतिक) राज्य के क्षेत्र में पोप का अधिकार न होकर राजा का ही अधिकार होगा। सम्राट फ्रेडरिक ने यूरोप के अन्य राजाओं को भी यह आभास करवाया कि राज्य के क्षेत्र में पोप का कोई भी हस्तक्षेप नहीं होना चाहिये। पोप के प्रति धीरे धीरे अवज्ञा और रोष की भावना यहां तक फैली कि सन् १३०२ ई. में फ्रान्स के राजा ने अपने सामन्तों और साधारणजनों की अनुमति से स्वयं पोप को उसके महल में जाकर गिरफ्तार कर लिया था। इस प्रकार मध्य युग में ही जो एक धर्म प्रधान युग था पोप की पोपडम के विरुद्ध आवाज उठने लग गई थी। मध्य युग के बाद पुनर्जागरण और धार्मिक सुधार

के युग में, और तदन्नतर अनेक राजनैतिक विचार धाराओं के उद्भव होने से धीरे धीरे स्वाभावतः ही यह बात मानी जाने लगी थी और स्पष्ट हो गई थी कि गिर्जा पोप और धर्म (बाह्य धर्म) का राज और राजनीति से कोई सम्बन्ध नहीं। किन्तु इस स्पष्ट बात को भी मान्यता मिलने में यूरोप में कई शताब्दियाँ लग गई थीं।

ऊपर गिरजाओं के संगठन, पोप के अधिकार और सत्ता, उनके न्यायालय, कर-टेक्स, स्वर्ग नर्क के सार्टिफिकेट देनें की सत्ता, ईसाई मत-विरोधी और नास्तिकों को क्रूरता से जला देने की सत्ता, पोप लोगों में परस्पर द्वेष और सत्ता लोलुपता, इत्यादि की जो बातें लिखी गई हैं उनसे यह धारणा नहीं बना लेनी चाहिये कि ये ही बातें उस युग की भावनाओं की परिचायक हैं। इन सब ऊपरी बातों के परे, राजाओं और पोप लोगों की महत्वाकाँक्षाओं के परे था, साधारण जन और गांव का पादरी अनेक पादरी और इन पादरियों द्वारा प्रभावित अनेक जन ऐसे थे जिनकी आत्मा और हृदय को सचमुच ईसा की आत्मा और भावना प्रेरित करती थी। उनका जीवन सरल और प्रेममय था। इसके अतिरिक्त कई सच्चे सन्त लोगों का उस युग में आविर्भाव हुआ था। इन सन्त लोगों ने धन वैभव से परे सरल धार्मिक सेवामय जीवन व्यतीत करने के लिये कई बिहारों

की स्थापना की थी। ऐसा एक सन्त था सन्त बेनेदिक्त (Benedict) (४८०–५४४) जिसने रोम से लगभग पचास मील दूर एक निर्जन स्थान में कई वर्षों तक समाज और संसार से दूर एक सरल और तपस्यामय जीवन व्यतीत किया था। तदनन्तर इसने मानव समाज में आकर अनेक बिहारों की स्थापना की। इन बिहारों में ब्रह्मचारी (Monks) (ईसाई भिक्षुक) त्याग, नियम पालन और ब्रह्मचर्यव्रत धारण करके अपना शेष जीवन आत्म-कल्याणार्थ ईश्वर की आराधना में बिताते थे।

एक दूसरे संत हुए जिनका नाम केसियोडोरस (Cassiodorus) (४६०–५८५) था। इसने अपने विहारों में अपने अनुयायियों को यही मुख्य आदेश दिया कि वे प्राचीन साहित्य का संग्रह करें, उसकी रक्षा करें एवं सत्य धार्मिक साहित्य की हस्तलिखित प्रतियाँ बनायें जिससे कि लोगों में धर्म और ज्ञान का प्रसार हो। इन्हीं लोगों के प्रयास से कई विद्यालयों की स्थापना हुई; जो धीरे धीरे विकसित होकर मध्य युग के विश्व विद्यालय बन गये थे। एक और सन्त हुए, असाइसी के सन्त फ्रांसिस (Francis) (११८१–१२२६) इस सन्त के अनुयायी भिक्षुओं नें जो फ्रायर (Friars) कहलाते थे, पीड़ित बीमार जनों की, मुख्यतया: कोढ़ियों की प्रेममय सेवा में अपना जीवन व्यतीत करने की अपूर्व सराहनीय प्रथा चलाई थी। इन

भिक्षुकों फ्रायर लोगों का जीवन वास्तव में एक त्यागमय, सेवा-मय, तथा दिव्य जीवन होता था। यदि पोप की नगरी में और गिर्जाओं के संगठन में धर्म के बाह्य रूप की चका चौंध और ठाठ, एश्वर्य के दर्शन होते थे तो इन भिक्षुकों और फ्रायर लोगों के जीवन में एवं गांवों के पादरियों के जीवन में भी और इन भिक्षुकों के विहारों में धर्म की आत्मा के दर्शन होते थे। उस युग में लोगों में जो कुछ भी सच्ची धार्मिक भावना, शान्ति और ज्ञान की आभा थी वह इन्हीं लोगों की वजह से, और यदि कहीं उन युगों में साहित्य, कला की रक्षा हुई, और उसका विकास हुआ और शिक्षा का प्रसार हुआ तो वह इन्हीं लोगों के प्रयास से। किन्तु ये सब प्रयास एकान्तिक थे, सर्वत्र संगठित रूप से प्रसारित नहीं, जिस प्रकार गिर्जाओं व पदारियों का संगठन प्रसारित था। वास्तव में उस युग में जब लोगों का इतना सरल विश्वास था, उस समय ईसाई धर्म और गिर्जा को एक स्वर्ण अवसर मिला था कि वे सचमुच एक ईश्वरीय साम्राज्य इस दुनियां में स्थापित कर लें, एक ऐसा साम्राज्य जिसके सब सदस्य बिना किसी भेदभाव के, एक भ्रातृत्व भावना से अनुप्राणित हों। किंतु धर्म और गिर्जा इस काम में असफल रहे। इसके मुख्य कारण यही थे कि गिर्जा के सामने ईश्वरीय राज्य स्थापित करने का आदर्श सतत उपस्थित नहीं रहता था। कभी कभी कोई विशेष प्रतिभा वाले पोप या पादरी सत्तारूढ़ होते थे तभी यह

आदर्श उनके सामने होता था और इस आदर्श को प्राप्त करने का वे प्रयास भी करते थे, और ऐसी भावना समस्त ईसाई दुनियाँ में प्रसारित भी करते थे। ईसाई धर्म शनैः शनैः अपने शुद्ध आदि रुप और भावना को छोड़ रहा था और अनेक रुढ़ियों और बाह्य धार्मिक वाद विवादों में फंस रहा था। लोगों के मन और ह्रदय में अपना प्रभाव और साम्राज्य की स्थापना करने के बदले वे जबरदस्ती लोगों को भयातुर करके उन पर अपनी सत्ता और आधिपत्य जमाने की कोशिश करने लग गये थे। जो कोई भी पोप और पदारियों के विचार और मत के जरा भी प्रतिकूल होता उनको वे जलाकर भस्म करवा देते थे; किसी प्रकार का वाद विवाद विचार-विभिन्नता वे सहन नहीं करते थे। ऐसी परिस्थितियों में ज्ञान विज्ञान कुण्ठित था। ज्ञान, विज्ञान के क्षेत्र में, मध्य युग में उल्लेखनीय तरक्की नहीं होपाई।

कहीं कहीं पच्छिमी यूरोप में विशेष प्रतिभावाले व्यक्ति दृष्टि गोचर होते थे, जैसेः-सिसली के शासक फ्रेडरिक द्वितीय, स्पेन में लिओन और केस्टाइल के शासक ऐलफेन्ज। इनकी संरक्षता में अनेक अरबी ग्रन्थों के लेटिन तथा अन्य भाषाओं में अनुवाद किये गये। कई विद्वान अरबी विज्ञान के सम्पर्क में रहकर विज्ञान के अध्ययन में और उसकी खोज में लगे हुए थे। इसी के फलस्वरुप इङ्गलैंड के प्रसिद्ध ईसाई भिक्षु रोजर बेलकन

(Roger Balon); इटली के प्रसिद्ध कवि लिओनार्दो दाविंसाई जो वैज्ञानिक भी थे अपनी वैज्ञानिक खोजों में प्रोत्साहित हुए।

मध्य युग में व्यापारिक स्थिति और व्यापार के मार्ग

व्यापार की स्थिति और व्यापारिक मार्गों की सुविधायें सब प्रदेशों में एक सी नहीं थीं। साधारण तौर पर इतना कहा जा सकता है कि मध्य युग के सब वर्षों में यातायात बहुत कठिन और धीमा था। यह तो स्पष्ट है ही कि बिना पशु या आदमी की शक्ति के, किसी भी प्रकार की भौतिक शक्ति के द्वारा जैसे कोयला, पानी, पेट्रोल, बिजली, इत्यादि से गाड़ियों को चलाने की तो उस युग में कल्पना ही नहीं हो सकती थी। रोमन काल में जो सड़कें बनीं थी उन्हीं सड़कों पर आवागमन होता रहता था। ऐसा भी अनुमान है कि मध्य युग में न तो नई सड़कों का निर्माण हुआ और न पुरानी सड़कों की मरम्मत। लोग घोड़ों पर, खच्चरों पर या बैलगाड़ियों और घोड़ागाड़ियों में यात्रा करते थे। व्यापारिक ! माल मुख्यतः खच्चरों पर ही लदकर इधर उधर जाया करता था। जहां कहीं भी नदियां होती थीं उनमें सरलता से नावों द्वारा माल का यातायात होता था। सामुद्रिक किनारों पर जहाज चलते रहते थे। सब प्रदेशों के बन्दरगाह एक दूसरे से सम्बन्धित थे। उदाहरण स्वरुप मिश्र में अलेकजेन्डिरिया, इजराइल में टायर, पूर्वीय रोमन साम्राज्य में कोन्सटे-

टिनोपल, इटली में नेपल्स, उत्तरी अफ्रीका में ट्यूनिस, स्पेन में केडिज़, फ्रान्स में बोरडक्स, इङ्गलैंड में लन्दन, इत्यादि ये सब बन्दरगाह एक दूसरे से जहाजों द्वारा जुड़े हुए थे। मुख्य व्यापार की वस्तुयें ये थीं:—इङ्गलेंड में ऊन, टीन, लोहा, स्केन्डिनेविया में लकड़ी, डेनमार्क में दूध, मक्खन, पूर्वीय प्रदेशों में जैसे इजराइल, सीरिया इत्यादि में गलीचे; और उससे भी पूर्वीय प्रदेशों में जवाहरात और मोती; इटली में जैतून, जैतून का तेल इत्यादि; फ्रान्स में चांदी, शक्कर, शराब इत्यादि वस्तुओं का व्यापार होता था। आवागमन बहुत सुरक्षित नहीं था, मार्गों में लूटमार का डर रहता था, इसलिये यात्रियों के साथ रक्षक दल चला करते थे। पूर्वीय भाग में अलेक्जेन्डिरिया और कोन्सटेंटीनोपल में पूर्वीय देशों से व्यापारिक वस्तुएं जैसे जवाहरात, रेशम, हाथीदांत गलीचे, मलमल, मसाले और मिठाइयां एकत्रित होती थी और वहीं से यूरोपीय देशों में वितरित होती थीं। यूरोप के देशों में उस समय तक कई नगर बस चुके थे, मेले भरा करते थे, जहां पर व्यापारिक लेनदेन होता था। व्यापार के लिये चांदी और सोने की मुद्रायें प्रचलित थीं। ऐसा अनुमान है कि बाद में यहूदी लोगों ने हुण्डियों का भी प्रचलन कर दिया था धीरे धीरे जो नगर बस रहे थे उनमें हस्त-कला-कौशल का काम होने लगा था जैसे बेलजियम के ब्रूसल्स घेंट नगरों में तलवार, ढाल, तीर-कमान, इत्यादि बनते थे।

फलएडर्स नगर में सुन्दर ऊनी कपड़े बनते थे और कई नगरों में सूती कपड़े बुने और रंगे जाते थे। धीरे धीरे नगर में रहने वाले व्यापारियों और हस्त कला कौशल के काम में लगे हुए कारीगरों (शिल्पियों) का महत्व बढ़ रहा था; नगरों में उनके संघ (Guilds) स्थापित थे, एवं व्यापारिक लोग भी अपने स्वतंत्र संघ बना रहे थे। संघों की वजह से नगर जीवन और नागरिक लोगों का सामाजिक आर्थिक जीवन सुसंगठित था। ये संघ भारत के शिल्पियों एवं व्यापारियों की "नगर संस्थाओं" के समान थे, जो भारत में प्राचीन युग में संगठित थे। उस काल में अनेक सामाजिक काम जो आज राज्य (State) करता है, नगर संस्थायें किया करती थीं। धीरे धीरे व्यापारियों के पास खूब धन संग्रहित होने लगा था-उनका महत्व और उनकी शक्ति भी बढ़ने लगी थी। ज्यों ज्यों व्यापार में अभिवृद्धि हुई बैंकों की एवं साख प्रणाली (Credit System) की भी स्थापना होगई। १४वीं शती तक इटली में लोम्बार्डी में अन्तराष्ट्रीय बैंकिंग की स्थापना होचुकी थी। इटली के वेनिस और जिनोआ नगरों में भी बैंक खुल गये थे-इनके संस्थापक बड़े बड़े व्यापारिक धनी कुटुम्ब थे। इनका प्रभाव यहाँ तक बढ़ गया था कि शासकों को भी धन के लिये इन व्यापारियों से प्रार्थना करनी पड़ती थी। पच्छिमी यूरोप में विशेष कर ईङ्गलैंड और फ्रान्स में ११वीं से १५वीं शताब्दी तक, "गोथिक भवन निर्माण रीति के," विशालता,

ऊंची ऊंची मीनारें एवं कई कई मेहराव जिसकी विशेषतायें होती थीं, अनेक सुन्दर और भव्य गिर्जा (Cathedrals) बने। इटली और स्पेन में भी इसी प्रकार के अनेक भवन बने। इनमें पहिले तो गिर्जाओं का रुपया लगता था-तदनंतर राजा और व्यापारिक लोग भी इनमें खर्चा करने लगे थे। अद्‌भुत यह एक भावना थी जिससे प्रेरित होकर विशाल धन राशि, ऐसे धार्मिक भवन बनाने में सहर्ष व्यय करदी जाती थी। १४वीं १५वीं शताब्दियों में गोथिक रीति के अनुसार ही यूरोप के प्राय: सभी नगरों में Town-halls (नगर-पालिक-भवन) बने। इन भवनों (Town-halls) को सुन्दर बनाने में प्रत्येक नगर एक गौरव की अनुभूति करता था। उस जमाने के ये भवन अब भी नगर पालिकाओं के दफ्तर का काम देते हैं।

व्यापारिक मार्ग एवं आवागमन के साधन इत्यादि का जो वर्णन ऊपर किया गया है वैसी ही स्थिति प्राय: दुनियां के अन्य देशों में थी; जैसे भारत और चीन में भी। किंतु उस युग में भारत और चीन के नगर यूरोप के नगरों की अपेक्षा बहुत अधिक धनी समृद्धिशाली और सुन्दर थे। इन देशों की सभ्यता, विद्या, साहित्य, कला-कौशल भी यूरोप की अपेक्षा अधिक समुन्नत और विकसित थी।

इस प्रकार मानव इतिहास की गति का अनुशीलन करते करते हम उस काल तक आ पहुंचे हैं जो हम लोगों से केवल

चार सौ, पाँच सौ वर्ष ही पुराना है। मध्य युग का समाज एक स्थिर सा समाज था जिसमें आन्दोलन और गति इतनी धीमी थी कि सहज दृष्टिगोचर नहीं होती थी,-वह समाज सम्पूर्णतः एक रुढ़िगत समाज था जहाँ धार्मिक एवं सामन्तिक रुढ़ी रिवाजों का साम्राज्य था; धर्म के प्रति भी एक रुढ़िगत विश्वास था जिसमें ज्ञान और बुद्धि का प्रकाश नहीं के बराबर था। किंतु फिर भी कहीं कहीं खूब गति-शील व्यक्ति आविर्भूत होजाते थे, फिर भी कहीं कहीं समाज के रुढिगत संस्कारों से मुक्त हो मानव साहस (Adventure) करने के लिये निकल जाता था, फिर भी कहीं कहीं मानव धर्म के अन्ध-विश्वासू रुप को पार करके धर्म की आत्मा तक पहुंच जाता था।

मध्य युग के ऐसे ही मानव और समाज में से हमारा और हमारे समाज का विकास हुआ। उस युग का कोई व्यक्ति आज हमारी विज्ञान की दुनियाँ में कहीं अचानक आकर उपस्थित होजाये तो उसे प्रत्येक क्षेत्र में यथा—धार्मिक, सामाजिक, राजनैतिक, आर्थिक, व्यापारिक, सब में, सचमुच चौंका देने वाली अनेक कल्पनातीत नई चीजें मिलेंगी। किंतु फिर भी वह अपने आपको बिल्कुल एक ऐसी दुनियां में तो नहीं पायेगा जिससे मानों उसका कोई संबंध ही न हो, जिससे मानों उसके जमाने की दुनियां का कोई तारतम्य ही नहीं बैठता हो मध्य युग की परंपराओं में मानव और उसका समाज आज भी सर्वथा मुक्त नहीं है।

पुस्तक में कृपया निम्न अशुद्धियां ठीक करलें। इसके लिये प्रकाशक एवं मुद्रक क्षमाप्रार्थी।

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध	पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
२१	१	द्रस्थ	दूरस्थ	३६०	१२	Tyranory	Tyranny
५५	४,६	१	?	३६४	१६	केप हाड़	के पहाड़
१४४	२	मंगल	मंगोल	४१३	८	(आध्यात्म)	(आध्यात्म) में
१४५	८	Noah of ark	Ark of Noah	४४२	२	मिसरो	सिसरो
१४६	१	पृथ्क	पृथक	४४५	११	मकरी	मर्करी
२०८	२	त्थर	पत्थर	४५८	६	ख्य	मुख्य
२३७	३	साडों	सांडों	४६१	२०	Markd	Market
२४८	१०	Piraro	Pizaro	४८४	११	सस्सादनि	सस्सानिद
३०६	१	बह्यांजों	बाह्य अंगों	४६५	७	पायेरये	पाये गये
३१२	११	नामिकण	नाभिकण	५०१	४	पिजस की	जिसकी
,,	,,	Nenclens	Neucleus	५०३	२०	स्वता	रचना
३१३	१२	भूया	भूमा	,,	,,	जब	जल
३१५	२	आन्तकित	आतंकित	५०८	२	आस्था की	आस्था को
३१८	२०	नही	नटी	५१७	२	आभाएं	आभा से
३५८	२	गतिने	गति में	५२०	८	अधिष्ठित हैं	अधिष्ठित है
३६६	२	पृथ्की	पृथ्वी	५५६	१०	विचार है	विषय है
३७७	१	चीरी	चीरीज	५६६	१	सम्राटों का	साम्राज्यों का

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
५७१	१८	सनन	समय
५७३	६	तथा गात	तथागत
५८०	११	अपनी जीवन यापना	अपना जीवन यापन
,,	१२	मत:	अन्त:
५८४	२	ऋषमदेव	ऋषभदेव
५८७	१	अस्तेघ	अस्तेय
५८७	७	अहिंसा के	अहिंसा का
६०६	१	इस काल में	काल से
,,	५	कालकी है	कालका है
६१४	२०	उन के	ऊन के
६१७	६	अेलसा	भेलसा नामक
६२०	८	शताब्दी में	शताब्दी से
,,	१४	भूतद्रव्य	भूत द्रव्य का
६२५	४	प्रस्फुटना पर	प्रस्फुटन पर
६३६	१६	अबूबरक	अबूबकर
६५३	६	वैद्यानिक	वैधानिक
,,	१२	स्पेन के अरब	स्पेन के अरबी ग क

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
७०५	४	ब्रह्म की ही	ब्रह्म की ही
,,	६	विद्वानों में होती	विद्वानों में होती है।
७०६	१	ह्रास होने लगा	ह्रास होने लगा
७२१	२	खिजली	खिलजी
७२४	६	तुर्की का	तुर्कों का
७२८	११	हाफिजा था	हाफिज था
७२६	१४	भाषाओं द्वारा	भाषा द्वारा
७३३	१६	जब तक	तब तक
७३६	१६	सामंतवाद	सामंती
७४२	३	ईसाई एतों	ईसाई सन्तों
,,	१४	स्फूर्ण	स्फूर्त्ति
७५१	२	बच सकता है	बचा सकता है
,,	३	सभापत्र	क्षमापत्र
,,	२०	अन्य विश्वास	अंध विश्वास
७५६	२१	रोजर बेलकन	रोजर बेकन
७५७	१	Roger Balon	Roger Bacon
	९	कवि लिओनार्दो	कलाव [illegible]ओनार्दो